[सं० १९९८ के श्री मङ्गला-प्रसाद-पारितोषिक के ताम्रपत्र की प्रतिलिपि]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

संवत् १९९८ का

मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक

(रु० १२००)

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ३१ वें वार्षिक अवसर पर

श्री बलदेव उपाध्याय

को

उनकी रचना भारतीय दर्शन के लिए सादर दिया गया।

हरिद्वार
४ ज्येष्ठ
सं० २०००

माखनलाल चतुर्वेदी
सभापति
३१ वां हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
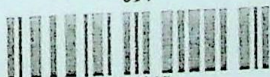
त्वदीयं वस्तु गोविन्द !

तुभ्यमेव समर्पये ॥

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

—कालिदास

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

—पुष्पदन्त

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

—सिद्धसेन दिवाकर

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति ।
तत् तत्त्वमेव, भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

—अभिनवगुप्ताचार्य

प्राक्कथन

काशी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने इन पृष्ठों में प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान का एक साङ्गोपाङ्ग विवरण हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, षड्दर्शन, पाञ्चरात्र और (गौडीय मत को सम्मिलित कर) पाँचों वैष्णव सम्प्रदाय, अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी विभिन्न शैव तथा शाक्ति -- आदि सम्प्रदायों के महत्त्वशाली दर्शन-शास्त्रों की इस ग्रन्थ में आलोचना की गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का विवेच्य विषय माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। स्थान के परिमित होने के कारण ग्रन्थकार को विभिन्न तान्त्रिक तथा शैव-शाक्तादि मतों का विवेचन कुछ संक्षिप्त रूप में देना पड़ा है, परन्तु जो कुछ कार्य वस्तुतः सम्पादित किया गया है वह इतना विशाल है कि यह आवश्यक संकोच विशेष महत्त्व का प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी जनता के सामने यह ग्रन्थ भारतीय तत्त्वज्ञान के विषय में एक अत्यन्त मूल्यवान् कृति है। दर्शनिक विचारों का परिपूर्ण तथा क्रमबद्ध विवेचन होने के अतिरिक्त इस पुस्तक में बहुत ही अधिक उपादेय आलोचना और इतिहास-सम्बन्धी सामग्री संकलित की गई है। भारतीय विचारशास्त्र में

महत्त्वशाली मतभेद होने पर भी, वह परस्परसम्बद्ध अखण्डरूप है और उसके प्रत्येक अंश पर वस्तुतः स्वयं परिपूर्ण होने की छाप पड़ी है। जितनी भिन्नतायें दिखलाई पड़ती हैं, विभिन्न दृष्टियों के मानने के कारण उनकी सुसंगत व्याख्या की जा सकती है। 'सत्य' के खोज करनेवाले साधकों की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रगतिशील होती हैं। उन्हीं पर अवलम्बित होने से तार्किक विकास को ध्यान में रख कर, ये दृष्टियाँ सोपान-परम्परा की तरह क्रमबद्ध रखी जा सकती हैं। प्रत्येक दर्शन का गहरा अध्ययन करने से यह बात प्रमाणित की जा सकती है। ग्रन्थकार के पास पर्याप्त स्थान नहीं है कि वह विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करे। विभिन्न दर्शनों के विषयों के समालोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि भारतीय दर्शन के प्रेमी हिन्दी पाठकों की मण्डली में ही नहीं, प्रत्युत भारत के समग्र विश्व-विद्यालयों तथा शिक्षासंस्थाओं में जहाँ हिन्दी स्वतन्त्र रूप से पढ़ाई जाती है या शिक्षण का माध्यम है इस नितान्त उपादेय पुस्तक का सहानुभूति तथा आदर के साथ स्वागत किया जायगा।

काशी
२।१।४२

गोपीनाथ कविराज

वक्तव्य

(प्रथम संस्करण)

विश्व एक रहस्यमयी पहेली है जिसे सुलझानेके लिए अनेक शिक्षित तथा सभ्य देशों के चिन्ताशील विद्वानों में श्लाघनीय प्रयत्न किया है। भारतीय अध्यात्मवेत्ताओं ने अपनी सूक्ष्म प्रातिभ चक्षु के बल पर जिन तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, अपनी सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे जिन सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है, वे दर्शन के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली हैं। यही विचारशास्त्र भारतीय सभ्यता तथा धर्म का मेरुदण्ड है। इस जगतीतल पर भारत के मुख को उज्ज्वल रखने में तथा सिरको ऊँचा उठाये रखने में प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पत्ति सर्वथा तथा सर्वदा कारण है। मानसिक पराधीनता के पंक में डूबनेवाले आधुनिक भारतीय पश्चिमी सभ्यता के चाकचिक्य के सामने इन अनुपम रत्नराशियों की अवहेलना भले करें, परन्तु उन्हें याद रखना चाहिये कि यदि भारत प्राचीन काल में गौरवशाली देश था तो इन्हीं के कारण। यदि आज भी भारत की ख्याति बनी हुई है तो इन्हीं के हेतु और यदि भविष्य में भारत की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहेगी, तो पुण्यात्मा पावनचरित अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा साक्षात्कृत इन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों के बलपर। तत्त्वज्ञान तो भारतीय सभ्यता और धर्म की मूल प्रतिष्ठा है। इस तत्त्वज्ञान का प्रभाव प्राचीन काल में बाहरी देशों पर पड़ा था और आज भी इसका प्रभाव किसी न किसी रूप में बाहरी देशों के विद्वज्जनों पर पड़ रहा है। इस तत्त्वज्ञान के उदय और अभ्युदय से परिचित होना प्रत्येक शिक्षित भारतीय का परम कर्तव्य है।

परन्तु परिताप का विषय है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में किसी अधिकारी पुरुष के द्वारा रचित आध्यात्मिक चिन्तनों का प्रामाणिक विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं होता। हिन्दी-जगत् में विषय के गाढ़ अध्ययन करने वाले अधिकारी विद्वानोंकी कमी नहीं है, परन्तु अनेक कारणवश उन्होंने हिन्दी को छोड़कर अंग्रेजी को अपने भाव प्रकट करने का माध्यम बना रखा है। छोटे-मोटे ग्रन्थ अवश्य हैं, परन्तु वे दर्शन-विशेष के विषय में हैं और प्रायः अधूरे ही हैं। अतः ऐसे ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता है जिसमें समग्र दर्शन-साहित्य का सांगोपांग पर्यालोचन नवीन दृष्टि से किया जाय। इसी अभाव को दूर करने के लिए यह मेरा एक लघु प्रयास है।

इस ग्रन्थ में चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भारतीय दर्शन का उपोद्घात, श्रौत दर्शन और गीता दर्शन का वर्णन है। द्वितीय खंड में चार्वाक, जैन और बौद्ध—अर्थात् नास्तिक दर्शनों का विवरण है। तृतीय खंड में सुप्रसिद्ध षड्दर्शनों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त—का विवेचन है। चतुर्थ खंड में तन्त्रों का रहस्य समझाया गया है। तन्त्रों को कुत्सित क्रिया-कलापों से परिपूर्ण तथा हेय बतलाने वालों के आक्षेपों का यथोचित निराकरण कर उनके उन्नत दार्शनिक तत्त्वों की तथा विशुद्ध साधन-प्रणाली की थोड़े शब्दों में व्याख्या की गई है। भारतीय धर्म और सभ्यता के दो प्रतिष्ठापीठ हैं—आगम और निगम। बिना इन दोनों के तात्त्विक विचारों से परिचित हुए उस वस्तु के वास्तव रूप से हम परिचित नहीं हो सकते जिसे 'भारतीय सभ्यता' का महनीय अभिधान प्रदान किया गया है।

प्रत्येक दर्शन का वर्णन तीन शब्दों में किया जा सकता है जो प्रत्येक सकार से प्रारम्भ होते हैं—साहित्य, सिद्धान्त, समीक्षा। 'साहित्य' से मेरा अभिप्राय उस दर्शन के उदय तथा अभ्युदय से है। इस अंश में विशिष्ट आचार्यों की पाण्डित्यपूर्ण कृतियों का उल्लेख है।

'सिद्धान्त' को मैंने पश्चिमी पद्धति के अनुसार तीन भागों में बाँट दिया है—प्रमाणमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा। 'समीक्षा' अंश में उस दर्शन के तत्त्वों का विवेचक दृष्टि से थोड़ी मात्रा में वर्णन है। विशेषतः अन्यदर्शनों के द्वारा विहित आलोचना का समावेश इस अंश में किया गया है। इस प्रकार मैंने इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक उभय शैलियों का संमिश्रण कर विषय का विवेचन किया हैं। अंग्रेजी ग्रन्थों या केवल कच्चे-पक्के अनुवादों के आधार पर लिखी गई पुस्तक में अपसिद्धान्तों के होने की विशेष आशंका रहती है। इसलिए इस ग्रन्थ को मैंने मूल प्रामाणिक संस्कृतग्रन्थों के आधार पर लिखा है और अपने कथन की पुष्टि में मैंने मूल पुस्तक में या पादटिप्पणियों में तत्तत् ग्रन्थों का पर्याप्त उल्लेख किया है तथा विशिष्ट उद्धरण दे दिया है। 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानपेक्षितमुच्यते' की मल्लिनाथी प्रतिज्ञा निभाने का मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है, परन्तु कह नहीं सकता कि मैं इसमें कितना कृत्यकार्य हूँ। दार्शनिक ग्रन्थों की संस्कृतबहुला तथा पारिभाषिक-शब्दसमन्विता भाषा कितने ही जिज्ञासुओं के हृदय में वैरस्य उत्पादन का कारण बनती है। अतः इस ग्रन्थ की भाषा सीधी-सादी बोधगम्य रखी गई है। हमारा उद्देश्य हिन्दी के साधारण पाठकों के सामने भारतीय दर्शन का सरल संक्षिप्त विवरण रखना है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए भाषा तथा भाव दोनों की सुगमता पर विशेष ध्यान दिया गया है। पुस्तक के अन्त में प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची दे दी गई है। आशा है इससे जिज्ञासु पाठकों को विशिष्ट दर्शनों अध्ययन करने में विशेष सहायता मिलेगी।

अन्त में अपने सहायकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते समय मुझे अत्यधिक आनन्द आ रहा है। इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे सब से अधिक सहायता महामहोपाध्याय श्रद्धाभाजन पण्डित गोपीनाथ कविराज जी से प्राप्त हुई है जिनके लेखों तथा मौखिक व्याख्यानों का ही उप-

योग मैंने यहाँ नहीं किया है, प्रत्युत जिन्होंने अपने अमूल्य समय को व्यय कर इसका भली भाँति संशोधन कर दिया है तथा प्राक्कथन लिखकर इसे गौरवान्वित किया है। इस नैसर्गिक कृपा के लिए मैं हृदय से उनका आभार मानता हूँ। सुहृद्वर्य पण्डित बटुकनाथ शर्मा एम० ए० साहित्याचार्य को उनकी विविध बहुमूल्य सहायताओं के लिए मैं धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। बिरला विद्यालय के प्रधानाध्यापक पं० सभापति उपाध्याय, जुबिलीसंस्कृत कालेज (बलिया) के प्रिन्सिपल पूज्यपाद पं० राम उदित उपाध्याय, तथा मित्रवर पं० सत्यांशुमोहन मुखोपाध्याय एम० ए० को उत्साहवर्धन तथा सलाह देने के लिए मेरे अनेकशः धन्यवाद हैं। मेरे अनुज पं० वासुदेव उपाध्याय एम. ए. तथा पं० कृष्णदेव उपाध्याय एम. ए. साहित्यशास्त्री, साहित्यरत्न और चिरंजीवी गौरीशंकर उपाध्याय एम० ए० अनेक प्रकार की सहायताओं के लिए यथोचित आशीर्वाद के पात्र हैं।

अन्त में बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ अपने उद्देश्यकी पूर्ति में सफलता प्राप्त करे। यदि इसके अध्ययन से एक भी हिन्दी पाठक भारतीय दर्शन के प्रति आकृष्ट होगा, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

हिंदू विश्वविद्यालय, काशी
व्यास पूर्णिमा १९८८
७।८।४१

लेखक—
बलदेव उपाध्याय

चार शब्द

(द्वितीय संस्करण)

'भारतीय-दर्शन' का यह नवीन परिवर्धित संस्करण दर्शन के प्रेमी पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मुझे स्वप्न में भी इस बात का ध्यान न था कि इस ग्रन्थ का इतना आदर होगा और हिन्दी के प्रेमियों को यह इतना पसन्द आवेगा। दो साल के भीतर ही इसकी समग्र प्रतियाँ खप गईं। अतः कागज की महँगी के इस युग में बड़ी कठिनाई से इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

इस नवीन संस्करण में अनेक नई बातें स्थान-स्थान पर जोड़ी गई हैं। ग्रन्थकारों के परिचय के सम्बन्ध में जो त्रुटियाँ थीं वे दूर कर दी गई हैं। षड्दर्शन के सिद्धान्तों का संशोधन कर दिया गया है। तन्त्र के परिच्छेद में अनेक ज्ञातव्य विषयों का सन्निवेश किया गया है। 'रसेश्वर-दर्शन' तथा 'पाणिनीय-दर्शन' का परिचय एक दम नया है। जैन तन्त्र, वीर शैवमत तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों की विशेष बातें विस्तार से यहाँ दी गई हैं। पञ्च मकारों का आध्यात्मिक तात्पर्य इस बार प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार संशोधन तथा परिवर्धन से ग्रन्थ की उपादेयता अधिक बढ़ गई है। परिशिष्ट रूपमें पाश्चात्य दर्शनों के भी संक्षिप्त परिचय देने की मुझे बड़ी इच्छा थी, परन्तु इस विषय पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रबल इच्छा से इस कार्य को इस समय स्थगित कर दिया।

आगरा विश्वविद्यालय और हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत एम० ए० परीक्षा में यह ग्रन्थ पाठ्यरूप से अंगीकृत किया गया है। एतदर्थ इन विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को अनेक धन्यवाद। हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिसने इस ग्रन्थ को मंगला प्रसाद पुरस्कार प्रदान कर पुरस्कृत किया है तथा मेरा उत्साह बढ़ाया है। इस ग्रन्थ को अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी निकालने का आयोजन है। अभी इसका गुजराती अनुवाद हो रहा है और अनुकूल परिस्थिति होते ही वह प्रकाशित भी शीघ्र ही होगा।

मेरा विचार विभिन्न दर्शनों के ऊपर स्वतन्त्र पुस्तक लिखने का है। इनमें **'बौद्ध दर्शन'** तथा **'वैष्णव दर्शन'** का सांगोपांग विवेचन लिखकर प्रस्तुत है जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। आशा है हिन्दी जनता 'भारतीय दर्शन' के समान इन्हें भी अपनावेगी।

अन्त में धर्मप्राण सेठ जयदयाल गोयनका का मैं विशेष आभार मानता हूँ जिनकी कृपा से इस ग्रन्थ के छापने के लिए कागज मिल सका है। आर्यधर्म के सच्चे हितैषी श्रीनारायणदास बाजोरिया को भी मैं इस प्रसङ्ग में नहीं भूल सकता जिन्होंने इस दर्शन ग्रन्थ को पुरस्कृत कर अपनी गुणग्राहिता का पर्याप्त परिचय दिया है। आशा है यह नवीन संस्करण पाठकों को अधिक उपयोगी प्रतीत होगा।

काशी
पौष शुक्ल एकादशी
सं० २००१

लेखक—
बलदेव उपाध्याय

वक्तव्य

(नवीन संस्करण)

भारतीय दर्शन के इस नवीन परिवर्धित संस्करण को दर्शन के प्रेमी पाठकों तथा विश्वविद्यालय के छात्रों के सामने प्रस्तुत करते मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में मेरे ग्रन्थों ने पाठकों के चित्त में दर्शन तथा साहित्यके प्रति वास्तव प्रेम उत्पन्न कर दिया है—यह जान कर लेखक को आनन्द का बोध करना स्वाभाविक है। इस ग्रन्थ की सहायता से अनेक व्यक्तियों ने, विशेषत: विश्वविद्यालय के छात्रों ने, भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों को समझने में सफलता पाई है—छात्रों की यह स्वीकृति ग्रन्थकी उपादेयता का स्पष्ट निदर्शन है।

इस नवीन संस्करण में ग्रन्थ का संशोधन किया गया है। विकृत अंश संस्कृत कर दिये गये हैं। भाषा कहीं कहीं सीधी कर दी गई है। इस बार परिशिष्ट में *पाश्चात्य दर्शन* का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है और स्थान स्थान पर पादटिप्पणियों में दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों की समता की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। पाश्चात्य दर्शन का यह परिचय संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण तथा व्यापक है। प्राचीन युग से लेकर आज तक के प्रधान २ दार्शनिक मनीषियों की महनीय चिन्तनायें एक साथ संक्षेप में, परन्तु स्पष्ट रूपमें, दे दी गई हैं। आशा है कि यह परिशिष्ट पाश्चात्य दर्शन के जिज्ञासु पाठकों के लिए विशेष उपयोगी तथा ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा।

इधर इसका पूरक ग्रन्थ '*धर्म और दर्शन*' के नामसे प्रकाशित हुआ है जिसमें विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों का वर्णन एकदम नया है। साथ ही साथ भारतीय दर्शन के अन्य सिद्धान्तों का विशिष्ट तथा विस्तृत विवरण ग्रन्थ की उपादेयता का सूचक है। *बौद्धदर्शन* अब छपकर प्रकाशित ही नहीं हुआ है, प्रत्युत उसने आलोचकों की दृष्टि भी आकृष्ट की है। इस ग्रन्थ पर हिन्दी जगत् का सर्व-श्रेष्ठ पुरस्कार—२१००) रुपयों का हरजीमल डालमिया पुरस्कार—भी दिया गया है। इस ग्रन्थ का सिंघल तथा चीन के बौद्ध विद्वानों के लाभके लिए सिंघली तथा चीन-भाषा में अनुवाद प्रस्तुत कराने का भी आयोजन किया जा रहा है। *आचार्य शंकर* नामक मेरा अन्य दर्शन-ग्रन्थ हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थ में आचार्य का विस्तृत जीवन वृत्त ही उपलब्ध दिग्विजयों के आधार पर प्रस्तुत नहीं किया गया है, प्रत्युत अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त तथा इतिहास का भी यहाँ पर्याप्त रूपसे विवेचन है। '*आचार्य सायण और माधव*' में प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य विद्यारण्य (माधवाचार्य) के सिद्धान्तों का निर्देश उनकी रचनाओं के साथ भली भाँति किया गया है। इस प्रकार पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार 'भारतीय दर्शन' में वर्णित संक्षिप्त सिद्धान्तों का विस्तृत तथा व्यापक विवेचन इन ग्रन्थों में किया गया है। आशा है इनसे पाठकों की दार्शनिक जिज्ञासा किसी अंश में अवश्य तृप्त होगी।

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड पृ० १—११२

प्रथम परिच्छेद पृ० १—४७

तृतीय परिच्छेद ८८-११२

गीता-दर्शन

—:※:—

द्वितीय खण्ड ११३-२२७

चतुर्थ परिच्छेद ११३-१३७

चार्वाक-दर्शन

षष्ठ परिच्छेद १७५-२३७

बौद्ध-दर्शन

———

तृतीय खण्ड २२८-४५५

सप्तम परिच्छेद २२८-७०

न्याय-दर्शन

अष्टमपरिच्छेद २७१-३०९

वैशेषिक दर्शन

नवम परिच्छेद ३१०-४५

सांख्य-दर्शन

दशम परिच्छेद ३४६-६८

योग-दर्शन

विषय पृष्ठ

षोडश परिच्छेद

परिशिष्ट १

पाश्चात्य दर्शन का परिचय

परिशिष्ट २

—:o:—

संकेत सूची

अ० यो० व्य=अन्य योग व्यवच्छेदिका
अभि० को०=अभिधर्म कोष
अहि० स०=अहिर्बुध्न्य संहिता
ऐत० उप०=ऐतरेय उपनिषद्
ऐत० आर=ऐतरेय आरण्यक
का० सू०=काम सूत्र
किरणा०=किरणावली
कौषी०=कौषीतकी उपनिषद्
छा० उप=छान्दोग उपनिषद्
त० कौ०=तत्व कौमुदी
त० वै०=तत्व वैशारदी
त० सू०=तत्वार्थ सूत्र
ता० टी०=तात्पर्य टीका
तैत्ति० उप०=तैत्तरीय उपनिषद
तैत्ति० भा०=तैत्तिरीय भाष्य
द्र० सं० का०=द्रव्यसंग्रहकारिका
दी० नि०=दीघ निकाय
न्या० का०=न्याय कन्दली
न्या० कु०=न्याय कुसुमाञ्जलि
न्या० भा०=न्याय भाष्य
न्या० मं०=न्यायमञ्जरी
न्या० सू०=न्याय सूत्र
प्र० पा० भा०=प्रशस्तपाद भाष्य
बृह० उप०=बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सू०=बृहस्पति सूत्र
ब्र० सू०=ब्रह्म सूत्र
भा० भा०=भास्कर भाष्य
भा० प०=भाषा परिच्छेद
म० सि० सा०=मध्वसिद्धान्तसार
मा० का०=माण्डूक्य कारिका
मा०का०वृ०=माध्यमिक कारिकावृत्ति
मा० मे०=मानमेयोदय
मि० प्र०=मिलिन्द प्रश्न
मी० सू०=मीमांसा सूत्र
मुक्ता०=मुक्तावली
मु० उप०=मुण्डक उपनिषद
यो० भा०=योग भाष्य
यो० सू०=योग सूत्र
वा० प०=वाक्यपदीय
व्या० भा०=व्यासभाष्य
वे० प०=वेदान्त परिभाषा
वे० सा०=वेदान्त सार
वै० सू०=वैशेषिक सूत्र
श्लोक वा०=श्लोक वार्तिक
श्वेता० उप०=श्वेताश्वर उपनिषद
शा० भा०=शाङ्कर भाष्य
शारी० शा०=शारीरक भाष्य
शा० दी०=शास्त्रदीपिका
स० द० सं०=सर्व-दर्शन-संग्रह
स० सि० सं०=सर्वसिद्धान्तसंग्रह
सां० का०=सांख्य कारिका
सां० प्र० भा०=सांख्यप्रवचनभाष्य
सां० सू०=सांख्य सूत्र
ष०द०स०वृ०=षड् दर्शनसमुच्चयवृत्ति

भारतीय दर्शन

प्रथम परिच्छेद

उपोद्घात

भारत का यह पुण्यमय देश सदा से प्रकृतिनटी का रमणीय रङ्गस्थल बना हुआ है। प्रकृति देवी ने अपने करकमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार बनाया है। इसका बाह्य रूप कितना मनोरम है! उत्तर में हिमाच्छादित हिमालय, जिसकी उत्तुंग शिखरश्रेणियाँ मानो बाहरी संसार को भारत की आध्यात्मिक उन्नति का परिचय दे रही हैं। दक्षिणमें नीलाभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चञ्चल लहरिकायें इसके चरणयुगल को प्रक्षालित करती हुई शोभा का विस्तार कर रही हैं। पश्चिम में अरब सागर तथा पूरब में श्याम बंगाल की खाड़ी। मध्यदेश में बहनेवाली गंगा-यमुना की विमल धारायें इसे शस्यश्यामल बना रही हैं। भारत का यह बाह्यरूप जितना ही भव्य तथा मनोहर है, उसका आन्तर रूप उतना ही अभिराम तथा आभामय है। इस जगतीतल पर सभ्यता की जननी यही हमारी भारत-मही है। जिस समय अन्य देश अज्ञानान्धकार के गाढ़ पटल से संच्छन्न होकर अभी बर्बरता का जीवन बिता रहे थे, उस समय इस भारत के गगन में प्रथम प्रभात का उदय हुआ था; ज्ञानसूर्य की प्रकाशमान किरणों ने अविद्या के घने तिमिर-मण्डल को छिन्न-भिन्न किया था। पृथ्वीतल पर सभ्यता का विस्तार करने का श्रेय इसी देश को प्राप्त है। "इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वीतल के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र को सीखा

था''—निखिल मानवोंके कल्याणार्थ स्मृतिकी रचना करनेवाले महर्षि मनु का यह कथन१ कोरी कल्पना नहीं है, अपि तु यह इतिहास की कसौटी पर कसे जाने पर नितान्त सत्य प्रामाणित हो चुका है। कुछ ऐसा ही कारण होगा जिससे इस कर्मभूमि के अजिर में जन्म ग्रहण करने के लिए भोगभूमि स्वर्ग के अधिवासी देवतागण भी लालायित थे तथा यहाँ के निवासियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कभी नहीं अघाते थे२। इसी भारतवर्ष की विद्याओं में से सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मविद्या के महत्त्व तथा स्वरूप, आविर्भाव तथा विकास, की विविध प्रवृत्तियों ने अध्ययन करने का प्रयत्न हम इस ग्रन्थ में कर रहे हैं।

१—'दर्शन' का अर्थ तथा उपयोग

इस संसार में आकर जीवन-संग्राम में अपने को विजयी बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। अन्य जीवित प्राणियों के समान मनुष्य भी अपने को जीवित बनाये रखने के लिए निरन्तर संघर्ष बनाये रहता है; कभी वह लड़ता है अपनी विरोधी परिस्थितियों से और कभी वह संघर्ष करता है उसे दबानेवाले प्रतिपक्षी शत्रुओं से। विभेद इतना ही रहता है कि अन्य जीव बिना विचार

उपयोगिता

---

१ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।
—मनुस्मृति २।२०

२ अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकी स्पृहा हि नः॥
—श्रीमद्भागवत (स्कं० ५, अ० १९, श्लो० २२)।

किये केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर जीवन-संग्राम में लगा रहता है, परन्तु मनुष्य विवेक-प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है, चाहे इसका ख्याल उसे रहता है या नहीं, पर उपयोग करता है वह अवश्य। शान्त चित्त से विचार करने से प्रतीत होगा कि प्रत्येक मानव दृश्य या अदृश्य जगत्-विषयक कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं, का एक समुदाय-मात्र है। निखिल मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार है। गीता (१७।३) कहती है—यो यच्छ्रद्धः स एव सः। श्रद्धाओं के अनुरूप ही मनुष्य होता है, उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसीके अनुरूप उसे फल की उपलब्धि होती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का 'दर्शन' होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। इस तरह दर्शन हमारे जीवन के साथ अनुस्यूत है। हम उसे अपने जीवन से पृथक् नहीं कर सकते। यदि किसी प्रकार कोई उसे निकाल कर अलग फेंकने का दुःसाहस करे, तो उसका जीवन बुद्धि-जीवी चेतन प्राणी का जीवन न होगा। यह तो नैसर्गिक प्रवृत्तियों के दासभूत पशु का जीवन होगा। इसीलिये पशुओं के साथ आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के विषय में समानता होने पर भी मनुष्यों की सबसे बड़ी विशेषता है—धर्म = धारण करनेवाला वस्तु-समुदाय, उसका विवेक, उसका विचार, या उसका दर्शन।

दर्शन का अर्थ

दर्शन शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है — दृश्यते अनेन इति दर्शनम् = जिसके द्वारा देखा जाय। कौन पदार्थ देखा जाय? वस्तु का सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? इस सर्वतो दृश्यमान जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? इसकी सृष्टि का कौन कारण है? वह चेतन है या अचेतन? इस संसार में हमारे लिए कौन से कार्य कर्तव्य हैं? जीवन को सुचारुरूप से बिताने के लिए कौन सा सुन्दर साधन-मार्ग है? आदि

प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का प्रधान ध्येय है। दर्शन को शास्त्र कहते हैं। शास्त्र का अर्थ क्या है? 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति आगम ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाई गई है :—

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।

'शास्त्र' की व्युत्पत्ति दो धातुओं से है--शास्=आज्ञा करना तथा शंस्=प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करनेवाले शास्त्र विधिरूप तथा निषेधरूप होने से दो प्रकार के होते हैं। श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान करने योग्य हैं (विधि) तथा निन्दित कर्म-कलाप सर्वथा हेय हैं (निषेध)। अतः 'शासन' अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए उपयुक्त है। 'शंसक' शास्त्र अथवा बोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के वास्तव सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय। शासन शास्त्र क्रिया-परक होता है, पर शंसक शास्त्र ज्ञान-परक होता है। शंसक शास्त्र के अर्थ में ही शास्त्र का प्रयोग 'दर्शन' शब्द के साथ होता है। धर्मशास्त्र कर्तव्याकर्तव्य का प्रधानतया विधान करने से 'पुरुष-परतन्त्र' है, पर दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप के प्रतिपादक होने से 'वस्तुतन्त्र' है।

'फ़िलासफ़ी' शब्द के साथ तुलना

पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य संज्ञा फ़िलासफ़ी है। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के संमिश्रण से बना हुआ है--'फ़िलास'=प्रेम या अनुराग तथा 'सोफ़िया'=विद्या। अतः इस शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम=विद्यानुराग। ग्रीस देश में इस शब्द का पहले पहल प्रचलन हुआ। प्रसिद्ध ऐतिहासिक हिरोडोटस (विक्रम पूर्व पञ्चम शताब्दी) ने सर्वप्रथम क्रीसस के द्वारा दार्शनिक सोलन के लिए इस शब्द के प्रयोग का

उल्लेख किया है। पेरिक्लीज़ के प्रसिद्ध व्याख्यान में एथेन्स के निवासियों को विद्यानुरागी बतलाने लिए थ्युसिडाइड्स ने भी इस शब्द का प्रयोग किया। सुकरात ने उस समय के प्रसिद्ध, विज्ञान आदि विषयों के व्याख्याता सोफ़िस्ट (ज्ञानोपदेशक) लोगों से अपने को पृथक् करने के लिये अपने आपको फ़िलासफ़र (ज्ञानानुरागी=ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील) बतलाया है[१]। सुकरात के शिष्य अफलातूँ (प्लेटो) तथा प्रशिष्य अरस्तू (अरिस्टाटल) ने इसका प्रचार ही न किया, प्रत्युत इसकी विभिन्न शाखाओं पर प्रामाणिक निबन्धोंका निर्माण कर ये पाश्चात्यदर्शन के वास्तविक प्रचारक बने। इस प्रकार 'फिलासफी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विद्या का प्रेम या विद्यानुराग। जो विद्वज्जन जीव, जगत्, ईश्वर, धार्मिक या सामाजिक तत्त्वों की छानबीन करने में प्रयत्नशील होते थे उन्हें फ़िलासफ़र=विद्यानुरागी कहते थे। इस मूल अर्थ की अधिक व्यापकता के कारण आजकल इसे संकुचित अर्थ मे प्रयोग करते हैं। आरम्भ में फ़िलासफ़ी के अन्तर्गत विज्ञान भी आता था, पर आजकल पाश्चात्य देशों में दर्शन तथा विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है। इस जगतीतल के विभिन्न विषयों के विशिष्ट अध्ययन तथा वर्णन को 'विज्ञान' कहते हैं, जैसे भौतिकविज्ञान, रसायन, ज्योतिःशास्त्र आदि। परन्तु इन विभिन्न विज्ञानों के द्वारा उद्भावित सत्यों का एकीकरण 'फ़िलासफ़ी' का विषय है। अतः ब्रह्माण्ड—जगत्, जीव तथा ईश्वर—के विशिष्ट स्वरूप का अध्ययन विज्ञान में तथा सामान्यरूप का अध्ययन फ़िलासफ़ी में किया जाता है। इस प्रकार सामान्यरूप से 'दर्शन' के लिए 'फ़िलासफ़ी' का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु दोनों के ध्येय में नितान्त पार्थक्य है जिस पर दृष्टिपात न करना अनुचित होगा।

इन दोनों शब्दों की जो व्युत्पत्ति तथा व्याख्या ऊपर दी गई है, उससे

---

१ 'फ़िलासफ़ी' के प्रयोग तथा अर्थ के लिए देखिए—
कुल्पे—इन्ट्रोडक्शन टू फिलासफी (परिच्छेद प्रथम)।

दोनों के उद्देश्य के पृथक् होने की पर्याप्त सूचना मिलती है। फ़िलासफ़ी कल्पना-कुशल कोविदों के मनोविनोद का साधनमात्र है। जगतीतल के अपूर्व, आश्चर्यमय वस्तुओं को देखकर उनके रहस्यों के जानने के लिए, कौतुक को शान्त करने के लिए, फिलासफ़ी की उत्पत्ति बतलाई जाती है। प्रत्येक वस्तु की छानबीन करने में मनमानी कल्पना करने का बाजार पश्चिमी दर्शन जगत् में खूब गरम है। पश्चिम का तत्वज्ञ उस नाविक के समान होता है जो बिना किसी गन्तव्यस्थान के निर्धारण किये ही अपनी नौका विचार-सागर में डाल देता है। उसे इसकी चिन्ता नहीं कि नाव किस घाट लगेगी; अगर वह मीरघाट पर अटक रही तो भी खुशी है; यदि तीरघाट पर लग जाय तो भी आनन्द है। पर भारतवर्ष में दर्शनकार दुःखत्रय—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—के रात्रिंदिव विघात से उद्विग्न होकर इनके आमूल उच्छेद करने की भावना से प्रेरित होता है और साध्य का निश्चय अपनी सूक्ष्म विवेचना शक्ति के आधार पर करके ही वह साधनमार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक दर्शन के कर्ता का मार्ग तथा गन्तव्य स्थान यथार्थतः विवेचित तथा निर्दिष्ट है। उसे अपने मार्ग से भटकने का तनिक भी डर नहीं है। अतः भारतीय दार्शनिक की दृष्टि पाश्चात्य दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक तथा लोकोपकारिणी, सुव्यवस्थित तथा सर्वाङ्गीण होती है।

दर्शन तथा फ़िलासफी में उद्देश्यविषयक पार्थक्य

भारतीय दर्शन का पाश्चात्य दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए पाश्चात्य दर्शन के श्रेणी विभाग का ज्ञान अपेक्षित है। भिन्न २ ग्रन्थकारों ने इसे विभिन्न रीति से किया है, पर निम्नलिखित श्रेणी-विभाग में अधिकांश दार्शनिकों का ऐकमत्य है—

पाश्चात्य दर्शन का श्रेणी विभाग

(१) मेटाफिज़िक्स (तत्त्वमीमांसा)—इस दर्शन का विवेच्य पदार्थ 'सत्' है। इस संसार में प्रकृति स्वयं प्राणियों के सामने सत्य तथा प्रातीतिक सत्य पदार्थों को उपस्थित करती है। अतः 'प्रतीति' से 'सत्' को पृथक् करने में इस दर्शन-विभाग की उपयोगिता है। दो प्रकार की वस्तुओं के निश्चयात्मकरूप से सत्य माने जाने की सम्भावना है–(१) भौतिक पदार्थ (यथा वृक्ष, पर्वत, नदी आदि) तथा (२) मानसिक दशा (यथा सुख, दुख, औदासीन्य आदि)। जिन दार्शनिकों की दृष्टि में भौतिक पदार्थ की ही वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता है और मानसिक दशायें भौतिक सत्यताके आभास मात्र हैं, उन्हें मैटीरिअलिस्ट या नैचुरलिस्ट (भौतिकवादी) कहते हैं। पर जिनकी दृष्टि में सुख दुःखादि मानसिक दशाओं की या मानसमात्र की स्वतन्त्र सत्ता है और भौतिक पदार्थ केवल मानससत्ता के प्रतीतिमात्र हैं उन्हें आइडीअलिष्ट (प्रत्ययवादी) कहते हैं। कुछ दार्शनिक भौतिक तथा मानस दोनों जगतों की निरपेक्ष तथा शाश्वतिक सत्यता को अंगीकार करते हैं, उन्हें ड्युअलिस्ट (द्वैतवादी) की संज्ञा दी जाती है। प्रत्ययवाद के विरोधी सिद्धान्त को रीअलिज़म (वास्तववाद) कहते हैं। इनके मन्तव्यानुसार इस जगत् के पदार्थ उसी रूप में 'सत्' हैं जिस रूप में हम उन्हें अपने इन्द्रियों से साक्षात्कार करते हैं। वास्तववाद प्रत्ययवाद की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा विषय-प्रधान माना जाता है।

(२) एपिस्टोमोलाजी (प्रमाणमीमांसा)—इसका विषय ज्ञान की विवेचना है। इसके भी अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश किया जाता है। ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की प्रामाणिकता, सत्यासत्य का निर्णय आदि विषयों की समीक्षा इस दर्शन में की जाती है। ज्ञान की सीमा के साथ साथ ज्ञान-गम्यता तथा ज्ञानातीतता का विचार संवलित है। कुछ पदार्थ अनुभव के द्वारा अधिगम्य हैं, परन्तु कुछ अनुभव के अतीत हैं; इन दोनों का पृथक्करण नितान्त आवश्यक

है। जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिए अनुभव पर अवलम्बित रहते हैं उन्हें ए पोस्टिओरि (अनुभवजन्य) कहते हैं और जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिए अनुभव से स्वतन्त्र रहते हैं उन्हें ए प्राओरि (अनुभवाजन्य) कहते हैं। इनकी विशद व्याख्या इस दर्शन में की जाती है।

(३) लॉजिक (तर्कशास्त्र)—इसका उपयोग ज्ञान की व्यावहारिक प्रक्रिया के विवेचन में किया जाता है। किसी तर्क को सत्य तथा प्रामाणिक होने ने लिए विशिष्ट नियमों का पालन करना नितान्त आवश्वक है। इन्हीं नियमों का यथार्थ तथा विशद वर्णन लॉजिक में किया जाता है। लॉजिक के दो विभाग हैं—डिडक्टिभ (निगमन)—सामान्य से विशेष का अनुसन्धान तथा (२) इनडक्टिभ—(विशिष्ट दृष्टान्तों का अध्ययन कर सामान्य सिद्धान्त को खोज निकालना) पहले में केवल वैधिक सत्यता आवश्यक मानी जाती है, पर द्वितीय विभाग में वास्तविक भौतिक सत्यता विद्यमान रहती है। इन तीनों विभागों को सामान्यरूप से थिओरेटिकल फ़िलासफ़ी (कल्पनात्मक दर्शन) कहते हैं।

(४) एथिक्स (आचारमीमांसा या कर्तव्यशास्त्र)—आचार या कर्तव्य की मीमांसा इस दर्शन का प्रधान विषय है। मानवमात्र के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वह अपने जीवन को क्यों कर उपयोगी बनावे। इस संसार के ऊपर दो प्रकार के दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। कतिपय विद्वानों की दृष्टि में मानव-जीवन की दशा निसर्गतः बुरी है। जिन कामनाओं की सृष्टि प्रकृति ने सुख की उपलब्धि के उद्देश्य से की है, वे वास्तव में दुःखोत्पादक ही हैं। अतः उनका कथमपि विश्वास नहीं किया जा सकता। इस जगत् में दुःख ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। अतः इससे निराशा की उत्पत्ति ही अन्त में होती है। ऐसे मत का नाम है—पेसिमिजम (नैराश्यवाद)। परन्तु दूसरे दार्शनिकों की दृष्टि में मानव-जीवन स्वभावतः शोभन है।

दुःख आपाततः ही दिखलाई पड़ता है; विषाद मानव-जीवन को कतिपय क्षणोंके लिए ही कलुषित करने में समर्थ होता है, परन्तु अन्त में आनन्द की विजय होती है; दुख का नाश अवश्य होता है। इस मत का नाम है—ऑप्टिमिज़्म—आशावाद। जीवन का ध्येय क्या है? सुख की प्राप्ति या कल्याण की उपलब्धि? 'कर्तव्य' किसे कहते हैं, तथा वह कितने प्रकार का होता है? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है? इन प्रश्नों का समुचित विवेचन एथिक्स में किया गया है।

(५) एस्थेटिक्स (सौन्दर्यमीमांसा)—ग्रीस के प्राचीन दार्शनिकों ने इस विषय का स्वतन्त्ररूप से विवेचन नहीं किया है, परन्तु १८ वीं शताब्दी में यूरोप में इस दर्शन को विशद छानबीन आरम्भ हुई है जो इस समय विस्तृत रूप में दृष्टिगोचर होती है। जर्मन दार्शनिक बाउमगार्तेन ने 'एस्थेटिक्स' शब्द का सबसे प्रथम सौन्दर्यशास्त्र के अर्थ में प्रयोग किया। इस दर्शन को स्वतन्त्र विवेचन का भाजन बनाने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इसके प्रधानतया दो विभाग हैं—(१) सौन्दर्य निर्णय—किसी चीज को सुन्दर मानने का क्या कारण है? किसी वस्तु के अवलोकन से सुख या दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है? 'सुन्दरता' की तात्त्विक व्याख्या क्या है? इन प्रश्नों का उचित उत्तर इस विभाग में मिलता है। (२) व्यावहारिक सौन्दर्य—सौन्दर्य के कलारूप में परिवर्तित होने की व्याख्या है। कला का विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय है। चित्रणीय वस्तु तथा चित्र में कौन-सा सम्बन्ध होता है? कलाकार में प्रकृति, कल्पना, स्मृति आदि किन गुणों की सत्ता होने से सामान्य वस्तु कला के रूप में परिवर्तित हो जाती है? इन्हीं का उत्तर इस विभाग में दिया जाता है।

(६) साइकोलॉजी (मनोविज्ञान)—मन की विविध प्रवृत्तियों का शास्त्रीय विवेचन है। इस दर्शन ने आजकल इतनी उन्नति कर ली है कि इसे अधिकांश आलोचक 'विज्ञान' के अन्तर्गत मानने के पक्षपाती हैं।

आजकल प्रयोग शाला में प्रयोग द्वारा मानसिक दशाओं की शास्त्रीय तथा यथार्थ व्याख्यायें की जाती हैं। डाक्टर फ्रायड ने अपनी मौलिक गवेषणाओं के बल पर मनोविज्ञान के जिस नूतन अंग—साइको-एनेलसिस या मानसिक विश्लेषण—को प्रवर्तित किया हैं उसने दार्शनिक जगत् के बाहर भी एक विशिष्ट क्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

२—भारतीय दर्शन की कतिपय विशेषताएँ

प्रकृति ने इस भारतभूमि को मानव जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर इस देश के अधिवासियों को ऐहिक चिन्ता से निर्मुक्त करके पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः अग्रसर किया है। यह देश निसर्गतः विचार-प्रधान है। अन्य देशों में जीवन-संग्राम इतना भीषण है, दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन की ही समस्याएँ इतनी उलझी हुई हैं, कि उन्हीं के सुलझाने में वहाँ के निवासियों का समय व्यतीत हुआ करता है। जगत् के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की छानबीन करना, यथार्थ रूप से विचार करना, उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएँ हैं; परन्तु भारत में ऐसी दशा नहीं है। मुण्डक उपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को सर्वविद्याप्रतिष्ठा बतलाया है१। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी व्यापक विभूतियों के वर्णन के अवसर पर समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या (विचार शास्त्र या दर्शन शास्त्र, को अपना ही स्वरूप बतलाकर२ उसकी महत्ता पर्याप्तरूपेण प्रदर्शित की है। अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य का कहना है३ कि आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं के लिए

स्वतन्त्र-स्थिति

---

१. स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह (१।१)।

२. अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्—गीता (१०।३२)।

३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।
—कौटिल्य अर्थशास्त्र (१।२)।

दीपक है, सब कर्मों के अनुष्ठान का साधन-मार्ग है तथा सब धर्मों का आश्रय है। जैसी स्वतन्त्रता विचारशास्त्र को इस देश में प्राप्त है वैसी स्वतन्त्रता कहीं भी इसे प्राप्त नहीं हुई। ग्रीसदेश में अपनी उन्नति के समय में, प्लेटो और अरिस्टाटल महत्त्वपूर्ण काल में भी, विचारशास्त्र राजनीति या आचारशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप में अध्ययन का विषय था; माध्यमिक काल में क्रिश्चियन धर्मशास्त्र के साथ तथा उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीति, इतिहास तथा समाजशास्त्र के संग में इसके तत्त्वों का अन्वेषण किया गया है। परन्तु भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र सदा अपने पैरों पर खड़ा रहा है, अध्ययन का स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण विषय रहा है तथा सदा अन्य विद्याओं की प्रगति में सहायता देता आया है।

दर्शन और धर्म

भारतवर्ष में दर्शन शास्त्र की लोक-प्रियता जितनी है उतनी किसी भी अन्य देश में नहीं। पाश्चात्य देशों में दर्शन शास्त्र विद्वज्जनोंके मनोविनोद का साधनमात्र है। जिस प्रकार अन्य विषयों के अध्ययन में वे मनमानी कल्पना किया करते हैं उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण विषय की भी स्थिति है, परन्तु भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का, तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का, गहरा सम्बन्ध है। त्रिविध ताप से सन्तप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशमय संसार से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति करने के लिए ही, भारत में दर्शनशास्त्रका आविर्भाव हुआ है। विचारशास्त्र पण्डितजनों की कमनीय कल्पना का विजृम्भणमात्र नहीं है, अपि तु उसका अधिराज्य इस व्यावहारिक जगतीतल पर है। अन्य देश में विचारशास्त्र तथा धर्म में पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव ही लक्षित होता है, किन्तु भारत में दोनों का सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। जैसा विचार, वैसा आचार। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता

अप्रतिष्ठित है। इन दोनों का सामञ्जस्य जितना इस भारतवर्ष में दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्य किसी देश में नहीं। पश्चिमी विचारशास्त्र के अनेकांश में प्रतिष्ठाता यूनानी दार्शनिक अफलातूँ (प्लेटो) की यह नितान्त विख्यात उक्ति है कि दर्शन का उद्‌गम आश्चर्य से होता है (फिलासफी बिगिन्स इन वन्डर)। आश्चर्यजनक तथा कौतुकमय घटना की व्याख्या से विचार-शास्त्र की उत्पत्ति होती है, परन्तु भारत में तो इसकी उत्पत्ति दुःख की व्यावहारिक सत्ता की व्याख्या तथा उसके निराकरण करने के लिए साधन-मार्ग की विवेचना से होती है। भारतीय जीवन तथा धर्म के ऊपर इतना प्रकृष्ट प्रभाव डालने के कारण ही दर्शन की इतनी लोकप्रियता है।

भारतीय दर्शन की धारा सुदूर वैदिककाल से अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस धारा में विराम के दर्शन तो कभी नहीं हुए।

अविच्छिन्नता

अन्य देशों के दर्शनशास्त्र से तुलना करने पर इस विशेषता की महत्ता का पर्याप्तरूप से अनुभव किया जा सकता है। क्या किसी अन्य देश में विचार-धारा इतने प्राचीनकाल से प्रवाहित हो रही है? आधुनिक काल में महत्ता पानेवाला पाश्चात्य दर्शन क्या अपने जीवन में इतना विपुल विकास पाने में समर्थ हो सका है? पाश्चात्यदर्शन की उत्पत्ति विक्रमपूर्व सातवीं शताब्दी के आस-पास प्राचीन यूनान में हुई, परन्तु उसका प्रवाह चलते-चलते रुक गया; फिर किसी विशेष दार्शनिक का जन्म हुआ और उसके प्रभाव से वह विचारधारा कुछ और अग्रसर हुई। जब तक उसका प्रभाव बना रहता है तबतक इसका प्रवाह भी समीचीनरूप से बहता है, परन्तु उसके प्रभाव के न्यून होते ही यह प्रवाह फिर स्थगित हो जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन की धारा उस नदी के समान है, जो कभी दृष्टिगत होती है और कभी दृष्टि से ओझल हो जाती है। परन्तु भारतीय दर्शन की धारा उस पुण्यसलिला गंगा के समान है जो अनेक क्षुद्र नद तथा विपुलकाय नदियों के जल से

परिपुष्ट होती हुई शुष्क स्थानों को जलाप्लावित तथा क्षेत्रों को शस्यसम्पन्न बनाती हुई अपने निश्चित गन्तव्य स्थान की ओर समभाव से सदैव बहती चली जाती है। इस दीर्घकाल के जीवन में विभिन्न सभ्यताभिमानी जातियों तथा धर्माभिमानी पुरुषों के साथ सम्पर्क होने पर भी भारतेतर विचारों का प्रभाव इस दर्शन पर तनिक भी न पड़ सका। प्रत्युत अपनी विशालता तथा विशुद्धता के कारण इसी ने अन्य दर्शनों के ऊपर प्रकृष्ट प्रभाव जमाने में विशेष क्षमता प्राप्त की। प्राचीन यूनान के विचारक-मूर्धन्य पाइथेगोरस के रेखागणित, धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों पर—विशेषतः पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के ऊपर—भारतीय दर्शन के प्रभावी पड़ने की घटना इतिहास के साक्ष्य पर प्रामाणिक मानी जाती है। सूफ़ी लोगों के उपर वेदान्त तथा तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा ही था। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फ़ारसी भाषा में अनुवाद कर उनके सिद्धान्तों को स्वधर्मावलम्बियों में फैलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। फ़ारसी भाषा में अनूदित इन्हीं उपनिषदों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया गया, जिसके कारण भारतीय विचार की श्रेष्ठता तथा सुन्दरता का परिचय पहले पहल यूरोप के दार्शनिकों को हुआ। इन्हीं अनुवादों को पढ़कर जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहावेर उपनिषदों के सूक्ष्म उन्नत विचारों पर इतने रीझ गये थे कि उन्हें अनेक सिद्धान्तों की स्फूर्ति इन ग्रन्थों से हुई और उन्होंने यह उदार हृदयोद्गार निकाला कि उपनिषद् मेरे जीवन में सन्तोष देनेवाले रहे हैं और मेरे मृत्यु में भी सन्तोष देनेवाले रहेंगे। आजकल भारतीय दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद संसार की समस्त सभ्य भाषाओं में हो गये हैं या हो रहे हैं। और इन अनुवादों के द्वारा भारत के विचारशास्त्र का प्रभाव

---

१ कीथ—रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद।

पृ० ६३४-६३७।

अलक्षितरूप से संसार के धर्मों तथा दर्शनों पर पड़ रहा है। इस प्रकार अन्य किसी विचारधारा से बिना प्रभावित हुए अन्य दर्शनों पर प्रभाव डालने की विशेषता भारतीय दर्शनों की महत्ता सूचित कर रही है।

भारतीय तत्त्वज्ञान भारतीय धर्म के समान उदार तथा व्यापक, विशाल तथा विवेचनात्मक रहा है। पारम्परिक जनश्रुति का बोझ कभी इसके उन्नति-मार्ग में व्याघातक नहीं रहा है। ऐहिक तथा पारलौकि तत्त्वों के विश्लेषण कार्य में तार्किक बुद्धिका उपयोग करने में ही दर्शन की 'दर्शनता' है; यदि धार्मिक परम्परा इस नैसर्गिक कार्य में व्याघातक बनती है, तो विचारों का विकास स्वाभाविक रूप से अग्रसर नहीं हो सकता। यूरोप के माध्यमिक काल में ईसाई धर्म के सम्प्रदाय ने दर्शन का गला घोंट डाला। वह उस धर्म के अस्वाभाविक, तर्क विरोधी सिद्धान्तों की पुष्टि करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगा। फलतः माध्यमिक काल में यूरोपीय तत्त्वज्ञान की बाढ़ रुक गई, वह धर्म के स्रोतहीन जलाशय के ऊपर ही तैरता रह गया। परन्तु इस पुण्यमय भारत देश में ऐसी विषम स्थिति कभी उपस्थित ही नहीं हुई। आरम्भ से ही भारतीय तत्त्वज्ञान समीक्षात्मक रहा है और तार्किक बुद्धि की कसौटी पर धर्म के माननीय सिद्धान्तों को भी कसने तथा परखने से वह कभी नहीं हिचकता। ईश्वर जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के ऊपर भी वह अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करने में तनिक भी पीछे नहीं हटता। सांख्य ने ईश्वर की सत्ता के विषय में मौनावलम्बन करना ही श्रेयस्कर समझता, यद्यपि उसे निश्चय है कि वह तार्किक युक्तियों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता[१]। योग एक निरतिशय ज्ञान-सम्पन्न परम पुरुष की कल्पना को स्वीकार करता है[२], परन्तु नैयायिकों के भाँति वह

विवेचनात्मकता

---

१. ईश्वरासिद्धेः—सांख्यसूत्र १।९२।

२. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—योगसूत्र १।२४।

उसे जगत् का कर्ता मानने के लिए उद्यत नहीं है। कर्म मीमांसा खण्डन करने के लिए पूर्व पक्ष के रूप में ईश्वर का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करती है[1], क्योंकि जगत् के समस्त व्यवहार के लिए वह कर्म को ही सर्व-प्रधान स्थान देती है। प्राचीन बौद्धों (हीनयान मतावलम्बियों) को तथा जैनों को इस संसार के कार्य-कलाप की व्याख्या के लिए ईश्वर के प्रति तनिक भी पक्षपात नहीं है[2]। भौतिकवादी चार्वाकों ने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर का निराकरण किया है, वैदिक विधिविधानों की अस्वाभाविक तथा तर्क विरुद्ध होने के कारण खुले शब्दों में खिल्ली उड़ाई है, ब्राह्मण पुरोहितों पर गालियों की बौछार की है, परन्तु भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में वेद-बाह्य चार्वाक उतना ही महत्त्व रखते हैं जितने वेदानुयायी नैयायिक; निरीश्वरवादी सांख्य को उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जितना ब्रह्म-प्रतिपादक वेदान्त को। इस प्रकार भारत के तत्त्वज्ञान में जो व्यापकता, जो उदार-हृदयता, जो विवेचना शक्ति आलोचकों की दृष्टि को आनन्दित करती है, वह अन्य देश के तत्त्वज्ञान में अप्राप्य ही है।

व्यापक दृष्टि

सदा सत्यान्वेषण के प्रति नितान्त श्रद्धालुता इस विशाल-हृदयता की कुञ्जी है। भारतीय दार्शनिकों में पारस्परिक दृष्टिकोण में कितना भी अन्तर हो, पर वे प्रतिपक्षी के मत का समुचित उत्तर दिये बिना स्वमत के स्थापन में उद्यत नहीं होते। सामान्य रीति से प्रतिपक्षी के मत का प्रतिपादन पहले किया जाता है; इसे कहते हैं पूर्वपक्ष। अनन्तर प्रबल युक्तियों का प्रयोग कर उसका निराकरण करनेका प्रयत्न किया जाता है—खण्डन। इसके बाद इन युक्तियों के आधार पर अपने मत का प्रमाणपुरःसर उपपादन किया जाता है जिसे कहते हैं उत्तर-

---

१. मानमेयोदय (अड्यार संस्करण) पृ० १६६-१७१।

२. देखिए इसी ग्रन्थ में इन दर्शनों का वर्णन।

पक्ष (पिछला मत) अथवा सिद्धान्त। प्रतिपक्षी के प्रति इस श्रद्धालुभाव के कारण भारतीय दर्शन के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में चमत्कारिणी सर्वाङ्गीणता का दर्शन हमें होता है। वेदान्त के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ को ले लीजिए। उसमें अन्य मतों—बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्यादि—के सिद्धान्तों की चर्चा पूर्वपक्षत्वेन अवश्य की गई उपलब्ध होगी। किसी उच्चकोटि के जैन या बौद्ध ग्रन्थ में इसी प्रकार ब्राह्मणमतों की समीक्षा तत्तत् दृष्टिकोण से अवश्य की गई होगी। पाश्चात्य दर्शनों में विवेचित सिद्धान्तों का भी विवेचन भारतीय दर्शन में कहीं-न-कहीं अवश्य किया गया मिलता है।

भारतीय तत्वज्ञान की व्यापक दृष्टि को हम एक दूसरे प्रकार से प्रमाणित करना चाहते हैं। 'सत्' की व्याख्या करने में यहाँ के दार्शनिकों ने

अनुभव की पूर्ण व्याख्या

अनुभवगम्य विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अनुभवकर्ता विषयी की ओर। तर्क-बुद्धि का अनुसरण कर आत्मा को तुच्छ अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य था। इस प्रकार "आत्मानं विद्धि"—आत्मा को जानो—भारतीय दर्शनों का मूलमन्त्र रहा है। किन्तु शुष्क तार्किक युक्तियों के सहारे आत्मा का ज्ञान परोक्ष न होकर अपरोक्ष होना चाहिए। इसके लिए भारतीय मनोविज्ञान ने मानस प्रक्रिया का यथार्थ निरूपण किया है। जिस प्रकार इस दृश्यमान विविधता के अन्तस्तल में विद्यमान एकता के परखने की शिक्षा देनेवाला वेदान्त सूक्ष्म तात्विक विवेचन की पराकाष्ठा को सूचित करता है, उसी प्रकार विभिन्न मानस वृत्तियों का सर्वाङ्गीण निरूपण कर योग तत्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है। भारतीय दर्शन की आलोचना करने से दो सामान्य सिद्धान्त दृष्टिगत होते हैं—पहला है नानात्मक प्रपञ्चकी पारमार्थिक एकता। यह है तार्किक सिद्धान्त—वेदान्त। दूसरा है ध्यान-धारणा समाधिके द्वारा इस अनुस्यूत एकता के मूलतत्व आत्मा का साक्षात् अनुभव। यह है

व्यावहारिक सिद्धान्त (योग)। भिन्न २ दर्शनों में भी इन सिद्धान्तों की मान्यता आंशिकरूपेण या पूर्णरूपेण स्वीकृत की गई है। मनोवैज्ञानिक आधार के ऊपर ही तत्त्वज्ञान का विशाल दुर्ग खड़ा किया जाता है। मनोविज्ञान बतलाता है कि अवस्थायें तीन होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तथा इन्हीं का आश्रय लेने से चैतन्य भी तीन प्रकार का होता है। पाश्चात्य दर्शन जाग्रत् अवस्था को ही समझाने में व्यस्त है। जाग्रत् दशा की व्याख्या रहने से द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद (प्लूरलीज़म) के समर्थक तत्त्वज्ञान का उदय होता है। स्वप्नदशा की व्याख्या विषयी-प्रधान दर्शन की जननी है और सुषुप्ति का मार्मिक निरूपण रहस्यवाद (मिस्टिसिज़म) का जनक होता है। पाश्चात्य दर्शन इस त्रिविध अनुभव के एक अंशमात्र की व्याख्या करने में संलग्न है, परन्तु भारतीय दर्शन ही इस अनुभव के प्रत्येक अंश को ग्रहण कर उसका यथार्थ निरूपण करने में समर्थ हुआ है। अतः इसकी व्यापकता, विविधरूपता, समन्वय-क्षमता तथा उदारहृदयता सर्वतोभावेन प्रमाण-प्रतिपन्न है। यह विशेषता अन्य संकीर्ण सिद्धान्त-वाले दर्शनों से इसका पार्थक्य दिखलाने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्राचीनता तथा स्वतन्त्रता, व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता को देखकर भारतीय सभ्यता तथा धर्म का अभिमानी कौन ऐसा पुरुष होगा ? जिसका हृदय आनन्द से गद्गद न हो जायेगा, जिसका मस्तक अभिमान से उन्नत न हो जायेगा और जिसकी वाणी प्रशंसा से प्रवर्तित न हो जायगी।

रहस्यवाद

३—भारतीय दर्शन का लक्ष्य

आर्यावर्त के प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियों ने इस विश्व की पहेली को समझाने का जो प्रयत्न अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर किया है वह विचार-शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त गौरव की वस्तु है। इन अनेकरूपात्मक, क्षण क्षण में विलक्षण रूप धारण करनेवाले, पदार्थों के अन्तस्तल में विद्य-

मान रहनेवाली एकरूपता, अनेकता के भीतर एकता को खोज निकालना प्राचीन वैदिक ऋषियों की दर्शनशास्त्र को बहुमूल्य, महत्त्वपूर्ण देन है। जिस प्रकार परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्त्व विद्यमान है, उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है—ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम है ब्रह्म तथा पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा है आत्मा। प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का ऐक्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है। ब्रह्म कोई अलभ्य तथा अलौकिक और अद्भुत पदार्थ नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक प्राणी अपने भीतर नियामक (अन्तर्यामी) आत्मा के रूप में उसी की सत्ता का अनुभव किया करता है, इसीलिए ब्रह्म का साक्षात्कार करने तथा उसे पहचानने का सबसे बड़ा उपाय है आत्मा को पहचानना और उसका साक्षात्कार करना। जगत् के समस्त प्रिय पदार्थों में श्रेष्ठ पदार्थ आत्मा ही है।

आत्मा की प्रेष्ठता

क्या आत्मा की प्रेष्ठता प्रमाणित करने की आवश्यकता है? जीवन के समस्त कार्य-कलापों के बीच इसीकी शक्ति काम करती हुई दीख पड़ती है। किसी जगह से शुरू कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्मा के ही ऊपर पर्यवसान होगा। शिक्षालयों के छात्र कितनी लगन से विद्याध्ययन में प्रवृत्त रहते हैं! किस उद्देश्य से? ज्ञान-प्राप्ति की कामना से। ज्ञानोपलब्धि का फल है धन, धन से कौटुम्बिक सुख, कौटुम्बिक सुख से अन्तिम लाभ है आत्मसुख। इसीसे हम कहते हैं कि कहीं से देखा जाय प्रिय पदार्थों की गणना में आत्मा ही प्रियतम (प्रेष्ठ) ठहरता है। इस विशाल विश्वरूपी वृत्त के केन्द्र में स्थित होनेवाला है—यही आत्मा। प्रियतम होने के कारण ही पुत्रवत्सला करुणामयी माता की भाँति श्रुति उपदेश देती है कि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करो—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।" मुक्ति की कल्पना में पर्याप्त मतभेद होने पर भी विभिन्न दार्शनिक इस विषय में

नितान्त एकमत हैं—"आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिः मोक्षः ।" आत्मा का ज्ञान कराना, चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न हो, प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है ।

याज्ञवल्क्य का उपदेश

बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४) का यह आख्यान नितान्त सुप्रसिद्ध है कि वृद्धावस्था आने पर दार्शनिक-शिरोमणि याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति का विभाग अपनी दोनों पत्नियों—कात्यायनी तथा मैत्रेयी—के बीच में कर दिया । तब विदुषी मैत्रेयी ने अस्थिर लौकिक सम्पत्ति के ग्रहण करने में बड़ी अनास्था दिखलाई और पूछा कि यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे लिये धन से पूर्ण हो जाय तो क्या मैं उससे अमरत्व को प्राप्त कर सकूँगी ? 'बिल्कुल नहीं' महर्षि ने उत्तर में कहा । "तुम्हारा जीवन उस आदमी के जीवन के समान होगा जिसे आनन्द की समस्त सामग्रियाँ प्राप्त हैं, परन्तु केवल धन प्राप्ति से अमरत्व की उपलब्धि होने की तनिक भी आशा नहीं है ।" "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" । तब मैत्रेयी ने पुनः पूछा कि जिससे अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती उस धन को लेकर मैं क्या करूँगी ? मैं तो अमरत्व की भूखी हूँ । तब महर्षि ने उससे सम्पत्ति से बढ़ कर प्रियतर वस्तुओं का नाम पूछा । मैत्रेयी ने ऐसी अनेक वस्तुओं का नाम लिया । इस उत्तर को सुनकर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में सदा अमर रहेगा । उन्होंने कहा, "पति के लिये पति प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिये । पत्नी के लिये पत्नी प्यारी नहीं है बल्कि आत्मा के लिये । पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिये । संसार की समस्त वस्तु अपने लिये प्यारी नहीं होती, बल्कि आत्मा के लिये । अतः सर्व से प्रिय वस्तु है आत्मा । इसलिये हे मैत्रेयी ! इस आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये तथा निदिध्यासन (सतत ध्यान करना)

चाहिये। क्योंकि आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है।"

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः ॥

आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति" (बृह० उप० २।४।५) ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य का यह उपदेश भारतीय दर्शन तथा धर्म की मूल भित्ति है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा का साक्षात्कार—आत्मा का साक्षात् अनुभव-है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिये उपनिषद् त्रिविध साधन का उपदेश देता है—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। आत्म-तत्व श्रवण करना चाहिये श्रुति वाक्यों से, मनन करना चाहिये तार्किक युक्तियों से तथा निदिध्यासन करना चाहिये योग-प्रतिपादित उपायों के द्वारा—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा तु सततं ध्येयः, एते दर्शनहेतवः ॥"

आत्म-साधना के त्रिविध साधन

श्रवण—आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान उन्हीं ग्रन्थों से हमें प्राप्त करना चाहिये जिनमें आत्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के साक्षात् अनुभव का संकलन है। भारतीय साहित्य में ऐसे ग्रन्थ-रत्न वेद हैं। साक्षात्-कृतधर्मा महर्षियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा अपरोक्ष रूप से अनुभूत अध्यात्म तत्त्वों की राशि ही का दूसरा नाम 'श्रुति' है। इसीलिये भारतीय दर्शनमें वेदों की इतनी महत्ता है। क्योंकि जिन ग्रन्थकारों ने स्वानुभूति के अभाव में परानुभूति के द्वारा उद्भावित आध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन किया है, उनके वचन हमारे लिये सर्वतोभावेन मान्य नहीं हो सकते। इसीलिये महर्षियों की स्वानुभूति को प्रदर्शित करनेवाली श्रुति तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के प्रकट करने में सब से

अधिक प्रमाण मानी जाती है[१]। इसीलिये आत्म-तत्त्व-विचार के लिये भगवती श्रुति का शरण लेना परमावश्यक है।

मनन—आत्मानुभव का दूसरा साधन मनन है। मनन युक्तियों के सहारे किया जाता है। वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त निःसंदिग्ध हैं, संशय के लिये उसमें कोई भी स्थान नहीं है, तथापि मनन अनावश्यक साधन नहीं है। किसी वस्तु-स्वरूप के विषय में वास्तविक संशय के समान काल्पनिक सन्देह के निराकरण में तर्क ही नितान्त समर्थ होता है। बिना तर्क का उपयोग किये किसी वस्तु का स्वरूप हृदयंगम नहीं किया जा सकता। परानुभूति को स्वानुभूति में परिणत करने का प्रधान उपाय होना चाहिये उसके विषय में निःसंदिग्ध ज्ञान। और इस ज्ञान के एकमात्र उपयोगी होने से मनन की अवहेलना किसी प्रकार नहीं की जा सकती। इसी मनन-रूपी द्वितीय साधन के परमोपयोगी होने से दर्शनों का वास्तविक मूल्य है। दर्शनों ने इसी प्रमेय सिद्धि को लक्ष्य में रखकर स्वमतानुसार प्रमाण तथा उसकी पद्धति का विवेचन बड़े शास्त्रीय ढंग से किया है। प्रमाणों का वास्तविक उपयोग प्रमेयकी सिद्धि हीमें होता है। "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" (सांख्यकारिका, कारिका ४)। इसीलिये मननोपयोगी दर्शनों ने प्रमाण-मीमांसा को इतना अधिक महत्त्व दिया है।

निदिध्यासन—आत्म-साधना का तृतीय साधन है—निदिध्यासन। योग दर्शन में यह साधन प्रधानतया वर्णित तथा विवेचित है 'अष्टाङ्ग-योग' निदिध्यासन ही का उपाय है। ध्यान के द्वारा जब तक आत्मा का स्वानुभव नहीं होता तब तक परानुभूति के निरन्तर श्रवण तथा मनन का उपयोग ही क्या है? दिक्, काल से अनवच्छिन्न, शान्त, तेजःस्वरूप, परमात्मा की सत्ता का प्रधान मान है—स्वानुभूति, अपने आपका अनुभव। इसलिये

१ धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः—मनु (२।१३)

भर्तृहरि ने ब्रह्म को "स्वानुभूत्येकमान" बतलाया है*। ध्यान ही इसके लिये प्रधान साधन है। विपक्षियों के अतात्त्विक विचारों के सतत श्रवण करने से हमारे हृदय में शाश्वतिक तथ्यों के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न होती रहती है। इनका निराकरण तभी किया जा सकता है जब मनन के द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों का निरन्तर चिन्तन किया जाय। इन भ्रान्तियों को अपने हृदय से बिना उन्मूलित किये सच्चे सिद्धान्तों की कल्पना बद्धमूल नहीं हो सकती। इसलिये निदिध्यासन आत्म-साधन का अन्तिम उपाय बतलाया गया है।

आत्म-साधन के इन त्रिविध साधनों में केन्द्रभूत उपाय—मनन—का निरूपण भारतीय दर्शनों की सहायता से ही किया जा सकता है। इसलिये दर्शन के साथ भारतीय धर्म का नितान्त घनिष्ठ संबंध है। ये आपस में एक दूसरे के उपकारी हैं। धर्म के सहयोग से भारतीय विचार-शास्त्र की जीवन के ऊपर व्यापक दृष्टि आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा दर्शन की आधार शिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म तर्काविरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार इस पुण्य भूमि भारतवर्ष में गंगा और यमुना के सम्मिलन के समान, धर्म तथा दर्शन का मधुर मिलन भारतीय संस्कृति के परम सामंजस्य का सूचक है। कतिपय सिद्धान्तों में पार्थक्य होने पर भी मननात्मक होने के कारण इन दर्शनों का ऐक्यभाव सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले विचारकों के सामने परोक्ष नहीं है। इन समानताओं का वर्णन यथास्थान आगे किया जायेगा।

---

* दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥

भर्तृहरि—नीतिशतक श्लो० १

४—भारतीय दर्शन पर मिथ्या आरोप

हमारे देश की वर्तमान अवनत दशा पर चार आँसू बहाने वाले आलोचकों का सर्वमान्य निश्चय हो गया है कि भारतीय दर्शन के सार्वत्रिक प्रचार तथा लोकप्रिय होने के कारण ही भारत में अकर्मण्यता का राज्य छाया हुआ है; भारत के अधिवासी मधुमय स्वप्नों में ही इतने व्यस्त हैं कि ठोस जाग्रत जगत् की वस्तुओं तथा जीवित घटनाओं के प्रति नितान्त उदासीन बने हुए हैं और भारत की विद्यमान हीनावस्था इसी विचार-परम्पराजन्य अकर्मण्यताका उज्ज्वल परिणाम है। भारतीय दर्शन के ऊपर नैराश्यवाद (पेसिमिज़म) के प्रचारक होने का लाञ्छन लगाया जाता है। परन्तु दर्शन की तात्त्विक समीक्षा करने पर क्या यह आरोप क्षणमात्र के लिए भी टिक सकता है ? नैराश्यवाद की धूमिल रेखा भारतीय दर्शन के प्राञ्जल नभोमण्डल को कलुषित करती हुई आपाततः अवश्य दृष्टिगोचर होती है; परन्तु वास्तव में वह रेखा कतिपय क्षण के लिए ही विद्यमान रहती है। गगनमण्डल पर अच्छी तरह दृष्टिपात करने से निश्चय रूप से यही प्रतीति होती है कि यह क्षणिक रेखा उसे अधिक प्रभाभासुर बनाकर सदा के लिए विलुप्त हो जाती है। वर्तमान से असन्तोष हुए बिना मनोरम भविष्य की कल्पना ही मानव हृदय में कभी जाग्रत नहीं हो सकती। यदि वर्तमान से असन्तुष्ट होने से भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का मिथ्यारोप लगाया जाता है, तो दर्शनमात्र निराशावादी सिद्ध होने लगेगा। इस भवसागर में क्लेश—लहरों के थपेड़ों को खानेवाला जीव पद-पद पर विपत्तियों के आक्रमण से विदलित होकर अपने जीवन को निराशामय ही पाता है और उससे बचने के लिए तरह तरह के उपाय सोचता है। इसी दुःखत्रय के विघात के कारण उत्पन्न जिज्ञासा भारतीय दर्शन की उद्गम भूमि है[१]। भारत का तत्त्वज्ञान इस

नैराश्यवाद

१ दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ—सां० का० १

दुःख-बहुल वर्तमान जगत् के वास्तविक स्वरूप के समझने तथा इससे उद्धार पाने के उपायों के निरूपणमें अपनी सारी शक्तियोंको खर्च कर देता है, जिससे निराशामय जगत् में आशा का संचार होने लगता है, क्लेश का स्रोत आनन्द के प्रवाह में परिवर्तित हो जाता है। भला ऐसे आदर्श को मानने वाले दर्शन को निराशावादी कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

अकर्मण्यता का दोषारोपण उसी प्रकार निःसार, भ्रान्त तथा अज्ञान-मूलक है। भारतीय-दर्शन कर्मवाद के सिद्धान्त को मानने वाला है।

अकर्मण्यता

प्राणियों के जीवन पर उनके किये गये कर्मों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ता है; शुभ कार्यों का फल शुभ परिणाम का दायक होता है तथा अशुभ कर्मों का पर्यवसान क्लेश तथा दुःख में होता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर दुःखद वर्तमान को सुखमय भविष्य में परिवर्तन करने की आशा रखने वाला भारतीय तत्त्वज्ञान प्राणियों को अकर्मण्यता की कुशिक्षा क्यों कर देगा? इसका कारण समझ में नहीं आता। साधारण जनता की कौन कहे, शिक्षित समाज में भी यह धारणा बद्धमूल-सी हो गई है कि मायावादी वेदान्त इस जगत् को मायिक तथा असत्य बतलाता है तथा इससे भाग खड़ा होने में ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझता है। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्तिमूलक है। श्रीशङ्कराचार्य ने जब उपनिषदों के महत्त्वपूर्ण उपदेशों को 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस श्लोकांश में निर्दिष्ट कर जगत् के मिथ्यात्व की शिक्षा दी, तब उनका ध्यान इस सुशिक्षा की कुत्सित व्याख्या की ओर शायद ही गया होगा। त्रिकालाबाधित ब्रह्म के साथ तुलना करने पर ही जगत् की पारमार्थिक सत्यता में विरोध प्रतीत होता है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानने पर भी व्यावहारिक दशा में उसकी सत्यता प्रमाणप्रतिपन्न है। जिस जगत् में प्राणी जनमते हैं, प्रकृति के अनुसार भिन्न प्रकार के कर्मों को करते हैं और अन्त में मरते हैं, व्यवहार के लिए

नितान्त सत्यभूत उस ठोस संसार की सत्यता को कौन दार्शनिक स्वीकार नहीं करता ? मायावादी शङ्कराचार्य का जीवन चरित ही इस आरोप के निराकरण करने के लिए पर्याप्त साधन है। बत्तीस वर्ष के छोटे काल में इस परममेधावी दार्शनिक-शिरोमणि ने वह कार्य कर दिखाया है जो उनसे चौगुनी आयु वाले विद्वानों की शक्ति के मान का नहीं है। सोलह वर्ष की उम्र में विचार-प्रधान अमर भाष्य-ग्रन्थों की रचना करना, तथा उनकी सहायता से इस विशाल भारत के कोने-कोने में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए मठों की स्थापना करना, धर्म को जाग्रत रखने के लिए निवृत्ति प्रधान संन्यासियों के सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करना तथा वेदबाह्य बौद्धों को परास्त कर इस भूभाग से अनेकांश में निकाल बाहर कर देना—कोई हँसी खेल का काम नहीं था। इन्हें वही समुचित रीति से सम्पन्न कर सकता था जो नितान्त कर्मपारायण हो। अतः श्रीशङ्कराचार्य की यह कर्मठता, यह अलौकिक कार्यकुशलता उनकी शिक्षा के ऊपर भाष्यरूप है। मायावाद के प्रचारक होने पर भी शङ्कर जैसे कर्मठ विद्वान् इस भारतभूमि पर विरले ही हुए हैं।

श्रुति और तर्क

भारतीय तत्त्वज्ञान अपने सिद्धान्तों को श्रुति की कसौटी पर कस कर ही उन्हें विशुद्ध, सत्य तथा प्रामाणिक मानता है। तर्क-बुद्धि से विचारित तत्त्वों की प्रामाणिकता श्रुति से अविरोधी होने पर ही स्वीकार की जा सकती है। श्रुति के प्रति इस समधिक आदर बुद्धि से प्रतारित आलोचक भारतीय-दर्शन-शास्त्र को अन्धविश्वासी, युक्तिनिरपेक्ष सिद्धान्तों का प्रतिपादक (डाग्मेटिक) बतला सकता है; पर यह कल्पना भी अन्य कल्पनाओं के समान सारहीन है। तर्क का कोई अन्त नहीं है। वह स्वयं अप्रतिष्ठित है। तर्क से निश्चित सिद्धान्तों का खण्डन अन्य प्रबलतर तर्कों के द्वारा किया जा सकता है। अतः केवल तर्क के

आश्रय पर किसी तथ्य का निश्चय करना नितान्त भ्रमात्मक है[१]। साक्षात्कृत-धर्मा ऋषिजनों के प्रातिभ चक्षु द्वारा अपरोक्ष दृष्ट तथ्यों की राशि का ही दूसरा नाम श्रुति या वेद है[२]। वेद के सामने परममेधावी शंकर, रामानुज जैसे विचारकों के भी मस्तक नत हो जाते हैं। अतः वेद का आश्रय लेना भारतीय तत्त्वज्ञान के अन्धविश्वास का सूचक नहीं है, अपि तु ऋषियों के द्वारा अनुभूत अपरोक्ष ज्ञान का सहारा लेना है। इसीलिए वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने आगम की प्रकृष्ट प्रशंसा की है। उनका कहना है[३] कि विभिन्न आगमदर्शनों की सहायता से प्रज्ञा विवेक को—सत्, असत्, सार तथा निःसार के विवेचन की शक्ति को—प्राप्त करती है। अपने ही तर्क के अनुसरण करने से किन तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है? पुराण तथा आगम की सहायता के बिना जिस किसी तत्त्व की उत्प्रेक्षा करने वाले तथा वृद्धों के अनुपासक पुरुषों की विद्या कथमपि प्रसन्न नहीं हो सकती। यदि वेद के आश्रय लेने से तर्क में किसी प्रकार की रुकावट होती, तो उसे हम अमान्य बतलाते। परन्तु यहाँ तो बात दूसरी है। विशुद्ध तर्क-प्रणाली के सहारे निश्चित किये गये सिद्धान्तों की प्रामाणिकता जाँचने के लिए दार्शनिक लोग

---

१ यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥ —वाक्यपदीय १।३४

२ प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

—सायणाचार्य (तैत्ति० भाष्य भूमिका)

३ प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥
त त्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति॥ —वाक्यपदीय १

श्रुति का ही आश्रय लिया करते हैं; क्योंकि जैसे ऊपर दिखलाया गया है श्रुति योगज अनुभव के द्वारा उद्भावित सिद्धान्तों की रमणीय राशि है। अतः श्रुति के ऊपर दार्शनिकों का यह पक्षपात उन्हें अन्धविश्वासी नहीं बना सकता।

भारतीय दर्शन पर अप्रगतिशील होने का आरोप भी उसी प्रकार भ्रान्ति-मूलक है। दार्शनिक विचारकों की मीमांसा के गहन विषय—आत्म, जगत्, ईश्वर आदि—प्राचीन भले हों, परन्तु दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न दृष्टियों से उनके विवेचन करने में पर्याप्त मौलिकता दिखलाई है। ये परम-गहन विषय प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं, क्योंकि इनकी गहनता सदा इन्हें नवीन बनाये हुए है। टीकाकारों ने व्याख्या लिखते समय अपने स्वतन्त्र अथवा प्रगल्भ विचारों को प्रकट करने में अपनी निर्भीकता तथा विचारस्वतन्त्रता प्रकट की है। अतः भारतीय दर्शन नितान्त प्रगतिशील है। उसने श्रुति के कारागार में अपने को बद्ध कर जीवन के नवीन विषयों की विवेचना करने में कभी अक्षमता नहीं दिखलाई है। अतः यह आरोप भी अनुपयुक्त ही सिद्ध होता है।

५--भारतीय दर्शन के श्रेणीविभाग तथा कालविभाग

हिन्दू ग्रन्थकारों ने भारतीय दर्शनों को दो विभागों में विभक्त किया है—आस्तिक तथा नास्तिक। इस प्रसङ्ग में व्यवहृत इन शब्दोंकी कल्पना एक विशिष्ट अर्थ में की गई है। (१) साधारण 'आस्तिक' का अर्थ बोलचाल की भाषा में 'आस्तिक' ईश्वर की सत्ता माननेवाले को तथा 'नास्तिक' उस सत्ता के निषेध करनेवाले को कहते हैं। परन्तु इस प्रचलित अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग दर्शनों के साथ नहीं किया गया है। आस्तिक दर्शनों में अन्तर्भुक्त होने पर भी कर्म-मीमांसा कर्म की महत्ता स्वीकार कर तथा फल के लिए

'अपूर्व' की कल्पना को प्रमाणयुक्त मानकर ईश्वर का निषेध करती है तथा सांख्य प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक संयोग से सृष्टि-कार्यकी सुसम्पन्नता मानकर ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है। बौद्ध जैन तथा चार्वाक दर्शनों के लिए ईश्वर सत्ता के निषेधक होने के हेतु 'नास्तिक' शब्द प्रयोग के उपयुक्त भले हो, पर मीमांसा तथा सांख्य का आस्तिक दर्शनों के भीतर अन्तर्भाव नितान्त अनुचित होगा। (२) पाणिनि ने इनकी शास्त्रीय व्याख्या अपनी अष्टाध्यायी में की है। 'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' अर्थात् परलोक की सत्ता में विश्वासशील पुरुष। आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक शब्दों की व्युत्पत्ति 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४।४।६०) इस सूत्रसे ठक् प्रत्यय के द्वारा सिद्ध मानी गई है। इस व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ में व्यवहृत होने पर जैन तथा बौद्ध दर्शनों की भी गणना आस्तिकमतों में होने लगेगी, क्योंकि इन दर्शनों में भी अन्य दर्शनों के समान कर्म-सिद्धान्त अंगीकृत है तथा परलोक की सत्ता में इन्हें पक्का विश्वास है। इस दृष्टि से चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन ठहरेगा। (३) अतः यहाँ 'आस्तिक' का प्रयोग पूर्वोक्त दोनों अर्थों में न होकर एक तीसरे ही अर्थ में किया गया है। 'आस्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे तथा 'नास्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता का समर्थक न हो कर उसका निन्दक है। मनु ने वेद-निन्दक को ('नास्तिको वेदनिन्दकः' मनुस्मृति २।११) नास्तिक माना है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया गया है। वेद की प्रामाणिकता मानने से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त प्रधानतया आस्तिक दर्शन माने जाते हैं तथा वेद की प्रामाणिकता न मानने से चार्वाक, जैन तथा बौद्ध नास्तिक माने जाते हैं। इस दृष्टि से ईश्वर, वेद तथा परलोक को न माननेवाला चार्वाक ही पक्का नास्तिक है। चार्वाक की नास्तिकता चतुरस्र है।

परन्तु भारतीय दर्शनों का यह श्रेणी-विभाग उतना युक्तियुक्त नहीं है। पाञ्चरात्र संहिता, शैव संहिता तथा शाक्त संहिता में वैदिक तथा वेद-बाह्य सिद्धान्तों का विचित्र सम्मिलन है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२) में बादरायण ने पाञ्चरात्र तथा शैव सिद्धान्तों को अवैदिक मानकर इनका सप्रमाण खण्डन किया है। पाञ्चरात्र के अंश को शङ्कराचार्य खण्डनात्मक मानते हैं, परन्तु रामानुजाचार्य के मन्तव्यानुसार सूत्रों में पाञ्चरात्र का मण्डन किया गया है। इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि पाशुपत तथा पाञ्चरात्र के सिद्धान्त नितान्त वेद-सम्मत स्वीकार नहीं किये जाते थे। शिवमहिम्नः स्तोत्र में 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति' पद्यांश में पाशुपत मत तथा वैष्णवमत की त्रयी से पृथक् गणना करने का तात्पर्य भी यही है। अतः तन्त्रमूलक दर्शनों का निर्वाह पूर्वोक्त वर्गीकरण के स्वीकृत होने पर कहीं न हो सकेगा। क्योंकि इनके सिद्धान्तों—(चतुर्व्यूह की कल्पना, आदि) को वेदानुकूल न मानने पर भी कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, दुःखात्यन्त-निवृत्ति आदि अनेक सिद्धान्तों की वेदानुकूलता स्पष्ट है। अतः इन आगम ग्रन्थों के आधार पर निर्मित दर्शनों की उपपत्ति के लिए पूर्वोक्त आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का श्रेणी-विभाग नितान्त अनुपयुक्त है।

इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में श्रुति तथा गीता के आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का वर्णन किया जायेगा जो सर्वसाधारण में 'नास्तिक' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। तृतीय खण्ड में उन षड्दर्शनों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म-मीमांसा तथा वेदान्त—का विवेचन किया जायेगा जो श्रुतिमूलक होने से आस्तिक दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इसके पश्चात् चतुर्थ खण्ड में भक्ति की भव्य कल्पना को महत्त्व देनेवाले तथा आगम की मूलभित्ति पर अवलम्बित होनेवाले पाञ्चरात्र, शैव तथा शाक्त दर्शनों के सिद्धान्तों का वर्णन किया जायेगा। साधारणतया बौद्ध दर्शन

के चार सम्प्रदायों—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक—में विभक्त होने से नास्तिक दर्शन भी आस्तिक दर्शनों के समान छः प्रकार का होता है और इन्हीं बारह दर्शनों का विवेचन प्रचलित दर्शन-पुस्तकों में उपलब्ध होता है। परन्तु आगममूलक दर्शनों का विवेचन न करना एक बड़ी भारी त्रुटि है। भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगमागम मूलक है, एक धारा है निगम-मूलक और दूसरी है आगम-मूलक। अतः इन द्विविध विचार-धाराओं से प्रभावित दर्शनों का निरूपण करना व्यापक दृष्टि से नितान्त उपयुक्त है।

काल-विभाग

भारतीय दर्शन के इतिहास को हम तीन निश्चित कालों में बाँट सकते हैं—(१) वैदिक काल—यह काल बड़े महत्त्व का है। इस काल में ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय संहिताओं में संकेतित तत्त्वों का विकास ब्राह्मण तथा आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों में पूर्णरूपेण सम्पन्न हुआ है। उपनिषदों में हम अनेक तत्त्वों की पर्यालोचना पाते हैं। इन तत्त्वों का विवेचन आत्म-स्फूर्ति या प्रातिभ ज्ञान के बल पर इतनी सुन्दर रीति से किया गया है कि वे हमारे अन्तस्तल को स्पर्श करते हैं। उपनिषत्कालीन दार्शनिकों के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके द्वारा चरम तत्व का साक्षात्कार किया गया था; अन्यथा उनके वर्णनों में इतनी तलस्पर्शिता, रोचकता तथा सरलता नहीं होती।

(२) आदिम उत्तरवैदिक काल—यह काल वैदिक धर्म के विरोध का युग है। उपनिषद्काल में ही अनेक वेद-विरोधी मतों की दबी हुई अस्फुट वाणी हमें सुनाई पड़ती है, परन्तु इतनी अस्फुटता से कि उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं होता। परन्तु उपनिषदों के महत्त्वशाली युग के बीतते ही इन विरोधी दलों ने अपनी वाणी ऊँची की; ये अपने मतों की

घोषणा उच्च स्वर से करने लगे। इन विरोधी दलों में आजीवक तथा चार्वाकका प्रभाव तो थोड़ेही समय तक व्यापक था, परन्तु जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने अपना प्रभाव इतना जमा लिया कि अवान्तर काल में ब्राह्मण दार्शनिकों से वे सदा टक्कर लेते रहे तथा साधारण जनता के प्रेम-पात्र होने से अपनी वृद्धि करने में कृतकार्य हुए।

(३) दर्शनकाल—इस काल को हम दो अवान्तर विभागों में बाँट सकते हैं—(क) सूत्रकाल तथा (ख) वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय यथा वैशेषिक, सांख्य तथा योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। उपनिषदों में सूचित तथ्यों को ग्रहणकर दार्शनिकों ने विभिन्न मतों की स्थापना इसी युग में की। सूत्रों की रचना का यह अभिप्राय नहीं है कि उसी समय से दर्शन का आरम्भ होता है, प्रत्युत ये सूत्र अनेक शताब्दियों की आध्यात्मिक गवेषणा के परिनिष्ठित फल-स्वरूप हैं। सूत्रों में पारस्परिक निर्देश उपलब्ध होते हैं। वेदान्त सूत्रों (३।४।२८) में मीमांसा का उल्लेख है, न्याय सूत्र (अ० ३, आ० २) वैशेषिक सूत्रोंसे परिचित है। सांख्यसूत्र (पञ्चमाध्याय) अन्य दर्शनों के सिद्धान्त का निर्देश करता है। इन सूत्रों के रचनाकाल के विषय में विद्वान् लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं, परन्तु मोटे तौर से ४०० विक्रम पूर्व से २०० विक्रम पूर्व तक इनका निर्माण-काल स्वीकृत किया जा सकता है।

(ख) वृत्तिकाल—सूत्रोंकी शब्दावली इतनी स्वल्प तथा निगूढ़ है कि वृत्ति की सहायता के बिना इसका अर्थ बोधगम्य नहीं होता। अतः भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना सूत्रों के रहस्य समझाने के लिए इस युग में की गई। शबर तथा कुमारिल, वात्स्यायन तथा प्रशस्तपाद, शङ्कर तथा रामानुज, वाचस्पति तथा उदयन—के आविर्भाव-काल होने का श्रेय इसी युग को प्राप्त है। टीकाकार होने से इनकी रचनाओं की मौलिकता कम नहीं है, प्रत्युत मूल लेखक के समान ही ये भी नितान्त प्रामाणिक हैं। इनकी

सहायता से प्राचीन आचार्यों के मतों का रहस्योद्घाटन ही नहीं होता, प्रत्युत अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना कर ये तत्तद्दर्शनों के सिद्धान्तों को विकसित करनेवाले हैं। तार्किक युक्तियों के द्वारा प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करना इस काल की विशेषता है। उपनिषद् के पृष्ठों में स्फुरित तत्त्वों की तर्क के द्वारा स्थापना करना इस युग के लिए एक गौरवकी वस्तु है। यह काल ३०० विक्रमीसे लेकर१५०० विक्रमी तक माना जा सकता है

भारतीय दर्शन के काल विभाग की यही सामान्य रूप-रेखा है। परन्तु पूर्वोक्त काल-विभाग एकदम नियमित तथा सुव्यवस्थित नहीं हैं। हमने इस ग्रन्थ में इन तीनों युगों के दर्शनों का परिचय दिया है। दूसरे परिच्छेद में श्रौत दर्शन के वर्णन के रूप में वैदिक कालीन तत्वज्ञान के सम्मान्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण है। गीता, चार्वाकमत, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का आविर्भाव दूसरे युग से सम्बन्ध रखता है जिनका भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड में निरूपित दर्शनों का विवेचन तीसरे युगका विषय है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में भारतीय दर्शन के विभिन्न युगों के विकास का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया गया है। भिन्न-भिन्न कालों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की चर्चा तत्तत् स्थानों पर उचित रीति से की गई है।

६—भारतीय दर्शनों का विकास

सत्यान्वेषण के प्रति भारतीय विद्वज्जनों का आग्रह अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है। 'सत्' की उपलब्धि के विविध विभिन्न मार्गों को जिस सूक्ष्मता से तथा पुंखानुपुंखरूप से इन्होंने खोज निकाला है वह वास्तव में विचारशील पण्डित मण्डली के आदर का विषय है। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभामूलक या

वैदिक युग में द्विविध प्रवृत्तियाँ—प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक

प्रज्ञामूलक (इन्ट्यूशनिस्टिक) है जो प्रातिभचक्षु के द्वारा तत्त्वों के विवेचन में कृतकार्य होती है। दूसरी प्रवृत्ति तर्कमूलक (रैशनलिस्टिक) है जो तत्त्वों की समीक्षा के लिए तर्क या तार्किक बुद्धि के प्रयोग को नितान्त समर्थ मानती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन तथा ब्रह्म का साक्षात्कार। यदि ऋग्वेद के एक महर्षि प्रातिभ ज्ञान के बल पर जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व के अन्वेषण करने में समर्थ होते हैं—आनीदवातं स्वधया तदेकम्[1] (उस समय एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी, जीवित थी), तो दूसरे महर्षि की यह प्रोत्साहना तर्कमूलक प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण बतलाई जा सकती है—संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्[2] (आपस में मिलो, किसी विषय का विवेचन करो तथा एक दूसरे के मन को जानो) इन्हीं उभय प्रवृत्तियों का प्रभाव वैदिक युग में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना के लिए तर्कमूलक प्रवृत्ति का उपयोग करने पर मीमांसा की उत्पत्ति हुई। वेद के यज्ञयागादिकों में आपाततः उपलभ्यमान विरोधों के परिहार के लिए तार्किक बुद्धि के उपयोग करने से मीमांसा के मूलरूप का आविर्भाव हुआ। प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक—उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से उपनिषद् के तत्त्व-ज्ञान का जन्म हुआ। औपनिषद-तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध मानने वाले प्रज्ञामूलक वेदान्त में हुआ। साथ ही साथ उपनिषद् काल में शुद्ध तर्कमूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह होता था जिससे प्रकृति-पुरुष के द्वैत को स्वीकृत करने वाले सांख्य, व्यावहारिक योग, बहुत्ववादी वैशेषिक तथा न्याय की उत्पत्ति

---

१ ऋग्वेद—१०।१२९।२।

२ ऋग्वेद—१०।१९१।२।

कालान्तर में हुई। कुछ दार्शनिकों ने वेद से सम्बन्ध-विच्छेद कर निरपेक्ष-भाव से अपनी स्वतन्त्र तार्किक बुद्धि से तत्वों की समीक्षा की, जिसका परिणाम हुआ जैनियों का स्याद्-वाद, बौद्धों का शून्यवाद और विज्ञानवाद तथा चार्वाकों का भूतात्मवाद। अतः उपनिषदों से ही समग्र भारतीय दर्शनों का विकास सम्पन्न हुआ है।

षड्दर्शनों का विकास-क्रम

उपनिषदों के अनन्तर भारतीय तत्वज्ञान के विविध सम्प्रदायों की उत्पत्ति की कथा बड़ी मनोरम है। औपनिषद तत्वज्ञान का पर्यवसान 'तत्वमसि' मंत्र में था। इस मंत्र के द्वारा उपनिषद् के ऋषि लोग डंके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्वं (जीव) तथा तत् (ब्रह्म) पदार्थों में नितान्त एकता है। परन्तु उपनिषद् पश्चात् युग की विषम समस्या थी कि इस तत्व का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय। कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि विभिन्न गुणवाले पुरुष तथा प्रकृति—जीव तथा भौतिक जगत्—के परस्पर गुणों के ठीक-ठीक न जानने से ही (अनात्मख्याति) यह संसार है और प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थ रूप को जान लेने पर तत्-त्वं की एकता सिद्ध होती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति=सांख्य। परन्तु केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम नहीं चलता देख उसे व्यवहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति ध्यान-धारणा की व्यवस्था करने वाले योग से हुई। इस प्रकार सांख्य योग एक ही तत्वज्ञान के दो पक्ष हैं—बौद्धिक पक्ष का नाम है सांख्य तथा व्यवहार-पक्ष की संज्ञा है योग। अनन्तर जीव-जगत् के यथार्थ निर्धारण के लिए इनके गुणों (विशेषों) की छानबीन करना नितान्त आवश्यक हुआ। इस आत्मा तथा अनात्मा के गुण विवेचन के लिए वैशेषिक की उत्पत्ति हुई; परन्तु वस्तु के रूप का विवेचन ज्ञान-प्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव में सुसम्पन्न नहीं हो सकता। अतः इस ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए न्याय

का जन्म हुआ। परन्तु न्याय को शुद्ध तर्क पर अवलम्बित होने से यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्म-तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी। "वेद को लौट जावो"—इस सिद्धान्त का प्रचार होने लगा। दार्शनिकों ने वेद के कर्मकाण्ड की विवेचना करना आरम्भ कर दिया और इस विवेचना का फल हुआ मीमांसा का उद्गम। परन्तु मानवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ केवल कर्म की उपासना से तृप्त नहीं हो सकीं। अतः अगत्या ज्ञानकाण्ड की मीमांसा होने लगी जिसका पर्यवसान 'वेदान्त' में हुआ। इस प्रकार औपनिषद 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए ही पूर्वोक्त क्रम से षड् दर्शनों की उत्पत्ति हुई।

बौद्धदर्शन का उदय

अब जैनधर्म तथा बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात कीजिए। इन्हें औपनिषद परम्परा से बहिर्भुक्त मानना नितान्त अनुचित है; ये उस परम्परा तथा विचारधारा को रोकनेवाले स्वतन्त्र दर्शन या धर्म न थे, प्रत्युत परिस्थिति तथा परिवर्तन के वश उस परम्परा में उत्पन्न होने वाली बुराइयों तथा त्रुटियों को दूर करनेवाले सुधारक सम्प्रदाय थे। उपनिषद्-पश्चात् युग की समस्या—ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे किया जाय?—के उत्तर में गौतम बुद्ध का कहना था—इस विषम संसार के आवागमन की जननी तृष्णा के उच्छेद करने से तथा अखिल स्वार्थ-परायणता तथा जनन-मरण के प्रधान कारणभूत आत्मा के अस्तित्व में विश्वास न करने से तथा सुन्दर सात्त्विक जीवन व्यतीत करने से। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती—यह सिद्धान्त बुद्ध को भी मान्य था, पर आचार की सहायता से शरीर की शुद्धि बिना किये मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि का अधिकारी नहीं होता। अतः बुद्ध ने

आचार मार्ग पर ही विशेष जोर दिया है और जगत् के मौलिक तत्त्वों के अनुसन्धान को समय का दुरुपयोग बतलाया है।

जैनदर्शन की उत्पत्ति

जैनधर्म के आचार्य तीर्थङ्करों के सामने भी वही आचार-विषयक व्यावहारिक समस्या थी जिसके सुलझाने के लिए उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान का अन्वेषण कर निकाला। जैनदर्शन सत्य की सापेक्षता का पक्षपाती है। उसका निश्चय है कि सत्य की खोज में लगनेवाले समग्र दर्शन 'आंशिक सत्य' को ही प्राप्ति में कृतकार्य हुए हैं; अतः वे 'विकलादेश' हैं। केवल जैन दर्शन नय (वस्तु का एक दृष्टिकोण) तथा स्याद्वाद (वस्तु किञ्चित् है या नहीं है या अव्यक्त है--आदि सिद्धान्त) के पक्षपाती होने से सत्य के समस्त स्वरूप का विवेचक है। अतः वह 'सकलादेश' है। इस प्रकार वस्तु तत्त्व के नानात्मक होने के इस सिद्धान्त को 'अनेकान्तवाद' के नाम से पुकारते हैं। इस अनेकान्तवाद के ऊपर जैनधर्म का समस्त आचार मार्ग अवलम्बित है।

इस प्रकार श्रुति से विभिन्न दर्शनों की उत्पत्ति हुई। ऊपर निर्दिष्ट विकासक्रम ऐतिहासिक न हो कर, तार्किक है। उपनिषदों से किन शता-

दार्शनिक साहित्य का विकास

ब्दियों में भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का विकास सम्पन्न हुआ, इसे हम ठीक-ठीक नहीं बतला सकते। हम इतना ही कह सकते हैं कि इन सम्प्रदायों का विकास समानन्तर रूप से होता रहा। उपनिषदों के पश्चात् इन सिद्धान्तों का ऊहापोह विशेष मात्रा में होता रहा। अनन्तर इन्हे सूत्ररूप में एकत्र करके प्रत्येक दर्शन के मूलभूत ग्रन्थ की रचना की गई। इन सूत्रों में स्वमत प्रतिपादन के साथ-साथ परमत का खण्डन भी सूक्ष्मरीति से किया गया मिलता है। न्याय सूत्रों की रचना महर्षि गौतम ने की, वैशेषिक सूत्रों की कणाद ने, सांख्य-सूत्रों की कपिल ने; योगसूत्रों की पतञ्जलि ने,

कर्ममीमांसा सूत्रों की जैमिनि ने तथा वेदान्त सूत्रों का निर्माण किया बादरायण व्यास ने। ये महर्षिगण तत्तत् दर्शनों के सिद्धान्तों के केवल सूत्रकार हैं, मूल प्रवर्तक नहीं। क्योंकि इन दर्शन-सूत्रों की रचना के बहुत पहिले ही इन दर्शनों के सिद्धान्त की उत्पत्ति हो चुकी थी। सूत्र अत्यन्त सूक्ष्म रूप में लिखे गये हैं। आरम्भ में मौखिक व्याख्या की सहायता से ये बोधगम्य होते थे। बिना व्याख्या के सहारे इनका समझना नितान्त दुरूह व्यापार है। अतः कालान्तर में इनके ऊपर व्याख्यान-ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिन्हें 'भाष्य' कहते हैं। भाष्य के ऊपर 'वार्तिक' तथा व्याख्या ग्रन्थों की परम्परा मूल सूत्रों को सुबोध बनाने तथा विपक्षियों के द्वारा किये गये आक्षेपों के निराकरण के उद्देश्य से लिखी गई है। इस प्रकार दार्शनिक साहित्य की महती श्री-वृद्धि सम्पन्न हुई है।

कभी-कभी एक ही सूत्र ग्रन्थ पर आपस में विरोधी भाष्य ग्रन्थों का निर्माण हुआ है जिससे मूल सूत्रों का तात्पर्य समझना नितान्त कठिन कार्य हो जाता है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर ऐसे ही परस्पर विरोधी भाष्य ग्रन्थ निर्मित हुए हैं जिनमें शाङ्करभाष्य अद्वैत का, रामानुजभाष्य विशिष्टाद्वैत का, मध्वभाष्य द्वैत का, निम्बार्कभाष्य द्वैताद्वैत का तथा वल्लभभाष्य शुद्धाद्वैत का प्रतिपादक है। इन विभिन्न भाष्यों पर भी कालान्तर में सिद्धान्तानुकूल वृत्ति ग्रन्थों की रचना होती रही है जिसके कारण वेदान्त दर्शन का साहित्य भारतीय-दर्शक-साहित्य के इतिहास में सबसे बड़ा, विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। वेदान्त के अनन्तर ग्रन्थ-सम्पत्ति के अनुरोध से न्याय का नम्बर आता है। इन दर्शनों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का वर्णन प्रत्येक संप्रदाय के सिद्धान्त-विवेचन के पहले संक्षेप रूप में किया जायेगा।

ऊपर निर्दिष्ट षड्दर्शन के सिद्धान्तों में पार्थक्य होने पर भी कतिपय

अंशों में उनमें समानता दीख पड़ती है। हिन्दू दार्शनिक अधिकार-भेद से दर्शन-भेद की चरितार्थता स्वीकृत करते हैं।

षड्दर्शन का श्रेणी विभाग

मनुष्य का मानसिक विकास निसर्गत: भिन्न-भिन्न श्रेणी का है। सब मानवों को विचारधारा एक ही प्रवृत्ति को लेकर प्रवृत्त नहीं होतो। दर्शन के व्यावहारिक होने से यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यों के बौद्धिक विकास के अनुरूप ही दर्शनों का निर्माण होना चाहिये। इसका ध्यान भारतीय दर्शन में सुन्दर ढंग से रखा गया है। दर्शन का विकास स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म की ओर बढ़ने में है। सबसे स्थूल तथा प्रत्यक्षगम्य वस्तु है—यह जगत् तथा इसका अनुभव। अतः जगत् के अनुभव की व्याख्या (उसके विश्लेषण) करने में प्रवृत्त होनेसे न्याय-वैशेषिक की गणना सर्व-प्रथम की जाती है। अनन्तर सांख्य-योग की गणना है जो मानस अनुभव तथा मानसिक प्रक्रिया के वर्णन में विशेष रूप से व्यस्त हैं। मीमांसा तथा वेदान्त का स्थान इन दोनों दर्शनों के अनन्तर है। मीमांसा धर्म का तथा वेदान्त परमात्मतत्त्व का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार षड्दर्शनों की तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं—

(१) न्याय तथा वैशेषिक; (२) सांख्य तथा योग (३) कर्ममीमांसा (मीमांसा) तथा ज्ञानमीमांसा (वेदान्त)। परस्पर विभिन्नता के सद्भाव में भी इनमें विशेष समानता है जिसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

७—भारतीय दर्शनों की पारस्परिक समानता

किसी देश का विचारशास्त्र उस देश की सभ्यता और संस्कृति का सब से मूल्यवान् पदार्थ होता है। उस देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव विचारशास्त्र की विभिन्न धाराओं पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः किसी देश में उत्पन्न होनेवाले विचारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में सिद्धान्तों की पृथक्ता भले ही दिखलावें, परन्तु वातावरण में समानता होने के कारण इन संप्रदायो के मतो में अनेक समानभाव

दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के भी अनेक सिद्धान्तों में एकता दृष्टिगोचर होती है।

सब से बड़ी विशेषता भारतीय दर्शनों की यह है कि उनका उद्देश्य व्यावहारिक है। जनता के आधि-व्याधि-प्रपूरित विषम दैनिक जीवन से हट कर वे किसी शान्त, नीरव, काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं करते। विपद्ग्रस्त प्राणियों को विपत्ति से सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करा देना उनका प्रधान लक्ष्य है। उनका लक्ष्य मानसिक कौतूहल का निराकरणमात्र नहीं है, अपि तु ऐसा जीवन व्यतीत करना सिखलाना है जो राग-द्वेष के तुमुल द्वन्द्व-युद्ध से बहिष्कृत होने के कारण नितान्त आदरणीय और स्पृहणीय है।

व्यावहारिक उद्देश्य

इस व्यावहारिक उद्देश्य का कारण यह है कि भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन के आध्यात्मिक असन्तोष के ऊपर अवलम्बित है। भारतीय दर्शन को नैराश्यवाद के लाञ्छन से बचाते हुए हमने ऊपर दिखलाया है कि यह नैराश्यवाद आरम्भिक है, आवसानिक नहीं। वर्तमान से असन्तोष, दिन-प्रति दिन की दुःखद घटनाओं से आध्यात्मिक नैराश्य, विचारशास्त्र का जनक होता है; इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हम पहले ही कर चुके हैं। दुःखमय वर्तमान से असन्तोष हुए बिना सुखमय भविष्य की कल्पना दुराशा-मात्र है। इसलिये भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय इस मौलिक प्रश्न को लेकर आगे बढ़ते हैं। बुद्ध ने निरतिशय गाढ़ समाधि के बल पर जिन चार 'आर्य सत्यों' को खोज निकाला वे समग्र सम्प्रदाय में उसी प्रकार माननीय हैं। व्यास[1] तथा विज्ञानभिक्षु[2] का यह

वर्तमान से सन्तोष

---

१ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद्यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षः मोक्षोपाय इति। व्यासभाष्य २।१५

२. सांख्यप्रवचन भाष्य पृ० ६

कथन नितान्त सत्य है कि अध्यात्मशास्त्र चिकित्सा शास्त्र के समान चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र रोग, रोग-निदान, आरोग्य, तथा भैषज्य—इन चार तथ्यों के यथार्थ निरूपण में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार आध्यात्म-शास्त्र दुःख, दुःख-हेतु, मोक्ष तथा मोक्षोपाय-इस सिद्धान्त-चतुष्टय को मूलभूत मानकर इनकी व्याख्या में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहता है। इस जगत् के कार्य-कलाप पर दृष्टिपात करने पर विवेकी जन इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यह संसार नितान्त दुःखमय है तथा दुःख ही परम सत्य-भूत पदार्थ है[१]। यह पहिला सत्य है। दूसरा सत्य इस दुःख का कारण द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग है (यो. सू. २।१७)। तीसरा सत्य यह है कि इस दुःख का आत्यन्तिक निरोध (रोकना) है और अन्तिम सत्य इस निरोध के मार्ग की व्याख्या करने में है। इस प्रकार भारतीय दर्शन दुःख-सत्ता को इस जगती तल पर विद्यमान मान कर अवश्य प्रवृत्त होता है, परन्तु वह वहीं समाप्त नहीं हो जाता। प्रत्युत आगे बढ़ कर उसके आत्यन्तिक निवारण का मौलिक उपाय खोज निकालता है। सांख्य कारिका के आरम्भ में विचार शास्त्र की प्रवृत्ति का यही कारण बतलाया है[२]। इस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय में वर्तमान दशा से असन्तोष प्रकट कर उसके सुधारने की प्रवृत्ति साधारण रूप से पाई जाती है। भारतीय संस्कृति में निराशावाद के अभाव का साहित्यिक प्रमाण भी है। संस्कृत-नाटकों में दुःखान्त नाटक (ट्रैजीडी) का अभाव है। संस्कृत नाटककार मनुष्यमात्र के हृदय में आशा-संचार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर दुःखमय अन्त दिखालाने की कभी कल्पना ही नहीं करता। नाटक के भीतर दुःखमयी घटनाओं का प्रदर्शन

---

१ दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। हेयं दुःखमनागतम्।

—योग सूत्र २।१५, १६।

२ दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ

—सां० का०, का० १

करने पर भी वह अन्तमें इन्हीं घटनाओं को सुखमयी और आनन्द-वर्धिनी घटनाओं के रूप में परिवर्तित करने मे तनिक भी नहीं हिचकता।

मनुष्य स्वभाव से ही आशावादी है। निराशावाद की कालिमा उसके जीवन तथा विचार के नभो-मण्डल को क्षण भर के लिये भले ही दूषित कर दे, परन्तु आशावाद की नैसर्गिक प्रवृत्ति इस कालिमा को बहुत शीघ्र धो डालने में समर्थ होती है। क्रान्तदर्शी कविजनों की तथा सिद्ध पुरुषों की दृष्टि ने इस तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण बहुत ही पहिले कर लिया था कि इस विश्व में अव्यवस्था के लिये तनिक भी स्थान नहीं हैं। प्रत्युत सर्वत्र व्यवस्था ने अपना साम्राज्य जमा रखा है। यह जगत् व्यवस्था-नर्तकी की मनोरम रङ्गशाला है जिसकी छोटी से छोटी वस्तु भी यदृच्छा से प्रवृत्त नहीं होती, प्रत्युत एक व्यापक नियम के वशीभूत होकर अपने जीवन का विस्तार करती है। दिन के अनन्तर रात का आगमन, नित्य प्रातःकाल सुवर्णमय रश्मिओं को छिटकाते हुए पूर्व क्षितिज पर भगवान् सविता का मंगलमय उदय, रात्रि के समय रजतरश्मिओं का विस्तार करने वाले सुधाकर का आविर्भाव तथा क्रमशः वृद्धि और ह्रास आदि प्राकृतिक दृश्य-का निरीक्षण करने वाले वैदिक ऋषियों के हृदय में यह विश्वास स्वाभाविक रीति से उत्पन्न हो गया कि इस जगत् के मूल में व्यवस्था का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। ऋग्वेद के ऋषियों ने इस अपरिवर्तनीय नैतिक व्यवस्था को 'ऋत' की संज्ञा दी है। इस जगत् में सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला यही 'ऋत' ही है। 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' (ऋ० वे० १०।१९०।१) ऋत की उत्पत्ति पहले हुई, तदनन्तर सत्य का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। भारतीय दार्शनिकों ने इसी 'ऋत' के सिद्धान्त को भिन्न २ रूपों में अपनाया है। वैदिक कार्यकलाप अनुष्ठान किये जाने पर सर्वथा लुप्त नहीं हो जाते, प्रत्युत एक 'अपूर्व' की सृष्टि करने में वे समर्थ होते हैं। यही

नैतिक व्यवस्था में विश्वास

अपूर्व फलोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतः मीमांसा ने ऋत को ही 'अपूर्व' के रूप में अंगीकार किया है। न्याय-वैशेषिक में 'अदृष्ट' की कल्पना का मूल आधार 'ऋत' की यही वैदिक कल्पना है।

कर्म सिद्धान्त

जगत् की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्मसिद्धान्त है, जिसे प्रत्येक दर्शन स्वीकार करता है, जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता (कृतप्रणाश) और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं वह पूर्वजन्म में किये गए कर्म का ही परिणाम है—बिना कारण उद्भूत होनेवाला नहीं है (कृताभ्युपगम)। कर्मसिद्धान्त का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में यदृच्छा के लिए कोई भी स्थान नहीं, सर्वत्र नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य विराजमान है। कर्मसिद्धान्त के अंगीकार करने से मनुष्य के आन्तरिक शक्तियों के विकाश के लिए उसे पर्याप्त अवसर मिलता है। कर्मसिद्धान्त की उत्पत्ति उपनिषद् काल मे हुई थी [१] और वेदमूलक दर्शनों के समान जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने इस सिद्धान्त को वहीं से ग्रहण किया है।

अविद्या से बन्धन तथा विद्या से मुक्तिलाभ

संसार के जितने बन्धन हैं उनका एकमात्र कारण अविद्या है। अविद्या से ही इस जगत् में प्राणीमात्र का जन्म-मरण हुआ करता है तथा वह अपने को विपुल क्लेशों का भाजन बनाये हुए है, इस सिद्धान्त को भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदाय एक रूप से स्वीकार करते हैं। अविद्या के स्वरूप निरूपण में भी सर्वत्र ऐकमत्य है। योग सूत्रों

---

१ (क) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।

—बृह० उप० ३।२।१३

(ख) योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा-कर्म यथा-श्रुतम्॥

—कठ० उप० २।५।७.

के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या कहलाता है (अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या यो० सू० २।५) । यह अविद्या ही अन्य समस्त अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश-क्लेशों की जननी है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अनिर्धारण अविद्याका सामान्य लक्षण है। समस्त तत्वज्ञ ज्ञान की सहायता से इस अविद्या के निराकरण करने की युक्तियों को बतलाते हैं। ज्ञान ही मुक्ति का एकान्त उपाय है ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—यह औपनिषद सिद्धान्त सबको समभाव से मान्य है।

मोक्ष

तत्व ज्ञान के साधन से केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति ध्येय नहीं है, अपि तु उसका उपयोग व्यावहारिक जगत् के तापत्रय—अध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सन्तापों—से सदा के लिए प्राणीमात्र को छुटकारा प्राप्त कराने में है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है। इसी कारण जैनधर्म के आचार्यों की संज्ञा 'तीर्थङ्कर' है। इस शब्द का अर्थ है नदी के ऊपर उस पार जाने के लिए मार्ग का निर्माण-कर्ता। इस अभिधान की उपयुक्तता इस कारण से है कि साधन-मार्ग के उपदेश आचार्यगण इस आधिव्याधिप्रपूरित भवसागर से पार जाने के लिए साधनभूत तत्व ज्ञान की साधना का उपदेश देते हैं। मनुष्यमात्र का जीवन जिन ध्येयो को आगे रखकर प्रवृत्त होता है, उन्हें शास्त्रीय भाषा में 'पुरुषार्थ' कहते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार पुरुषार्थ चार प्रकार के होते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनमें मोक्ष सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। विचारशास्त्ररूपी कल्पतरु का मोक्ष ही अमृतफल है। मोक्ष के विषय में एक विचित्र धारणा फैली हुई है कि इसकी प्राप्ति का स्थान यह जीवन नहीं है। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। अधिकांश दर्शनोंमें इस जन्म में ही ताप-सन्ताप से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेना—जीवन्मुक्ति—चरम

लक्ष्य स्वीकृत किया गया है। यह नितान्त दूरस्थ आदर्श अवश्य है, परन्तु ऐसा नहीं है कि इस जन्म में साध्य न हो सके। मानव जीवन का लक्ष्य काल्पनिक परलोक मे दुःखनिवृत्ति न होकर जीते जी इसी देह में उस आदर्श को सिद्ध करने में है। जैन, बौद्ध तथा वेदान्त आदि षड्दर्शन जीवन्मुक्ति को ही जीवन का लक्ष्य बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैत[१] आदि वैष्णव दर्शनों में भी यद्यपि जीवन्मुक्तिका आदर्श मान्य नहीं है, तथापि तत्त्वज्ञान के साधन से आत्मा ऐसी उन्नत अवस्था में पहुँच जाती है जिसमें जीवन का उद्देश्य ही साधारण कोटि से बदल कर एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्ति का आदर्श उपनिषदों की बहुमूल्य देन है। कठोपनिषद् (२ । ३ । १४) ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है[२] कि जब हृदय में रहनेवाली समग्रकामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है और यहीं उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है। मोक्ष के ध्येय के विषय में दार्शनिकों में मतैक्य होनेपर भी उसके स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतवैषम्य है। कुछ दार्शनिक (न्याय तथा वैशेषिक) मोक्ष की उन्नत अवस्था में केवल दुःख की निवृत्तिमात्र मानते हैं (अभावात्मक), परन्तु अन्य दार्शनिकों (मीमांसा, वेदान्त, जैन तथा महायान बौद्ध) के मत में उस समय आनन्द की उपलब्धि निश्चित रूपेण होती है (भावात्मक)।

मोक्ष की प्राप्ति के विभिन्न उपायों में जो अनेक दर्शनों ने बता रक्खा

---

१ द्रष्टव्य श्रीभाष्य ४ । १ । १३

२ यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिताः ।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—कठ उप० २ ३।१४

है, एक विचित्र एकता के भाव दृष्टि गोचर होते हैं। विचारशास्त्र सिद्धि के द्वार तक पहुँचाकर विरत हो जाता है। इस द्वार के भीतर प्रवेश करने के लिए साधना की नितान्त आवश्यकता है।

मोक्ष मार्ग

हम लोग गाढ़ अन्धकार से परिपूरित इस संसार में अपने गन्तव्य स्थानों को जाने के लिए अपने-अपने रास्ते टटोल रहे हैं। दर्शन शास्त्र उज्ज्वल प्रकाश की किरणों को दिखलाकर हमारे लिए मार्ग की सूचना देता है, परन्तु केवल शुष्क ज्ञान हमें लक्ष्य-प्राप्ति में कथमपि सहायता नहीं दे सकता। सुविचारित औषध भी क्या नाममात्र से आतुर पुरुष को रोग से उन्मुक्त करने में समर्थ हो सकती है? उसके लिए काल्पनिक तत्त्वज्ञानको व्यावहारिक रूप में परिवर्तन करना चाहिए। इसका वर्णन योगसूत्रों में पूर्णरूपेण किया गया है। योगदर्शन में वर्णित प्रक्रियायें भारत के प्रत्येक दर्शन को सर्वथा मान्य हैं। बौद्धधर्म में मोक्षोपयोगी त्रिविध साधनों में समाधि विशिष्ट साधन के रूप में स्वीकार की गई है[1]। जैन धर्म 'सम्यक् चारित्र्य' के लिये यम, नियम तथा ध्यान को सबसे अधिक महत्त्व देता है[2]। न्याय-दर्शन में भी यौगिक प्रक्रियायें आत्म-साक्षात्कार के लिये अत्यावश्यक बतलाई गई हैं[3]। सांख्य-दर्शन में इन प्रक्रियाओं की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। वेदान्त-दर्शन में भी ज्ञान के आन्तरिक साधन रूप में योगसम्मत यम, नियमादि का उपयोग स्वीकार किया गया है, यद्यपि उनकी कल्पनाओं मे कुछ पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है[4]। इन दर्शनों के अनुयायियों का यह दृढ़ विश्वास है कि तर्क के द्वारा सिद्ध किया गया दार्शनिक सिद्धान्त तब तक हमारे अज्ञान को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता, जब तक उसे हम आत्म-

---

१. द्रष्टव्य—दीघ निकाय (हिन्दी अनुवाद) —पृ० २८-२९।

२. तत्त्वार्थसूत्र ६।३९-४६।

३. न्याय सूत्र—अध्याय ४, आह्निक २, सूत्र ३८-४८।

४. वेदान्तसार पृ० ४७-५०।

सात् न कर लें और इसके लिये इन तत्त्वों का निरन्तर अविच्छिन्न रूप से अभ्यास तथा मनन आवश्यक है। हमारे व्यावहारिक जीवन के ऊपर अविद्या, राग तथा द्वेष का तमोपटल इतना गाढ़ है कि ज्ञानतत्त्व के निरन्तर मनन तथा अभ्यास के बिना वह छिन्नभिन्न नहीं किया जा सकता। इसीलिये भारतीय दर्शन में तर्क-सिद्ध तत्त्वों के ऊपर निरन्तर गाढ़ मनन तथा निदिध्यासन की बात स्वीकार की गयी है।

उपनिषद् का कहना है कि प्राणीमात्र के जीवन-यापन के हेतु दो मार्ग हैं[1] -- प्रेयोमार्ग तथा श्रेयोमार्ग। प्रेयोमार्ग में मनुष्य आपाततः रमणीय विषयों की ओर आकृष्ट होकर संसार में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के मूल कारण राग तथा द्वेष हैं। सुख देनेवाले पदार्थों से राग-अनुराग तथा प्रेम उत्पन्न होता है (सुखानुशयी रागः) और दुःख पहुँचानेवाली चीजों से चित्त स्वतः घृणा करने लगता है (दुःखानुशयी द्वेषः)। इन्हीं राग-द्वेषों का प्रभाव हमारे चित्त तथा इन्द्रियों पर इतना अधिक होता है कि वे अवश बन श्रेयोमार्ग की अवहेलना कर प्रेयोमार्ग का ही अवलम्बन किया करती हैं। श्रेयोमार्ग वास्तव में परम मंगल साधन करने का रास्ता है। जब तक विषयोन्मुखी इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों से बलात् खींचकर अन्तर्मुखी न बनाया जायगा, तब तक सच्चे कल्याण की साधना हो नहीं सकती। इस प्रकार मंगल मार्ग पर चलने के लिये आत्म-संयम तथा शुद्धि की नितान्त आवश्यकता है। चित्तशुद्धि के लिये योग दर्शन ने आठ योगाङ्गों की व्यवस्था बतलाई है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इन उपायों को प्रत्येक दर्शन ने आवश्यक बतला कर स्वीकृत किया है।

---

१ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
—कठ उप० १।२।२।

इस प्रकार भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में महती एकता आलोचकों की दृष्टि को आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकती। भारतीय दर्शन एक ही परमात्मतत्त्व की विवेचना अनेक दृष्टियों से सिद्ध कर अपनी सर्वाङ्गीणता का पर्याप्त परिचय देता है। परमार्थभूत पदार्थ की प्रमाण—मीमांसा, ज्ञेयमीमांसा, आचार-मीमांसा तथा मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से चतुरस्र विवेचना भारत में की गई है। इसीलिए भारतीय दर्शन को यदि हम संश्लेषणात्मक (सिन्थेटिक) कहें, तो कथमपि अनुचित न होगा।

श्रौत दर्शन

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण हैं। भारतीय धर्म में जो जीवनी शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही है। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है जहाँ से विचारधारा प्रवृत होकर भारतभूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गमभूमि पर अवलम्बित रहती है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्व-प्रथम ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत मावनमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान की आकृति तथा प्रकृति, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुसन्धान के लिए इन ग्रन्थमणियों का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक है। परन्तु श्रुति-सम्मत दार्शनिक विचारों की रूपरेखा के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वेदों का अध्ययन आजकल दो प्रकार से किया जाता है—प्राचीन पद्धति से तथा आर्वाचीन पाश्चात्य रीति से। पाश्चात्य पद्धति वेदार्थ-परिशीलन के लिए अन्य देशों के साहित्य की सहायता की अपेक्षा रखती है। प्राचीन पद्धति इतिहास-पुराण को वेदार्थ का उपबृंहण मानती है[१] तथा वैदिक रहस्यों के यथार्थ ज्ञान के लिए उनकी सहायता को बहुमूल्य बतलाती है। इसी दृष्टिभेद

वेद का महत्त्व

---

१ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

—महाभारत (आदिपर्व १।२६८)

की मीमांसा उभयमत में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। पाश्चात्य लोग वेदों का असभ्य या अर्धसभ्य आरम्भिक आर्यजनोंके अनगढ़ गायनों से बढ़कर महत्त्व देना नहीं चाहते, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य हैं, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार हैं, धर्म का साक्षात्कार करनेवाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलाने वाले ग्रन्थ वेद ही हैं[1]। वेद की 'वेदता' इसी में है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित अलौकिक उपाय का बोध कराते हैं[2]। इसी भारतीय दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर श्रुति-प्रतिपादित आध्यात्मिक रहस्यों का संक्षिप्त विवेचन इस परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

वेदविभाग-संहिता

'मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः'(आप० परि० ३१)। वेद के दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। किसी देवता-विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ-स्मारक वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं तथा यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाले ग्रन्थ को 'ब्राह्मण' कहते हैं। मन्त्रों के समुदाय को 'संहिता' कहते हैं;संहितायें चार हैं-ऋग् संहिता, सामसंहिता, यजुः संहिता तथा अथर्व संहिता। पुराणों[3] का कहना है कि इस संहिता-चतुष्टय का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर किया। यज्ञानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता (पुकारनेवाला) देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों को उच्चारण कर तत्तत् देवता का आह्वान किया

---

१ द्रष्टव्य सायणकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका पृ० २.

२ श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ।

—शाङ्करभाष्य २।३।१.

३ द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १।४।१९-२२।

४

करता है। हौत्र कार्य के लिए आवश्यक मन्त्रसमुदाय का सङ्कलन ऋग्वेद में किया गया है। उद्गाता का कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर मधुर स्वर में उन्हें गाना होता है। इस कार्य के लिए सामवेद का संकलन किया गया है। याग के विविध अंग तथा उपांगभूत अनुष्ठानों का विधिवत् सम्पादन करना अध्वर्यु का उत्तरदायी कर्तव्य है। इस आध्वर्यव कर्म के लिए यजुः संहिता का उपयोग किया जाता है। ब्रह्मा का महत्त्वपूर्ण कार्य समग्र याग का विधिवत् निरीक्षण करना होता है जिससे किसी प्रकार की त्रुटि अनुष्ठान की पूर्णता तथा सिद्धि में कथमपि बाधा उपस्थित न होने दे। ब्रह्मा को समग्र वेदोंका ज्ञाता होना चाहिए। इनका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है। इस प्रकार याग-विधान के सुचारु निष्पादनके लिए भिन्न-भिन्न ऋत्विजोंके उपयोग के लिये भिन्न-भिन्न संहिताओं का संकलन किया गया है। वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इस नामकरण का भी एक रहस्य है। यह संज्ञाविधान मंत्रों की उपयोगिता की अपेक्षा मंत्रों के स्वरूप के ऊपर अवलम्बित है। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों की 'ऋक्' संज्ञा है; इन ऋचाओं के गायन—गीति को 'साम' कहते हैं तथा इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को 'यजुः' के नाम से पुकारते हैं[१]। वेद को ऋक, यजुः तथा साम रूप से विभक्त होने के कारण 'त्रयी' कहते है। इसीलिए वेद प्रतिपाद्य धर्म को 'त्रयी धर्म' तथा इस धर्म के मर्मज्ञ विद्वज्जन को 'त्रैविद्य' कहते हैं[२]।

वेद के तीन विभाग हैं—संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक। संहिता मन्त्रों के समूह को कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ यागादि के अनुष्ठान

---

१. तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः। जैमिनि सूत्र २।१।३५—३७।

२. द्रष्टव्य गीता ९।२०-२१।

का खूब विस्तृत तथा परिनिष्ठित वर्णन किया गया है। "ब्राह्मण" नामकरण का कारण यह है कि इनका प्रधान विषय ब्रह्मन् (बृहू वर्धने; बढ़नेवाला अर्थात् वितान, यज्ञ) है। आरण्यक का स्थान ब्राह्मणों के अनन्तर है। अरण्य में पठनीय होने से इन्हें 'आरण्यक' कहते हैं। इन ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम के उपयोगी क्रियाकलापों का वर्णन है, विशेषः यागविधान के आध्यात्मिक रहस्य की मीमांसा इन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। उपनिषदों में आध्यात्मविषयक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। उपनिषद् को ही 'वेदान्त' कहते हैं। इस नामकरण के दो कारण हैं—एक तो यह है कि इनका स्थान वेद के अन्त में आता है। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं, अतः वे वेदान्त (वेद+अन्त) कहलाते हैं। दूसरा कारण यह है कि इनमें वेदों के निश्चित प्रतिपाद्य सिद्धान्त विवेचित हैं। इसी कारण उपनिषदों का अध्यात्म-शास्त्र विषयक समस्याओं के सुलझाने के लिए प्रकृष्ट महत्त्व है। प्रतिपादित विषय की दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्म की विवेचना होने के कारण इनका कर्मकाण्ड में अन्तर्भाव है। ज्ञान की विवेचना करने के कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं। भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त इन उपनिषदों में प्रतिपादित किये गये हैं, पर कर्मप्रधान होने पर भी संहितादि भागों में अध्यात्म के विपुल रहस्यों का उद्घाटन उपलब्ध होता है। अतः इस परिच्छेद में संहिता तथा आरण्यक में उपलब्ध दार्शनिक विचारों का विवेचन प्रथमतः किया जायगा। अनन्तर उपनिषदों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन संक्षेप में उपस्थित किया जावेगा।

ब्राह्मण तथा उपनिषद्

वैदिक साहित्य का जो अंश प्रकाशित हो चुका है वह भी मात्रा में अधिक है। अप्रकाशित अंश भी मात्रा में न्यून नहीं है। परन्तु खेद का

विषय है कि हमारी अवहेलना से वेद की अनेक शाखायें लुप्त हो गईं। महाभाष्य (पस्पशाह्निक) के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखायें थीं, यजुर्वेद की १०० शाखायें, सामवेद की १ हजार शाखायें तथा अथर्ववेद की केवल ९ शाखायें थी। इसप्रकार कुल मिलकर ११३० शाखायें थीं जिनमें आजकल दस बारह शाखाओं से अधिक नहीं मिलतीं। विषय की दृष्टि से समस्त संहिताओं में ऋग्वेद संहिता महत्त्वपूर्ण तथा प्रथम मानी जाती है। ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या सब मिलाकर १०२८ है। ऋग्वेद का विभाग दो प्रकार से उपलब्ध होता है—(१) मण्डल, अनुवाक तथा सूक्त ; (२) अष्टक, अध्याय तथा सूक्त। समस्त ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है ; प्रत्येक मण्डल में अवान्तर विभाग को अनुवाक कहते हैं तथा उनके विभाग को सूक्त। अष्टकों की संख्या ८ है, प्रत्येक अष्टक में ८ अध्याय होते हैं। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में ६४ अध्याय हैं। अध्यायों के भीतर सूक्त होते हैं। इन दोनों में प्रथम विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन मण्डलों में से प्रथम तथा दशम मण्डल में भिन्न २ ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह है। नवम मण्डल में केवल 'सोम' विषयक मन्त्र हैं। परन्तु अन्य मण्डलों में एक ही ऋषि के मन्त्रों का संग्रह किया गया है। द्वितीय मण्डल से लेकर अष्टम मण्डल तक ऋषियों के नाम क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ तथा कण्व हैं। ये ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं, रचयिता नहीं। ऋग्वेद की आध्यात्मिक तत्त्व विवेचना ही हमारे लिए यहाँ आवश्यक है। अतः उसके ही अनुसन्धान में हम प्रवृत्त होते हैं।

वैदिक साहित्य

वेदों में देवतास्तुति ही प्रधान विषय है। निरुक्तकार यास्क ने स्थान-विभाग की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वी-स्थान देवताओं में अग्नि का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में इन्द्र का

देवता-बहुत्व

तथा आकाशस्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का। अग्नि प्राणियों का सब से अधिक हितकारक देवता है। अग्नि प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों के द्वारा स्तुति किया जाता है। उसकी ही कृपा से दिन प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पोत्र तथा समृद्धि को प्राप्त करता है। वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। वह विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखने वाला), धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादन करने वाला) तथा सम्राट् (सम्यक्-रूप से प्रकाशित होने वाला तथा शासन करने वाला) कहा गया है[1]। सर्वज्ञ वरुण प्राणीमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा तत्तत् फलों का दाता है। इन्द्र[2] वीर योद्धाओं को संग्रामाङ्गण में विजय प्रदान करने वाले देवता हैं। वज्रबाहु (वज्र के समान बलशाली बाहुवाले) इन्द्र के हाथ में वज्र है, जिसकी सहायता से वह वृत्रादि अनेक दानवों को मार डालते हैं तथा शत्रुओं के किलाबन्द नगरों को छिन्नभिन्न कर डालते हैं (पुरन्दर)। इन्हीं के अनुग्रह से आर्यों ने काले रंग वाले दास्युओं या दासों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया है तथा वृत्र के द्वारा रोकी गई गायों को वे गुफा तोड़कर निकाल बाहर करते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। विष्णु आकाशगामी सन्तत क्रियाशील सूर्य के प्रतीक हैं। उन्होंने तीन डगों से इस विश्व को माप डाला है[3]। इस कारण वे 'उरुगाय' तथा

---

१. ऋग्वेद—१ मण्डल २५ सूक्त।

२. ऋग्वेद—२ मण्डल १२ सूक्त।

३. यही कल्पना वामनावतार की कल्पना की जननी है। इसी कारण वामन 'त्रिविक्रम' कहे जाते हैं। हरि के लिए पुराणों में 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' शब्दों का प्रयोग इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर किया गया है।

'उरुक्रम' कहलाते हैं। तीसरे लोक में जहाँ उनका तृतीय पाद-विन्यास किया गया है मधु का कूप है। वहाँ शीघ्रगामिनी भूरिशृङ्ग गायें (किरणें) इधर से उधर सतत आया जाया करती हैं। (यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः—ऋ० वे० १।१५४।६)[१] सवितृ देव सुप्त प्राणियों में जीवन का संचार कर पुनः प्रवृत्त करते हैं। पूषा (ऋ० वे० ६।५३) भूले भटकों को राह लगाते हैं। उनका रथ बकरों के द्वारा खींचा जाता है तथा उनके हाथ में चाबुक रहता है। वह मृत प्राणियों को पितरों के पास ले जाते हैं। मित्र मानवमात्र का कल्याण साधन करते हैं। देवों के साथ साथ देवियों की भी कमनीय कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है। सबसे सुन्दर देवी उषा है जो द्यौः (आकाश) की पुत्री हैं। वह तमोमयी रजनी की रमणीय रूपधारिणी भगिनी हैं। वह पुराणी युवति हैं—पुरानी होने पर भी सतत युवति है। वैदिक मन्त्रों में सबसे सुन्दर कमनीय कल्पनावाले मंत्र उषा की स्तुति में प्रयुक्त किये गये हैं (ऋ० वे० ३।६१)। आगे चलकर देवताओं की संख्या में भी वृद्धि ह्रास होता रहा। वरुण की महिमा में ह्रास होने लगा, और मन्यु, श्रद्धा आदि नये २ देवताओं की सृष्टि होने लगी।

वैदिक देवता—पाश्चात्य मत

इन देवताओं के स्वरूप का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है। प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के समय से ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों से चारों ओर घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची-दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित

---

१ वैष्णवों के गोलोक की कल्पना का आधार यही मंत्र है। भगवान् के परम पद का नाम 'गो लोक' है अर्थात् वह लोक जहाँ सूर्य की किरणों का निरवच्छिन्न तथा अनवरत प्रसार हो। द्रष्टव्य बृहद्ब्रह्मसंहिता २।१

बनाने वाला अग्निपुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायंकाल में रजत रश्मियों को बिखेर कर जगन्मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगाने वाले सुधाकर का बिम्ब किस मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय को उत्पन्न नहीं करते ! वर्षाकालीन नील गगनमण्डल में काले-काले विचित्र बलाहकों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजुली की लपक तथा कर्ण कुहरों को बधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्यमात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये बिना नहीं रह सकते । वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की है । यह विश्व भिन्न-भिन्न देवताओं का क्रीड़ा-निकेतन है । वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं । पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत् के—प्राकृतिक दृश्यों के—अधिष्ठाता हैं । भौतिक घटनाओं की उपपत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है । ऋग्वेद के आदिम काल में बहुत देवताओं की सत्ता मानी जाती थी जिसे वे पालीथीज़म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं । कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ, तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधान रूप में एक देवता विशेष की कल्पना की । इसी का नाम है—मानोथीज़म (एकेश्वर-वाद)[1] । अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एकदेववाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल मे सर्वेश्वरवाद (पैन्थीज़म) की कल्पना की गई । सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त दशम मण्डल का

---

१. मैकडोनल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ११६—१३८ ।

Macdonell: History of Sanskrit Literature.

९० वाँ सूक्त है जो पाश्चात्य गणना के हिसाब से दशतयी के मण्डलों में सब से अधिक अर्वाचीन है ।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है। परन्तु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है, देवतातत्त्व के न जानने का ही यह परिणाम है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि देवता की कल्पना इतनी भौतिक न थी जितनी वे लोग बतलाते हैं।

यास्क ने निरुक्त के दैवत-काण्ड (सप्तम अध्याय) में देवता के स्वरूप का विवेचन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है। इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से 'ईश्वर' कहलाती है। वह एक, अद्वितीय है। उसी एकदेवता को बहुत रूपों से स्तुति की जाती है—

देवता तत्त्व

महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥ (७।४।८,९)

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता निरुक्त के कथन का अनुमोदन करती है,[1] परन्तु पिछले साहित्य के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं। ऋग्वेद के अध्ययन से देवतातत्त्व का रहस्य हम भली भाँति समझ सकते हैं।

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता वर्तमान है; अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकासमात्र हैं। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रति-

१. बृहद्देवता—अध्याय १, श्लोक ६१–६५.

पादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक ने[1] स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि "एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, उसीको यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग भी 'महाव्रत' नामक याग में उसीकी उपासना किया करते हैं।" शंकराचार्य ने (१।१।२५ सूत्र के भाष्य में) इस मंत्र का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है।

देवतागण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है[2]। 'असुर' का अर्थ है असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओंको बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्तिमात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः उरवः, विश्वतस्परि (५।४७।२) कहे गये हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए 'सत्य', 'ध्रुव' 'नित्य' प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० वे० तृतीय मण्डल ५५वाँ सूक्त) में देवताओंका 'असुरत्व' एक ही माना गया है। 'असुरत्व' का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है, भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र नहीं है। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—महद् देवानामसुरत्वमेकम् = देवों का महत् सामर्थ्य एक ही

---

१. एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः—एतरेय आरण्यक—३।२।३।१२

२. तद्देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः (४।५३।१)

(पर्जन्यः) असुरः पिता नः (५।८३।६)

महद्विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नामा (३।३८।४)

है। एक ही महामहिमशालिनी शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। "जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में, पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भ धारण करनेवाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है।"

ऋत

ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ[२]। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का, साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत रूप हैं (ऋग्वेद ९।१०८।८)। सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं[३] (ऋ० वे० १।१०५।१२)। सकल देवताओं के भीतर सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूपका वर्णन मिलता है—एक तो स्थूल

---

१. द्रष्टव्य ऋ० वे० ३।५५।५.

२. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋ० वे० १०।१९०।१.

३. ऋतमर्षन्ति सिन्धवः।

दृश्य रूप है और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य गूढ़ रूप है। उनका जो रूप हमारे नेत्रों के सामने आता है वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत हैं, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है वह है उनका गूढ़रूप (आधिदैविक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—आध्यात्मिक रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप की समीक्षा कीजिए। जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला, वह उनका एक रूप है[1], परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परम पद' है जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृत पान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र है—अमृतकूप है[2]। उस परमपद को ज्ञानसम्पन्न जागरणशील विप्रलोग-विद्वजन ही जानते हैं[3]। विष्णु के परमपद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है। इसीलिए श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है।

देवताओं के द्विविध रूप-स्थूल तथा सूक्ष्म

इसी प्रकार सूर्य के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषि अन्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, उत्+तर=उत्तर, उत्+तम=उत्तम, जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर हैं। सूर्य की उस ज्योति का नाम 'उत्' है जो इस भुवन के अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है। देवों

१. ऋ० वे० १।१५४।१

२. " "।५

३. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ ऋ० वे० १।२२।२१।

के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मंत्र में 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है[1]। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है) इस मंत्र का लक्ष्य क्या आधिभौतिक सूर्य है ? 'आत्मा' शब्द स्पष्टतः सूर्य के परमात्म-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है। ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि अग्नि दो प्रकारका होता है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि। 'तिरोहित' शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है। अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त, पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' मन्त्र में पुरोहित अर्थात् अभिव्यक्त, पार्थिव अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है[2]।

इन प्रमाणों के आधारपर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि देवताओं की जो भौतिक दृश्यों के अधिष्ठाता या प्रतीक रूप में पाश्चात्य कल्पना है वह निर्मूलक है तथा उसीके साथ वैदिकधर्म के विकास का कल्पित क्रम भी उतना ही निःसार है। सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली

---

१. उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

—ऋ० वे० १।२०।१०

२. देवतातत्त्व के विशद विवेचन के लिये देखिये कोकिलेश्वर शास्त्री अद्वैतवाद (बँगला), पञ्चम अध्याय।

एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म ही अद्वैत-तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नाना के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एकदम मौलिक तत्त्व है और इस निगूढ़तम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिककालीन आर्षचक्षुः-सम्पन्न महर्षियों को ही है।

इस एक देवता की विभिन्न संज्ञायें उपलब्ध होती हैं—प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुष आदि। ऋग्वेद के दशममडल का १२१ वाँ सूक्त हिरण्यगर्भ की स्तुति का प्रतिपादक है। यह सूक्त हिरण्यगर्भ गहरे आध्यात्मिक तत्त्वों से भरा हुआ है। उच्च दार्शनिक विचारों के कारण यह सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों में महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आनन्द रूप होने से अथवा इदमित्थं रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण ये ही प्रजापति 'कः' शब्द के द्वारा व्यवहृत किये गये हैं[१]। "यही हिरण्यगर्भ सबके आगे उत्पन्न हुए, उत्पन्न होने पर ये समस्त प्राणियों के एक अद्वितीय अधिपति हुए। इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को वे धारण करनेवाले हैं। यज्ञ-यागों में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं"[२]। वे समस्त

---

१. "कस्मै देवाय हविषा विधेम" इस मंत्र (१०।१२१।१) के 'कस्मै' पद के अर्थ-विषय में पर्याप्त मतभेद है। पश्चिमी वैदिक विद्वान् इसे प्रश्न-वाचक सर्वनाम बतलाते हैं, परन्तु वैदिक परम्परा में इस शब्द का अर्थ 'प्रजापति' है। "अत्र किं शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा कं सुखम् तद्रूपत्वात् प्रजापतिः कं इत्युच्यते"—सायणभाष्य।

२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ० वे० १०।१२१।१.

प्राणियों के प्राणदाता (आत्मदा) तथा बलदाता हैं । अमरता तथा मृत्यु छाया के समान उनके अधीन रहती है[१] । ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ देवता बतलाये गये हैं । शतपथब्राह्मण (५।१।२।१०) का कहना है कि देवताओं की संख्या तैंतीस है, परन्तु प्रजापति ३४वें देवता हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देवता हैं ।

ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है । इसका सबसे सुन्दर दृष्टान्त पुरुषसुक्त (१०।९०) तथा अदितिसूक्त (१।८९) में मिलता है । वह हजार मस्तक (सहस्र-पुरुष शीर्षा), हजार आँखों तथा हजार पैर वाला 'पुरुष' चारो ओर से इसी पृथ्वी को घेर कर परिमाण में दश अँगुल अधिक है । "जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है (भूतकाल में) तथा जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है (भविष्य काल में) वह सब पुरुष ही है":-

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।

इस सूक्त मे सर्वेश्वरवादके सिद्धान्त का प्रतिपादन सुस्पष्ट है । इसी प्रकार अदिति के वर्णन के अवसर पर राहूगणपुत्र गौतम ऋषि का कहना है कि अदिति ही आकाश है,अदिति अन्तरिक्ष है,अदिति माता है,अदिति ही पिता है तथा पुत्र है, अदिति समस्त देवता है, अदिति पञ्चजन (निषाद सहित चतुर्वर्ण) है । जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है वह सब अदिति ही है ।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष-
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
(ऋ० वे० १।८९।१०)

---

१ यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः । (१०।१२१।२)

इस प्रकार पुरुष तथा अदिति की सर्वव्यापकता मानकर उनकी विश्व से अभिन्नता स्वीकृत की गई है।

'स्कम्भ'

अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त (१० काण्ड, ७वाँ तथा ८वाँ सूक्त) तथा उच्छिष्ट सूक्त (११।९) की परीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म की व्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता के सिद्धान्त अथर्ववेद को सर्वथा मान्य हैं। ब्रह्म की ही अन्यतम संज्ञा स्कम्भ (आधार) है। जगत के समस्त पदार्थ उसीके आश्रय में निवास करते हैं तथा अपनी सत्ता बनाये रहते हैं। अतः उसकी स्कम्भसंज्ञा अन्वर्थक है। स्कम्भ विश्व का कारण है। ब्रह्म का भी वह कारण है। अतः उसे ज्येष्ठ ब्रह्म भी कहते हैं। "जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश समाहित हैं, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिनमें अर्पित होकर रहते हैं, वही स्कम्भ है" (१०।७।१२) द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रदिशों का धारण करनेवाला वही स्कम्भ है (१०।७।३५) इतना ही नहीं, वह भूत, भव्य (भविष्य तथा समस्त वर्तमान का अधीश्वर है (१०।८।१)। यह मन्त्र स्कम्भ की आत्मा के साथ एकता भी स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करता है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-
रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ (१०।८।४४)

'उच्छिष्ट'

उच्छिष्ट सूक्त में उच्छिष्ट नाम के द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। 'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य-प्रपञ्च के निषेध करने के अनन्तर जो अवशिष्ट रहता है वही उच्छिष्ट है अर्थात् बाधरहित परब्रह्म। ब्रह्म के इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति के

लिए बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म को 'नेति' 'नेति' पुकारता है।[१] सूक्त भर में विश्व के समस्त पदार्थ उच्छिष्ट के ऊपर अवलम्बित बतलाये गये हैं। सूक्त के प्रथम मन्त्र[२] में प्रतिपादित "उच्छिष्ट पर नाम-रूप अवलम्बित है" सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है! 'नामरूप' का दृश्यमान जगत् के लिए प्रयोग कितना सारगर्भित है। समस्त वेद तथा पुराण को उत्पत्ति उच्छिष्ट से हुई है (२४); प्राण, अपान, चक्षुः तथा श्रोत्र, अक्षिति (स्थिति) तथा क्षिति (लय)—सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए हैं (२५)। अतः 'उच्छिष्ट' की महिमा अवर्णनीय है। इन सूक्तों के अनुसन्धान से स्पष्ट है कि प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ तथा उच्छिष्ट एक ही परमतत्त्व के वाचक हैं। उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद की यह पूर्वपीठिका है। इन्हीं संकेतों का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य, है। इस विवेचन को पढ़ कर गीता (१५।१५) के 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः तथा 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गायते' पुराण के इस वाक्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने इस जगत् के कर्ता तथा नियामक मूल-तत्त्व को अपनी सूक्ष्म तात्त्विक दृष्टि से ढूँढ़ निकाला था। इस विषय में नासदीय सूक्त (ऋ० वे० १०।१२९) ऋषियों को आध्यात्मिक दृष्टि को पूर्णतया व्यक्त करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सूक्त ऋग्वेदीय अद्वैत-भावना को जिस रूप में अभिव्यक्त करता है उस

---

१. अथात आदेशो नेति नेति बृह० उप० २।३।११।
नेह नानास्ति किञ्चन ,, ,, ४।२।२१।

२. उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥
—अ० सं० (११।६।१)

रूप में अभिव्यक्त करनेवाले अन्य सूक्त का नितान्त अभाव है। नासदीय सूक्त के ऋषि के सामने इस विश्व की उत्पत्ति की विषम पहेली विद्यमान थी। यह विश्व कहाँ से उत्पन्न हुआ ? इसके मूल में कौन सा तत्त्व विद्यमान था ? किस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई ? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सरल काम नहीं है, परन्तु इस सूक्त में इन्हीं प्रश्नों का उचित उत्तर अन्तर्दृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है। 'सृष्टि के आदिकाल में न तो असत् ही था और न सत् ही था। वहाँ न तो आकाश था, न तो स्वर्ग ही विद्यमान था, जो उससे परे है। किसने ढका था ? यह कहाँ था ? और किसकी रक्षा में था ? क्या उस समय गहन तथा गंभीर जल था (जिसमें वह पड़ा हुआ था) ? उस समय मृत्यु न था, न तो अमरत्व ही था, उस समय दिन तथा रात का पार्थक्य न था'। इतने निषेधों के वर्णन के अनन्तर ऋषि सत्तात्मक वस्तु का वर्णन कर रहा है कि उस समय बस एक ही था जो वायुरहित होकर भी अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं——

अद्वैत की भावना

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः ? कुह कस्य शर्मन् ?
अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥

यह है नितान्त उदात्त एकत्वभावना। "तदेकम्"–वह एक। उसके लिङ्ग निर्धारण में असमर्थ होकर वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र उस परमतत्त्व

के लिए नपुंसक 'तत्' तथा 'सत्' शब्दों का प्रयोग किया है। वही इस जगत का मूल कारण है। उसी से यावत् चेतन और अचेतन वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है। वह एक है, अद्वितीय है; उसके साथ तथा समकक्ष रहने वाले अन्य वस्तु का वास्तव अभाव है। अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप को धारण करनेवाले हैं। वह एक ही है, परन्तु कवि लोग उसे भिन्न भिन्न नाम से पुकारते हैं।[1] मनुष्य की मधुर-वाणी में वही बोलता है, पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पों के रूप में वही हँसता है, प्रचण्ड गर्जन तथा तूफान में वही क्रोध-भाव प्रकट करता है, नभो-मण्डल में चन्द्र-सूर्य तथा ताराओं को वही तत्तत् स्थान पर स्थिर कर देता है[2]। भिन्नताके स्तरों में अभिन्नताको यदि किसी ने पहचाना, तो वैदिक आर्यों ने। इस अभिन्नता का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान विषय है; पर इसका बीज ऋग्वेदीय-संहिता में सुस्पष्ट रूप से निहित है, जिसमें सन्देह करने के लिए तनिक भी स्थान नहीं।

ब्राह्मण तथा आरण्यक की समीक्षा करने से हम उनके सिद्धान्तों का परिचय पाते हैं। यह काल संहिता तथा उपनिषत् काल का मध्यवर्ती युग है। इसमें वर्णाश्रम धर्मकी प्रतिष्ठा पर्याप्त रूपसे सम्पन्न की गई। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने (३।१२।३) चारों वर्णों के साथ चारों आश्रमों के कर्तव्योंका वर्णन किया है। 'ब्राह्मणों' में कर्मकाण्ड का खूब विस्तार किया गया है। यज्ञ का महत्त्व इतना ही नहीं है कि वह किसी देवता-विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्यागरूप है,

ब्राह्मण तथा आरण्यक

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।
(ऋ० वे० १।१६४।४६.)

२. ऋ० वे० १०।१२।१५ ।

प्रत्युत वह इस विश्व के नियामक रूप में ग्रहण किया गया है। समस्त विश्व ही यज्ञ-रूप है। यज्ञ के कारण देवता लोग अपने-अपने अधिकारों का निर्वाह करते हैं। यज्ञ की निष्पत्ति से समस्त विश्व का कल्याण-साधन होता है। यज्ञ विष्णु का रूप बतलाया गया है (विष्णुर्वै यज्ञः); आरण्यकों में यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या है तथा उसके रहस्यों की यथार्थ मीमांसा है। आरण्यकों में कर्मों से उत्पन्न फल के प्रति अश्रद्धा का भाव दीख पड़ता है। स्वर्ग के क्षय होने से कर्ममार्ग आत्यन्तिक सुख का सम्पादक नहीं माना जा सकता। अतः कर्म से लोगों की अभिरुचि हटने लगी और ज्ञान-मार्ग की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा। अतः ज्ञान-कर्म के समन्वय की जो बात उपनिषत्-काल में प्रधानतया विद्यमान है उसका आरम्भ इसी युग में हो गया था।

उपनिषद्

वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् है। इस ग्रन्थ-रत्नों में वैदिक ऋषियों ने आध्यात्मिक विद्या के गूढ़तम रहस्यों का विशद विवेचन किया है।

महत्व

भारतीय तत्त्व-ज्ञान का मूल स्रोत इन्हीं उपनिषदों में है। उपनिषद् वास्तव में आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे भिन्न-भिन्न ज्ञान-सरितायें निकल कर इस पुण्य-भूमि आर्यावर्त में मानव मात्र के ऐहिक अभ्युदय तथा आमुष्मिक कल्याण साधन के लिए प्रवाहित होती हैं। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं जो वैदिक धर्मानुसार गन्तव्य मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। भारतीय विचार शास्त्र के लिए सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ होने के कारण उपनिषद् प्रस्थान-त्रयी के अन्तर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत किये गये हैं। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता है जो समस्त उपनिषद्रूपी धेनुओं का वत्सरूपी पार्थ के लिये भगवान् गोपाल कृष्ण के द्वारा दूहा गया सुधा-सहोदर सारभूत दूध है। तृतीय प्रस्थान बादरायण-व्यास विरचित ब्रह्मसूत्र है जिसमें आपाततः विरोधी उपनिषद्-वाक्यों का समन्वय

तथा एकमात्र अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाकर अन्य तार्किकों की युक्तियों का प्रबल खण्डन किया गया है। इसी प्रस्थान-त्रयी--उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र-पर भारतीय वैदिक-धर्म तथा दर्शन अवलम्बित हैं, परन्तु गीता तथा ब्रह्मसूत्र को उपनिषदों पर आश्रित होने के कारण उपनिषदों का महत्व सबसे अधिक है। इसीसे नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता तथा अक्षुण्णता प्रदर्शित करने के लिए इन्हीं तीनों ग्रन्थरत्नों पर स्वमतानुकूल भाष्यों की रचना की है।

उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्ग सद् धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं--

उपनिषद् का अर्थ

विशरण = नाश होना, गति = प्राप्ति होना, अवसादन=शिथिल करना। उपनिषद् का अर्थ है अध्यात्मविद्या। जिस विद्या के अध्ययन करने से दृष्टानुश्रविक विषयों से वितृष्ण मुमुक्षुजनों की संसार बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवासादि दुःख-वृन्दों का सर्वदा शिथिलकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है[1]। शङ्कराचार्य के इस व्याख्यान के अनुसार उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या तथा गौण अर्थ है[2]--ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थ विशेष। ब्रह्म के स्वरूप, उससे उत्पन्न जीव तथा जगत् के साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध, ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय, आदि विषयों का विस्तृत तथा विशद वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है। अतः इनकी 'उपनिषद्' संज्ञा अन्वर्थक है।

---

१. द्रष्टव्य कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के शाङ्करभाष्य का उपोद्घात।

२. तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्या—
कठभाष्य पृ० २।

प्राचीनकाल में प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विशिष्ट उपनिषद् था, परन्तु आजकल उतने उपनिषदों की उपलब्धि नहीं होती। मुक्तिकोपनिषद् में उपलब्ध उपनिषदों की सूची दी गई है[1]।

संख्या

उसके अनुसार उपनिषद् १०८ हैं जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं, १९ शुक्लयजुर्वेद से, ३२ कृष्णयजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। परन्तु मुक्तिकोपनिषद् के ही अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषदों की संख्या कहीं अधिक थी। अष्टोत्तरशत उपनिषद् तो उपनिषत्साहित्य के सारभूत हैं[2]। कतिपय वर्ष हुए अड्यार (मद्रास) की थिआसोफिकल सोसायटी ने अप्रकाशित उपनिषदों को प्रकाशित किया है, जो संख्या में लगभग साठ हैं और जिनमें कतिपय उपनिषदों का अनुवाद दारा शिकोह (बादशाह शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र) ने फारसी भाषा में १७ वीं शताब्दी में किया था।

इन १०८ उपनिषदों में भी बारह तेरह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की विशदता तथा प्राचीनता के विचार से नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋग्वेदीय उपनिषदों में ऐतरेय तथा कौषीतकि, साम-उपनिषदों में छान्दोग्य तथा केन, कृष्णयजुः उपनिषदों में तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी, शुक्लयजुर्वेद के ईशावास्य तथा बृहदारण्यक; अथर्वउपनिषदों में मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न नितान्त प्रसिद्ध, प्राचीन तथा प्रामाणिक स्वीकार किये गये हैं। शङ्कराचार्य ने इन्हीं ११ उपनिषदों पर भाष्य लिखा है--ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा नृसिंह पूर्वतापनी। इनके अतिरिक्त अपने भाष्यों में उन्होने लगभग ६ अन्य उपनि-

---

१. मुक्तिकोपनिषद् प्रथम अध्याय (उपनिषत्संग्रह पृ० ५४८-५५१)

२. सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥
—मुक्तिकोपनिषद् (११४४)

षदों को प्रमाण के लिये उद्धृत किया है। इनमें शङ्कराचार्य के द्वारा व्याख्यात उपनिषद्-ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वशाली माने जाते हैं तथा लोकप्रिय होने से उन्हीं का पठनपाठन विशेषतया आजकल होता है। इनमें भी छांदोग्य तथा बृहदारण्यक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक। उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पहले हो चुकी थी, परन्तु समस्त उपनिषदों का निर्माण एक काल का विषय न होकर अनेक शताब्दियों के उद्योग का परिणाम है। विषय-वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषद् वेदान्त (आत्मा तथा ब्रह्म के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध) के प्रतिपादक हैं, कुछ योग के स्वरूप विवेचन में निरत हैं, परन्तु उपनिषदों को महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्तिपरक है।

उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ी छानबीन की है। भारतीय टीकाकार उपनिषदों में एक ही प्रकार के

मुख्य तात्पर्य

सिद्धान्तों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में अद्वैत श्रुति, विशिष्टाद्वैत श्रुति तथा द्वैत श्रुतियों का सद्भाव है, इसे कोई भी विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। ये सब श्रुतियाँ युक्ति-युक्त हैं। केवल दृष्टिकोण का ही भेद है। आचार्यों ने स्वसिद्धान्तप्रतिष्ठापक श्रुतियों को प्रधानत्वेन स्वीकृत किया है तथा अन्य श्रुतियों को गौण मानकर उनकी उपपत्ति दिखलाई है। श्रीशङ्कराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिख कर उनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने स्वयं उपनिषदों पर भाष्य की रचना तो नहीं की है, परन्तु अवान्तर-काल में उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैतानुसार वृत्तियाँ लिखी हैं। रामानुज के व्याख्यानानुसार उपनिषद् विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। श्रीमध्वाचार्य ने कतिपय प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनकी दृष्टि में

इन ग्रन्थरत्नों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म तथा आत्मा की भिन्नता (द्वैत) के प्रतिपादन में है। आधुनिक आलोचकों के मत से उपनिषदों में समस्त दर्शनों के बीज निहित हैं। इन्हीं सूक्ष्म सूचनाओं को ग्रहण कर पीछे के दार्शनिकों ने अपने २ सिद्धान्तों को पल्लवित किया है तथा उन्हें स्वतन्त्र-रूपेण प्रतिष्ठित किया है। आस्तिक दर्शनों की कथा कौन कहे ? जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों के भी मूल सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। सच्ची बात तो यह है कि उपनिषद् वैदिक कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक विचारों के बहुमूल्य भाण्डागार हैं। इन विचारों में सुव्यवस्था होने पर भी कहीं २ विकीर्णता है। ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपेण इन ग्रन्थों में वर्णित हैं। अतः इन उपदेशों में सामञ्जस्य का अभाव होना नितान्त स्वाभाविक है। तथापि उपनिषदों की तारतम्यपरीक्षा से उनके मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

(१) आत्मतत्त्व

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन बड़ी छान-बीन के साथ किया गया है। आत्मा की सत्ता इसी जीवनकाल तक विद्यमान रहती है अथवा इस जीवनकी समाप्ति के पश्चात् भी उसका निवास बना रहता है ? इस समस्या की मीमांसा कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दर रीति से की गई। नचिकेता ने यमराज से इसी समस्या को सुलझाने के लिए आग्रह किया। मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है। उसका यथोचित विवेचन यमराज ने स्वयं किया है। आत्मा नित्य वस्तु है, न कभी वह मरता है, न कभी अवस्थादिकृत दोषों को प्राप्त होता है। वह विषयग्रहण करने वाली हमारी समस्त इन्द्रियों से, संकल्पविकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारण-भूत प्राणों से पृथक् है। एक रमणीय रूपक के द्वारा इस तत्त्व का वर्णन किया गया है—'यह शरीर

रथ है, बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथस्वामी है।[१] आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। रथस्वामी के कार्य के लिए ही रथादि वस्तुओं का व्यापार हुआ करता है, उसी प्रकार रथी-स्थानीय आत्मा के लिए ही शरीरादि विषयों का व्यापार होता है। बाह्य-विषयों से आरम्भ कर श्रेष्ठताक्रम से विचार करने पर आत्मा ही सब से श्रेष्ठ ठहरता है।

'आत्मन्' की व्युत्पत्ति पर विचार करने से इसके स्वरूप का यथार्थ परिचय मिलता है। अनेक कारणों से यह नामकरण किया गया है।

'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति

शङ्कराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत कर समस्त व्युत्पत्तियों को एक साथ प्रदर्शित किया है। आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति), समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है (आदत्ते), स्थितिकाल में वह विषयों को खाता है अर्थात् अनुभव करता है। (अत्ति) तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है (सन्ततो भावः) इन्हीं कारणों से आत्मा का 'आत्मत्व' है[२]। कल्पित वस्तु की सत्ता की सिद्धि के लिए अधिष्ठान की सत्ता अवश्य मानी जाती है। कल्पित सर्प की सत्ता के लिए तदधिष्ठानभूत रज्जु की सत्ता निरन्तर रहती है,

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥—कठोपनिषद् २।३-४

२. यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।
कठ० उप० (२।१।१)—शङ्करभाष्य।
द्रष्टव्य विद्यारण्यक-ऐतरेयदीपिका पृ० १३-१४

उसी प्रकार कल्पित जगत् की सत्ता मानने के लिए आत्मा का निरन्तर भाव, सन्तत सत्ता (नित्यता) स्वीकृत की गयी है। आत्मा की सत्ता के कारण प्राणीमात्र जीवन धारण करता है। 'कोई भी मर्त्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से जीवित रहता है। प्रत्युत वह उस तत्त्व के सहारे जीवित रहता है जिसमें ये दोनों प्राण तथा अपान आश्रित रहते हैं' और वह तत्त्व कौन है? आत्मा (कठ उप० २।२५)।

शुद्ध आत्मा की चैतन्य-स्वरूपता

आत्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। ऋषियों ने चेतना के चार स्तर बतलाये हैं। तीन निम्न कोटि के चैतन्यों में आत्मा का निवास नहीं रहता, परन्तु सबसे उच्चकोटि के चैतन्य में आत्मस्वरूप की तात्त्विक उपलब्धि होती है। शरीर-चैतन्य, स्वप्न-चैतन्य तथा सुषुप्ति-चैतन्य से सर्वथा पृथक् होकर आत्मचैतन्य अपने शुद्ध अमिश्रित-रूप से विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में (८।७) एक बड़ी रोचक आख्यायिका वर्णित की गई है। देवता तथा असुरों ने आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इन्द्र तथा विरोचन को प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने बत्तीस वर्ष की कठोर तपस्या के अनन्तर सिखलाया कि आँख में, जल में तथा आदर्श में जो पुरुष दीख पड़ता है वही आत्मा है। विरोचन को इस शिक्षा से सन्तोष हो गया, परन्तु इन्द्र के मनमें शङ्का का उदय हुआ कि सुन्दर अलंकारों से शरीर को भूषित करने पर आत्मा भूषित प्रतीत होता है, परन्तु क्या शरीर ही आत्मा है? यदि शरीर तथा आत्मा का तादात्म्य है, तो शरीर में अन्धत्व, काणत्व आदि दोषों के विद्यमान रहने पर आत्मा में भी इन दोषों को मानना पड़ेगा। इस शङ्का के निरास करने के लिए प्रजापति ने स्वप्न-चैतन्य को आत्मा बतलाया, परन्तु दोष का निरास न हो सका; क्योंकि स्वप्न में हम दुःख

का अनुभव करते हैं, आँखों से अश्रुधारा बहाते हैं, परन्तु आनन्द-रूप आत्मा में क्या दुःख का संस्पर्श स्वीकृत किया जा सकता है ? इन्द्र के पुनः आनेपर प्रजापति ने सुषुप्ति काल में विद्यमान चैतन्य को आत्मा बतलाया। परन्तु विचार करने पर इन्द्र के मनमें शंका का पुनः उदय हुआ। सुषुप्ति-काल में न तो अपनी ही सत्ता का ज्ञान रहता और न बाह्य वस्तुओं का। उस समय तो जीव काठ के कुन्दे की तरह चैतन्य-हीन प्रतीत होता है। इतनी शंका करने पर अन्त में प्रजापति ने वास्तविक तत्त्व को समझाया कि इन तीनों चैतन्यों से पृथक्भूत जो उपाधि-विरहित शुद्ध चैतन्य है, आत्मा तद्रूप ही है। आत्मा स्वचैतन्य रूप है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न चैतन्य को ही आत्मा बतलाया है, परन्तु वास्तविक आत्मा इन सबसे भिन्न शुद्ध चैतन्यरूप है।

माण्डूक्य उपनिषद् में भी शुद्ध आत्मा को 'तुरीय' बतलाया गया है। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

आत्मा की चार अवस्थाएँ

जाग्रत् दशा में आत्मा बाह्य वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्नदशा में वह आभ्यन्तर मानस जगत् का अनुभव करता है, सुषुप्ति (घोर निद्रितावस्था) में वह अपने केवल आनन्द-स्वरूप का अनुभव करता है। ये तीनों दशाएँ आत्मा की अपर अवस्थाओं को सूचित करती हैं और इनमें आत्मा को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहते हैं। परन्तु इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के अंशमात्र का परिचय प्राप्त होता है परन्तु पूर्ण आत्मा में उन सब गुणों का अभाव रहता है जो इन दशाओं में उपलब्ध होते हैं। 'उस समय न तो बाह्य चेतना रहती है न अन्तः चेतना, और न दोनों का संमिश्रण, न प्रज्ञा रहती है और न अप्रज्ञा। अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण (लक्षण या चिह्न से विरहित), अचिन्तनीय, अव्यपदेश्य (नाम रहित), केवल आत्म-प्रत्ययसार (एक आत्मा की ही सत्ता का केवल भान होता है), प्रपञ्चोपशम (जहाँ समस्त बाह्य जगत् शान्त रहता

है), शान्त शिव, अद्वैत यह चतुर्थ कहा जाता है, यही आत्मा है, इसे ही जानना चाहिए' (माण्डूक्य उप० ७) । इस आत्मा को 'तुरीय' (जाग्रतादि अवस्थात्रय से पृथक् होने के कारण चतुर्थ) कहते हैं। यह आत्मा कूटस्थ अविकारी है और इसी कूटस्थ आत्मा की एकता निर्गुण ब्रह्म से सर्वतोभावेन सिद्ध मानी जाती है। ओंकार इसी आत्मा का द्योतक अक्षर है।

(२) ब्रह्मतत्त्व

कहा गया है कि उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्त्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है। आधिदैविक पद्धति नानारूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्त्व को खोज निकालती है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस-प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्य-कलापों के अवलोकन करने से उनके मूलभूत आत्मतत्त्व का निरूपण किया जाता है। इन तीनों शैलियों के उपयोग करने से उपनिषद्-कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्त्व परम सत्यभूत पदार्थ का ऊहापोह किया है, उसे ब्रह्म कहते हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन किया है—सविशेष अथवा सगुण रूप, निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन दोनों

द्विविध ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण

भावों में भेदनिर्देश करने के अभिप्राय से निर्विशेष भाव को कहीं 'परब्रह्म' कहा गया है और सविशेष भाव को कहीं 'अपर ब्रह्म' तथा कहीं शब्द-ब्रह्म कहा गया

है। निर्विशेष ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता; किसी चिह्न का परिचय नहीं दिया जा सकता। जिसके द्वारा उसे पहचानने में हम समर्थ हो सकते हैं, ऐसे गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता जिससे उसे धारण किया जा सके। इसलिए इस निर्विशेष भाव को निर्गुण, निरुपाधि तथा निर्विकल्प आदि संज्ञाओं से अभिहित करते हैं। सविशेष भाव ठीक इससे विपरीत होता है। उसमें गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती हैं जिनके द्वारा उसका उक्त स्वरूप हृदयङ्गम किया जा सकता है। इन दोनों भावों को प्रदर्शित करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है। एक निर्विशेष-लिङ्ग, दूसरा सविशेष-लिङ्ग। सविशेष-लिङ्ग श्रुतियाँ सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः इत्यादि हैं। निर्विशेषलिङ्ग श्रुतियाँ अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् आदि हैं[1]। इन वाक्यों में एक विशेषता और ध्यान देने योग्य है। सविशेष ब्रह्म के लिए पुल्लिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया गया है यथा सर्वकर्मा सर्वरसः आदि। परन्तु निर्विशेष-ब्रह्म के लिए नपुंसक शब्दों का प्रयोग किया गया है। अस्थूलम् अह्रस्वम् आदि नपुंसक शब्दों के द्वारा पर ब्रह्म का निर्देश किया जाता है। यही कारण है कि परब्रह्म 'तत्' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, 'सः' पद के द्वारा नहीं। श्रुतिवाक्यों में इस प्रकार पार्थक्य होने पर भी तद्द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है। निर्विशेष तथा सविशेष भाव-विभेद के सूचक हैं; इनमें वस्तुगत विभेद का सर्वथा अभाव है। सगुण तथा-निर्गुण, सोपाधि तथा निरुपाधि आदि शब्द एक ही ब्रह्मतत्व के निर्देशक हैं, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व को प्रतिपादक श्रुतियों ने एक ही मन्त्र में उभयलिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया। मुण्डक-उपनिषद् (१।१।६) में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है—

१. सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वकर्मेत्याद्याः सविशेषलिङ्गाः, अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः। —शाङ्करभाष्य।

यत् तद् अद्रेश्यमग्राह्यम, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुःश्रोतम्, तद् अपाणिपादम् (यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की सूचना है), नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः (इन पुल्लिंग पदों में सविशेष ब्रह्म का निर्देश किया गया है)। इस प्रकार जब एक ही मन्त्र उभयविध पदों के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है, तब निश्चय है कि उसमें किसी प्रकार का वस्तुगत पार्थक्य नहीं है। भाष्यकारों में इन उभयलिङ्ग वाक्यों को लेकर गहरा मत-भेद है। आचार्य शङ्कर श्रुति को निर्गुण ब्रह्म-प्रतिपादक ही मानते हैं, पर आचार्य रामानुज उसे सगुण-ब्रह्म-प्रतिपादक स्वीकार करते हैं। परन्तु परम तत्त्व एक ही है, उसे सगुण कहा जाय या निर्गुण।

(क) सगुण ब्रह्म

अपर या सगुण ब्रह्म का परिचय उपनिषद में दो प्रकार से दिया गया है। किसी वस्तु के परिचय के लिए उसके लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण दो प्रकार का होता है—तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण। जिसके द्वारा वस्तु के शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जाता है, वस्तु के तात्त्विक रूप की उपलब्धि होती है, वह स्वरूप लक्षण कहलाता है। तटस्थ लक्षण के द्वारा वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है। सगुण ब्रह्म के उभयविध लक्षण उपनिषदों में प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप लक्षण

स्वरूप लक्षण के अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—तैत्ति० उप० उप० २।१) तथा वह विज्ञान और आनन्दरूप है (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—बृह० उप० ३।९।२८)। उपनिषदों में ब्रह्म की तीन स्वाभाविक शक्तियों का उल्लेख पाया जाता है-ज्ञानशक्ति, बलशक्ति तथा क्रियाशक्ति (परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च-श्वेता० उप० ६।८)।

सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण छान्दोग्य-उपनिषद् में केवल एक शब्द में किया गया है। वह शब्द है—तज्जलान्[१]। तज्ज, तल्ल तथा तदन्—इन तीन शब्दों का संक्षेप इस शब्द से किया गया। यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तल्ल) तथा उसीके कारण स्थितिकाल में प्राण धारण करता है (तदन्)। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारणभूत परमतत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े सुन्दर शब्दों किया गया है[२]। ब्रह्मसूत्र के "जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) सूत्र में ब्रह्म का यही तटस्थ लक्षण उपस्थित किया है। 'वह सबका अधिपति है, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी है। वह सब का कारण है; उसीसे सब जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं' (माडूक्य उप०)। सगुण ब्रह्म इस संसार के शासक हैं वे इस जगत् के समस्त निवासियों के भाग्य के विधाता हैं। शुभ कार्य करने वाले जीवों का वह कल्याण साधन करते हैं और भुक्ति या मुक्ति का विधान करते हैं, परन्तु अशुभ-कर्म वाले जीवों को वे सर्वथा दण्ड देते हैं। ये ही ईश्वर, विराट् या हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं। इस विश्व के समस्त प्राणी उन्हीं के शरीर हैं—सब पैरों से वह चलते हैं, सब हाथों से काम करते हैं, सब आँखों से देखते हैं, और सब कानों से सुनते हैं। ब्रह्म अखण्ड शक्तियों के ऊपर शासन करता है। उसी की शक्ति से देवताओं में शक्ति-संचार होता है। केनोपनिषद् (तृतीय खण्ड) में ब्रह्म की सर्व-शक्तिमता के विषय में उमा हैमवती का रोचक आख्यान वर्णित हैं जिसका तात्पर्य यही है कि न तो अग्नि में स्वतः दाहिका शक्ति है और न वायु में तृण को भी उड़ा देने का

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

१. तज्जलानिति शान्त उपासीत (छ० उप० ३।१४।१)।

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्ति० उप०।३१)।

स्वतः सामर्थ्य है। यदि ये प्राकृतिक शक्तियाँ अपने प्रबल सामर्थ्य के ऊपर गर्व करें, तो यह नितान्त अनुचित है। ब्रह्म की शक्तिमत्ता के बल पर जगत् के पदार्थों में शक्ति का परिचय मिलता है। नम्रता ब्रह्म ज्ञान की सहायिका है और अभिमान उस ज्ञान का नितान्त बाधक है। इन्द्र के नम्रता प्रदर्शित करने पर ही उमा हैमवती (ज्ञानदेवी) ब्रह्म के परिचय देने के लिए आविर्भूत हुई थी जिसकी कृपा से इन्द्र देवताओं के अधिपति हुए।

(ख) निर्गुण ब्रह्म

पहले दिखलाया गया है कि ब्रह्म का जो निर्विशेष या निर्गुण भाव है उसे किसी विशेषण से विशेषित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न के द्वारा चिह्नित नहीं किया जा सकता, किसी गुण से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। अर्थात् परब्रह्म निर्विकल्प तथा निरुपाधि है। वह अनिर्देश्य है— उसका किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। वस्तु का निर्देश किसी गुण के द्वारा ही हो सकता है। परन्तु जब ब्रह्म निर्गुण है, तो उसका निर्देश किया जाना नितान्त असम्भव है। इसी कारण बाष्कलि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के विषय में बराबर पूछने जाने पर बाध्व ऋषि ने मौनावलम्बन धारण कर ही उनके प्रश्न का उत्तर दिया[१]। गुणों के अत्यन्त अभाव के कारण ब्रह्म का भावात्मक वर्णन हो नहीं सकता। उसे हम निषेधमुखेन ही जान सकते हैं कि वह ऐसा नहीं है; इसीलिए श्रुति सदा नेति नेति (यह नहीं, यह नहीं,) कहकर उसका परिचय देती है। बृहदारण्यक श्रुति (४।४।२२) कहती है–स एष नेति नेति आत्मा।

---

१. बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते। स होवाच अधीहि भो इति। स तूष्णीं बभूव। तं ह द्वितीये वा तृतीये वचन उवाच "ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा।"

—शंकरभाष्य ३।२।१७

अथात आदेशो भवति, नेति नेति, नह्येतस्मात् अन्यत् परम् अस्ति।

इसलिये परब्रह्म के वर्णन में श्रुतिवाक्यों में 'न' अव्यय का इतना बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। बृह० (३।६।६) के अनुसार वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व तथा अदीर्घ है। कठ (.१।३।१५) उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवत्, अनादि तथा अनन्त बतलाती है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (३।८।८) में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते समय 'अक्षर' के स्वरूप का विवेचन करते हैं—"हे गार्गी, वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है; ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, रक्त नहीं है न चिकना है, यह छाया से भिन्न है और अन्धकार से पृथक् है वायु तथा आकाश से अलग है, असङ्ग है; रस तथा गन्ध से विहीन है, न चक्षु उसे ग्रहण कर सकती है न श्रोत्र; मन तथा वाणी का वह विषय नहीं है; वह तेज से रहित है, प्राण तथा मुख से उसका सम्बन्ध नहीं है; वह परिमाण-रहित है, न अन्दर है न बाहर है; वह कुछ नहीं खाता, न उसे कोई खा सकता है।"

केनोपनिषद् में निष्प्रपञ्च ब्रह्म का बड़ा सजीव वर्णन है—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (१।५)

जिसे वाणी कह नहीं सकती, पर जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो। यह नहीं, जिसकी तुम उपासना करते हो।

पर-ब्रह्म निरुपाधि है। देश, काल तथा निमित्त रूपी उपाधियों से वह नितान्त विरहित है। वह देशातीत, कालातीत, तथा निमित्तातीत है। प्रमाणातीत होने से वह नितरां अप्रमेय है। चैतन्यात्मक होने से ब्रह्म स्वयं विषयी है। अतः वह किसी भी प्राणी के अन्तःकरण-वृत्ति ज्ञान का विषय कथमपि नहीं हो सकता। ब्रह्म का 'अरस' आदि कहने का तात्पर्य यही है कि वह शब्द स्पर्शादि के तुल्य विषय हो नहीं सकता। वह विपुलकाय अगाध प्रशान्त समुद्र के समान कहा जा सकता है। इस

जगत् में समस्त प्रकाशका हेतुभूत यही ब्रह्म है। "वहां न तो सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा, न तारा, ये बिजलियां नहीं चमकतीं; यह अग्नि कहां से चमक सकता है? उसीके चमकने के पीछे सब चीजें चमकती हैं; उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है (कठ उप० ५।१५)।"

ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है। मुण्डक उपनिषद् (१।१७) का कहना है कि जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से

जगत्

जाला तनता है तथा उसे अपने शरीर में फिर समेट लेता है, जिस प्रकार पृथिवी में ओषधियां उत्पन्न होती हैं; जैसे पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य ब्रह्म (अक्षर) से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है[१]। परमात्मा से पहले उत्पन्न हुआ आकाश; आकाश से वायु; वायु से अग्नि; अग्नि से जल;जल से पृथिवी, पृथिवी से समस्त जीवजन्तुमय जगत्। इस जगत् के लय होने का क्रम इससे ठीक विपरीत है।

(३) उपनिषदों का व्यवहार-पक्ष

उपनिषदों का व्यवहार पक्ष बड़ा ही सुन्दर है। हम पहले कह आये हैं कि दार्शनिक तत्त्वों को व्यवहार में लाकर उससे मानव जीवनको प्रभावित करनेमें भारतीय विचार-शास्त्रकी विशेषता है। उपनिषदों की आचार-मीमांसा नितान्त उपयोगी तथा मनोरम है। उन्नत आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ होने के लिए अनेक सद्गुणों का सद्भाव आवश्यक है। बृहदारण्यक उपनिषद् (५।२।१-३) ने एक बड़ी रोचक आख्यायिका के द्वारा दम (आत्मसंयम), दान तथा दया की सुशिक्षा दी है[२]। छान्दोग्य

---

१. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।
(मु० उप० १।१।७।)

२. एषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति।
तदेतत् त्रयं शिक्षेत् दमं दानं दयामिति (बृह० उप० ५।२।३)।

(३।१७।४) ने तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को आध्यात्मिक उन्नति में साधन बतलाया है। तैत्तिरीय (१।२।१-३) ने गुरुगृह से प्रत्यावर्तन के समय स्नातक को बड़ी सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं। इन शिक्षाओं में माता, पिता तथा गुरु की सेवा, स्वाध्यायचिन्तन तथा धर्माचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु 'सत्यं वद' को समस्त उपदेशों मे विशिष्ट गौरव प्राप्त है। छान्दोग्य (४।४।१-५) ने सत्यकाम जाबाल की कथा में सत्य की शिक्षा पर खूब जोर दिया है। प्रश्नोपनिषद् में अनृतभाषण की निन्दा[1] तथा मुण्डक (३।१।६) में सत्य की प्रशस्त प्रशंसा है[2]। सत्य के अनन्तर शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है (बृह० उप० ४।४।२३) परन्तु ज्ञान-साधन के मूलभूत गुण हैं—विवेक तथा वैराग्य। ब्रह्मप्राप्ति के लक्ष्य की ओर तब तक जीव अग्रसर नहीं होता, जब तक उसे विवेक —सत्यासत्य का विवेचन, श्रेय तथा प्रेय का वास्तव निर्धारण तथा जगत् से आत्यन्तिक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। मुण्डक (१।२।१२) ने इन गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। "कर्म के द्वारा प्राप्त लोक विनश्वर हैं; इस बात को जानने से ही ब्राह्मण के हृदय में निर्वेद—वैराग्य-का उदय होता है। विवेक ही उसे निश्चय करा देता है कि कृत (कर्म) के द्वारा अकृत (नित्य, ब्रह्म) की उपलब्धि हो नहीं सकती"।

कर्म करने में हम स्वतन्त्र हैं या नहीं ? उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहता है कि कर्म करने में आत्मा स्वतन्त्र है। बृहदारण्यक ने निःसन्दिग्ध शब्दों में संकल्प की स्वतन्त्रता प्रतिपादित की है। "यह पुरुष काममय है; जैसी उनकी इच्छा होती है, वैसा ही उसका क्रतु (संकल्प) होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह

कर्म स्वातंत्र्य

१. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतं वदति (प्रश्न उप० ६।१)

२. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
(मु० उप० ३।१।६)

कर्म करता है¹। कौषीतकि (३।९) ने मनुष्य की कर्म करने में स्वतन्त्रता का निषेध किया है, परन्तु छान्दोग्य में इस स्वतन्त्रता का सुन्दर वर्णन है। आत्मज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सब लोकों में विचरण कर सकता है (छा० उप० ८।१६); वह जिस चीज की कामना करता है वह उसके संकल्प-मात्र से उत्पन्न हो जाती है (छा० उप० ८।२।१०); मुक्तिकोपनिषद् (२।५।६) में स्पष्टतः पुरुषार्थ पर जोर दिया गया है—

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ।
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ॥

"वासनारूपी नदी दो मार्गों से प्रवाहित होती है—शुभ मार्ग से तथा अशुभ मार्ग से। मनुष्य को चाहिए कि प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ ही में ले जाय"। कर्म-निष्पादन में आत्म-स्वातन्त्र्य का उपपादन ही उपनिषद् की समस्त शिक्षाओं का सार है।

इस ब्रह्माण्ड के भीतर अनेक लोक हैं जिनमें सबसे उच्च लोक ब्रह्मलोक कहलाता है। उपनिषदों ने (छा० उप० ४।१५; बृह० ६।२; कौषी० १।२, ३) बड़े विस्तार के साथ मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी के विभिन्न मार्गों का वर्णन किया है जिनके द्वारा वे अपने कर्मानुसार विभिन्न लोकों को जाते हैं। इस यात्रा के दो प्रधान मार्ग हैं—देवयान तथा पितृयान।

द्विविधयान देवयान तथा पितृयान

ज्ञान-कर्मसमुच्चय के अनुष्ठाता, ज्ञान के साथ श्रद्धा तथा तपस्या आदि शोभन कार्य करनेवाले, पुरुष देवयान के द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं। ब्रह्म के आनन्दमय लोक प्राप्त कर लेने पर भी वे अपनी उपासना का अनुष्ठान करते रहते हैं और अन्त में परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इष्टापूर्त (श्रौत तथा स्मार्त कर्म) के अनुष्ठाता कर्म-मार्ग के अनुयायी

१. अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।
बृह० उप० (४।४-५)।

पुरुष पितृयान के द्वारा चन्द्रलोक जाते हैं, और कर्मानुसार सुख भोग कर वे पुनः इस लोक में आते हैं। यदि शोभन कार्य शेष रहता है तो वे धनी कुटुम्बों में जन्म ग्रहण करते हैं; यदि अशोभन का फल अवशिष्ट रहता है तो बुरे कुटुम्बों मे जन्म लेते हैं। उपासना के विधिवत् अनुष्ठान से वे पुनः देवयान पन्था का आश्रय लेकर ब्रह्मलोक में जा सकते हैं। इसे क्रममुक्ति कहते हैं। इन दोनों यानों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग ह जिसे 'यान' न कहकर 'गति' कहते हैं। इसकी पारिभाषिकी संज्ञा 'जायस्व म्रियस्व'---उत्पन्न होना तथा मरना है। पशुपक्षी के समान जो जीव कर्म के अनधिकारी हैं तथा अधिकारी होकर भी जो अशुभ कर्मों के सम्पादक हैं, उनकी यह तीसरी गति होती है (छा० उप० ५।१०।८) परन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हें इस क्रममुक्ति से नितान्त असन्तोष होता है और जो सद्योमुक्ति (साक्षात् बिना विलम्ब मोक्ष) के इच्छुक होते हैं। उपनिषद् ने उनके लिए भी व्यवस्था की है। आत्म-ज्ञान न होना ही बन्धन का कारण है। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठ० ४।११) वह पुरुष मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त करता जाता है जो इस जगत् में अनेकत्व को देखता है। अतः इस जगत् में व्याप्त एकता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर सद्यो-मुक्ति को एक ही जीवन में प्राप्त कर सकता है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है[1] कि जिस पुरुष के हृदयस्थित सब कामनाएं छूट जाती हैं, वह पुरुष मरणशील होने पर भी अमृत हो जाता है--अमरत्व को प्राप्त कर लेता है तथा इसी लोक में ब्रह्म को पा लेता है। उस समय उसके अंग, प्राण उसके शरीर से विमुक्त नहीं होते। ब्रह्म-रूप होकर वह पुरुष को प्राप्त कर लेता है[2]। एकत्व ज्ञान का यह अमृत फल है। अतः

१. यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ —४।४।७
२. न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।
बृह० उप ४।४।७

मनुष्य-मात्र का यह उच्च उद्देश्य होना चाहिए कि अपना बहुमूल्य जीवन साधारण वस्तुओं की प्राप्ति में न लगाकर आत्मोपलब्धि में लगावे क्योंकि "उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु-आवागमन को पार करता है; जाने के लिये आत्म-साक्षात्कार को छोड़कर अन्य मार्ग है ही नहीं[1]" अतः तीव्र ज्ञानकी प्राप्ति होने पर सद्योमुक्ति हो जाती है। ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के भोग करने की भी आवश्यकता रहती ही नहीं। इसीलिए गीता में सुसमिद्ध अग्नि के समान सुसमिद्ध ज्ञान सब कर्मों का (प्रारब्ध कर्मों का भी) नाश करने वाला बतलाया गया है। निष्कर्ष यह है कि विशुद्ध ज्ञान से सद्यो मुक्ति, ज्ञान-कर्मके समुच्चय से देवयान, केवल शोभन कर्म के आश्रय से पितृयान तथा अशोभन कर्मों के अनुष्ठान से तृतीया गति की प्राप्ति होती है।

(४) उपनिषदों का चरम लक्ष्य

उपनिषदों का चरम लक्ष्य क्या है ? कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन से निष्पन्न आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञान उनका लक्ष्य नहीं है। उपनिषद् के सिद्धान्तों में मौलिभूत सिद्धान्त है—आत्मा की अपरोक्षानुभूति। परोक्ष अनुभूति से हमें अपना कौन-सा स्वार्थ सिद्ध हो सकता है ? जब तक हम अपने प्रयत्न से अपने को तात्त्विक रूपसे न जानें या 'स्व'रूप का साक्षात् अनुभव न करें, तब तक शास्त्र का रोमन्थन (चर्वित-चर्वण) व्यर्थ है। शंकराचार्य ने शुष्क ज्ञान की निन्दा करने में उपनिषत्तत्त्व का ही अनुसरण किया है[2]। उपनिषदों ने इस अपरोक्षानुभूति के लिए आचार्य की महिमा का वर्णन सुन्दर शब्दों में किया है। ओंकार की

---

१. तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय
श्वेता० उप० ३।८

२. वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रविज्ञानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥
अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥
—विवेक चूडामणि ६०।६१

उपासना इसका प्रधानतम साधन है ओंकार के निरन्तर ध्यान करने से निगूढ़ देव का दर्शन किया जा सकता है (श्वेता० १।१४)। इसी प्रसंग में 'योग' की उपयोगिता का वर्णन श्वेताश्वतर में किया गया है (२।८-१०)। सुख दो प्रकार के होते हैं—छोटा सुख तथा बड़ा सुख। विषय-प्रपञ्च में सुखोपलब्धि अल्पकोटि की है। परन्तु वास्तव सुख तो उस 'भूमा'=आत्मा की उपलब्धि में है जो सर्वत्र विद्यमान है, ऊपर है तथा नीचे है; आगे है तथा पीछे है, दक्षिण की ओर है तथा उत्तर की ओर है। परम तत्त्व की ही संज्ञा 'भूमा' है। 'जहां पर न तो दूसरे को देखता है, न दूसरे को सुनता है, न दूसरे को जानता है वह है भूमा। भूमा ही अमृत है। जो अल्प है, वह मर्त्य है—अनित्य है'—यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्प सुखमस्ति। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा। यो वै भूमा तदमृतं, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् (छा० ८।२२)।

इस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि होने पर क्या होता है? वह 'स्वाराज्य' प्राप्ति कर लेता है; वह अपने आत्मा से प्रेम करता है,

स्वाराज्य प्राप्ति

(आत्मरतिः) अपने आत्मा से क्रीड़ा करता है (आत्मक्रीड़ः), अपने आत्मा के संग का अनुभव करता है (आत्ममिथुनः) तथा अपने आत्मा में निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है (आत्मानन्दः)। आत्मा तो आनन्दरूप ठहरा। अतः स्वोपलब्धि का अर्थ यही है कि वह अपने आनन्दमय-रूप में विहार करता है। परन्तु क्या उस आनन्द की मात्रा लौकिक दृष्टान्तों से बतलाई जा सकती है? बृहदारण्यक (४।३।२१) ने एक लौकिक उदाहरण से उसका तनिक आभास सा दिया है। उसका कहना[1] है कि जिस

[1] तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नांतरम् ; एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद् वा अस्य एतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपम् (बृह० ४।३।२१)।

प्रकार प्रिया से आलिंगन किये जाने पर पुरुष न तो किसी बाहरी वस्तु को जानता है न भीतरी वस्तु को, उसी प्रकार प्राज्ञ-आत्मा (परमात्मा) से आलिंगन किये जाने पर यह जीव न तो बाह्य को जानता है न अन्तर को। उस समय उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा की उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती।

पर क्या लौकिक भाषा में उस अचिन्त्य, सर्वकाम, सर्वगन्ध परमात्मतत्त्व की उपलब्धि समझाई जा सकती है? ये समस्त उपाय व्यर्थ हैं। आत्मवेत्ता ही उसे जानता, समझता है पर उस अवस्था में पहुँचते ही उसका वाणी का व्यापार बन्द हो जाता है। वह मूक बन जाता है। कौन कहे और कौन सुने? उस समय बस "शिवः केवलोऽहम्" की अपूर्व उपलब्धि हो जाता है। आत्मा निरतिशय आनन्द का अनुभव करने लगता है। यह स्थिति स्वानुभूत्येकगम्य है; अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है। परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक है। यह अपरोक्षानुभूति ही वैदिक तत्त्वज्ञान का हृदय है। इसे हम उपनिषदों का 'रहस्यवाद' कह सकते हैं। उपनिषद् के अन्य सिद्धान्त इसके साधनमात्र हैं। यह रहस्यवाद श्रौत-दर्शन का सार है, रहस्यों का रहस्य है तथा उपनिषदों का उपनिषद् है। औपनिषद तत्त्वज्ञान की यह चूडान्त कल्पना है।

तृतीय परिच्छेद

गीता-दर्शन

(१) महाभारत-पूर्व काल

उपनिषद् युग से पीछे की शताब्दियाँ बड़ी विलक्षण थीं। उपनिषत्काल में ही वैदिकधर्म से विरोध रखने वाले दार्शनिकों के सद्भाव का पता चलता है (कठ उप० १।१। २०) परन्तु जो विरोधाग्नि अबतक मन्दरूप से जल रही थी, वह अब अपने प्रखररूप में धधकने लगी। भिन्न-भिन्न मतवालों ने विरोध का झगडा ऊँचा किया। विरोधका विषय वैदिक धर्म तथा दर्शन था। इन लोगोंने धार्मिक तथा दार्शनिक श्रद्धा का मूलोच्छेद कर डाला। इन विरोधी मतवादों की संख्या भी अपनी अधिकतासे हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इस युगके इतिहास के साधन नितान्त स्वल्प हैं, परन्तु जो कुछ आज उपलब्ध है उसीसे इस युग में सक्रिय विरोध की तीव्रता का अनुमान किया जा सकता है। जैन अंगों, बौद्ध निकायों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में, पिछले उपनिषदों तथा महाभारतमें जो एतद्विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है वह एक दूसरे को पूरा करती है तथा उसकी प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है। इनकी छानबीनसे जैन तथा बौद्ध-धर्मके सच्चे स्वरूपका का परिचय मिलता है। इन्होंने इन विरोधी दलों में सामंजस्य उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया। उस समय अक्रियावादका बोल-बाला था कि न तो कोई कर्म है, न तो कोई क्रिया, न तो कोई प्रयत्न (नत्थि कम्मं, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं)। इसके उत्तर में जैन-दर्शन ने इस मत का खण्डन करते हुए यह घोषणा की कि कर्म है, उत्थान (उद्योग) है, बल है, वीर्य है (अत्थि उत्थानेति

वा, कम्मेति वा, बलेति वा, विरियेति वा, पुरिसकारे परक्कमेति वा; भगवती-सूत्र १।३।५) इस प्रकार के सिद्धान्त को बुद्धधर्मने भी स्वीकृत किया जिसके कारण उसे भी कर्मवाद या क्रियावादके नाम से पुकारते हैं। अतः अधिकतर सयुक्तिक होनेके कारण जैन तथा बौद्ध-दर्शन तो जनता के प्रियपात्र हुए तथा अपनी सत्ता बनाये रखने में समर्थ हुए, परन्तु अन्य मत कुछ दिनों तक ही अपना प्रभाव जमाये रहे। अन्ततः तर्कहीन होने के कारण वे सदा के लिए लुप्त हो गए।

जैन ग्रन्थोंने क्रियावाद, अक्रियवाद, अज्ञानवाद तथा विनयवाद के अन्तर्गत ३६४ जैनेतर मतों का उल्लेख किया है। इतने मतों के प्रचार को हम सन्देह की दृष्टिसे देखते हैं, परन्तु कतिपय मतों का प्रचलित होना अवश्य निःसंदिग्ध था। दीघनिकाय के 'ब्रह्मजाल सुत्त' में बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित ६२ मतवादों का वर्णन किया गया है[1]। ब्राह्मण ग्रंथोंमें श्वेताश्वतर[2] तथा मैत्रायणी-उपनिषद् ने मूलकारण की मीमांसा के विषयमें भिन्न भिन्न उल्लेख किया है जिसके अनुसार काल[3], स्वभाव, नियति (भाग्य), यदृच्छा, भूत आदि जगत् के मूलकारण माने जाते थे। अहिर्बुध्न्य संहिता (१२।२०-२३) ने प्राचीनतम सांख्य ग्रंथ 'षष्ठितन्त्र' के विषयों का संक्षेप वर्णन किया है; उनमें ब्रह्मतन्त्र, पुरुषतन्त्र, शक्तितन्त्र, नियतितन्त्र, कालतन्त्र, गुणतन्त्र, अक्षरतन्त्र, आदि ३२ तन्त्रोंका उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इन तन्त्रों में कतिपय तन्त्र श्वेताश्वतरनिर्दिष्ट मत से सम्बन्ध रखते हैं। महाभारतमें भी इन मतवादों का वर्णन तथा

१. देखिए दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद) पृ० ५-१५।

२. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिंत्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावात् आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।
—श्वेता० उप० १।२.

३. कालवाद नितांत प्राचीन सिद्धांत है। अथर्ववेद के १८ वें काण्ड के ५३ वें सूक्त में काल की महिमा का वर्णन है। काल को सृष्टिका मूल कारण मानना वैदिक तत्व है। कालतत्त्व का वर्णन महाभारत में भी है। (आदिपर्व २४७-२५१)

खण्डन है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्व-महाभारतयुग में इन अवैदिक सिद्धान्तों की प्रचण्ड आंधी ने वैदिक-धर्मको डांवाडोल कर दिया था। सामान्य वाद के साथ-साथ विशिष्ट दार्शनिकों का नामोल्लेख भी किया गया है। ऐसे आचार्यों में ६ तीर्थंकरों के नाम आदर ने साथ लिखें गये हैं तथा इनके मतका वर्णन विस्तार के साथ किया गया है[१]।

पूर्ण कश्यप के मतवाद का नाम अक्रियावाद है। उनके अनुसार किसी भी क्रिया का, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, फल कर्ता को भोगना

पूर्ण काश्यप

नहीं पड़ता। उनका कहना है कि गांव लूटने से, चोरी करने से, बटमारी करने से, परस्त्री गमन करने से, झूठ बोलने से न तो पाप किया जाता है और न पाप का आगम होता है। इसी प्रकार दान देने से, दान दिलाने से, यज्ञ करने से या करानेसे न पुण्य होता है न पुण्य का आगम होता है।

इनका व्यक्तिगत नाम अजित था। 'केशकम्बल' उपाधि के समान जान पड़ता है जो इनके मतवादके कारण तिरस्कार प्रदर्शन के लिए

अजित केशकम्बल

दिया गया था। इनके मतका नाम था—उच्छेदवाद या जड़वाद। मृत्यु के अनन्तर कोई भी पदार्थ स्थायी नहीं रहता। शरीरस्थ सब पदार्थ अस्थायी हैं। मृत्यु के बाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु अपने मूलरूप में लीन हो जाते हैं। शरीर के भस्म हो जानेपर कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। आत्मा की सत्ता भी एक झूठी बात है।

इनके मतका नाम शाश्वतवाद है। इनकी सम्मति में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा आत्मा—ये सातों पदार्थ अकृत तथा अनिर्मित,

प्रक्रुध कात्यायन

अतः कूटस्थ, स्तम्भवत् अचल है। सब पदार्थ शाश्वत हैं—नित्य है, न उनकी उत्पत्ति होती है न विनाश। न कोई हन्ता है न घातयिता। जो तीक्ष्ण शस्त्र से शीश भी काटे, तो भी

---

१ बौद्ध-दर्शन (पृ० १९-४२)।

किसी को प्राण से नहीं मारता क्योंकि उसका हथियार सात कायोंसे अलग, विवर (खाली जगह) में गिरता है ।

यह दार्शनिक वेलट्ठि कुल में उत्पन्न संजय नामधारी था । यह बड़ा तर्क-कुशल प्रतीत होता है । इसके मत का नाम था—अनिश्चिततावाद ।

संजय वेलट्ठि पुत्त

किसी भी वस्तुका रूप किसी भी प्रकार से निश्चित नहीं है । न तो उसके विषय में 'हां' कहा जा सकता है और न 'नहीं' । परलोक के विषय में पूछे जाने पर वह न तो उसकी सत्ता को स्वीकार करता है और न उसकी असत्ता का निषेध करता है । उसका सब जोर वस्तु की अनिश्चितता के ऊपर है । बहुत सम्भव है 'स्याद्वाद' की उत्पत्ति ऐसी ही किसी कल्पना से हुई हो ।

यह अपने समय का एक विशिष्ट दार्शनिक था । मंखलि का शुद्ध संस्कृत रूप मस्करि था जो या तो मस्कर (बांस) के धारण करने से या

मंखलि गोसाल

कर्मनिषेध के उपदेश देनेके कारण इन्हें दिया गया था । महावीर के साथ यह बहुत दिनों तक रहता गा, पर सिद्धान्त में भेद होने से उनसे पृथक् होकर 'आजीवक' मत की स्थापना की । वह नियतिवाद का समर्थक था । प्राणियों के क्लेश का उदय बिना किसी हेतु या प्रत्यय के ही होता है और बिना किसी हेतु के ही वह स्वतः शांत हो जावेगा । अतः गोसालके उपदेशोंका सार यही था[१] नत्थि कम्म, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं । न कर्म है और न वीर्य । भाग्य का सहारा लेना चाहिए । जो कुछ होगा भाग्यसे । अतः शास्त्र-निर्दिष्ट यज्ञयाग, दान-पुण्य का सुखोदर्क पन्था निरर्थक है । पक्के भाग्यवादी के लिए कर्मों का आश्रय अभीष्ट नहीं है । इस सम्प्रदायका विस्तृत इतिहास है ।[२] पाणिनिके समय में भी 'मस्करि' परिव्राजक की कहानी अतीत की

---

१. अंगुत्तर निकाय जिल्द १. पृ० २८६ ।

२. डाक्टर वेणीमाधव बरुआ—आजीवक (अं०)

चर्चा न थी[१], क्योंकि इस नाम की व्युत्पत्ति उन्होंने प्रदर्शित की है। महाभाष्यकार (द्वितीय शताब्दी विक्रमपूर्व) इनसे परिचित थे तथा इनके मतका उल्लेख नितान्त प्रामाणिक है—मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि; शान्तिर्वः श्रेयसी। षष्ठ-शताब्दी के महाकवि कुमारदास 'मस्करि' के आकार-प्रकार से अभीज्ञ प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने रावण का जानकी के हरण के अवसर पर इस तापस-वेष में वर्णन किया है[२]। अतः 'आजीवक' मतका प्रचार अन्य मतों की अपेक्षा समधिक व्यापक प्रतीत होता है। लोकायत मत की उत्पत्ति का काल यही युग है। चार्वाक-दर्शन की प्राचीनता दिखलाते समय बृहस्पतिको ऐतिहासिक व्यक्ति के रूपमें प्रदर्शित किया जावेगा। इस युगका आध्यात्मिक वायुमण्डल लोकायत-मतके उदय के लिए अत्यन्त उपयुक्त था। इस युगके कतिपय साधारण विचार तथा आचार पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अब तक विचार-शास्त्र उच्च श्रेणी के विद्वानों की कल्पना की चीज थी, परन्तु इस युगमें इसका प्रचार साधारण जनतामें किया जाने लगा। स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपने विचारों के प्रचार करनेकी प्रवृत्ति का उदय इसी समय में प्रथमतः उत्पन्न हुआ जिसका अनुकरण महावीर तथा बुद्ध में अवान्तर काल में किया। अपने आध्यात्मिक विचारोंको व्यावहारिक रूप देने की तथा अपने विचारोंके अनुरूप जीवन यापन करने की प्रवृत्ति का विशेष लक्ष्य इस युग में दीख पड़ता है।

इन समस्त विरोधी मतों का खण्डन कर वैदिक-धर्मको पुनः प्रतिष्ठा करने को जरूरत पड़ी। विरोधियोंके झंझावात से बचाकर वैदिक-धर्मकी नौका को सुरक्षित घाट पर लगाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति महाभारत ने की। महाभारत ने इन अवैदिक

१. मस्करमस्करिणोर्वेणु—परिव्राजकयोः। ५।१।१२४।

२. दम्भाजीविकमुत्तुंगजटामण्डितमस्तकम्।
कञ्चिन् मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥
——जानकी हरण १०।७६

मतों की अप्रामाणिकता दिखला कर वैदिक मत की पुनः प्रतिष्ठा का पवित्र कार्य सम्पन्न किया। महाभारत के पंचम वेद होनेका यही रहस्य है। भागवत (१।४।२५) ने ठीक ही कहा है कि स्त्री, शूद्र तथा पतित द्विजों को श्रुति के अनधिकारी होने के कारण कारुणिक कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना की। 'महाभारत' नामकरण सरहस्य वेद-चतुष्टय से भी अधिक महत्त्व पूर्ण होने के कारण है (म० भा० आदि पर्व १।२७२)। महाभारत इस युग का प्रतिनिधि ग्रंथ है।

इस काल में आस्तिक विचारों की धारा रुकी नहीं, प्रत्युत परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप वह भी प्रवाहित होती रही। इस काल में भक्ति के ऊपर विशेष जोर दिया जाने लगा तथा भिन्न-भिन्न देवताओं का रूप परिष्कृत होने लगा। शिव तथा विष्णु के एक-देवत्व की कल्पना इसी युगकी वस्तु है। 'एकायन' नाम से जिस भक्तिप्रधान सम्प्रदाय का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् (७।१ में किया गया है, उस पांचरात्र मत का अभ्युदय तथा विपुल प्रचार इस काल में आकर निष्पन्न हुआ। यादववंशी क्षत्रियों में विशेष प्रचार होने के कारण इसे 'सात्वत' संज्ञा भी प्राप्त हुई। आस्तिक दर्शनों के अंकुर भी भारत की मस्तिष्क-भूमि में इसी काल में उगने लगे थे। इन दर्शनों में 'सांख्य' के आध्यात्मिक विचारों का प्रचार विशेषया लक्षित होता है। 'योग' की प्रक्रिया तो उपनिषत्काल से ही भारतीय दार्शनिकों के लिए श्रद्धा तथा आदर का विषय बन गई थी। वेद से अपना नाता तोड़ने वाले मतवादियों ने भी 'योग' के व्यावहारिक बहुमूल्य उपदेश ग्रहण करने में आना-कानी नहीं की। व्यावहारिक जगत् में 'अहिंसा' की ओर जनता की रुचि स्वतः बढ़ रही थी और पशुयाग उसके लिए मीमांसा तथा सन्देह का विषय बन रहा था। ऐसे ही समय में महाभारत की रचना हुई जिसने विरोधवादियों का खण्डन करके औपनिषद-ज्ञान के साथ नवीन आस्तिक धाराके सामंजस्य को उपस्थित किया। इस युग की दार्शनिक प्रवृत्तियों की जान-

कारी के लिए महत्त्वशाली आध्यात्मिक रहस्य शान्तिपर्व तथा अनुशासन पर्व में भी भरे पड़े है। परन्तु महाभारत के इस लक्षश्लोकात्मक विपुल-काय ग्रंथ में, शतसाहस्री संहिता में, गीता ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् मानी जाती है। अतः उसके विशेष अध्ययन की ओर अब हम प्रवृत्त होते हैं।

(२) गीता

महाभारत जैसे विशालकाय ग्रंथ का श्रीमद्भगवद्गीता सारतम अंश है। इसके सात-सौ श्लोकों के भीतर निःश्रेयस प्राप्ति के उपाय इतनी सुबोध तथा सरल भाषा में अभिव्यक्त कर दिये गये है कि सर्व-साधारण उन्हें आसानी से समझ सकते हैं और बिना किसी झगड़ा-टंटा के इस राजमार्ग का अनुसरण कर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते है। गीता दलबन्दी के दलदल से कोसों दूर है। अध्यात्म-तत्त्व के निरूपणार्थ जितने भिन्न-भिन्न मतों की उद्भावना उस समय तक हो चुकी थी उन सबका उपयोग कर गीता एक परम रमणीय साधन-मार्ग की व्यवस्था करती है जो भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले प्राणियों के लिए भी नितान्त सुखकर है। इसीलिए केवल सात-सौ श्लोकों की लघुकाय गीता को कामधेनु तथा कल्प-वृक्ष से उपमा दी गई है। गीताके महत्त्व का कारण उसकी समन्वय दृष्टि है। गीता के समय में मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार था। आत्मा की अपरोक्षानुभूति का प्रतिपादक था उपनिषद्; प्रकृति पुरुष की विवेक ख्याति से मोक्ष लाभ का उपदेशक था सांख्य; समाज तथा धर्म के द्वारा प्रतिष्ठित विधिविधानों के अनुष्ठान से परम-सुखभूत स्वर्ग की शिक्षा देने वाली थी कर्म-मीमांसा; अष्टांग साधन के द्वारा प्रकृति के बन्धन से जीव को निर्मुक्त कर कैवल्य का प्रतिपादक था योग तथा रागात्मिका भक्ति के द्वारा अखिल कर्मों का परमात्मामें समर्पण सिद्धान्त को बतलाने वाला था पांचरात्र। इन समस्त दार्शनिक तत्त्वां का जैसा मनोरम साम-

महत्त्व

जस्य गीता में प्रदर्शित किया गया है वह परम रमणीय है, नितान्त उपादेय है। प्राञ्जल तथा सुबोध भाषा में यह आध्यात्मिक समन्वय उपस्थित करने के कारण गीता का इतना गौरव है। भारतीय दर्शनकारों ने गीता की गणना द्वितीय प्रस्थान में कर इसकी महिमा का पूरा आभास दिया है तथा अवान्तर कालके धार्मिक मतोंके संस्थापक आचार्यों ने इसे भाष्य से सुशोभित कर इसके गूढ़तम तात्पर्य को अपनी दृष्टि से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भारत के बाहर भी गीता का प्रचार कम नहीं है। शायद ही ऐसी कोई सभ्य भाषा होगी, जिसमें गीता का अनुवाद न मिले। गीता के कितने ही सुन्दर अनुवाद हैं तथा कितने ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। गीता की अपील सार्वजनिक है, सब देश तथा सब काल के लिए समान है।

गीता का स्वरूप

जिस परिस्थितिमें गीताका उपदेश दिया गया था, वह विलक्षण थी। महाभारतका प्रलयंकारी संग्राम होने जा रहा था जिसमें भाई के सामने भाई उसका खून पीने के लिए खड़ा था। ऐसी दशा में अर्जुन का विषादी होना नितान्त स्वाभाविक है। अर्जुन महाभारतकालीन योद्धाओं में परम प्रसिद्ध, नितान्त वीर्यशाली था। इस प्रकार सांसारिक परिस्थितियों के बीच पड़ कर कर्म के विषय में संशयालु चित्त मानवमात्र का प्रतिनिधित्व हमें अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है। गीता ज्ञानके वक्ता स्वयं श्रीकृष्ण थे, जो उस युग के परममेधावी विद्वान् तथा कर्तव्यपरायण पुरुष थे। अर्जुन के सामने समस्या थी—युद्ध करूँ या न करूँ? इस विकट प्रश्नके उत्तर की मीमांसा करने में ही गीता का उदय होता है। अतः अतः गीता के उपदेशों की दिशा सुस्पष्ट है; वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिए गीता 'योगशास्त्र' कहलाती है। योग के अनेक अर्थों में एक अर्थ व्यवहार है। 'सांख्य' का अर्थ है तत्त्वज्ञान तथा 'योग' का अर्थ व्यवहार या कर्ममार्ग है। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' कहने से तात्पर्य यही है

कि गीता का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार प्रतिपादन है। तत्त्व-समीक्षाके आधार पर ही आचार-मीमांसा की सुन्दर प्रतिष्ठा होती है। अतः गीतार्थ के विवेचन के लिए इन उभय पक्षों का निरूपण नितान्त आवश्यक है।

(क) गीता का अध्यात्मपक्ष

अध्यात्मतत्त्व का विवेचन गीता में बड़ी ही साफ़ सुथरी भाषा में स्थान स्थान पर किया गया है, परन्तु इन सब का समन्वय कर एक निश्चित सिद्धान्त का स्थापित करना कुछ कठिन कार्य है। इसीलिए आचार्य शंकर गीता को दुर्विज्ञेयार्थ बतलाये हैं (तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्--गीताभाष्य का उपोद्घात)। चरमतत्त्व के निर्देश भिन्न भिन्न अध्यायों में किये गये है। परन्तु आठवें तथा तेरहवें अध्याय में इसका वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण उभय रूप से परिचित है। परन्तु यह जानती है कि दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। इस सुन्दर श्लोक में इस दोनों रूपों की एकता स्पष्टतः प्रतिपादित की गई है:—

(१) ब्रह्मतत्त्व

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च (१३।१४)

ब्रह्म समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि में समर्थ होता है—आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों के द्वारा यह प्रतिभासित होता है। अथच वह स्वयं समस्त इन्द्रियों से हीन है। वह सब प्रकार के देहादिक सम्बन्ध से रहित है, परन्तु सब को धारण करता है। वह निर्गुण है तथापि गुणों का भोक्ता है—सत्त्वादि गुणों के परिणाम रूप शब्द स्पर्शादि विषयों का उपभोक्ता है। वह सत् है, असत् भी है तथा इन दोनों से परे भी है। (सदसत् तत्परं यत्—११।३७); अनादिमान् परब्रह्म न तो सत्, न असत् कहा जाता है (न सन्नासदुच्यते—

१३।१२); ब्रह्म भूतों के भीतर तथा बाहर दोनों ओर है। वह अचर, चर, दूरस्थ तथा अन्तिकस्थ है (१३।१५); इन वर्णनों में विरोध की कल्पना न करनी चाहिए, क्योंकि देश-काल-निमित्तादि उपाधियों से विरहित परम तत्व समस्त विरोधों का पर्यवसान है, यह विचारशास्त्र का गूढ़ अथच महत्त्वपूर्ण मान्य सिद्धान्त है। भगवान् जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय (लयस्थान) है (७।६); वह समस्त प्राणियों में वास करता है। जिस तरह डोरे में मणियों का समूह पिरोया हुआ रहता है, उसी तरह भगवान् में समग्र जगत् ओत-प्रोत, अनुस्यूत, गूँथा हुआ है (७।७)। उसके हाथ पैर चारों ओर हैं, आँख, सिर, कान तथा मुँह चारों तरफ हैं, वह इस पूरे विश्व को आवरण कर स्थित है (१३।१३)।

गीता भगवान् के दो प्रकार के भावों की सत्ता बतलाती है। भगवान् के दो भाव हैं—अपर भाव तथा पर भाव। ईश्वर एक ही अंश से योगमाया से युक्त रहते हैं तथा उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होते हैं। वह एक अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित होते हैं (विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्—१०।४२); इसका नाम है—अपर भाव या विश्वानुग रूप। परन्तु भगवान् केवल जगन्मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत वह इसे अतिक्रमण करनेवाले भी हैं। यह उनका वास्तव रूप है। इस अनुत्तम, अव्यय रूप का नाम है—पर भाव, विश्वातिग रूप; (परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्—७।२४)। गीता की यह कल्पना ठीक पुरुषसूक्त के अनुरूप है। 'पुरुष का यह जगत् केवल पादमात्र है; उसके अमृत तीन पाद आकाश में स्थित हैं।'[1] ब्रह्म के उभय भाव भी इसी प्रकार हैं। भगवान् विश्व के घट घट में व्याप्त हो रहे हैं। ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें उनका अंश न हो? फिर भी विभूतिमान्, शोभायुक्त तथा ऊर्जित पदार्थों में भगवच्छक्ति का

ब्रह्म के दो भाव

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
—ऋ० वे० १०।९०।३

प्राकट्य समधिक दृष्टिगोचर होता है[१]। दशम अध्याय में भगवान् की विभूतियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

यह स्थावर तथा जंगम विश्व भगवदाकार ही है, इसमें सन्देह-लेश भी नहीं है। इसी लिए गीता भगवान् की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है। इस विषय में सांख्य तथा गीता के तत्त्व-विवेचन के पार्थक्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

दो प्रकृतियाँ

सांख्यशास्त्र में सृष्टि के मूल में अचेतन जड़ प्रकृति तथा चेतन पुरुष को प्रतिपादित कर यह बतलाया गया है कि समस्त पदार्थ इन्हीं दोनों तत्वों से उत्पन्न होते हैं—इनसे पृथक् तीसरा तत्त्व नहीं है। परन्तु गीता इससे सहमत नहीं है। उसकी दृष्टि में इन दोनों से परे भी एक सर्वव्यापक, अव्यक्त तथा अमृत तत्त्व है जिससे चराचर सृष्टि का उदय होता है। सांख्याभिमत प्रकृति-पुरुष उस व्यापक ब्रह्म के विभूतिमात्र हैं। परमेश्वर की प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—अपरा तथा परा (७।४।५)। अपरा प्रकृति का ही दूसरा नाम क्षेत्र तथा क्षर पुरुष है। परा प्रकृति की अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर पुरुष है। परा उत्कृष्ट प्रकृति से तात्पर्य जीव से है (७-५) तथा अपरा, चैतन्य के अभाव से निकृष्ट, प्रकृति से अभिप्राय जीवेतर समस्त पदार्थों से है। समस्त भौतिक पदार्थों का ग्रहण 'क्षर' पुरुष के रूप में किया गया है (क्षरः सर्वाणि भूतानि—१५।१६) जिसका विकास अष्टविधा अपरा प्रकृति तथा चतुर्विंशति प्रकार के क्षेत्रके रूप में अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यही अष्टधा भिन्ना अपरा प्रकृति है (७।४) तथा पञ्च महाभूत अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेंद्रिय, मन तथा शब्दस्पर्शादि पञ्च इन्द्रिय-विषय—यही चौबीस प्रकार का क्षेत्र है (१३।५)। इस प्रकार सांख्यों के २४ तत्त्वों का

१. यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ १०।४१॥

अन्तर्भाव गीतानुसार क्षेत्र, अपरा प्रकृति अथवा क्षर पुरुष में किया गया है। एक विषय और ध्यान देने योग है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (देह तथा इन्द्रियों का समूह), चेतना (प्राण शक्ति) तथा धृति—इन्हें गीता 'क्षेत्र' का विकार मानती है (१३।६)। इनमें इच्छा द्वेषादिकों को वैशेषिक दर्शन आत्मा (क्षेत्रज्ञ) का गुण मानता है, परन्तु गीता की सम्मति में इनका सम्बन्ध क्षेत्रज्ञ से न होकर क्षेत्र से ही है।

जीव चैतन्यात्मक होने से परमेश्वर की परा प्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति है। वही 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। कृतकर्मों के फल धारण करने

२ जीवतत्त्व

कारण या भोगायतन होने के हेतु शरीर की ही क्षेत्र (खेत) संज्ञा है। क्षेत्र के ज्ञाता को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। आत्मा चरण से लेकर मस्तक-पर्यन्त समग्र शरीर को स्वाभाविक अथवा उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्टतः जानता है, अतः उसे क्षेत्रज्ञ कहना उचित है। आत्मा का वर्णन भिन्न भिन्न अध्यायों में किया गया है, विशेषतः द्वितीय अध्याय में। आत्मा षड्विकारों से रहित है। न तो वह जनमता है, न मरता है, वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता (भूत्वा न अभविता), वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण अर्थात् प्राचीन होने पर भी नवीन ही है। हन्यमान शरीर में कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता। (२।२०); अतः जो व्यक्ति उसे मारनेवाला, या मारे जानेवाला समझता है, वे दोनों उसके तत्त्व से अपरिचित हैं, क्योंकि वह न तो मारता है, न मारा जाता है (२।१६)। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर नवीन वस्त्रों का ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्ध-भोग द्वारा जीर्ण (क्षीणकर्म) शरीरों को छोड़ कर नये शरीरों को पाता है (२।२०)। वह स्वयं अविकार है; वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य है; वह नित्य सर्वव्यापी, स्थिर, अचल तथा सनातन है (२।२४)।

यह जीव नाना न होकर एक ही है। गीता में इस विषय में एक उपमा की अवतारणा की गई है। जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को—शरीर को—प्रकाशित करता है (१३।३३); इस श्लोक में क्षेत्री की उपमा सूर्य से देकर उसकी एकत्व-भावना का सुस्पष्ट समर्थन है। जीव परमेश्वर का सनातन अंश है (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः—१५।७) भगवान् अंशी है तथा जीव अंश है! ब्रह्मसूत्र (२।३।४३-५३) का भी यही तात्पर्य है जिसमें यही गीतावाक्य स्मृति कहकर प्रमाणरूप में उल्लिखित किया गया है। यह अंशांशीभाव गीता के अनुसार किस प्रकार का है? इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। परवर्ती अद्वैती टीकाकारों ने प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद का आश्रय लेकर इस कल्पना की उपपत्ति दिखलाई है, परन्तु ये सब कल्पनायें पीछे की जान पड़ती हैं।

(३) जगत् तत्त्व

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण है। गीता के शब्दों में भगवान् सब भूतों का सनातन—अविनाशी बीज है (सनातनं बीजम् ७।१०) या अव्यय बीज है (बीजमव्ययम् ९।१८) बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तथा अन्त में फिर बीज में ही लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है तथा फिर उन्हीं में लीन हो जाता है। जगत् के अवान्तर आविर्भाव काल को पौराणिक कल्पनानुसार 'ब्रह्मा का दिन' कहते हैं तथा अवान्तर तिरोभाव काल को 'ब्रह्मा की रात्रि' कहते हैं (८।१८, १९)। गीता में सांख्यों की 'प्रकृति' स्वीकृत की गई है। गीता में प्रकृति को कहीं 'अव्यक्त' (८।१८; ८।२०) तथा कहीं 'महद् ब्रह्म' (१४।३) की संज्ञा दी गई है। सांख्य 'प्रकृति' से ही जगत् की उत्पत्ति मानता है, परन्तु गीता इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसके मतानुसार प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। उसी की अध्यक्षतामें प्रकृति जगत् को पैदा करती है, नहीं तो अचेतन जड़ात्मिका प्रकृति में इतना सामर्थ्य कहाँ से आता?

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते ॥ (६।१०)

पशु-पक्षी आदि सब योनियों में उत्पन्न होने वाली मूर्तियों की योनि (उत्पत्ति स्थान) महद् ब्रह्म है तथा ईश्वर बीज रखनेवाला है (१४।४); अतः स्पष्ट है कि प्रकृति विश्व की मातृस्थानीया है तथा ईश्वर पितृस्थानीय है। इस प्रकार प्रकृति का स्थान ईश्वर से न्यून है। गीता 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' का प्रतिपादन करती है। यह सत्कार्य-वाद है। अतः गीता की दृष्टि में जगत् मायिक तथा काल्पनिक न होकर सर्वथा सत्य तथा वास्तविक है।

पुरुषोत्तम तत्व भगवद्गीता का परम रहस्य तथा महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है। सांख्य की आलोचना के अनुसार जगत् की कारणभूता अजन्मा प्रकृति ही सबसे 'अव्यक्त' है। अतः सांख्य-ग्रन्थों में उसी के लिए अव्यक्त' का प्रयोग पाया जाता है। परन्तु गीतानुशीलन के अवसर पर याद रखना चाहिए कि अव्यक्त तथा अक्षर का प्रयोग व्यक्ताव्यक्त से परे, प्रकृति-पुरुषके ऊपर एक विशिष्ट तत्त्व के लिए भी किया गया है। वह तत्व है अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म जिसकी प्रकृति (अव्यक्त) निकृष्ट विभूति है। गीता में अचला प्रकृति को क्षर तथा कूटस्थ अविकारी पुरुष को अक्षर कहा गया है, परन्तु वह परमतत्व जो प्रकृति को अतिक्रमण करने वाला है तथा अक्षर से भी उत्तम है 'पुरुषोत्तम' कहा गया है :—

(४) पुरुषोत्तम

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (१५।१८)

अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम का पार्थक्य जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। जड़ जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म को या अव्यक्त प्रकृति से भी परे विद्यमान रहने वाले सचेतन तत्व को 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं (८।२०–२१);

परन्तु जो ईश्वर इस विश्वको व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित है अथ च उनसे पृथक् भी है—जो विश्वानुग होकर विश्वातीत है–वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' पद-वाच्य है। पूर्वोक्त श्लोकमें पुरुषोत्तम क्षरको अतिक्रमण करने वाले तथा अक्षरसे उत्तम बतलाये गये हैं। 'अतीतः' उनके विश्वातिक्रमणकारी स्वरूप का परिचायक है तथा 'उत्तम' शब्द 'अक्षर' से उनकी उत्तमता का द्योतक है। इसी पुरुषोत्तम को सर्वकर्मसमर्पण कर देने की शिक्षा गीता देती है। इस प्रकार गीता में औपनिषद ब्रह्मवाद, सांख्य-सम्मत प्रकृति-पुरुषवाद तथा भागवतधर्माभिमत ईश्वरवाद का हृद्य समन्वय उपस्थित किया गया है।

(ख) गीता का व्यवहारपक्ष

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है उसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है। गीता के जन्मकाल की परिस्थितियों के अध्ययन से हम इसी परिमाण पर पहुँचते हैं कि गीता का प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करना था। परन्तु गीता के इस चरम लक्ष्य के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। श्रीशंकराचार्य के मत में गीता का मुख्य प्रयोजन निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन है तथा ज्ञान ही उसका केवल उपाय है। श्रीरामानुजाचार्य भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्य के लिए भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ गीताभिमत उपाय बतलाते हैं। उनके मत में गीता का सारांश ज्ञान-दृष्टि से विशिष्टाद्वैत तथा आचार-दृष्टि से वासुदेव-भक्ति ही है। वे भी कर्मसंन्यास के ही समर्थक माने जा सकते हैं, क्योंकि कर्माचरण से चित्तशुद्धि के सम्पन्न हो जाने पर प्रेमपूर्वक वासुदेवभक्ति में तत्पर रहने से सांसारिक कर्मका निष्पादन सिद्ध नहीं होता। इधर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने 'गीतारहस्य' की रचना कर प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में अरुचि दिखलाकर भागवतधर्माभिमत

विभिन्न मार्गों का सामञ्जस्य

प्रवृत्तिमार्ग को[1] गीता का लक्ष्य तथा कर्मयोग को तत्साधन बतलाया है। ग्रंथकार ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्राञ्जल युक्तियाँ दीं हैं। इन विद्वान् भाष्यकारों की युक्तियाँ अपने दृष्टिकोण से नितान्त सारगर्भित हैं, इसे कोई भी आलोचक मानने से नहीं हिचक सकता। परन्तु पूर्वोक्त मतों में गीता के उपदेशों की समग्रता तथा व्यापकता पर पूर्णतः ध्यान नहीं दिया गया है। शास्त्रों ने मानवी प्रकृति की भिन्नता का ध्यान रख चरमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए त्रिविध उपायोंको व्यवस्था की है। चिन्तनका प्रेमी साधक ज्ञानमार्ग से, सांसारिक विषयों की अभिरुचि वाला पुरुष कर्ममार्ग से तथा अनुरागादि मानसिक वृत्तियोंका विशेष विकास वाला व्यक्ति भक्ति की सहायता से अपने उद्देश्य पर पहुँच सकता है। इन भिन्न भिन्न मार्गों के अनुयायी साधक अपने ही मार्ग की विशिष्टता तथा उपादेयता पर जोर देते थे तथा अन्य मार्गों को नितान्त हेय बतलाते थे। गीता के अध्ययन से ही पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक् पृथक् मार्ग प्रचलित थे (१३।२४-२५)। इन चारों के नाम हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यान-मार्ग तथा भक्तिमार्ग। जो जिस मार्ग का पथिक था वह उसे ही सबसे बढ़िया मानता था; उसकी दृष्टि में मुक्ति का दूसरा मार्ग था ही नहीं। परन्तु भगवान् ने इस गीता का प्रचार कर इन विविध साधनों का अपूर्व समन्वय कर दिया है जिसका फल यह है कि जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना तथा सरस्वती की धारायें भारतभूमि को पवित्र करती हुई त्रिवेणी के रूप में बह रही हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति की धारायें मिलकर तत्त्वजिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा मिटाती हुई भगवान् की ओर अग्रसर हो रही हैं। यह समन्वय गीता की अपनी विशिष्टता

१. नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥

—महाभारत (शांतिपर्व ३४७।८०)

है। इस समन्वय को अच्छी तरह न समझने से गीतार्थ का महत्त्व ध्यान में नहीं आ सकता।

गीता से बहुत पहले मीमांसा कर्म के महत्त्व को स्वीकार करती है। मीमांसा के मत से वेद का कर्मकाण्ड ही सार्थक है, ज्ञानकाण्ड निरर्थक है। जैमिनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा[१] है कि आम्नाय (वेद) का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है, अतः अतदर्थक—ज्ञानप्रतिपादक—वाक्य निरर्थक हैं। कर्म से अभिप्राय यज्ञ से है और यह यज्ञ है क्या? देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः अर्थात् किसी देवता विशेष के लिए हविष्यादि द्रव्य का समर्पण करना। गीता कर्मकाण्ड की निरर्थकता से न सहमत है और न यज्ञ का यह संकुचित अर्थ ही उसे पसन्द है। वह 'यज्ञ-चक्र' की उपादेयता को मानती है (३।१०–१६) क्योंकि इस चक्र में अन्न से लेकर ब्रह्म तक सब पदार्थ एक साथ अनुस्यूत हैं। परन्तु गीता ने 'यज्ञ' का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया है। निःस्वार्थ बुद्धि से किये गए परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्मों की सामान्य संज्ञा 'यज्ञ' है। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं—द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ, आदि (४।१५–३२)। परन्तु गीता का कहना है कि फलाकांक्षा की दृष्टि से न किये गये कर्म कभी बन्धन उत्पन्न नहीं कर सकते। कर्मचक्र से भला कभी कोई भाग सकता है? इस जीवन-यात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। एक क्षण के लिए भी कोई आदमी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के तीनों गुण ही बलात्कार से उस प्राणी से कर्म कराते ही हैं (३।५)।

(१) गीता तथा कर्मयोग

परन्तु कर्म के बीच एक दुर्गुण का निवास है जो कर्ता को बन्धन में डालने के लिए तैयार रहता है। इसका नाम है वासना—फलाकांक्षा या आसक्ति। इस विषदन्त को तोड़ना आवश्यक है। जिस कामना से कर्म का निष्पादन किया जाता है, उस फल को तो भोगना

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम् —मी० सू० १।२।१

ही पड़ेगा, उससे किसी प्रकार कर्ता को छुटकारा नहीं मिल सकता; परन्तु फलस्वरूप बन्धन से मुक्ति भी पाई जा सकती है। कार्य का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वे बन्धन न उत्पन्न करें 'योग' कहलाता है (योगः कर्मसु कौशलम्)। कर्मसंन्यास से बढ़कर कर्मयोग है (गी०५।२) परन्तु साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता है—(१) फलाकांक्षा वर्जन, (२) कर्तृत्वाभिमान-परित्याग; (३) ईश्वरार्पण। गीता का उपदेश है कि मानव का अधिकार कर्म करने में है, फल में कभी नहीं है; फल की आकांक्षा से कभी कर्म मत करो तथा अकर्म में—कर्म के न करने में—कभी तुम्हारी इच्छा न होनी चाहिए—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गी० २।४७)

कर्मयोग का यही महामंत्र है। इस श्लोक के चारों पदों को हम कर्मयोग की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। अतः आसक्ति का परित्याग कर कर्म करने में किसी प्रकार की बुराई का तनिक भी डर नहीं है। अतः गीता का मान्य सिद्धान्त है कि प्राणी को कर्म का त्याग न करना चाहिये, प्रत्युत **कर्म के फल** का त्याग करना चाहिए। इसीलिए कुछ पण्डित लोग काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं, परन्तु चतुर पण्डितों की सम्मति में सर्वकर्मों के फलका त्याग ही वास्तव संन्यास है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ (१८।२)

कर्ता को कर्म करने में कर्तृत्वाभिमान को भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि समस्त जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के गुणों का दास है, जो बलात्कार से प्राणियों से अनिच्छया भी कार्य कराया करते हैं। तब कर्तृत्वका अभिमान कहाँ? तीसरा सोपान यह है कि समस्त कार्यों की निष्पत्ति भगवदर्पण बुद्धि से करनी चाहिए। कर्मों के फल की भगवान् को सम-

र्पण करना चाहिए। गीता (९।२७) में श्रीकृष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि 'जीव जो कुछ करे, खावे आहुति दे। दान करे या तपस्या करे, उन सबको भगवान् के समर्पण कर दे, इसका फल यह होगा कि वह कर्म-बन्धन शुभाशुभ फलों से मुक्त हो जावेगा।' इस प्रकार कर्मयोग की निष्पत्ति होती है। अज्ञ तथा पण्डित के कर्म करने में यही तो सुस्पष्ट अन्तर है। अज्ञ आसक्ति से कर्मों का आचरण करता है, परन्तु ज्ञान-सम्पन्न पुरुष आसक्ति से रहित होकर कार्यों का आचरण, कर्तव्य बुद्धि से "लोक-संग्रह" के निमित्त करता है (३।२५) 'लोक संग्रह' गीता का एक विशिष्ट सारगर्भित शब्द है। इस शब्द से अभिप्राय लोककार्यों का यथावत् रूप से निर्वाह है।

संक्षेप में कर्म तथा फल के विषय में चार सिद्धान्त हो सकते हैं:— (१) आलस्यवश फलाकांक्षा न रखना और न उसके लिए कर्म सम्पन्न-करना—यह प्राकृत जन-सम्मत मार्ग निकृष्ट, निन्द्य तथा हेय है। (२) फलकी आकांक्षा रखना तथा तदुचित कर्मों का निष्पादन करना—यह 'सकाम' मार्ग है जिसमें कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं। (३) फल की अनावश्यकता के कारण आकांक्षा न रखना तथा कर्मों का सम्पादन न करना—यह निष्काम-मार्ग है, परन्तु इसमें लोक-यात्रा का निर्वाह भली भाँति नहीं हो सकता। (४) फल की आकांक्षा न रखना, तथापि कर्मों का सम्पादन करना—यही गीता-सम्मत कर्मयोग है। इसमें द्वितीय तथा तृतीय मतोंका समन्वय है। 'फल का आकांक्षाभाव', तृतीय मार्ग से गृहीत है तथा 'कर्म निष्पत्ति' द्वितीय मार्ग से। इस उभय-विलक्षण मार्ग की सुचारु योजना उपस्थित करने में गीता की विशिष्टता है

पक्के कर्मयोगी होने के लिए ज्ञान तथा भक्ति के पुट की नितान्त आवश्यकता है। कर्म से कर्तृत्वाभिमान का परिहार ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है तथा ईश्वर में कर्मोंका समर्पण भक्तिप्रवण चित्त से ही किया जा सकता है। गीता ज्ञानमार्ग के महत्व को स्वीकार करती

है, परन्तु उसका ज्ञानयोग अन्य ज्ञानमार्ग से विलक्षण है। ज्ञानवादी (जैसा सांख्य) जिसे मोक्ष-प्राप्ति का साधन बतलाते हैं वह चित्-अचित्, प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान है, परन्तु गीतासम्मत ज्ञान आत्मैकत्व का सम्पूर्ण अनुभव है। इस ज्ञान की दो दिशायें हैं (६।२९)—सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन (सर्वभूतस्थमात्मानं) एक दिशा है, जिसमें सर्वभूत आधार तथा आत्मा आधेय है; परन्तु इतना ही ज्ञान आत्मैकत्व की उन्नत भावना के लिए पर्याप्त नहीं है। इसकी दूसरी दिशा भी है—आत्मा में सब भूतों को देखना (सर्वभूतानि चात्मनि) इसमें आधारभूत आत्मा में आधेयभूत सर्वभूतों का अनुभव करना है। गीताज्ञान की ये दोनों दिशायें परस्पर पूरक हैं। ऐसा पुरुष 'समदर्शन' कहलाता है। 'सर्वभूतस्थमात्मानं' का दृष्टान्त जगत् में सर्वत्र उपलब्ध होता है, परन्तु 'सर्वभूतानि चात्मनि' के दृष्टान्त को भगवान ने अर्जुन को अपने देवदुर्लभ विराट् रूप में दिखलाया है। एक विराट् आत्मा के भीतर एक जगह पर अनेकधा विभक्त कृत्स्न जगत को अर्जुन ने दिव्य चक्षु से देखा। विराट् दर्शन का रहस्य 'एकस्थं कृत्स्नं जगत्' के प्रत्यक्ष दिखलाने में है। तब अर्जुन का आत्मैकत्व ज्ञान यथार्थ हुआ। परन्तु ऐसा सच्चा ज्ञानी महात्मा होना बिल्कुल दुर्लभ बात है जो सब किसी को वासुदेव समझे, स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक प्राणियों में एक ही अन्तर्यामी पुरुष का साक्षात्कार करे (वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः—७।१९)। ऐसे समदृक् पुरुष को विद्याविनय-सम्पन्न ब्राह्मण में, बैल में, हाथी में, कुत्ते में तथा चाण्डाल में समदृष्टि रहती है (५।१८)। 'समवर्तिनः' शब्द का प्रयोग न कर गीता समस्त प्राणियों से एक प्रकार के व्यवहार करने का, समवर्ती बनने का निषेध करती है। इसे भूलना न चाहिए।

(२) गीता तथा ज्ञानयोग

गीता ने ध्यानयोग को भी अपनाया है। छठे अध्याय में ध्यानयोग का विशद वर्णन उपनिषद् पद्धति के अनुसार है। इस वर्णन में श्वेता-

श्वतर (२।८–१५) की झलक साफ तौर से दीख पड़ती है। चञ्चल मन को एकाग्र करने के लिए गीता आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि समस्त योग-साधनों का उपदेश देती है (६।११–१८), परन्तु ध्यान के

(३) गीता तथा ध्यानयोग

द्वारा एकसंस्थ चित्तका उपयोग क्या है? अखिलाधार भगवान् में उसका अर्पण करना। मनुष्य विषयपंकसे अशुद्ध, कलुषित चित्त को भगवान् को क्यों कर अर्पण कर सकता है? परन्तु प्राणायामादि से परिष्कृत शुद्ध चित्त को ही भगवान् के आश्रय में लगाना उचित है। गीता (६।३१) कहती है कि योगी एकत्व की भावना कर सर्वभूतों में निवास करने वाले भगवान् को भजता है, वह जिस किसी अवस्था में रहनेपर भी भगवान् के ही साथ रहता है। अतः गीता शुष्क ध्यान का पक्षपात नहीं रखती है। उसके अनुसार तो ध्यानयोग का उपयोग एकाग्र चित्त से सर्वत्र वर्तमान घटघट में व्यापक भगवान् के भजन करने में है (६।२८)। भगवान् ने (६।४६) योगी का दर्जा तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मी—इन तीनों से बढ़कर बतलाया है तथा योगी होने का उपदेश दिया है। योगी भी गीता के अनुसार दो प्रकार का होता है—युक्त तथा युक्ततम। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला, मिट्टी पत्थर तथा सोने को एक समान समझने वाला, जितेन्द्रिय विकाररहित योगी 'युक्त' कहलाता है (६।८), परन्तु इन 'युक्त' योगियों में भी वही सर्वश्रेष्ठ-युक्ततम है, जो अपने अन्तरात्मा को भगवान् में लगाकर पूरी श्रद्धा रखता हुआ भगवान् का निरन्तर भजन करता है :—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)

ध्यानयोग का यही निष्कर्ष है। बिना भगवान् के श्रद्धापूर्वक अन्तर्निविष्ट हृदय से भजन किये ध्यानयोग केवल शारीरिक व्यायाममात्र है,

काया को कष्ट पहुँचाना है। अतः गीता को ध्यान तथा भक्ति का सामञ्जस्य अभीष्ट है।

भक्तियोग गीता-ज्ञान का अमृत फल है। यह सब विद्याओं का राजा है (राजविद्या) तथा समस्त रहस्यों का रहस्य (राजगुह्य—९।२) है। गीता का हृदय भक्ति है। विविध साधनों की आलोचना से हम इसी तत्त्व पर पहुँचते हैं कि बिना भक्ति से सम्पुटित हुए उनका आचरण अधूरा है, अपूर्ण है। विराट् रूप दर्शन के अन्त में इस रूप के दर्शन की साधना बतलाते समय श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिपादित किया है कि यह देव-दुर्लभ रूप न वेद, न तपस्या, न दान, न इज्या के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है (११।५३)। इसका एकमात्र साधन है—अनन्या भक्ति। इसी के द्वारा जीव भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्त्वतः जान सकता है तथा प्रवेश कर सकता है—भगवान् के साथ ऐक्य भाव को प्राप्त हो सकता है (८।२२, ११।५४)। पर अनन्या भक्ति किसे कहते हैं? गीता ने इस तत्त्व को इस श्लोक में समझाया है :—

(४) गीता तथा भक्तियोग

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (११।५५)

यज्ञ दान तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को भगवान् का ही समझ कर करने वाला, भगवान् को परम आश्रय मानकार उनकी प्राप्ति के लिए सतत उद्योगशील (मत्परमः), भगवान् की सच्ची भक्ति करने वाला, आसक्ति रहित, सम्पूर्ण प्राणियों में वैरभाव से रहित पुरुष अनन्य भक्त कहलाता है। ऐसे भक्ति का फल भगवत्-प्राप्ति ही है। गीता सकाम (९।२०, २१) तथा निष्काम उपासना[१] (९।२२) के भेद को मानकर

---

१. उपासना के तात्पर्य को शंकराचार्य ने बड़े सुबोध शब्दों में समझाया है। उपासनं नाम यथाशास्त्रं उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेन दीर्घकालं यद् आसनं

अन्तिम को श्रेष्ठ बतलाती है (६।२६, २७); वह निराकार उपासना को नितान्त क्लेशकर बतला कर (१२।५) सगुण उपासना का उपदेश देती है (१२।६-८)। गीता के भक्तियोग में अन्य साधनों से भी अविरोध है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्तों से कहीं बढ़कर ज्ञानी भक्त का दर्जा है। ज्ञानी भक्त को भगवान् का आत्म-स्वरूप है (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्—७।१८) अतः सर्वश्रेष्ठ है (तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते—७।१७)।

इस प्रकार गीता भिन्न भिन्न मार्गों में समन्वय प्रदर्शित कर साधन-मार्ग को सुगम तथा सुलभ बना देती है। गीता की सम्मति में कर्म,

५ समन्वय मार्ग

ज्ञान, ध्यान तथा भक्तियोग भिन्न भिन्न स्वतन्त्र साधन सरणी न होकर एक ही रास्ते के विभिन्न टिकान है जिन्हें आध्यात्मिक पथिक को पार करना आवश्यक होता है। अठारहवें अध्याय में इन मार्गों का परस्पर सामञ्जस्य संक्षेप में दिखलाया गया है। गीता के साधन-मार्ग का आरम्भ निष्काम-कर्म से तथा पर्यवसान शरणागति से है। निष्काम-कर्म करने से तथा नियमपूर्वक ध्यानयोग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है जिस दशा में वह प्रसन्न चित्त होकर समस्त प्राणियों में समता का भाव रखता है (१८।५१ ५३)। इस ब्राह्मी स्थिति के उदय होनेपर साधक परा भक्ति—परमेश्वर में उत्कृष्ट भक्ति—को प्राप्त करता है (१८।५४) तथा भक्ति के उदय होने से वह 'पर ज्ञान' का अधिकारी होता है जिसके द्वारा वह भगवान् के स्वभाव तथा स्वरूप (यश्चास्मि), विभूति तथा गुण को (यावान्) यथार्थ रूपेण जानता है। इसका फल भगवत् प्रवेश—ईश्वरोपलब्धि है (१८।५५); परन्तु इस अन्तिम फल के लिए प्रपत्ति की नितान्त उप-

---

तद् उपासनमाचक्षते अर्थात् उपास्य वस्तुको शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधारा की तरह समानवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहने को उपासना कहते हैं। द्रष्टव्य गी० १२।३ पर शाङ्कर भाष्य।

योगिता है। गीता का 'सर्वगुह्यतम' ज्ञान यही है कि हृदयस्थित अन्तर्यामी ईश्वर के शरण में जाकर सब धर्मों का परित्याग कर दे। स्वरूपतः परित्याग न करे, अपितु ईश्वर को समर्पण-बुद्धि से उनका निष्पादन करे (१८।६६) प्रपत्ति-मार्ग अन्य मार्गों का नैसर्गिक पर्यवसान है। गीता का गुह्यतम ज्ञान यही है :—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)

गीता के साधन-मार्ग की जानकारी के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किंचित पाठ भेद से श्लोक गीता में दो बार आया है (९।३४; १८।६५) एक प्रकार से यह गीता का सार है। इसका तात्पर्य यह है कि जितने विभिन्न साधन विद्यमान हैं, ईश्वर उनके केन्द्र में स्थित रहने वाला है। उसी को लक्ष्य में रखने से विभिन्न साधनों का अपूर्व सामंजस्य निष्पन्न होता है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि मन लगाना चाहिए भगवान्में (ज्ञानयोग), भक्ति करनी चाहिए भगवान् की [भक्तियोग], यज्ञ करना चाहिए भगवान् के निमित्त [कर्मयोग] तथा आश्रय देना चाहिए भगवान् का ही [शरणागति]—इस प्रकार इन विविध मार्गों का अविरोध भगवन्निष्ठ होने से ही होता है। गीताकार "मत्परायणः" शब्द को श्लोकान्त में रख कर तथा इसे 'सर्वगुह्यतमं वचनं' कह कर [१८।६४] शरणागति की श्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं।

इन साधनों के फल का भी वर्णन गीता ने विस्तार के साथ किया है। आत्माको जाननेवाले, परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने वाले ज्ञानी को भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारती है। वह स्थितप्रज्ञ है [२।५२], भक्त है [१२।१३], त्रिगुणातीत है [१४।२२–२७], ब्रह्मभूत है [१८।४५]। ऐसे ब्रह्मभूत की स्थिति ब्राह्मी स्थिति [२।७२] कहलाती है। साधनाओं का चरमलक्ष्य चरमतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञानमार्गसे, भक्तिमार्ग से, सांख्य से समभावेन प्राप्य

(६) सिद्धावस्था

है। इसीलिए गीता में सिद्ध पुरुष के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है। पर तत्त्व है एक ही। सिद्ध पुरुष सब प्राणियों का अद्वेष्टा, सबका निःस्वार्थ प्रेमी, दयालु, ममता तथा अहंकारसे रहित, सुख तथा दुःख की प्राप्ति में सम, शान्तचित्त तथा क्षमावान् होता है [१२।१३]। वह अपने मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, दुःखों के बीच वह उद्वेग-रहित रहता है तथा सुखों प्राप्ति होने पर वह स्पृहा नहीं रखता, सर्वत्र आत्मस्वरूप को देखने कारण राग, भय तथा क्रोध के भावों से वह सर्वदा उन्मुक्त रहता है। ऐसे पुरुष की ही संज्ञा है—स्थितप्रज्ञ, स्थितधी तथा प्रतिष्ठितप्रज्ञ [२।५५ ५८]। गीता के अनुसार मानवजीवन के लिए यही आदर्श है। सफल जीवन के परखने की यही कुंजी है। 'जीवन्मुक्ति' के औपनिषद आदर्श का क्या इससे सुन्दर सरल रोचक वर्णन मिल सकता है?

भगवान् को स्मरण करते हुए इस संसार-युद्धमें प्रवृत्त होने तथा अपने समस्त धार्मिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का यथावत् पालन करते रहने—मामनुस्मर युध्य च—की गीता-शिक्षा आज भी उसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय है जिस प्रकार वह महाभारतकाल में थी। भारतीय धर्म तथा दर्शनका यह इतना प्रामाणिक तथा प्राञ्जल, सरल तथा सरस सारांश है कि शास्त्र इसी के अध्ययन करने का उपदेश देते हैं। शास्त्र-विस्तार से लाभ क्या? 'गीता' को ही 'सुगीता' करना चाहिए। [गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः—गीतामाहात्म्य]। गीता का ज्ञान पुण्यसलिला गंगाके जल के समान पावन पवित्र तथा कलिकल्मषनाशन है जिसमें स्नान कर कौन मनुष्य विधूतपाप नहीं हो जाता? गीताकल्प-द्रुम की शीतल छाया के आश्रय लेने पर किसकी मनोवाञ्छा सफल नहीं होती?

द्वितीय खण्ड

चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाक दर्शन

सन्देहवाद बड़ी विचित्र वस्तु है। इसके बीज यदि किसी दर्शन-भूमि में लग जाते हैं, तो उन्हें दूर करने के सतत प्रयत्न करने पर भी वे सर्वथा निमूल नहीं होते। वृत्तरूप में वे बढ़कर तैयार हो ही जाते हैं। उन्हें कितना भी काटा जाय, बेर के पेड़ के समान वे आप से आप पुनः उत्पन्न हो जाया करते हैं। विचार-प्रभञ्जन कतिपय क्षण के लिए ही सन्देह के बादलों को इतस्ततः विक्षिप्त करने में समर्थ हो सकता है, परन्तु ज्यों ही उसका वेग कम होता है, वे फिर गगन मण्डल में आ धमकते हैं और गाढ तिमिर-पटल से ज्ञान-सूर्य को भी निगल जाने के लिए तैयार रहते हैं।

महाभारतोत्तर युग

भारतीय तत्त्वज्ञान के इस नये युग के इतिहास पर दृष्टि डालने से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। हमने गत परिच्छेद में देखा है कि उपनिषद् के पीछे की शताब्दियों ने अनेक अवैदिक मतवादों को

जन्म दिया। अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद, आदि समस्त वादों के मूल में यही सन्देहवाद क्रियाशील था। इन मतवादों को भारत भूमि से निकाल कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए पञ्चम वेद—महाभारत—का निर्माण किया गया। गीता ने सन्देहवादियों के आपाततः रमणीय युक्तियों की निःसारता भी दिखलाई। आसुरी सम्पद् के वर्णन के अवसरपर सोलहवें अध्याय में गीता उन लोगों की प्रवृत्तियों का उल्लेख करती है जो जगत् को आश्रय-रहित, नितान्त असत्य, अनीश्वर, अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाला [अपरस्परसंभूत] तथा केवल भोगवृत्ति को चरितार्थ करने वाला [कामहेतुक] बतलाते हैं [१६।८], जा काम को परम पुरुषार्थ [कामोपभोगपरमा] मानकर मरणपर्यन्त अनन्त चिन्ताओं के शिकार बने रहते हैं [१६]११] तथा जो नाममात्र के यज्ञों का पाखण्ड से अविधिपूर्वक सम्पादन करनेवाले हैं [१६।१७] परन्तु गीता के अनन्तर चार्वाकों की प्रगति रुकी नहीं, प्रत्युत अनुकूल स्थिति में वे और भी पनपे। इन लोगों ने वैदिक धर्म के अध्यात्म-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष दोनों की आमूलतः उपेक्षा कर भूतात्मवाद का प्रचार किया। ये उस युग के सच्चे विज्ञानवादी प्रतीत होते हैं। परन्तु इनका मतवाद समाज तथा धर्म के लिए इतना विद्रोही था कि इनके सिद्धान्तों का विशेष प्रचार न हो सका। कोई भी व्यवस्थित समाज चार्वाक दर्शन का अनुयायी बन अपना वास्तव कल्याण-साधन नहीं कर सकता। अतः ये जनता की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट न कर सके।

इस युग में पनपनेवाले अन्य धर्मों की दशा इससे भिन्न थी। जैन धर्म तथा बौद्धधर्म ने जनता के पीड़ित हृदय को पहचाना, उससे सहानुभूति दिखलाई, भवरोग के औषध ढूंढ़ निकाले और सामाजिक व्यवस्था के पक्षपाती होने के हेतु जनता के प्रेमभाजन बने। जरा-मरण के क्लेश से मुक्ति प्राप्त करना प्राचीन उपनिषत्-कालीन ऋषियों

का भी लक्ष्य था तथा उनकी बतलाई पगडंडी पर चलने वाले महावीर और बुद्ध का भी। महावीर और बुद्ध ने उपनिषद्-प्रतिपादित विचार-पद्धति का ही अवलम्बन किया है, परन्तु अपने सिद्धान्तों में विशिष्टता लाने के लिए इन्होंने कहीं २ श्रुतिमूल का तिरस्कार किया है। पर आगे दिखलाया जावेगा कि महावीर तथा बुद्ध उपनिषत्-परम्परा के बहिर्भूत नहीं हैं। एक ही विशालकाय प्रच्छायशीतल भारतीय धर्मरूपी महाद्रुम की जिस प्रकार वैदिक धर्म एक शाखा माना जाता है, उसी प्रकार जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म भी शाखायें हैं। आरम्भ-काल में दोनों का अवान्तर भेद नगण्य था, पर परवती शताब्दियों ने इतने भेदभाव की कल्पना कर दी कि दोनों एक दूसरे से नितान्त विभिन्न प्रतीत होने लगे। पर सच्ची बात ऐसी नहीं है। श्रुति-प्रमाण के निषेध करने के कारण ये तीनों 'अवैदिक' कहे जाते हैं। इन्हीं अवैदिक सम्प्रदायों का वर्णन इस खण्डका विषय है।

अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन ही प्राचीनता की दृष्टि से सर्व-प्रथम माना जाता है। यही लोक आत्मा का क्रीड़ास्थल है; इसके बाद परलोक नामक कोई वस्तु नहीं है; यह शरीर ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है। अतएव जब तक इस शरीरमें प्राण है, तब तक सुखप्राप्ति की ही चिन्ता करनी चाहिए। धर्म कोई पुरुषार्थ नहीं है। मानव जीवन के लिए 'काम' ही पुरुषार्थ है—आदि चार्वाक सिद्धान्तोंका प्रचार इस देश में सुदूर प्राचीन काल से चला आता है। उपनिषत्काल में भी चार्वाकों के समान सिद्धान्त का प्रचार जहाँ-तहाँ इस देश में था। उस समय में भी मृत्यु के अनन्तर आत्मा की स्थिति के विषय में लोगों में सन्देह का भाव बना हुआ था [कठ उप० १।१।२०] कुछ लोग आत्मा की सत्ता मरणानन्तर स्वीकार करते थे, पर अन्य जन स्पष्ट शब्दों में उसके अभाव का प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगों की सम्मति में 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' [बृह० उप० ४।५।१३] यह वाक्य 'मरण के

आरम्भ

अनन्तर चैतन्य नहीं रहता' इस अर्थ में चार्वाकों की प्राचीन स्थितिका सूचना दे रहा है। गत परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया गया है कि बौद्ध ग्रंथों में चार्वाक सिद्धान्तों का निर्देश अनेक स्थलों पर मिलता है। उच्छेदवाद के प्रतिपादक अजित केशकम्बल का सिद्धांत लोकायतिक मत के अनुरूप ही है। जैन ग्रंथों में भी इस मत का निर्देश पाया जाता है। इस प्रकार चार्वाकमत की प्राचीनता का अनुमान इन पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है। श्रुति-काल में यज्ञानुष्ठान तथा तपस्याचरण पर विशेषरूप से जोर दिया जाता था; ऐहिकता की अपेक्षा पारलौकिकता की चिन्ता प्राणियों को विशेष थी। चार्वाक दर्शन में इन सिद्धांतों की प्रतिक्रिया दीख पड़ती है। परलोक की चर्चा सुनते २ लोग इतने ऊब गये थे कि उन्होंने परलोक को ही उड़ा डाला तथा परलोक के साधनभूत धर्म की सत्ता को ही चट कर डाला। उस लोकमें जानेवाले नित्य आत्मा के ही अस्तित्व को लोप कर डाला। इन्द्रिय-गम्य जगत् ही सद्वस्तु है, इसी सिद्धान्त पर डट गये। इस प्रकार श्रौतकालीन समधिक धर्मानुष्ठान के प्रतिक्रियारूप में इस दर्शन के उदय मानने में कोई विप्रपत्ति नहीं दीख पड़ती।

नामकरण

इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम 'लोकायत' है। इसके मानने वाले लोग शुद्ध बुद्धिवाद पर आस्था रखते थे तथा परपक्ष का खण्डन करना [वितण्डा] ही उनका प्रधान ध्येय था। स्वपक्ष की स्थापना में उनका ध्यान न था, प्रत्युत इन लोगों का लक्ष्य वैदिकमार्गानुयायी लोगों के पक्ष का केवल शुष्क तर्क से खण्डन करना ही था। इस तरह लौकायतिक प्राचीन काल के बैतण्डिक थे[1]। सिवाय

---

[1] बुद्धघोष ने 'लोकायत' का 'वितण्ड-सत्थ' अर्थ किया है। न्याय मंजरी में भी इसी की पुष्टि मिलती है—

> नहि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते।
> वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः॥

अपने तर्कों के ये लोग किसी भी शास्त्रका प्रमाण नहीं मानते थे। ये वेद के विदूषक तो थे ही; साथ ही साथ बुद्ध तथा जैन आगमों के भी निन्दक थे। इसलिए आपस में सिद्धान्तगत मतभेद होने पर भी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्माचार्य इनके प्रति बड़ी घृणा का भाव रखते थे। रामायण में रामचन्द्र ने भरत से इन लोकायतिकों की निन्दा की है[1]। विनय पिटक में बुद्धभगवान् ने भिक्षुओंको लोकायत शास्त्र सीखने या सिखाने का स्पष्ट निषेध किया है। सद्धर्मपुण्डरीक में [१३ परिच्छेद] बोधिसत्त्व को इस शास्त्र के पढ़ने तथा पढ़ाने का स्पष्ट निषेध मिलता है। जैन ग्रन्थ इसे 'मिच्छादिट्ठि' [मिथ्यादृष्टि] का एक प्रकार मानता है। इस प्रकार तीनों विविध धर्मों का लोकायतमत की निन्दा के विषय में ऐकमत्य था। सामान्य निर्विचार लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन लोगों की 'लोकायत' या 'लोकायतिक' संज्ञा पड़ी थी। आगे चलकर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे। कुछ लोग बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इन्हें इस नाम से पुकारते हैं[2]। खाओ, [चर्व्=भोजन करना], पीओ, मौज उड़ाओ—इस सिद्धान्त के कारण चार्वाक संज्ञा भी मानी जाती है। पुण्य-पापादिक परोक्ष वस्तुजात के चर्वण कर जाने से (चट कर जाने से) इन दार्शनिकोंका नाम 'चार्वाक'

---

१ कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥
—रामायण अयोध्याकाण्ड (अ०१००, श्लो०३८-३९)

२ चार्वाक मत के 'चार्वी' नामक आचार्य का उल्लेख काशिका वृत्ति में मिलता है—नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिः, तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी। स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते (१।३।३६ सूत्र)।

पड़ा; यह गुणरत्न का कहना है[1]। यह भी सम्भव है कि बहुत से लोग इन सुखप्राप्ति के उपदेशक दार्शनिकों के 'चारु वाक्' को सुनकर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे थे। जो कुछ भी सच्चा कारण हो, पर इस नाम का खूब प्रचार हुआ। आज कल किसी प्रकार की नास्तिकता के सिद्धान्त को मानने वाला चार्वाक नाम से पुकारा जाता है। इस दर्शन का तीसरा नाम 'बार्हस्पत्य दर्शन' है। भारतीय दर्शन के इतिहास में बृहस्पति चार्वाक मत के संस्थापक माने जाते हैं। इसी कारण इस मत को बार्हस्पत्य मत तथा उनके अनुयायी को बार्हस्पत्य कहते हैं।

नास्तिकमत के संस्थापक कोई बृहस्पति नामक आचार्य थे, यह सिद्धान्त काल्पनिक नहीं हैं प्रत्युत इसके लिए ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। ये बृहस्पति की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं। बृहस्पति-रचित सूत्रों का उल्लेख अनेक प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में मिलता है। "एक आत्मनः शरीरे भावात्" (ब्र० सू० ३।३।५३) के भास्कर-भाष्य में तथा शांकर-भाष्य में, गीता (१६।११) की नीलकण्ठी, श्रीधरी तथा मधुसूदनी में और अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किये गये हैं—

संस्थापक

(१) पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।
(२) तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।
(३) तेभ्यश्चैतन्यम्।
(४) किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम्।
(५) मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
(६) चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।
(७) काम एवैकः पुरुषार्थः।
(८) मरणमेवापवर्गः।

---

१ गुणरत्न—षड्दर्शन समुच्चय की टीका पृ० ३००।

ये सूत्र बृहस्पति की ऐतिहासिक सत्ता के लिए पर्याप्त साधन हैं। इसके अतिरिक्त राजनीति-शास्त्र के इतिहास में बृहस्पति का मत उल्लिखित किया गया है। भास ने प्रतिमा नाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का तथा कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में (१।२) बृहस्पति के मत का निर्देश किया है। उनकी दृष्टि में ऐहिक सुख के साधनभूत वार्ता तथा दण्ड-नीति ही प्रधान विद्यायें हैं (वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः)। कहा नहीं जा सकता कि ये दोनों बृहस्पति—चार्वाकमत संस्थापक तथा अर्थ-शास्त्रप्रणेता—अभिन्न व्यक्ति हैं या भिन्न। मतों की समानता दोनों की अभिन्नता मानने के लिए हमें प्रलोभित करती-सी प्रतीत होती है।

ये ही इने गिने बार्हस्पत्य-सूत्र चार्वाक दर्शन के सर्वस्व हैं। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में चार्वाक दर्शन के मूल ग्रन्थ भी विद्यमान

चार्वाक ग्रन्थ

थे, परन्तु इन सिद्धान्तों के प्रति अवहेलना के कारण इन ग्रन्थों का लोप हो गया। पतञ्जलि के समय में (वि० पू० द्वितीय शतक) 'भागुरी' नामक टीका-ग्रन्थ विद्यमान था[1]। भट्ट जयराशि विरचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में भी चार्वाक के तथ्यों का ही प्रतिपादन है[2]। यह तर्क-बहुल ग्रन्थ १० वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया था। इस मत के सिद्धान्तों का परिचय हमें सब दर्शनों के संग्रहात्मक ग्रन्थों से तथा न्याय-वैशेषिक-वेदान्त आदि दर्शनों के ग्रन्थों से मिलता है जिनमें ये पूर्वपक्ष के रूप में बहुलतया निविष्ट किये गये हैं। ब्रह्मसूत्र के ३।३।५३-५४ सूत्रों के भाष्य, न्यायमञ्जरी, विवरणप्रमेय-

---

१ द्रष्टव्य—महाभाष्य (७।३।४५), वर्णिका भागुरी लोकायतस्य। 'वर्णिका व्याख्यात्री भागुरी टीकाविशेषः'—कैयट। काशिका में भी यही प्रत्युदाहरण दिया गया है।

२ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ोदा से प्रकाशित।

संग्रह, सर्वसिद्धान्त-संग्रह, सर्वमत-संग्रह, षड्दर्शन-समुच्चय तथा इसकी गुणरत्नकृत टीका, सर्वदर्शन-संग्रह, कमलशील कृत तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका, नैषध-काव्य का १७वाँ सर्ग, कृष्णपतिमिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक (द्वितीय अंक)—के अध्ययन करने से इसके मूलभूत तत्त्वों का पता पर्याप्तरूप से चलता है। सर्वदर्शन संग्रह के आरम्भिक अध्याय में माधवाचार्य ने चार्वाकमत का प्रतिपादन कुछ विस्तार के साथ किया है।

अब इस परिच्छेद में चार्वाकों के सिद्धान्त तीन मीमांसाओं—ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा, आचार-मीमांसा—के अन्तर्गत दिखलाये जायेंगे।

(१) चार्वाक ज्ञान-मीमांसा

चार्वाकमत में प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है। अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की सत्ता निराधार मानी जाती है। विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकती है। हमारे इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत् है, उससे अन्य पदार्थ नितरां असत् हैं। वे केवल कल्पना के विषय हैं, वास्तविकता के नहीं। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा मृदु, कठोर, शीत, उष्णादि भावों का ग्रहण होता है, रसनेन्द्रिय से कटु, कषाय, अम्ल, मधुरादि रसों का ग्रहण होता है; घ्राणेन्द्रिय से मृगमद, मलयचन्दन, कपूर आदि सुरभि पदार्थों से परिचय प्राप्त होता है; चक्षुरिन्द्रिय से भू, भूधर, घट, पट, पशु, मनुष्यादि स्थावर-जंगम पदार्थों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान हमें होता है। इन्हीं पाँच प्रकार के प्रत्यक्षों के द्वारा अनुभूत वस्तु प्रमाणभूत मानी जाती है। अस्पृष्ट, अनास्वादित, अनाघ्रात, अदृष्ट तथा अश्रुत पदार्थ की सत्ता किसी प्रकार भी स्वीकृत नहीं की जा सकती।

प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता

बौद्ध जैन आदि अवैदिक दर्शन तथा न्याय वैशेषिकादि वैदिक दर्शनों की अनुमान की प्रामाणिकता मानने में ऐक्य है। प्रत्यक्ष के द्वारा

अनुमान की अप्रामाणिकता

समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती और न समस्त लोक-व्यवहार की उपपत्ति सिद्ध हो सकती है। अतः अगत्या इन दर्शनों को अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है; पर चार्वाक दर्शन अनुमान को प्रमाण कोटि में स्वीकार नहीं करता। इस विषय में इसकी तर्क प्रणाली बड़ी ही पैनी तथा मर्मस्पर्शिनी है।

लिंग (हेतु) को देखकर साध्य की सिद्धि करना अनुमान कहा जाता है (तल्लिंग-लिंगि-पूर्वकम्—सां० का० ५)। उदाहरण के लिए ज्वालामुखी पर्वत को ले लीजिए। इसमें पर्वत के शिखर से सतत निकलनेवाली धूमरेखा को देखकर अनुमान किया जाता है कि इसमें अग्नि का सद्भाव होगा। यहाँ दृष्ट धूम से अदृष्ट वह्नि के ज्ञान की कल्पना की जाती है। पर दृष्ट वस्तु से अदृष्ट की कल्पना करने में हमारे पास क्या कोई साधन है? अनुमानवादी इसके उत्तर में धूम तथा वह्नि के सतत विद्यमान साहचर्य नियम को प्रधान साधन बतलाते हैं। पाकशाला आदि के निरीक्षण करने से हमारी यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि जहाँ-जहाँ धूम का सद्भाव होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि की स्थिति अवश्यम्भावी है। इसी अनुपाधिक साहचर्य नियम को 'व्याप्ति' के नाम से पुकारते हैं। अनुमान का प्रकार इस प्रकार होगा—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य विद्यमान है; इस पर्वत में धूम विद्यमान है; अतएव इसमें अग्नि भी अवश्य विद्यमान होगा। व्याप्ति-ज्ञान के ऊपर ही अनुमान की सत्यता अवलम्बित है।

इस पर चार्वाकों की आपत्ति है कि इस अनुमान की सत्यता को हम स्वयं स्वीकार करते, यदि व्याप्ति-सूचक वाक्य की सत्यता प्रमाण सिद्ध होती; पर क्या यह सम्भव है कि जिन-जिन स्थानों में धूम तथा अग्नि

विद्यमान हो, उन सब का निरीक्षण किया जा सके ? प्रत्यक्ष के सीमित होने से वर्तमान काल के ही धूम-वह्नि-विशिष्ट स्थलों का निरीक्षण सिद्ध नहीं हो सकता, भूत तथा भविष्य के स्थलों के परीक्षण की बात ही न्यारी है। ऐसी दशा में व्याप्ति-वाक्य की सत्यता कैसे मानी जाय ? प्रत्यक्ष के द्वारा हमें केवल व्यक्ति विषयों का सम्बन्ध ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष की सहायता से हमें इतना ही ज्ञान होता है कि एक क का सम्बन्ध एक ख के साथ विद्यमान है, पर इसी सीमित ज्ञान के आधार पर सब 'क' का सम्बन्ध सब 'ख' के साथ बतलाकर व्याप्ति की निष्पत्ति करना कितने बड़े दुःसाहस का काम है! पाकशाला में एक विशिष्ट धूम का सम्बन्ध एक विशिष्ट वह्नि के साथ देखकर समग्र धूम का सम्बन्ध समग्र वह्नि के साथ होगा ही, क्या हम ऐसे नियम बनाने के अधिकारी हैं ? यदि नहीं, तो व्याप्ति सत्य नहीं मानी जा सकती और व्याप्ति की असत्यता सिद्ध होते ही अनुमान का किला बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाता है।

यदि यह माना जाय कि व्याप्ति विशेष में नहीं होती, प्रत्युत सामान्य (जाति) में होती है, तो भी दोष बने ही रहते हैं। 'सब मनुष्य मरणशील हैं,' इस वाक्य में यदि व्याप्ति 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' के साहचर्य पर अवलम्बित मान ली जाय, तो नये अनुमान की गुञ्जाइश हो ही नहीं सकती। क्योंकि 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' को धारण करने वाले समग्र पदार्थों का ज्ञान हमें व्याप्ति-सूचक वाक्य में प्रथमतः निष्पन्न हो चुका है; ऐसी दशा में देवदत्त में मनुष्यता हेतु से मरणशीलता के अनुमान करने की क्या आवश्यकता है ? वह तो व्याप्ति-वाक्य में ही गतार्थ हो चुका है। इसे कहते हैं सिद्धसाधन दोष—सिद्ध वस्तु को साधन करने की गलती[1]। सामान्यगत व्याप्ति मानने से चार्वाकों का कहना है

---

[1] विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता।
अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिनः॥
—शास्त्रदीपिका (पृ० ६३) में उद्धृत

कि कोई अनुमान हो ही नहीं सकता। एक विशिष्ट मरणशील के अनुमान के लिए एक विशिष्ट मनुष्य को जानना नितान्त आवश्यक है, पर हमें केवल मरणशीलता तथा मनुष्यता का सम्बन्ध-ज्ञान होता है। ऐसी दशामें अनुमान के लिए कोई अवकाश ही नहीं। इस प्रकार सामान्य ज्ञान में विशेष का अनुमान न्याय-संगत नहीं है। इस अवस्था में भी अनुमान में दोषों का निराकरण नहीं हो सकता।

अनुमान लोकव्यवहार का साधक माना जाता है; पर चार्वाक का कहना है कि लोक-व्यवहार के लिए निश्चय की आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है सम्भावना की। सम्भावना के आधार पर जगत् का समस्त व्यवहार चलता है। दूर पर कटोरे में रखी गई सफेद रंग की चीज दूध-सी है; तथा उसके लिए बालक की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यह प्रवृत्ति सम्भावना-मूलक है, निश्चय-मूलक नहीं। बालक उस वस्तु के ग्रहण करने के लिए जब प्रवृत्त होता है, तब वह इसीलिए नहीं आगे बढ़ता कि वहाँ उसे दूध मिल ही जायगा, प्रत्युत सम्भव है दूध मिल जाय, यही ज्ञान उसकी प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त कारण है। ऐसी दशा में अनुमानजन्य निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं। अतः सम्भावनामात्र को उत्पन्न कर देने से ही लोकव्यवहार के लिए अनुमान की चरितार्थता सिद्ध है। प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान की सत्यता का परिचय हमें अवश्य मिलता है; पर यह नियम कादाचित्क ही है, सार्वत्रिक नहीं।

अनुमान तथा लोक-व्यवहार

अनुमानवादी यदि धूम-वह्नि के कार्य-कारण भाव को मानकर उनके साहचर्य को न्यायसंगत स्वीकार करें तो भी चार्वाक व्याप्ति मानने के लिए तैयार नहीं है। उसकी दृष्टि में जगत् में कार्य-कारण भाव के लिए कोई स्थान नहीं है। संसार की विचित्रता कार्य कारण-भाव की विचित्रता से नहीं है, बल्कि स्वभाव के कारण है। सुखी मनुष्य को देखकर धर्म की कल्पना तथा दुःखी मनुष्य को देखकर अधर्म

स्वभाववाद

की कल्पना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। सुख का कारण न तो धर्म है और न दुःख का अधर्म। मनुष्य स्वभाव से सुखी अथवा स्वभावसे दुःखी हुआ करता है। इसके लिए दूसरा कोई कारण नहीं। अग्नि जलाने वाला है तथा जल स्पर्श में शीतल होता है; इसके लिए किसी कारण को मानना नितान्त असंगत है। यहाँ तो वस्तु-स्वभाव ही कारण है। मयूरों को इतना रंग-बिरंगा किसने पैदा किया? कोकिल की वाणी किसने इतनी मीठी बनाई? इसका कारण स्वभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है[1]? चार्वाक का सिद्धान्त स्वभाववाद के नाम से दार्शनिक जगत्में विख्यात है। वे जगत की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण 'स्वभाव' ही मानते हैं। वस्तु-स्वभाव जगत्की विचित्रताका कारण है, अन्य कुछ भी नहीं[2]।

कार्य-कारण का याथातथ्य ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति के समय अनेक साधक उपाधियों की सत्ता विद्यमान रहती है, जिनमें बहुत से व्यक्त रहते हैं और बहुत से छिपे रहते हैं। इन समग्र व्यक्त तथा अव्यक्त उपाधियों के परिपूर्ण ज्ञान हुए बिना कार्य-कारण भाव की इदमित्थं कल्पना हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि चार्वाक लोग कार्य-कारण भावको माननेके लिए तैयार नहीं है, प्रत्युत बिना हेतु के ही वस्तु के सद्भाव—अकस्मात् भूति—को अंगीकार करते हैं[3]।

---

१ शिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम् ॥

स० सि० सं० २।५

२ अपरे लोकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः। स्वभावादेव जगद् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलयं याति।

भट्टोत्पल—बृहत्संहिता (१।७) की टीका

३ चार्वाक की इन युक्तियों का मार्मिक खण्डन उदयनाचार्यने न्याय कुसुमांजलि में किया है। 'अकस्मात् भवति' वाक्य में पाँच विभिन्न विकल्पों की सम्भावना मानी जा सकती है और प्रत्येक सम्भावना का खण्डन उदयन ने इस कारिका में संक्षेप रीति से किया है—

इन्हीं सब कारणों से बाध्य होकर चार्वाक लोग अनुमान को प्रमाण नहीं मानते।

शब्दप्रमाण की सत्यता पर विभिन्न दर्शनों का पूर्ण विश्वास है। जैन तथा बौद्ध दर्शनों में वेद-प्रामाण्य के न माननेपर भी शब्द-प्रामाण्य का तिरस्कार नहीं किया गया है। जैनागमों तथा बुद्ध-वचनों की पर्याप्त प्रामाणिकता सिद्ध मानी जाती है पर चार्वाक 'शब्द' को प्रमाण नहीं मानता। उसका कहना है कि किसी आप्त पुरुष के वाक्य के सुनने से जो अर्थबोध होता है वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होता है, उसके लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना नितरां व्यर्थ है। किसी पुरुष के आप्त, प्रामाणिक, सत्यवचन तथा हितेच्छु होने के कारण से उसके वचनों में आस्था रखना अनुमान ही है और अनुमान की प्रामाणिकता का खण्डन अभी प्रबल युक्तियों से किया जा चुका है। अतः आप्त पुरुषों के वाक्यों की सत्यता में विश्वास करना एकदम निःसार है। यदि वे जगद्विषयक प्रत्यक्ष पदार्थों का वर्णन करें, तो विश्वास रखा भी जाय, पर अदृष्ट लोक के अश्रुतपूर्व पदार्थों का वर्णन मनोरञ्जन कहानी से पढ़कर सत्यता नहीं रखता। इसी कारण वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते। पारस्परिक विरोध होने से, अनर्थक शब्दों के प्रयोग करने से तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना करने से वेद प्रमाण-बाह्य हैं। अश्वमेध में घृणित कार्य-कलाप के वर्णन करने से, जर्भरी, तुर्फरी, पर्फरीका, जेमना, मदेरू आदि अनर्थक

शब्द प्रमाण की असिद्धि

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥—न्या० कु० १।५

कार्य की स्थिति नियतकाल तक ही रहने वाली है। अतः अवधि की नियतता के कारण कार्य कादाचित्क ही माना जाता है। ऐसी दशा में उसके कारण की कल्पना न करना तर्क-विरुद्ध है।

शब्दों के प्रयोग से[१] तथा यज्ञों में मांसभक्षण के विधान करने से यही प्रतीत होता है कि वेद के बनानेवाले भण्ड थे, धूर्त थे तथा निशाचर थे[२]। वेदों का जितना खण्डन चार्वाकों ने किया है, उतना शायद ही किसी ने किया हो। उन्होंने वैदिक ऋषियों को तथा तद्वर्णित श्रौत विधियों को पानी पी पी कर कोसा है। प्रत्यक्ष के ही प्रमाण मानने से अनुमान तथा शब्द की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

(२) चार्वाक तत्त्वमीमांसा

चार्वाकों की तत्त्वसमीक्षा भी अपने ढंग की एक निराली वस्तु है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये ही चार जगत् में तत्त्व हैं। बौद्धों के

(१) जगत्

समान ही चार्वाकों का मत था कि आवरणाभाव होने से आकाश शून्य ही है; कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं। ये ही पृथिव्यादि भूतचतुष्टय अपनी आणविक अवस्था में जगत के मूल-कारण हैं। बाह्य जगत, विषयग्राहिणी इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर इन्हीं चार मूल भूतों से उत्पन्न होते हैं। पर इनकी उत्पत्ति होती है कैसे? इस प्रश्न के उत्तर देने से चार्वाक लोग सदा विरत थे। उन्होंने इस सम्बन्ध को समझाया ही नहीं। दृष्ट तथा अदृष्ट कारणों के साक्षात निषेध करने से तथा इस जगत के किसी चेतन अन्तर्यामी की सत्ता न मानने से यह विश्व, चार्वाकों की दृष्टि में, अकस्मात् सम्मिलित होनेवाले भूतचतुष्टय का एक निचयमात्र है। इसकी उत्पत्ति के रहस्य का पता अभी तक मानवबुद्धि को लगा ही नहीं है। अतः इसे ठीक-ठीक समझाने की चेष्टा विडम्बनामात्र है।

---

१ सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जरायवजरं मरायु॥
(ऋ० वे० १०।१०६।६)

२ त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥ स० द० सं०, पृ० ४।

पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं। चैतन्य आत्मा का धर्म है; पर इस चैतन्य का संबंध शरीर से होने के कारण शरीर को ही आत्मा मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। चैतन्य तथा शरीर का सम्बन्ध तीन प्रकार से पुष्ट किया जा सकता है:—

(२) जीव

(क) नैयायिक अन्वयव्यतिरेक पद्धति से—शरीर रहने पर ही चैतन्य का आविर्भाव होता है और शरीर के नाश हो जाने पर चैतन्य का भी तिरोभाव सिध्द हो जाता है। अन्नपान के उपयोग से शरीर में प्रकृष्ट चेतना का उदय होता है तथा उसके न होनेसे चेतना का ह्रास हो जाता है। चैतन्य के कारण करने के लिए शरीर आवश्यक साधन है। अतः चैतन्य शरीर का ही सिद्ध होता है।

(ख) सार्वत्रिक अनुभव से—'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ' 'मैं श्रांत हूँ', 'मैं प्रसन्न हूँ' आदि अनुभवोंका ज्ञान हमें जगत् में पद-पद पर प्राप्त होता है। यहाँ पर स्थूलता, कृशता, श्रान्ति तथा प्रसन्नता का सम्बन्ध चैतन्य के साथ शरीर में निष्पन्न होता है। अतः उक्त सम्बन्ध की यथार्थता अनुभववेद्य है।

(ग) वैद्यकशास्त्र के प्रमाण से—चैतन्य का भौतिक पदार्थ के साथ सम्बंध सत्य प्रतीत होता है[१]। ब्राह्मीघृत के उपयोग से संस्कृत कुमार-शरीर में प्रज्ञा की पटुता उत्पन्न होती है। इतना ही नहीं, वर्षाकाल में दही में बहुत ही जल्द छोटे-छोटे कीड़े रेंगते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर शरीर में चैतन्य मानना क्या तर्कसंगत नहीं है? अतः 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः" यह बृहस्पतिका सूत्र युक्ति युक्त है। यही है चार्वाकों का सुप्रसिद्ध 'भूतचैतन्यवाद'।

---

१ न्यायमञ्जरी (चौखम्बा संस्करण) द्वितीय भाग पृ० १३।

पर भूतों में चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसका भी उत्तर चार्वाक लोग लोकसिद्ध अनुभव के आधारपर देते हैं। मदिरा के साधक द्रव्यों में मादकशक्ति नाममात्र को नहीं है, पर मदिरा में मादकता का अविर्भाव अनुभवसिद्ध है। इससे पता चलता है कि किन्हीं पदार्थों को एक विशेष प्रकार या मात्रा में सम्मिलित करने से अवस्थाविशेष में अदृष्टपूर्व धर्म का उदय आप से आप हो जाता है[1]। भूतचतुष्टय की एक विशेष ढङ्ग या परिमाण में समष्टि होने पर चैतन्य की उत्पत्ति स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसके लिए एक दूसरा उदाहरण भी दिया जाता है। पान, खैर, चूना तथा सुपारी में अलग-अलग ललाई दीख नहीं पड़ती, पर एक विशिष्टमात्रा में इनके संयोग होने से पान खानेवाले के मुँह में ललाई की उत्पत्ति हो ही जाती है। इसी प्रकार चैतन्य के उदय की घटना भी अनुभव की आधारशिला पर समझाई जा सकती है[2]। अतः चैतन्य के आविर्भावतिरोभाव के साधन तथा आधार होनेके कारण इस शरीर को ही चार्वाक लोग आत्मा मानते हैं।

चार्वाकों में आत्मतत्त्व के विवेक के विषय में अनेक मत थे। सदानंद ने इन मतों का उल्लेख किया है। कुछ चार्वाक लोग एकदेशीय श्रुति तथा अनुभव के आधार पर इन्द्रियों को, कुछ लोग प्राणों को और अन्य लोग मन को आत्मा मानते थे[3]।

---

१ द्रष्टव्य 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्' (बृ० सू०)। 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता था जिसका प्रयोग शराब बनाने में किया जाता था।

२ जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते

ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् ॥ स० सि० सं० २।७।

३ द्रष्टव्य वेदांतसार पृ० २६-२७। इन मतों के खण्डन के लिये देखिये न्यायमंजरी (द्वितीयभाग) पृ० १३–१४ तथा न्यायकुसुमाञ्जलि (१ । १५)–

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।

वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥

ईश्वर की सत्ता शब्द प्रमाण तथा अनुमान प्रमाणों से सिद्ध मानी जाती है। श्रुति एक स्वर से पुकार कर कह रही है कि ब्रह्म इस संसार के जनन, स्थिति तथा नाश का कारणभूत है। पर श्रुति के प्रामाण्य को न मानने से चार्वाक ईश्वर की सत्ता शब्द के आधारपर मानने के लिए उद्यत नहीं है। नैयायिक लोग ईश्वरका सद्भाव अनुमानके आधार पर मानते हैं[1]। वे लौकिक दृष्टान्तोंकी सहायता से ईश्वर को स्वीकार करते हैं। यदि घड़ा कोई कार्य पदार्थ है, तो उसका कर्ता कुलाल अवश्य ही विद्यमान है। यह दृश्यमान जगत् भी कार्यभूत है। अतः इसका भी कर्ता कोई अवश्यमेव विद्यमान होगा। पर चार्वाक अनुमान की प्रामाणिकता नहीं मानता। अतः उसके मत में शब्द तथा अनुमान का असत्यता सिद्ध होने से ईश्वर की स्वतः असिद्धि है। रहा जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न। इसके लिए वे वस्तु-स्वभाव को कारण मानते ही हैं। स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता की सृष्टि तथा स्वभाव से ही जगत् के लय की समस्या हल कर देने से चार्वाकों के लिए ईश्वर नामक पदार्थ की कल्पना के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता।

(३) ईश्वर

(३) चार्वाक आचार मीमांसा

चार्वाकों की ज्ञान तथा तत्त्व-मीमांसा के अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की कल्पना अंगीकार नहीं करते। इन्हीं मीमांसाओं के आधार पर वे मानव जीवन के कर्तव्याकर्तव्य की भी विशद समीक्षा करते है। दार्शनिक लोग मानवमात्र के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पदार्थों को उपादेय बतलाते हैं तथा पुरुषमात्र के लिए अर्थनीय होने के हेतु इन्हें पुरुषार्थ नाम से पुकारते है। पर चार्वाक दार्शनिक आदिम तथा अन्तिम पुरुषार्थों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।

---

१ द्रष्टव्य न्याय कुसुमाञ्जलि—पञ्चम स्तवक

मीमांसकगण वेदविहित विधिविधानों के अनुष्ठान को धर्म के नाम से अभिहित करते हैं। मानवमात्र का कर्तव्य है कि वह वेदप्रतिपाद्य यज्ञयागादिकों का अनुष्ठान कर मरने के बाद स्वर्ग-सुख का उपभोग करे। पर इस लोक के ही अस्तित्व को मानने वाले चार्वाक लोग स्वर्ग की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। जब स्वर्ग नामक सुखप्रधान लोक ही असिद्ध है, तब उसके लिए शरीर को तरह-तरह के क्लेश देकर तपस्या करना तथा समधिक द्रव्य का व्यय उठा कर यज्ञानुष्ठान करना एकदम व्यर्थ है। इस प्रसंग में चार्वाकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की है तथा उसकी शिक्षा देनेवालों को बड़ी खरी-खोटी सुनाई है। उनका कहना है कि किसी कपोलकल्पित पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए जीवविशेष की हत्या कर यागसाधन करना पहले दर्जे की मूर्खता है। "ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि वास्तव में स्वर्ग पहुँचाने में समर्थ होता, तो यजमान अपने ही पिता को क्यों नहीं मारता? कौन कहता है कि श्राद्ध करने से फल की प्राप्ति होती है? 'यदि श्राद्ध के करने से मरे हुए भी जन्तुओं की तृप्ति होती, तो तेल डालने से बुझे हुए दीपक की भी शिखा बढ़ती?" पर जगत में क्या ऐसी अघटित घटना देखी गई है? दीपक के बुझ जाने पर कितना भी तेल डाला जाय, उसकी शिखा कभी नहीं बढ़ सकती। इन स्पष्ट उदाहरणों के आधार पर मृतक की तृप्ति के लिए श्राद्ध करने की कल्पना नितान्त निराधार है। क्या यहाँ दान देने से स्वर्गस्थित पुरुषों की तृप्ति कभी सिद्ध हो सकती है? यदि ऐसी बात सम्भव मानें, तो महल के ऊपर रहनेवाले पुरुष के लिए निचले खण्ड में ही चीजें दी जातीं। इन उदाहरणों से श्राद्ध की अयुक्तिमत्ता स्वयं सिद्ध होती है। चार्वाक लोग वेद-विधानों की कपोलकल्पना सिद्ध करने के लिए बड़े बड़े लौकिक दृष्टान्त[१]

धर्म की अस्वीकृति

१ षडदर्शन समुच्चय में वृकपद का उदाहरण देकर असत्य बात को परम्परागत सत्य मानने की घटना की पुष्टि की गई है :—

उपस्थित करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में धर्म तथा अधर्म की मूल कल्पना में न तो विश्वास करते हैं, तथा न पाप-पुण्य के फल को अंगीकार करते हैं।

मोक्ष की कल्पना भी चार्वाकों की विलक्षण है। सब दार्शनिकों के ऐकमत्य को अंगीकार करते हुए चार्वाक ने भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति को मुक्ति माना है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भोगायतन शरीर है। जब तक शरीर है, तब तक जीव नाना प्रकार के संकटों को झेलता हुआ जीवन-यापन में प्रवृत्त रहता है। अतः इस देह के पतन के साथ ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। अतः 'मरणमेवापवर्गः' (बृ० सू०) मरण को अपवर्ग मानना युक्तियुक्त है।

इस मोक्ष की कल्पना में प्रवृत तर्क-प्रणाली नितान्त दृढ़ है। परन्तु वैमत्य का बीज यह है कि मोक्षावस्था में आत्मा की स्वरूपस्थिति का सिद्धांत सर्वमान्य है (आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिः मोक्षः), परन्तु चार्वाक मत में इसकी उपपत्ति नहीं होती। देह ही आत्मा ठहरा। तब देह-पात हो जाने पर, अभिमत आत्मा के अभाव में, कौन अपने स्वरूप-स्थितिमें विद्यमान रहेगा? मरण के साथ-साथ आत्मा भी जब नष्ट हो गया, तब 'स्वरूपेणावस्थिति' किस पदार्थ की मानी जाय? अतः देहपात के अनन्तर किसी स्थायी नित्य पदार्थ की सत्ता न मानने के कारण ही चार्वाकों की मुक्ति आकाशपुष्प की तरह नितांत अलीक है।

तब जीवन के लिए लक्ष्य क्या है? अर्थ और काम। काम ही प्रधान पुरुषार्थ है और तत् सहायक होने से अर्थ में भी पुरुषार्थता आती है। प्राणीमात्र के लिए जीवन का उद्देश्य होना चाहिए ऐहिक सुख

भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ ८१ ॥

इसकी विशद व्याख्या के लिए गुणरत्न की टीका देखनी चाहिए जिसमें एक प्राचीन साम्प्रदायिक आख्यायिका का रोचक वर्णन किया गया है।

की प्राप्ति। लौकिक सुख जीवन का चरम-लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति अर्थ के द्वारा हो सकती है, अतः अर्थ काम दो ही पुरुषार्थ हैं। चार्वाकों का यह कथन सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जबतक जीए, सुखपूर्वक जीए। अपने पास द्रव्य के अभाव होने पर ऋण लेकर घृत पीए—आनन्द से मालपूआ चाभे। ऋण के लौटाने की व्यर्थ चिन्ता के बोझे से अपने को दबाये न रहे, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है?

आधिभौतिक सुखवाद

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अतः 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ'—यही जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है। दुःख से मिश्रित होने से क्या सुख त्याज्य है? विशुद्ध सुखकी सत्ता जगत् में नहीं है, तो क्या मिश्रित सुख की चाह हमें न करनी चाहिए? जिस प्रकार मत्स्यार्थी कण्टकयुक्त मछलियों को ग्रहण कर ग्राह्यांश को ले लेता है और अन्य अंश को छोड़ देता है, जैसे धान्य को चाहनेवाला पुरुष पलाल से युक्त धान्य को ग्रहण कर उपादेय अंश को ले लेता है, उसी प्रकार सुखार्थी दुःख से संभिन्न सुख को ग्रहण करता है और उपादेय भाग को लेकर ही तृप्ति-लाभ करता है। यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही ठहरी कि दुःख के भय से अनुकूल वेदनीय सुख का सर्वथा त्याग किया जाय। जगत् में मृग हैं, तो उनके डर से क्या धान नहीं रोपे जाते? माँगनेवाले भिक्षुओंकी सत्ता बनी हुई है, तो क्या भोजन बनानेके लिए आगपर पात्र न चढ़ाया जाय[1]? विषयके संगमसे उत्पन्न सुख दुःखके साथ मिश्रित होनेसे त्याज्य है; यह मूर्खोंका विचार है। क्या कोई हितेच्छु सफेद, सुंदर कणोंसे युक्त धानको इसी कारण छोड़ देता है कि उनके

१ नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधीश्रीयन्ते। नहि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते (का० सू० १।२।४८)।

ऊपर भूसीका हलका छिलका लगा रहता है[1]। सारांश यही है कि जीवन अंगनालिंगनादि सुख की प्राप्ति में बिताना चाहिए। स्वर्ग नरक तो इसी भौतिक जगत् में विद्यमान हैं। सुख की प्राप्ति स्वर्ग है तथा दुःख का मिलना नरक है। अतः ऐहिक सुखवाद चार्वाकों के अनुसार प्राणीमात्र का प्रधान लक्ष्य है।

दार्शनिक जगत् में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार बृहस्पति तथा चार्वाक भौतिकवाद के समर्थक हैं, उसी प्रकार प्राचीन ग्रीस दर्शन के इतिहास में डिमाक्रिटस (४६० ई० पू०) एपुकुरिअस (३४६ ई० पू०) तथा लूक्रेशियस (६५ ई० पू०) भौतिकवाद के संस्थापक तथा प्रचारक हैं[2]। इस मत के अनुसार हाथ-पाँव के समान आत्मा भी मनुष्य के शरीर का अंशमात्र है। वह चतुर्विध परमाणुओं के समुच्चय का फल है। अतः शरीरपात के साथ आत्मा के उच्छेद होने के कारण आत्मा का अमरत्व नितान्त असिद्ध है। इस जगत् की रचना में न तो कोई उद्देश्य है और न इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर दूसरा कोई रचयिता ही है। साधारण जन देवताओं पर इस विश्व के निर्माण का उत्तरदायित्व रखते है, पर यह सिद्धान्त भी प्रमाणाभाव में निःसार है। अनन्त परमाणुओं में से किन्हीं परमाणुओं के अहैतुक यादृच्छिक संघात की ही व्यावहारिक संज्ञा 'जगत्' है। जगद्रचयिता के अभाव में उपवास, व्रत, प्रार्थना आदि

पाश्चात्य दर्शन तथा चार्वाक मत

---

१ त्याज्यं सुखं विषयसङ्गजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥ [स० द० सं० पृ० ४]।

२ द्रष्टव्य मेटीरिअलिज़्म (Meterialism) तथा ल्यूक्रेशियस (Lucretius) शीर्षक लेख—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भा० ८।

उपचारों से उसे सन्तुष्ट करने के विधान बतलाने वाला धर्म नितान्त असिद्ध है। एपिकुरिअस ने जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति बतलाया है। परन्तु कैसा आनन्द? इन्द्रिय वृत्तियों को चरितार्थ करने वाला भौतिक सुख नहीं, प्रत्युत समानशीलव्यसन वाले मित्रों की मण्डली में अनुभूयमान मानसिक आनन्द, जिसे मानते हुए सादगी का जीवन बिताना ही इस मानव जीवन का उद्देश्य है। ल्युक्रेशियस ने इस विषय में अपने गुरु का अनुसरण किया है। वे शान्ति, सात्त्विक जीवन, सत्य-पालन, कर्तव्यनिर्वाह के पवित्र उद्देश्य को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार एपिक्युरस के हेडोनिज्म (सुखवाद) तथा चार्वाक के सिद्धान्त में आश्चर्यजनक सादृश्य है। हेडोनिज्म के सिद्धान्त को जनसाधारण ने जिस प्रकार पीछे के समय में अत्यन्त निकृष्टरूप में परिवर्तित कर दिया, चार्वाकमत में भी इसी प्रकार का परिवर्तन दीख पड़ता है। स्टोइक दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का विशेष रूप से खण्डन कर ईश्वर की सत्ता जीव को अमरता, जगत् की उद्देश्य-सम्पन्नता आदि सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की है। उन्नीसवीं शताब्दी में पॉज़िटिविज़म आदि अनेक दार्शनिक मतों[१] पर चार्वाकता की छाप स्पष्टरूप से दीख पड़ती है। परन्तु चार्वाकमत की तुलना एपिक्यूरिअनिज़म के साथ ही समुचित रीति से की जा सकती है।

(४) समीक्षा

ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन दार्शनिक चार्वाकमत के खण्डन करने के लिए सतत खड्गहस्त थे क्योंकि व्यवहार की उपपत्ति केवल प्रत्यक्ष के अंगीकार करने से सर्वतोभावेन सिद्ध नहीं हो सकती। यदि प्रत्यक्ष ही केवलमात्र प्रमाण हो; तो पति के विदेश चले जाने पर उसके प्रत्यक्षाभाव

---

१ इन मतों की विशेष जानकारी के लिए देखिए हाकिंगः टाइप्स आफ फिलासफी पृ० ७४—८०

में, उसका नितान्त अभाव मानकर, क्या पत्नी अपने को विधवा मान लेती है ? यदि लोक व्यवहार इसका निषेधात्मक उत्तर देता है तो प्रत्यक्ष की पंगुता माननी ही पड़ेगी। भूतचिद्वाद भी इसी प्रकार प्रबल युक्तियों के आधार पर टिक नहीं सकता। चार्वाक सम्मत आचारशास्त्रीय तत्त्वों से समाज के विशेष अस्तव्यस्त होने की सम्भावना है। अतः इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। इस प्रसंग में यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि उपलब्ध बार्हस्पत्य सूत्रों में उच्छृंखल जीवन का—ऋण लेकर घृतपान का—कहीं भी विधान नहीं मिलता। बृहस्पति विश्व की पहेली को समझाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन करनेवाले विद्वान् थे। उनकी व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप है। अवान्तरकालीन दार्शनिकों ने इन लोकप्रिय उपदेशों को चार्वाक के मत्थे मढ़कर उन्हें स्वार्थी भौतिकसुखवादी बतलाया है, परन्तु वास्तव बात कुछ दूसरी ही थी। अतः उच्छृंखलता को प्रश्रय देनेवाले प्रचलित सिद्धान्त चार्वाक के न होकर पीछे किसी के द्वारा उनके ऊपर मढ़ दिये गये हैं।

चार्वाकों की निन्दा दार्शनिकों ने जी खोलकर शतमुख से की है। इस निन्दा के यथार्थ होने में सन्देह नहीं। पर इसका मूल आधार उनकी आचारमीमांसा ही है। जिस दर्शन में धर्म के लिए स्थान नहीं, पाप-पुण्य का अस्तित्व नहीं, स्थूल भौतिक सुखवाद ही प्राणिमात्र के लिए परम पुरुषार्थ है वह मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझा कर उनके लिए एक आदर्श मार्ग की सृष्टि करेगा; यह आशा दुराशामात्र है। अतः चार्वाकमत में त्रुटियों का होना अनिवार्य है, पर फिरभी उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान न देना भी उसके साथ अन्याय करना है।

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की प्रधान विशिष्टता है—आप्तवचनों में अन्धश्रद्धा या विश्वास का न रखना। श्रद्धा किसी भी सत् सिद्धान्त की जननी नहीं है; सिद्धान्त की सृष्टि तो तर्क से होती है। सच्चा अविश्वास

अन्धविश्वास की अपेक्षा दार्शनिक तत्त्वों की समीक्षा के लिए अधिक मूल्य रखता है। आप्त वाक्यों के व्यामोह से अपना उद्धार बिना किए तथा अपनी तर्क-प्रधान बुद्धि के सहारा बिना लिए दर्शन का अभ्युदय हो नहीं सकता। शुद्ध तर्क की उपयोगिता दिखलाकर चार्वाकों ने भारतीय विचारकों के लिए एक मनोरम मार्ग को सृष्टि की है।

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की विशेषतायें

अनुमान की अप्रामाणिकता दिखलाते समय इन लोगों ने 'व्याप्ति' के जिन दोषों का उद्‌घाटन किया है उन्हें आधुनिक पश्चिमी तर्क के पंडितों ने भी 'इन्डक्शन' (आगमन) की परीक्षा करते समय अनेक अंशों में स्वीकृत कर लिया है। जान स्टुअर्ट मिल ने बड़ी सुन्दर युक्तियों के आधार पर आगमन (इन्डक्शन) को सम्भावनामात्र बतलाया है। आगमन के निश्चय के लिए यूनिवर्सल मेजर प्रेमिस (व्याप्ति वाक्य) की सत्यता नितान्त अपेक्षित है, परन्तु 'सब मनुष्य मरणशील हैं' इस वाक्य की सत्यता क्या कभी प्रमाणित की जा सकती है ? समस्त मानवों में मरणशीलता की सत्ता को व्यापक बतलाना केवल अन्दाजा ही है। अतः उस सन्दिग्ध वाक्य के आधार पर आगमन का किला खड़ा करना तर्कानुकूल नहीं है। मिल की इस तर्कप्रणाली के चार्वाकशैली से साम्य रखने में आश्चर्य न होना चाहिए, क्योंकि मिल भी दार्शनिक अभिरुचि में मेटीरीअलिस्ट (भौतिकवादी) ही थे।

व्याप्तिनिरास

इसके अतिरिक्त चार्वाकों ने ऐहिक सुखमय जीवन के साधनभूत कला-कौशल की सृष्टि की ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य बृहस्पति ने अर्थ शास्त्र लिखकर मनुष्यमात्र के लिए उच्छृंखलता का त्याग कर नियमपूर्वक जीवन बिताने की पद्धती पर आग्रह दिखलाया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के जीवन की उन्नति समाज को उन्नति को छोड़कर कभी नहीं

चार्वाक समाजव्यवस्था

हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन को समाज के अनुकूल बनावे। समाज का नियमानुकूल चलना संसार के कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है। चार्वाक लोग इसी कारण मनुष्यों के निग्रह तथा अनुग्रह—दण्ड तथा दया—करनेवाले राजा को ही ईश्वर मानते थे (निग्राहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः)। वे जानते थे कि दण्ड का भय न होने पर मनुष्य को पशुरूप में परिवर्तित होने में विलम्ब न लगेगा। इसी कारण चार्वाक उच्छृंखल जीवन के पक्षपाती न थे, प्रत्युत नियमबद्ध सामाजिक जीवन को ही आदर्श मानते थे। अतः आधिभौतिक सुखवाद के पुजारी होने पर भी चार्वाकों ने मानव-जीवन को विशृंखल होने से बचाया और पारलौकिक सुख की मृगतृष्णा में अपने बहुमूल्य शरीर को व्यर्थ गलानेवाले अधिकांश लोगों के सामने इस जीवन को सुखमय बनाने का ठोस उपदेश दिया। उनकी इस सेवा की ओर ध्यान देना हमारे लिए न्यायसंगत ही है।

पञ्चम परिच्छेद

जैन-दर्शन

(१) जैनधर्म का उदय तथा विस्तार

जैनधर्म का उदय बुद्धधर्म से पहले की घटना है। दीघनिकाय (पृ० १८) में जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर का तत्कालीन विख्याततम ६ तीर्थंकरों में 'निगण्ठ नाटपुत्त' के नाम से उल्लेख ही नहीं मिलता, बल्कि उनके 'चतुर्याम संवर' के सिद्धान्त तथा उनकी मृत्यु का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इस धर्म का प्राचीन नाम 'निगण्ठ' था जो 'निर्ग्रन्थ' शब्द का पाली रूपान्तर है। भवबन्धन की ग्रन्थियों के खुल जाने के कारण महावीर को यह उपाधि दी गई थी। इस धर्म में सर्वज्ञ, रागद्वेष के विजयी, त्रैलोक्यपूजित, यथास्थितार्थवादी तथा सामर्थ्य-वान् सिद्ध पुरुषों की संज्ञा 'अर्हत्' है[१]। अतः तद्द्वारा प्रचारित होने से यह धर्म 'आर्हत' कहलाता है। वर्धमान की रागद्वेष-रूपी शत्रुओं पर विजय पाने के कारण 'जिन' उपाधि था। अतः उनके द्वारा प्रचरित धर्म 'जैन' कहलाता है। इन नामकरणों के मूल में इस धर्म की प्राचीन आचार-प्रधानता ही कारण है। जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को 'तीर्थंकर' कहते हैं जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में, पुराणों के आधार पर, संशय नहीं किया जा सकता। इनका पवित्र चरित्र पुराणों में प्राचीन वंशों के वर्णन प्रसंग में विस्तार के साथ उपस्थित

---

१ सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥—स० द० सं० पृ० ६८

किया गया है। श्रीमद्भागवत के कई अध्याय (स्क० ५, अ० ४—६) ऋषभनाथ के वर्णन में लगाये गये हैं। ये मनुवंशी महीपति नाभि तथा महराज्ञी मरुदेवी के पुत्र थे। इनकी विजय-वैजयन्ती अखिल महीमण्डल के ऊपर फहराती थी। इनके सौ पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ थे महाराज भरत, जो जड़भरत के नाम से अपनी अलौकिक आध्यात्मिकताके कारण प्रसिद्ध थे और जिनके नाम से प्रथम अधीश्वर होने के हेतु यह हमारा देश 'भारत' वर्ष के नाम से विख्यात हुआ है। ऋषभनाथ को जैन लोग ही आद्य तीर्थंकर होने से आदर नहीं करते; प्रत्युत ब्राह्मण-धर्म में भी विष्णु के चौबीस अवतारों में इनकी गणना की गई है। इनके पीछे होनेवाले २३ तीर्थंकरों का विस्तृत विवरण जैन ग्रंथों में उपलब्ध है[१], पर इनकी ऐतिहासिकता मान्य आलोचकों के लिए आज भी संशय का विषय बनी हुई है। अन्तिम दो तीर्थंकर—पार्श्वनाथ तथा महावीर निःसंदेह ऐतिहासिक पुरुष थे।

विवेचक विद्वान् पार्श्वनाथ को ही इस धर्म का आद्य प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। इन्होंने चाहे कालक्रम से विलुप्त तथा शिथिलप्राय धर्म को नवीन जीवन प्रदान कर पुनरुज्जीवित किया, चाहे स्वयं जैनधर्म को प्रवर्तित किया, इतना तो निश्चित है कि ये ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले इस देश को इन्होंने अपने जन्म से अलंकृत किया था। इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे तथा माता थी महारानी वामादेवी। काशी नगरी में ८१७ ईस्वी पूर्व में इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म से पहले इनकी माता ने एक कृष्णवर्ण सर्प को अपने बगल में रेंगते हुए देखा था। इसी कारण इनका नाम पार्श्वनाथ पड़ा। तीस वर्षों तक इन्होंने सांसारिक वैभव के बीच गार्हस्थ्य जीवन को बिताया। बाद इन्होंने अगणित

पार्श्वनाथ

१ द्रष्टव्य मिसेज स्टीवेनसनः दि हार्ट आफ जैनिज़्म पृ० ५०-९८।

सम्पत्ति को लात मारकर भिक्षु जीवन को स्वीकार किया तथा घोर तपस्या कर कैवल्यज्ञान का सम्पादन किया। इन्होंने ७० वर्ष तक जैन धर्म का अपने सदुपदेशों से प्रचार किया। अनन्तर 'समेत शिखर' पर निर्वाण प्राप्त किया।

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध इनकी आचार-शिक्षा तथा महावीरकी शिक्षा में कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों-अहिंसा, सत्य, अस्तेत तथा अपरिग्रह—के विधान पर जोर दिया है पर महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी उतना ही आवश्यक तथा उपादेय बतला कर इसकी भी गणना महाव्रतों में की है। पार्श्वनाथ वस्त्र धारण करने के पक्षपाती थे, पर महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए यतियोंके लिए वस्त्रपरिधान का बहिष्कार कर नग्नत्व को ही आदर्श आचार बतलाया है। आजकल के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का विभेद इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर का नाम था—वर्धमान। ये वैशाली (आजकल का बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नामक ग्राम) में

वर्धमान महावीर

पार्श्वनाथ के ढाई सौ वर्ष बाद ५९९ ई० पू० में पैदा हुये थे। वैशाली में उस समय कई क्षत्रिय सरदार मिलकर राज्य किया करते थे। ऐसे ही 'ज्ञातृक' नामक क्षत्रिय-वंशमें इनका जन्म हुआ था। पिता का नाम था सिद्धार्थ तथा माता का त्रिशला। इनकी पूजनीय जननी राज्यकन्या थो। अपने कुल के नाम पर ही पालीग्रन्थों में इन्हें नातपुत्त (ज्ञातृ-पुत्र) के नाम से निर्देश किया गया है। इनका शुभ विवाह यशोदादेवी के साथ सम्पन्न होना श्वेताम्बर लोग बतलाते हैं। इन्होंने माता-पिताके अनन्तर अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर घर-बार से नाता तोड़ा। हृदय में सच्चे वैराग्य के बीज पहले से विद्यमान थे, अवसर पाकर वे अंकुरित हो उठे। तीस वर्ष की अवस्था में (लगभग ५७० ई० पू०) इन्होंने यतिधर्म को ग्रहण किया—बड़ी कठोर

तपस्या का साधन किया तथा अन्त में तेरह वर्षों के लगातर अभ्यास के अनन्तर इन्हें 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्होंने पहले-पहल पंच महाव्रतों की शिक्षा अपने प्रथम शिष्य गौतम इन्द्रभूति को दी। इनके अनन्तर इन्होंने अंग, मगध कौशाम्बी आदि राज्यों के अधिपतियों को अपने धर्म का मधुर उपदेश दिया जिसके फल-स्वरूप वे इनके धर्म में दीक्षित हो गये, पर इनका प्रधान स्थान मगधकी तत्कालीन राजधानी 'राजगिर' था। उत्तर भारत में 'अर्धमागधी' भाषा के द्वारा अपने प्रभावशाली व्याख्यानों से जैनधर्म का प्रचुर विस्तार सम्पादन कर पावापुरी में ७२ वर्ष की आयु में बुद्ध के निर्वाण से पचास वर्ष पहले महावीरने निर्वाण प्राप्त किया। रागद्वेष रूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेने के उपलक्षमें इन्हें 'जिन' तथा 'महावीर' की उपाधि प्राप्त हुई। जैन सम्प्रदाय के अनुसार इनका जन्म ५९६ ई० पू० तथा मृत्यु ५२७ ई० पू० में बतलाई जाती है।

'श्वेताम्बर' तथा 'दिगम्बर' का भेद

इनकी मृत्युके अनन्तर इस धर्मको विशेष राजाश्रय प्राप्त हो गया। मगध के नन्दवंशी नरेश तथा कलिंग के अधिपति सम्राट् खारवेल इसी धर्म में दीक्षित हुये तथा उन लोगों ने इसकी श्रीवृद्धि करने में यथेष्ठ परिश्रम किया। इतिहास साक्षी है कि मौर्यवंशके संस्थापक आर्यावर्तके एकछत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी जैन-धर्मानुयायी थे। मगध में अकाल के प्रचंड तांडव के कारण यतिवर भद्रबाहु सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा अन्याय अनुयायियों के साथ दक्षिण की ओर चले गये। चन्द्रगुप्त ने महीशूर प्रदेश के श्रवणबेल गोल के पास तपस्या में निरत रह अपनी ऐहिक लीला समाप्त की पर भद्रबाहु अकाल के शान्त होने पर उत्तरीय भारत में आये और जैन यतियोंमें आचार-सम्बन्धी परिवर्तनों को देखकर वे नितान्त दुःखित हुए। संघभद्र इस समय के जैनसंघ के प्रधान नेता थे। इन्होंने समय की गति के कारण उग्र तपस्या के शुद्धभाव को भुलाकर जैनाचार में अनेक संशो-

घन कर डाला था। प्राचीन संघमें नग्नता के आदर्श का ही बोल-बाला था, पर अब मागध संघ ने श्वेताम्बर (सफेद कपड़ा) को धारण करना न्यायानुमोदित बतलाया। इस प्रकार ईस्वी-पूर्व द्वितीय शतक से श्वेतांबर तथा दिगम्बर इन दो अवान्तर भेदोंका उदय जैनधर्ममें उत्पन्न हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार दिगम्बरों की उत्पत्ति वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद (अर्थात् वि० सं० १३६=८२ ई०) हुई है। तत्त्वज्ञान के विषय में इन दोनों में कोई भी मतभेद नहीं है, पर अनेक विषयों में आचारगत पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में धार्मिक नियमों की उग्रता स्पष्ट दीख पड़ती पर श्वेताम्बरों ने मानव कमजोरियों को स्मरण कर कई अंशों में कठोर नियमों में शिथिलता ला दी है। दिगम्बरों का कहना है कि केवली (केवलज्ञानसम्पन्न पुरुष) भोजन नहीं करता, न स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। स्त्रियों को पुरुष जन्म के ग्रहण के अनन्तर ही मोक्षप्राप्ति का विधान है।

भुंक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥

——सर्वदर्शन संग्रह में जिनदत्त सूरि का श्लोक।

इन प्रसिद्ध सम्प्रदायोंके अतिरिक्त यापनीय या 'गोप्य' संघ प्राचीन काल में कभी बड़ा ही प्रसिद्ध था। दर्शनसार के कर्ता देवसेन सूरिके कथनानुसार वि० सं० २०५ से इसका पता चलता ही है। इसकी भी उत्पत्ति उन दोनों सम्प्रदायों के समय में ही हुई। इनके कतिपय सिद्धान्त दिगम्बरियों से तथा अन्य श्वेताम्बरियों से मिलते हैं। इस संघ के मुनि नग्न रहते थे, मोर की पिच्छि रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकों को 'धर्मलाभ' देते थे। इन बातों में वे दिगम्बरियों के समान थे, परन्तु साथ ही साथ वे मानते थे कि स्त्रियों

को इसी जन्म में मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं (जिसे श्वेताम्बर लोग मानते हैं)। इनका विपुल साहित्य नष्ट प्रायसा है[1]।

२—जैन प्रमाण-साहित्य

जैनदर्शन के दार्शनिक ग्रंथों की बहुलता है। पर आचारसम्बन्धी ग्रंथों की संख्या प्रमाणसम्बन्धी ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम इन दर्शनग्रंथों को चार कालविभागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) आगम ग्रन्थ—जैनधर्म के मूल आगम ग्रंथों की रचना के विषय में दोनों सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद है। दिगम्बरों का कहना है कि 'पूर्व' संज्ञक मूल आगम विलुप्त हो गये हैं, आजकल समुपलब्ध आगम श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही संरक्षित हुआ है। इसकी आदिम रचना के काल का पता हमें नहीं चलता, पर अन्तिम संशोधन छठी शताब्दी में वलभी की समिति में आचार्य देवर्धिगणि के द्वारा किया गया था। ऐसा श्वेताम्बरों का सम्प्रदाय है कि भद्रबाहु के कर्नाटक चले जाने पर स्थूलभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में जैन यतियों की समिति ने जैनागमों का स्थिरीकरण किया था। ११ अंगो का रूप-विनिश्चय उसी समय हुआ था, तथा विलुप्त १४ पुव्वों के अवशिष्ट अंशों को १२ वें (दिट्ठवाय नामक) अंग में संकलन किया गया था, पर दिगम्बर सम्प्रदाय इस पर आस्था नहीं रखता। उसका कहना है कि पूर्व तथा अंग दोनों सदा के लिए विस्मृति के गर्भ में विलुप्त हो गये हैं।

जैन सिद्धान्तों की संख्या ४५ है[2] जिनमें ११ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, ४ मूलग्रन्थ तथा २ स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दीसूत्र तथा

---

१ द्रष्टव्य 'जैन-साहित्य और इतिहास' पृ० ४१-६०।

२ इन ४५ ग्रन्थों के विषयविवेचन के लिए द्रष्टव्य विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २ पृ० ४२८-४७४।

अनुयोग द्वार) माने जाते है। अंगों की महत्ता के कारण उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं:—(१) आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र), (२) सूयगडंग (सूत्रकृतांग), (३) थाणंग (स्थानांग), (४) समवायांग, (५) भगवतीसूत्र, (६) नायाधम्म कहाओ (ज्ञाताधर्म कथाः), (७) उपासगदसाओ, (उपासकदशाः) (८) अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः), (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपादिकदशाः), (१०) पण्हा-वागरणिआइं (प्रश्न व्याकरणानि), (११) विवाग सुयं (विपाकश्रुतम्), (१२) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद–जो अधुना उपलब्ध नहीं होता) । इन आगमो की रचना अर्धमागधी भाषा में की गई है। अनेकान्तवाद, जीव तथा पुद्गल आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन इन आगमग्रन्थों में मिलता है।

(२) **आरम्भकाल**—जैनदर्शन की सुव्यवस्था विक्रम की प्रथम शताब्दी में आरम्भ हुई। इस काल में तीन विद्वान् तथा महामान्य ग्रन्थकारों ने इसकी दार्शनिक नींव को खूब मजबूत बनाने का उद्योग किया। इनमें एक का नाम था उमास्वाति दूसरे का कुन्दकुन्दाचार्य और तीसरे का समन्तभद्र।

उमास्वाति—इन्हें दोनों सम्प्रदाय के लोग बड़े आदर तथा श्रद्धा के भाव से देखते है तथा इन्हें अपने सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। दिगम्बर लोग इन्हें उमास्वामी के नाम से पुकारते हैं। ये मगध के निवासी थे तथा विक्रम के आरम्भकाल में कुसुमपुर में इन्होंने अपना प्रख्याततम ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थधिगम सूत्र की रचना की। इस ग्रन्थ की महत्ता इसी बात से समझी जा सकती है कि इसकी वृत्ति, भाष्य तथा टीकायें मान्य जैनाचार्यों ने समय-समय पर कीं। न्यायसूत्र के समान निगूढ़ार्थ यह तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन के माननीय मन्तव्यों का प्रकाण्ड भाण्डागार समझा जाता है उमास्वाति ने स्वयं इसपर अपना भाष्य बनाया। पूज्यपाद देवनन्दि का 'सवार्थसिद्धि', दिगम्बरों के सम्प्र-

दायानुसार समन्तभद्र का तथा श्वेताम्बरों के मतानुसार सिद्धसेन दिवाकर का तथा ऐतिहासिक आलोचना के अनुसार सिद्धसेन गणि (विक्रम ७ शतक—९ शतक के बीच उत्पन्न होनेवाले) का 'गन्धहस्ति-भाष्य,' भट्ट अकलंक का 'राजवार्तिक' तथा विद्यानन्दि का 'श्लोकवार्तिक'-ये इस ग्रन्थ के प्रामाणिक तथा प्रधान भाष्य तथा वृत्तियाँ हैं[1]।

कुन्दकुन्दाचार्य-द्रविड देश के विख्यात दिगम्बर जैनाचार्य थे। इनके काल के विषय में बड़ा मतभेद है, पर मान्य ऐतिहासिक इन्हें विक्रम की प्रथम शताब्दी में विद्यमान बतलाते हैं[2]। इस प्रकार ये उमास्वाति के समसामयिक प्रतीत होते हैं। ये जैनदर्शन के प्रकाण्ड आचार्य माने जाते हैं तथा इनके ग्रंथ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विश्वकोष का काम करते हैं। इनका द्राविड़ी नाम 'कोण्डकुण्ड' था जिसका संस्कृत रूपान्तर 'कुंदकुंद' के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ। इनके लिखे अनेक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें ८४ पाहुड़ों (या प्राभृत—एक विशिष्ट विषय पर लिखे गये ग्रंथ) का नाम बतलाया जाता है। इनके अतिरिक्त इनके चार ग्रंथ जैनागम के सर्वस्व माने जाते हैं:—(१) नियमसार, (२) पंचास्तिकायसार, (३) समयसार, (४) प्रवचनसार। विद्वत्ता की दृष्टि से, तथा विषय-प्रतिपादन की शैली से ये प्रामाणिक तथा विद्वत्तासूचक माने जाते हैं। अन्तिम तीन ग्रंथों की, जैन सम्प्रदाय में, 'नाटकत्रयी' की संज्ञा है। जिस प्रकार ब्राह्मणदर्शन में प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता—का समधिक आदर है, उसी प्रकार जैन तत्त्व-ज्ञान में नाटकत्रयी को समधिक महत्त्व तथा आदर प्राप्त है।

समन्तभद्र—जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य हैं। इनके समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है परन्तु इनके ग्रन्थों की अन्तः

१ उमास्वाति के जीवन-चरित तथा ग्रन्थ के लिए देखिए पण्डित सुखलालजी—तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत भूमिका पृ० १-३६

२ द्रष्टव्य प्रोफेसर उपाध्ये—प्रवचनसार की भूमिका पृ० २२।

परीक्षा से इनका समय तृतीय या चतुर्थ शतक विक्रमी में पड़ता है। देवनन्दी (अपरनाम-पूज्यपाद) के ग्रन्थों में समन्तभद्र का उल्लेख मिलता है। पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में समन्तभद्र के मत का उल्लेख किया है (चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ५।४।१६८)। पूज्यपाद ने आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर जो 'सर्वार्थसिद्धि नामक टीका लिखी है उसपर समन्तभद्र के सिद्धान्तों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है[१]। ऐसी दशा में इनका समय पूज्यपाद (वि० षष्ठ शतक) से प्राचीन मानना ही न्यायसंगत है। ये दिङ्नाग से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं[२]।

समन्तभद्रके ग्रंथ

१—आप्तमीमांसा (या देवागम स्तोत्र—११४ कारिका में)—जिस पर दो प्रसिद्ध टीकायें हैं।

(क) अष्टशती भट्ट अकलंक रचित।

(ख) अष्टसहस्री विद्यानन्द लिखित।

२—युक्त्यानुसंधान (६४ पद्य—स्वमत तथा परमतों के गुण दोषों का सूत्ररूप से विवेचन—टीका—विद्यानन्द की (मणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित)।

३—स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्र स्तोत्र—पद्यसंख्या १४३—तीर्थंकरों की स्तुति, पौराणिक तथा ऐतिहासिक उल्लेखके साथ जैनमतका विवेचन)

४—जिनस्तुतिशतक (अपरनाम—स्तुतिविद्या, जिनशतक जिनशतालंकार (—चित्रकाव्य का उत्कर्ष, भक्तिभाव पूरित ११६ पद्य)।

५—रत्नकरण्ड श्रावकाचार—श्रावकाचार का सब से प्राचीन, प्रसिद्ध ग्रंथ।

६—जीवसिद्धि
७—तत्त्वानुसन्धान } निर्देश है, पर उपलब्ध नहीं हुई।

---

१ अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १० पृ० ३४५—५२।

२ वही, वर्ष ५, किरण १२. पृ० ३८३—८७।

८—गन्धहस्तिभाष्य—उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्रपर अनेक ग्रंथों में उल्लिखित, परन्तु एकत्र भी उपलब्ध नहीं है। यह नितान्त प्रौढ ग्रंथ माना जाता है[१]।

(३) मध्ययुग—(६वीं शताब्दी से लेकर ९म शताब्दी तक) यह युग जैन दर्शन के इतिहास में सुवर्ण-युग समझा जाता है। इस काल को अनेक मौलिक विद्वत्तापूर्ण सारगर्भित रचनाओं के निर्माण करने का गौरव प्राप्त है। इस काल का आरम्भ गुप्तकाल के भीतर पड़ता है। कतिपय माननीय आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है:—

सिद्धसेन दिवाकर—(पंचम शताब्दी) अपने समयके सबसे बड़े पण्डित थे। उज्जैन के किसी विक्रमादित्य के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। इनके गुरु का नाम 'वृद्धवादी' था। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं:—(१) न्यायावतार (सिद्धर्षि ने १० वें शतक में टीका लिखी) (२) सन्मति- तर्क (विशद व्याख्याकार अभयदेवसूरि),(३) तत्त्वार्थ टीका, (४) कल्याण-मन्दिर-स्तोत्र तथा अनेक द्वात्रिंशिकायें। न्यायावतार की रचना कर इन्होंने जैन-न्याय को जन्म दिया है। सन्मतितर्क नितान्त प्रमेय बहुल ग्रंथ है[२]।

हरिभद्र (८ शतक विक्रमी)—जैन धर्म तथा दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने लोकप्रिय 'षड्दर्शन समुच्चय' तथा 'अनेकान्त जयपताका' की रचना की है।

भट्ट अकलङ्क (८ शतक)—दिगम्बर मतानुयायी थे। अष्टम शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्रपर महत्त्वपूर्ण 'राजवार्तिक' तथा आप्तमीमांसा के व्याख्यारूप में 'अष्टशती' की रचना

१ ग्रन्थ के विशेष विवरणों के लिए द्रष्टव्य जुगलकिशोर मुख्तार-स्वामी समन्तभद्र।

२ इनके जीवनचरित तथा ग्रन्थों के विशेष वर्णन के लिए देखिए—सन्मतितर्क की पं० सुखलालजी कृत भूमिका (अँ) पृ० १–२२

की है। अभी हाल में इनके जिन तीन छोटे छोटे दार्शनिक ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है उनके नाम लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाण-संग्रह हैं। इन सब ग्रंथों का विषय जैन न्याय है।

विद्यानन्द—(नवम शताब्दी) इन्होंने अष्टशती पर अष्टसहस्री तथा तत्त्वार्थ सूत्र पर 'श्लोकवार्तिक' लिखकर मीमांसकमूर्धन्य कुमारिल भट्ट की शैली का अनुकरण किया है।

अकलंक और विद्यानन्द जैनदर्शन को प्रतिष्ठित तथा सर्वमान्य बनानेवाले विद्वान हैं। इन दोनों की कृतियाँ प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा माननीय हैं। विद्यानन्द के 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' में जितना और जैसा मीमांसा का सबल खण्डन है वैसा तत्त्वार्थ की किसी टीका में उपलब्ध नहीं। भट्ट अकलंक के 'राजवार्तिक' में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है, तो 'श्लोकवार्तिक' में इसके साथ गम्भीरता भी विशेषरूप से है। भट्ट अकलंक ने न्याय प्रमाणशास्त्र का जैनपरम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, परिभाषायें निर्दिष्ट कीं, लक्षण और परिक्षण किया वही सर्वमान्य हुआ। इन्होंने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदि की सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति को मुँहतोड़ उत्तर दिया था। विद्यानन्द ने शान्तरक्षित के परीक्षणों की जैनपरम्परा में समीक्षा का सूत्रपात किया। ये दोनों विद्वान् जैनेतर दर्शनों के भी प्रकाण्ड थे, यह संशयहीन तथ्य है।

वादिराजसूरि (नवम शतक विक्रमी)—दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बड़े तार्किक माने जाते हैं। ये द्राविड़ संघ के अनुयायी थे। षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद विद्यापति आदि उपाधियों से इनकी विद्वत्ता का स्पष्ट पता चलता है। एकीभाव स्तोत्र के अनुसार इनके समान कोई भी अन्य शाब्दिक, तार्किक तथा कवि न था[१]। दक्षिण के सोलंकी वंश के विख्यात

---

१ वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किक सिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥

राजा जयसिंह (प्रथम) (राज्यकाल ९३८ श० सं०-९६४ श० सं०) के ये समकालीन थे। काव्यग्रन्थ में पार्श्वनाथचरित्र की पर्याप्त ख्याति है। 'न्याय विनिश्चय निर्णय' इनका न्यायविषयक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जिसमें भट्ट अकलंकदेव के 'न्यायविनिश्चय' का भाष्य है।

अवांतरयुग के दार्शनिक जैन ग्रन्थों की संख्या अत्यधिक है। इनमें से समधिक प्रसिद्ध कतिपय ग्रंथकारों का ही देना परिचय पर्याप्त होगा[1]।

देवसूरि—(१२वीं शताब्दी) इन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' तथा इसकी टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' की रचना की है। ये ग्रन्थ जैन न्याय के महत्त्वपूर्ण प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं।

हेमचंद्र--(१०८८-११७२ ई०)—ये देवसूरि के समकालीन थे। ये अपने समय के उद्भट विद्वान् तथा विख्यात जैनाचार्य माने जाते थे। ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित काव्य, व्याकरण तथा अलंकार ग्रन्थों के स्थान पर इन्होंने स्वयं जैनियों के उपकारार्थ अनेक काव्यादिकों की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन न्याय के विषय में 'प्रमाण-मीमांसा' नामक विद्वतापूर्ण तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थरत्न का भी निर्माण किया है। निखिलशास्त्र-निपुणता तथा बहुज्ञता के कारण इन्हें 'कलि-कालसर्वज्ञ' की उपाधि प्राप्त थी।

मल्लिषेणसूरि—(१२९२ ई०) इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना स्याद्वादमंजरी है जो हेमचन्द्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका' की विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण टीका है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनों की मार्मिक समालोचना तथा जैन सिद्धान्तों का प्रमाणपुरःसर विवेचन है।

---

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक (पृ० १८८—२२०)।

गुणरत्न—(१४०९ ई०)—इन्होंने हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की बड़ी सुन्दर तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है जिनमें सब दर्शनों के सिद्धान्तों की मार्मिक विवेचना की गई है तथा उनके विषय में अनेक विशिष्ट साम्प्रदायिक बातों का उल्लेख किया है।

यशोविजय—(१७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)—इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती तथा हिन्दी में खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक तथा समन्वयात्मक अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका 'जैन तर्कभाषा' सरल, संक्षिप्त तथा अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।

(३) जैन ज्ञानमीमांसा

जैन मतानुसार जीव चैतन्यमय है। ज्ञान उसका साक्षात-लक्षण है। वह निसर्गतः अनन्तज्ञान-विशिष्ट है, पर कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप हमारी दृष्टि से सदा ओझल रहा करता है, पर सम्यक् चारित्र के सेवन करने से जीव अपने शुद्ध रूप को फिर से पा सकता है; वह कैवल्य तथा सर्वज्ञता से मण्डित हो सकता है।

यह ज्ञान दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। इन दोनों शब्दों की व्याख्या में जैन दर्शन जैनेतर दर्शनों से नितान्त पृथक् है। यहाँ आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा आत्मेतर इन्द्रिय-मनःसापेक्ष-ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारणभूत है, अन्य किसी की सहायताके लिये परतन्त्र नहीं है, उसे जैन दर्शन 'प्रत्यक्ष' के नाम से पुकारता है; पर जिस ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय तथा मन के द्वारा होती है, उसे 'परोक्ष' का नाम दिया जाता है।

परोक्ष ज्ञान, उमास्वाति के विवेचन के अनुसार, दो प्रकार का होता है:—(१) मति तथा (२) श्रुत। ये दोनों इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। (१) अवधि, (२) मनःपर्याय तथा (३) केवल—ये तीनों प्रत्यक्ष के भेद माने जाते हैं; क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना ही केवल

परोक्ष के भेद

आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय तथा मन के सम्पर्क से समुद्भूत विषय ज्ञान को 'मतिज्ञान' कहते हैं। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये चारों मति ज्ञान के पर्याय हैं[1]। मति सामान्यतः दो प्रकार का बतलाया जाता है:—(१) इन्द्रियजन्य—बाह्येन्द्रियों के द्वारा जन्य ज्ञान को इन्द्रियजन्य कहते हैं। (२) अनिन्द्रियजन्य—मानस ज्ञान।

शब्द से उत्पन्न ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भविष्य इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। इस विषयकृत भेद के अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता, श्रुतज्ञान में शब्दोल्लेख रहता है। जैनागम के द्वादश अंगों के ज्ञान को अंगप्रविष्ट श्रुत ज्ञान गणधरों के पश्चात् शुद्ध बुद्धिवाले आचार्यों के द्वारा विरचित शास्त्रों का ज्ञान अंगबाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकारों का निर्देश ऊपर किया गया है। इनमें दूरस्थित व्यवधानयुक्त पदार्थों का ज्ञान 'अवधि ज्ञान' कहलाता है। जब जीव विशिष्ट सात्विक साधनों की सहायता से आवरणीय कर्मों का आंशिक क्षय करने लगता है, तब उसे दूरस्थित पदार्थों का भी ज्ञान स्वयं आत्मा की योग्यता के कारण उत्पन्न हो जाता है, यही अवधि ज्ञान है। जो अवधि जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं और जिस ज्ञान के लिए व्रत, नियम आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा बनी रहती है उसे गुणप्रत्यय की संज्ञा है (त० सू० १।२१-२३)। आगे चलकर जब जीव द्रोह, ईर्ष्या

प्रत्यक्ष के भेद

१ अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद माने जाते हैं। द्रष्टव्य—त० सू० १।१२।

आदि परकीय मनकी प्रवृत्तियों के निरोधक कर्मों को क्षय कर लेता है तब उसे दूसरों के मन के विचारों को जानने की योग्यता आ जा जाती है। यही 'मनः पर्याय ज्ञान' कहलाता है। पर जब ज्ञान के समस्त आवरणीय कर्मों का नितान्त क्षय कर दिया जाता है; तब आत्मा अपने शुद्ध सर्वज्ञ रूप को प्राप्त कर लेता है। उस समय उसमें सर्वज्ञता आदि धर्मों का उदय स्वतः हो जाता है। यही प्रत्यक्ष का पारमार्थिक रूप है जिसे 'केवल ज्ञान' कहते हैं। इसके अधिकारी सम्यक् चारित्र के अनुष्ठान करने वाले सिद्ध पुरुष ही होते हैं।

यह विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर किया गया है, पर पीछे के जैनाचार्य प्रत्यक्ष तथा परोक्ष का विभाग एक दूसरे प्रकार से कहते हैं।

हेमचन्द्र—प्रमाण विभाग

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण मीमांसा में तथा गुणरत्न ने षड्दर्शन समुच्चय की टीका (पृ० २०४) में प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक तथा पारमार्थिक दो भेद माने हैं। अस्मत्-प्रत्यक्ष जिसमें इन्द्रिय तथा मन की सहायता नितान्त आवश्यक है 'सांव्यवहारिक' प्रत्यक्ष कहलाता है। आवरण विलय हो जाने पर चेतन जीव का स्वरूपाविर्भाव होना केवल ज्ञान या 'पारमार्थिक' प्रत्यक्ष कहलाता है (तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्—प्रमाणमीमांसा—अध्याय १ सूत्र १५)। परोक्ष ज्ञान के ५ प्रकार स्वीकृत किये गये हैं (१) स्मृति=वासना के उद्बोध के कारण जायमान अतीत का यथार्थ स्मरण; (२) प्रत्यभिज्ञान='यह वस्तु वही है' इत्यादि ज्ञान; (३) तर्क=उपलम्भ तथा अनुपलम्भ-निमित्त व्याप्ति का ज्ञान; (४) अनुमान=हेतु से साध्य का अनुमान; (५) आगम=आप्त पुरुषों तथा आगमों के वाक्यों से समुत्पन्न प्रामाणिक ज्ञान।

सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि जैन न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष की सत्ता सर्वमान्य है। अनुमान चार्वाक को अस्वीकृत है, पर जैनाचार्यों ने

बड़ी प्रबल युक्तियों के आधार पर लोकव्यवहार के लिए अनुमान की प्रामाणिकता मानी है (स० द० सं० पृ० १८-१९)। जैन आगम से प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की मूलभित्ति है, पर जैन लोग ब्राह्मण शास्त्र-श्रुति तथा स्मृति—की प्रामाणिकता अनेक दोषों के विद्यमान होने से मानने के लिए तैयार नहीं है।

स्याद्वाद

जैन दर्शन का यह प्रधान सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक हुआ करती है। इन समस्त वस्तु-धर्मों का यथार्थ ज्ञान उसी पुरुष को हो सकता है जिसने कैवल्यज्ञान को प्राप्त कर लिया है। पर आत्मा-दृश भ्रान्ति-बहुल मानवों में इतनी सामर्थ्य कहाँ है कि वे प्रत्येक वस्तु के समस्त धर्मों का यथाथ ज्ञान प्राप्त कर सकें। वह तो वस्तु के केवल एक धर्ममात्र को जान सकता है। अतः उसका ज्ञान सदा आंशिक हुआ करता है। जैनदर्शन वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान को 'नय' के नामसे पुकारता है[1]। वस्तु-स्थिति पर विचार करने से प्रत्येक ज्ञान का आंशिक या सापेक्ष होना ही न्यायसंगत है। परन्तु वास्तविक ज्ञान इससे भिन्न पदार्थ हैं। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार का हो सकता है—(१) दुर्णय, (२) नय, (३) प्रमाण[2]। यदि विद्यमान होनेवाली किस वस्तु को हम विद्यमान ही (सदेव) बतलावें, तो उसके अन्य प्रकारों के निषेध किये जाने के कारण यह ज्ञान 'दुर्णय' (दुष्ट नय) के नाम से पुकारा जायगा। अन्य प्रकारों का बिना निषेध किये हुये वस्तु को सद्

---

१ एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः। न्यायावतार श्लोक २९। नय शब्द की निरुक्ति यों है—'नीयते परिछिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः अनेन इति नयः। (स्याद्वाद-मञ्जरी पृ० १५९।)

२ सदेव सत्स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः॥
स्याद्वाद मञ्जरी श्लोक २८।

बतलाना आंशिक-ज्ञान-संवलित होने के कारण 'नय' कहलायेगा। पर प्रमाण इन दोनों से भिन्न होता है। विद्यमान वस्तु के विषय में संभवतः' यह सद् है' (स्यात् सत्) यही ज्ञान वस्तु के ज्ञात तथा अज्ञात समस्त धर्मों के संकलन होने के कारण प्रमाणकोटि में आता है।

'नय' सिद्धान्त जैनदर्शन का एक मुख्य विषय माना जाता है। किसी विषय का सापेक्ष निरूपण नयवाद के नाम से पुकारा जाता है।

नयवाद

इस नयवाद का विवेचन जैन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से किया गया उपलब्ध होता है (त० सू० १।३४-३५)। वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने से उसके प्रत्येक विशेष के निरूपण करने से नयों की संख्या भी अनन्त है। परन्तु विवेक दृष्टि से उसके सामान्यतः दो भेद स्वीकृत किये जाते हैं:—(१) द्रव्यार्थिक नय तथा (२) पर्यायार्थिक नय। किसी वस्तु के दो धर्म हो सकते है—एक तो वह जिसके कारण वस्तु की विविध परिणामों के बीच एकता बनी रहती है। इसे ही द्रव्यार्थिक नय की संज्ञा है। दूसरे वे धर्म जो देश तथा काल के कारण किसी वस्तु में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन विशेषों के सापेक्ष निरूपण को पर्यायार्थिक संज्ञा दी जाती है। प्रथम नय तीन प्रकार का तथा अन्तिम चार प्रकार का, दोनों मिलकर सात प्रकार के होते हैं—नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय ऋजु नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय तथा एवंभूत नय। इनके नामों में समानता होने पर भी भिन्न भिन्न ग्रन्थों में इनके स्वरूप के विषय में विशेष मतभेद दीख पड़ता है।

इस आंशिक ज्ञान के कारण ही जगत् में पारस्परिक कलह दिखलाई पड़ रहा है। प्रत्येक दर्शन इस विचित्र नानात्मक विश्व के ही विवेचन करने में व्यस्त है। पर वह किसी एक अंश को ही लेकर ऊहापोह में लगा रहता है। दर्शनों में पारस्परिक कलह का बीज यही है कि वे अपने ही विवेचन को

दार्शनिक विरोध का कारण

यथार्थ मानकर अन्य दर्शनों के विवेचनों को अयथार्थ ठहराते हैं। इस विषय में दार्शनिकों का पारस्परिक विरोध हाथी के स्वरूप-निर्णय के विषय में झगड़ा करनेवाले अन्धों के कलह के समान ही है। पर जैनदर्शन का कहना है कि दर्शन नानारूपिणी सत्ता के अंशमात्र के विवेचन करने से अपना महत्त्व रखते हैं। उनमें आपस में किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नहीं हैं। इस उदार चित्तवृत्ति तथा विशालहृदयताके कारण जैन तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन से विरोध नहीं है। जैनदर्शन न केवल आचार के लिए अहिंसा का पक्षपाती है, प्रत्युत तात्त्विक समीक्षा के विषय में वह "बौद्धिक अहिंसा" को मानता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के विचार से 'स्यात्' विशेषण का जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द अस् धातु के विधिलिङ् के रूप का तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़े के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति=कथंचित्' यह विद्यमान है इसी रूप में होना चाहिए। वर्तमान काल तथा देश के विचार करने से हम घट की सत्ता का अनुभव करते हैं, परन्तु यह सत्ता त्रैकालिक सत्य नहीं है, अपि तु सापेक्षिक सत्य है क्योंकि प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में प्रत्येक दशा में तथा एतादृश अन्य प्रकारों में घट की सत्ता का अनुभव हमें नहीं हो सकता। अतः घट के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति' का ही रूप धारण कर सकता है। इसी कारण जैन दर्शन प्रत्येक परामर्श वाक्य के साथ 'स्यात्' पद के योग करने के लिए आग्रह करता है। यही है सुप्रसिद्ध स्याद्वाद या अनेकांतवाद जो जैन दर्शन की प्रमाणमीमांसा के इतिहास को एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण देन माना जाता है।

स्याद्वाद का अर्थ

'स्याद्वाद' की उत्पत्ति भी बड़ी रोचक है। बुद्धकाल में अनेकान्तवाद मानने वाले दार्शनिकों की कमी न थी और ये ब्राह्मण तथा परिव्राजकोंमें

स्याद्वाद की उत्पत्ति

पाये जाते थे। सामञ्ञफल-सुत्त में संजय 'बेलट्ठिपुत्त' के मत का जो वर्णन मिलता है वह स्याद्वाद के अनुरूप ही था (पृ० ९४)। संजय ने स्पष्ट शब्दों में परलोक के अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों की सत्ता के विधान तथा प्रतिषेध के विषय में अपने को नितान्त असमर्थ ठहराया है। पाली ग्रंथों में 'अमराविक्खेपिक'[1] संज्ञक दार्शनिकों के मत की चर्चा उपलब्ध होती है जो वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व की स्थिति तथा अभाव के विषम में एक मत को अंगीकार न करके अनेक मतवाद की पुष्टि किया करते थे। ये मत ब्राह्मणों तथा परिव्राजकों के बतलाये गये हैं। अतः स्याद्वाद की उत्पत्ति को कतिपय विद्वान् जैनेतर सम्प्रदायों में मानते हैं[2]। उपनिषदों में ब्रह्म कहीं सत्, कहीं असत्, कहीं उभयात्मक बतलाया गया है। इन मतों के आधार पर ही सत्ता को अनेकान्त मानने की कल्पना अवान्तरकाल में मानी गई यह मत भी सम्भव है[3]। स्याद्वाद की उत्पति के रहस्य का पता अभी तक भले न चले, पर इतना तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि भगवतीसूत्र में स्वयं महावीर ने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति तथा स्याद् अवक्तव्य इन ३ भागों का स्पष्ट उल्लेख किया है[4]। इसी कारण इन भंगों को 'मूलभंग

१ अमराविक्षेपवाद का अर्थ किसी निश्चित सिद्धान्त को न मानना है। 'अमराविक्षेप' नामक छोटी-छोटी मछलियाँ बड़ी चञ्चल हुआ करती हैं जो बहुत प्रयत्न करने पर भी हाथ में नहीं आतीं। अतः प्रयत्न करनेपर भी किसी निर्णय पर न पहुँचने के कारण इस वाद को 'अमराविक्षेप' की संज्ञा दी गयी है। यह ब्रह्मजाल सुत्त में उल्लिखित बुद्धकालीन १२ वां सिद्धान्त है। देखिये दीघ निकाय पृ० ९—१०।

२ द्रष्टव्य स्याद्वादमञ्जरी की भूमिका पृ० ७४—७६।

३ द्रष्टव्य हिरियन्ना—आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलासफी पृ० १६३—१६४।

४ "गोयमा अप्पणो आदिट्ठे आया (आत्मा), परस्य आदिट्ठे आया (न आत्मा), तदुभयस्य आदिट्ठे अवत्तव्वं (अवक्तव्यं।")

की संज्ञा दी गई है। आगे चलकर इन्हीं मूलभंगों के पारस्परिक मिश्रण से 'सप्तभंगी' की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ[1]।

सप्तभङ्गी नय

साधारणतया न्यायशास्त्र में परामर्श के दो ही प्रकार के रूप हो सकते है (१) अन्वयी जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का विधान किया जाय अथवा (२) व्यतिरेकी, जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का निषेध किया जाय। परन्तु जैन न्याय में सत्ता सापेक्ष रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना जाता है जिसे 'सप्तभंगी नय' के नाम से पुकारते हैं। वे रूप नीचे दिये जाते हैं:—

(१) स्यादस्ति (कथञ्चित् है);

(२) स्यान्नास्ति (कथञ्चित् नहीं है);

(३) स्यादस्ति च नास्ति च (कथञ्चित् है और नहीं है);

(४) स्याद् अवक्तव्यम् (कथंचित् अवक्तव्य=वर्णनातीत है);

(५) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् है और अवक्तव्य है);

(६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् नहीं हैं और अवक्तव्य है);

(७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित्) नहीं है तथा अवक्तव्य है);

इनके स्वरूप को जानने के लिए थोड़ा सा विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। पहले वाक्य का अर्थ है कि कथंचित् कोई पदार्थ किसी धर्म-

---

१ अनेकान्तवाद के विषय में द्रष्टव्य प्रमाण समुच्चय की पं० सुखलालजी कृत प्रस्तावना पृ० १८-२८; सन्मतितर्क की अंग्रेजी भूमिका पृ० १३२-१४०, उपाध्येकृत प्रवचनसार की अंग्रेजी भूमिका ८६-९१।

विशेष के साथ सम्बद्ध है। जैसे 'स्यात् घड़ा है' अर्थात् 'इस समय में एक विशेष प्रकार के स्थान में (घर में) एक विशेष रूप को रखने वाला घड़ा विद्यमान है' इस वाक्य का यही अर्थ समझा जाना चाहिये। दूसरे वाक्य का प्रयोग पदार्थ-विशेष का धर्म-विशेष के साथ सम्बन्ध-प्रतिषेध के अवसर पर किया जाता है—जैसे 'स्यात् इस घर के बाहर घड़ा नहीं है'। इसका यह अर्थ है कि किसी विशेष प्रकार का घड़ा विशिष्ट समय में एक विशिष्ट गृह के बाहर असत्ता धारण किये हुए है। किसी वस्तु के सत्तात्मक तथा निषेधात्मक उभयविध स्वरूप के संवलित-रूप से ज्ञान के लिए पूर्व वाले दोनों परामर्शों को एकत्र करने से तीसरे प्रकार के परामर्श का उदय होता है जैसे स्यात् गृहे अस्ति घटः गृहाद् बहिर्नास्ति घटः (स्यात् घर के भीतर घट विद्यमान है तथा गृह के बाहर वह अविद्यमान है)। इसका निर्देश तृतीय वाक्य में किया गया है। कच्चा होने पर घड़ा काला है, पर पक जाने पर वही लाल बन जाता है, तब घट का यथार्थ रूप क्या है? इस प्रश्न का निष्कपट उत्तर यही हो सकता है कि परिस्थितियों की विपुलता के कारण, एकत्र विरोधात्मक नाना धर्मों की सत्ता होने के कारण, घट का वास्तविक रुप अवक्तव्य अनिर्वचनीय है। जैन न्याय के अनुसार चतुर्थ परामर्श इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। अन्तिम तीन परामर्शों की उत्पत्ति पूर्वनिर्दिष्ट चारों विचार-विन्दुओं के सम्मिश्रण से होती है। जैन न्याय के-अनुसार किसी भी पदार्थ के विषय में इतने ही वैकल्पक ज्ञानों का उदय हो सकता है। अतः सात प्रकारों को धारण करने के कारण इसे 'सप्त-भंगी नय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

(४) जैन तत्त्वसमीक्षा

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है (अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्)। किसी मनुष्य के स्वरूपज्ञान के लिए, उसके देश, काल, जाति, जन्म, धर्म, वर्ण

वस्तु

समास आदि का जानना तो अत्यन्त आवश्यक है। इन सत्तात्मक धर्मों का नाम 'स्वपर्याय' है; ये अल्प ही हुआ करते हैं; पर वस्तु के निषेधात्मक धर्म अनन्त होते हैं जो उसे अन्य तत्सदृश वस्तुओं से पृथक् किया करते हैं। 'देवदत्त' के विषय में इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि वह भारतवर्षवासी, श्यामवर्ण, हिन्दू, आर्यधर्मानुयायी, ब्राह्मणकुलोत्पन्न है, यह तो सत्तात्मक गुण हुए। निषेधात्मक गुणों की जानकारी भी उतनी ही जरूरी है। यह भी जानना पड़ेगा कि वह न तो यूरोपियन है, न चीनदेशीय, न श्वेतवर्ण का है, न पीतवर्ण का है आदि आदि। इन इयत्ताहीन निषेधात्मक धर्मों को 'परपर्याय' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन की कल्पना में प्रत्येक वस्तु 'स्वपर्याय' तथा 'परपर्याय' का समुच्चयमात्र है।

द्रव्य

सत् के स्वरूप विषय में दर्शनों में पर्याप्त मतभेद है। वेदान्तदर्शन केवल ब्रह्म को सत् मानता है; बौद्धदर्शन सत् पदार्थ को निरन्वय-क्षणिक (अर्थात् उत्पादविनाशशील) मानता है। सांख्यदर्शन चेतन तत्त्वरूप सत् पदार्थ (पुरुष) को कूटस्थ नित्य मानता है, पर अचेतन तत्त्वरूप सत् पदार्थ (प्रकृति) को परिणामिनित्य अर्थात् नित्यानित्य मानता है। परन्तु जैनदर्शन के अनुसार 'सत्' का विवेचन एक विभिन्न ही प्रकार से किया जाता है।

'सत्' की व्याख्या

प्रत्येक पदार्थ के दो अंश हुआ करते हैं—शाश्वत अंश और अशाश्वत अंश। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक अर्थात् नित्य है और अशाश्वत अंश के कारण हरएक वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक (उत्पत्ति विनाशशाली अर्थात् अनित्य है)। यदि केवल एक अंश पर दृष्टिपात करते हैं तो वस्तु स्थिर प्रतीत होती है तथा दूसरे अंशपर दृष्टि डालते हैं तो वह अस्थिर प्रतीत होती है। पर एकांश पर दृष्टि डालना एकांगी

सत्य हो सकता है। सर्वांगीण सत्यता उभयांशों के निरीक्षण पर अवलंबित है। अतः इन दोनों दृष्टियों का अनुसरण कर जैनशास्त्र प्रत्येक वस्तु को उत्पादव्यय-ध्रौव्य युक्त बतलाता है। अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होने तथा नाश होनेवाला होता है, साथ ही साथ वह स्थिर होनेवाला भी होता है[1]। अर्थात् वह नित्यानित्य होता है। यहाँ पर शंका का उदय होना स्वाभाविक है कि जो पदार्थ नित्य है वह उसी क्षण में अनित्य कैसे हो सकता है? क्या एक ही पदार्थ में नित्यता तथा अनित्यता का एककालिक सम्बन्ध मानना विरुद्ध नहीं माना जा सकता? इसका उत्तर जैनदर्शन में बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है। बिना किसी प्रकार के परिवर्तन हुए समान भाव से रहनेवाली वस्तु को वह नित्य नहीं मानता। उसकी दृष्टि में 'अपनी जाति से च्युत न होना' ही नित्यत्व का लक्षण है। वस्तु में परिणाम होने पर भी जातिगत एकता विघटित नहीं होती, अतः उसे नित्य मानने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए। अनुभव इस परिणामनित्यता के सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। सुवर्ण में कुण्डलत्व, अंगुलीयत्व आदि धर्म के उत्पन्न होने पर भी वह सुवर्णत्व जाति से च्युत नहीं होता। 'परिणामिनित्यता' के सिद्धान्त में वेदान्तियों के कूटस्थनित्यता' तथा सौगतों के 'परिणामवाद' का सुन्दर समन्वय है। प्रपंच के नानात्व के भीतर विद्यमान एकत्व को जैनदर्शन अंगीकार करता है। वह कहता है कि जगत् का नानात्व भी वास्तविक है, तथा एकत्व भी सत्य है।

सतत विद्यमान रहनेवाले तथा वस्तुसत्ता के लिए नितान्त आवश्यक धर्मों को 'गुण' कहते हैं तथा देशकालजन्य परिणामशाली धर्म को 'पर्याय' कहते हैं। गुण तथा पर्यायविशिष्ट वस्तु को जैन न्याय के अनुसार 'द्रव्य' कहते हैं (गुणपर्यायवद् द्रव्यम्—त० सू० ५-३७)।

---

[1] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। —त० सू० ५।२९

द्रव्य का सबसे बड़ा विभाग दो प्रकार का होता है:—(१) एक-देशव्यापी द्रव्य तथा (२) बहुप्रदेश-व्यापी द्रव्य। काल ही एक पदार्थ ऐसा है जो एकप्रदेश-व्यापी माना जाता है। जगत् के अन्य समस्त पदार्थों में विस्तार उपलब्ध होता है। अतः वे बहुप्रदेश-व्यापी माने जाते हैं। जैनदर्शन में विस्तार धारण करनेवाले द्रव्य 'अस्ति-काय' कहे जाते है। सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर की भाँति विस्तार से समन्वित होने के हेतु वे 'काय' कहे जाते हैं[1]। ऐसे ५ द्रव्यों की सत्ता स्वीकृत की गई है—(१) जीवास्तिकाय, (२) पुद्गलास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) धर्मास्तिकाय तथा (५) अधर्मास्तिकाय।

द्रव्यविभाग

देशव्यापी (अस्तिकाय) द्रव्यों के दो प्रधान भेद हैं—जीव और अजीव। इनमें जीव आत्मा का वाचक है। जीव सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—बद्ध, (संसारी) तथा बन्धन से निर्मुक्त, (मुक्त)। इनमें संसारी जीवों के अनेक भेद स्वीकार किये गये हैं। वे जीव जो उद्देश्यपूर्वक किसी स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति रखते हैं त्रस कहलाते हैं और जो जीव ऐसी शक्ति से विहीन रहते हैं उन्हें स्थावर कहते हैं। संसारी जीव के अन्य चार प्रकारों का वर्णन तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (२।३२-३६) में दिया गया है:—(१) नारक—विविध नरकों में निवास करनेवाले जीव (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च—पशु-पक्षी आदि लघुकाय जीव, (४) देव—ऊर्ध्वलोक में निवास करनेवाले जीव। स्थावर जीव सबसे निकृष्ट माने जाते हैं, क्योंकि इसमें केवल स्पर्शेन्द्रिय की ही सत्ता मानी जाती है। जंगम जीवों में कुछ दो इन्द्रिय सम्पन्न, कुछ तीन इन्द्रिय से युक्त, कुछ चतुरिन्द्रिय-युक्त होते हैं, परन्तु मनुष्य, पशु-

---

१. संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य॥
—द्रव्यसंग्रह, गाथा २४

पक्षी आदि उन्नत जीवों में पाँचों इन्द्रियाँ पाई जाती हैं। यह तो जीव का सामान्य निरूपण हुआ। अजीव चार प्रकार के होते हैं—पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म।

द्रव्य-विभाग का संक्षिप्त वर्णन
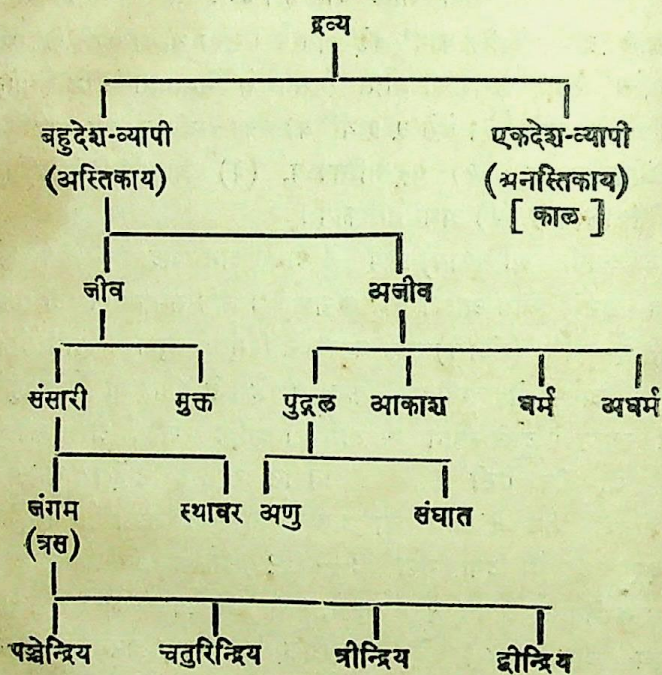
जीव

चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं। चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है[1]। संसार के समस्त जीवों में, चाहे वे किसी प्रकार के क्यों न हों, चैतन्य

१ चैतन्यलक्षणो जीवः —षड्दर्शन-समुच्चय; कारिका ४९।

उपलब्ध होता ही है। प्रत्येक जीव नैसर्गिकरूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है, परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय नहीं हुआ करता। अपने ही शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से जीव के स्वाभाविक गुणों पर एक प्रकार का आवरण पड़ा रहता है। शुभ कार्यों के अनुष्ठान से इस आवरण के तिरोधान होने से इन गुणों का साक्षात्कार जीव को हुआ करता है। दर्शन, ज्ञानादि गुणों के विपुल तारतम्य के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा कर्मफलों का भोक्ता भी वह स्वयं हैं। जगत् के प्रत्येक भाग में जीवों की सत्ता मानी है।

जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्मों का सम्पादन करता है, सुख का भोक्ता है, दुःख को सहता है; अपने को स्वयं प्रकाशित करता है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। नित्य होने पर भी जीव परिणामशील है। यह शरीर से भिन्न है और उसकी सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। जैनदर्शन जीव को मध्यम परिमाण-विशिष्ट मानता है। इस विषय में भी यह आत्मा को विभु मानने वाले अद्वैत वेदान्तियों तथा अणु मानने वाले वैष्णवों के उभय अन्तों को छोड़कर मध्यममार्ग को माननेवाला है। जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है। वह दीपक की भाँति अपने निवासभूत शरीर को प्रकाशित करता है। यह स्वयं अमूर्त है, पर दीपक के प्रकाश की तरह आधारभूत शरीर के रूप तथा परिमाण को धारण करता है। इस प्रकार हस्ती के विशालकाय में रहने वाला जीव विपुल परिमाण-विशिष्ट होता है, पर चींटी जैसे अल्पकाय में रहनेवाला जीव परिमाण में नितान्त स्वल्प होता है। प्रदीप की तरह जीव भी संकोचविकाशशाली होता है[1]। तात्विक दृष्टि से अरूपी होने

---

१ प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्। —त० सू० ५।१६

के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो नहीं सकता, पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बल पर उसका ज्ञान किया जा सकता है[१]।

अजीव

जैनदर्शन में 'पुद्गल' शब्द का अर्थ कुछ विलक्षण माना जाता है। यह भूत-सामान्य के लिए व्यवहृत किया जाता है। 'पुद्गलास्तिकाय' यह संज्ञा जैनशास्त्र में ही प्रसिद्ध है; अन्य दर्शनों में पुद्गलस्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं।

(१) पुद्गल

सर्वदर्शन-संग्रह (पृ० ८) में 'पुद्गल' शब्द की निरुक्ति बतलाई गई है—पूरयन्ति गलन्ति च (जो पूर्ण हो जाय तथा गल जाय) अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचयरूप से शरीर के निष्पादन करनेवाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होनेपर जो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं—अणु तथा संघात। पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म रूप में विभाजन नहीं किया जा सकता 'अणु' कहलाता है। दो या दो से अधिक इन सूक्ष्म अंशों के परस्पर एकत्र होने से 'संघात' बनता है। इन्हीं संघातों के द्वारा हमारे शरीर तथा उसके भिन्न भिन्न अंग, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। पौद्गलिक पदार्थों में चार गुण पाये जाते हैं[२]—स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण। ये गुण उसके द्विविध रूपों में विद्यमान रहते हैं। अणु या संघात—दोनों प्रकार में ये चारों गुण पाये जाते हैं। अन्य दार्शनिक 'शब्द' को भी भूतों का गुण-विशेष स्वीकार करते हैं; पर जैन दार्शनिक शब्द को मूलभूत गुण नहीं

---

१ जीवो उवयोगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

—द्रव्यसंग्रह गाथा

२ स्पर्शरसगंन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः—त० सू० ५।२३

मानते, प्रत्युत सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, अन्धकार, छाया आदि के समान उत्पन्न होनेवाला अवान्तर परिणाम बतलाते हैं[1]।

'आकाश' जीवादि अस्तिकाय द्रव्योंको अवकाश देनेवाले पदार्थ की संज्ञा है। आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न होकर अनुमान के आधार पर अंगीकृत की जाती है। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म पदार्थ बहुप्रदेश-व्यापी हैं।

(२) आकाश

अतः उनके विस्तार की सिद्धि के लिए प्रदेश पर्यायवाले आकाश-द्रव्य की सत्ता मानना न्याय-संगत है। आकाश दो प्रकार का माना जाता है:—(१) जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति जिस भाग में होती है उसे लोकाकाश की संज्ञा है; (२) तथा लोक से उपरितन आकाश की 'अलोकाकाश' संज्ञा है।

काल की कल्पना अनुमान के आधार पर मानी जाती है। जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील होते हैं। इस परिणाम के साधारण कारण के रूपमें कालकी सत्ता मानी जाती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व—ये पाँचों कालके 'उपकार' माने जाते हैं[2]।

(३) काल

काल के बिना पदार्थों की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। स्थिति का अर्थ पदार्थका अनेक-क्षणव्यापी अवस्थान है। काल के अवयवों को बिना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम का पक जाना कालजन्य ही है। पूर्वापरक्षण-व्यापिनी क्रिया काल के ही कारण सम्भव है। ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता की कल्पना काल की सिद्धि को प्रमाणभूत बतला रही है। काल का विस्तार नहीं माना जाता, अतः

---

१ शब्दबन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च। त० सू० ५।२४।

२ वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य—त० सू० ५।२२।

यह अस्तिकाय द्रव्यों से इस विषय में भिन्न ही है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश में अणुरूप काल की सत्ता रत्नों की राशि के समान मानी जाती है। रत्नों के ढेर होने पर भी जिस प्रकार प्रत्येक रत्न पृथक् रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार लोकाकाश में काल अणुरूप से पृथक्-पृथक् स्थित रहता है (द्र० सं० का० २३)। 'द्रव्य संग्रह' में काल के दो भेद माने गये हैं[१]।—

(१) **व्यावहारिक काल**—द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दण्ड, घटी, पल आदि अवयव-सम्पन्न काल को व्यावहारिक काल कहते हैं।

(२) **पारमार्थिक काल**—यह काल नित्य, निरवयव माना जाता है। वर्तना—पदार्थ की स्थिति—इसका सामान्य लक्षण है। व्यावहारिक कालके ही अंगों की कल्पना है। अतः वह सादि तथा सान्त है, पर पारमार्थिक काल एक अनवच्छिन्नरूप से सतत विद्यमान रहता है।

धर्म तथा अधर्म द्रव्यों की जैन कल्पना अन्य दर्शनों में स्वीकृत कल्पना से नितान्त भिन्न ठहरती है। गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्य-विशेष को धर्म की संज्ञा दी गई है।

(४) धर्म

जल में चलनेवाली मछली के लिए जिस प्रकार जल सहकारी कारण माना जाता है, उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल द्रव्यों की गति के लिए धर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है। धर्म स्वयं जीव को गति की प्रेरणा में असमर्थ है, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र प्रदान करता है। जल मछली को चलने के लिए प्रेरणा नहीं कर सकता, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र देने का कार्य करता है।

अधर्मकी कल्पना धर्म के ठीक विरुद्ध है। स्थितिशील जीव तथा

---

१ दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परयट्ठो॥ द्रव्यसंग्रह, गाथा २२।

पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को 'अधर्म' की संज्ञा जैनदर्शन में दी गई है। जिस प्रकार श्रान्त पथिक के ठहरने के लिए वृक्षों की छाया सहायक होती है, उसी प्रकार जीव की स्थिति के वास्ते अधर्मास्तिकाय की कल्पना स्वीकृत की गई है। छाया पथिक के टिकने के लिए कारण नहीं हो सकती, न उसे टिकने के लिए प्रेरणा कर सकती है, केवल सामान्यरूपेण कारण बन सकती है। जीव तथा पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म की कल्पना भी इसीलिए मानी गई है।

(५) अधर्म

(५) जैन आचार मीमांसा

जैनदर्शन में मोक्ष के साधन तीन हैं[1]—(१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक् ज्ञान तथा (३) सम्यक् चारित्र। 'दर्शन' शब्द का अर्थ है श्रद्धा, अतः मोक्षमार्ग में जाने के लिए साधक के पास प्रथम साधन होना चाहिए सम्यक् श्रद्धा[2]। तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रसिद्धान्तों में अटूट तथा गहरी श्रद्धा रखना नितान्त आवश्यक है। अध्यात्ममार्ग के पथिक के लिए सबसे अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण पाथेय सम्यक् श्रद्धा है। सम्यक् ज्ञान दूसरा साधन है। शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित निखिल सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का यथार्थ तथा गम्भीर अनुभव प्राप्त करना भी श्रद्धा के समान ही आवश्यक तथा उपादेय है। सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान की चरितार्थता सम्यक् चारित्र में ही सम्पन्न होती है। इन्हीं मोक्षोपयोगी तीनों साधनों—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र—को जैन दर्शन में 'रत्नत्रय' की संज्ञा दी गई है।

रत्नत्रय

जीव निसर्गतः मुक्त है, पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर

---

१ सम्यक-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः —त० सू० १।१

२ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् —त० सू० १।२

आवरण डाले रहता है। इस कर्म के स्वरूप को जैनदर्शन अन्य दर्शनों से नितान्त भिन्न मानता है। कर्म पौद्गलिक होते हैं। पृथिवी, जल आदि के समान कर्म भी भौतिक माना जाता है। यह जीव को सर्वांशतः व्याप्त कर इस दुःखमय प्रपञ्च में डाले हुए है। कर्म के साथ सम्बद्ध जीव ही बद्धपुरुष के रूप में दीख पड़ता है। कर्म के आठ मुख्य प्रकारों का वर्णन जैन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ किया गया मिलता है। कुछ कर्म ज्ञान को ढके हुए रहते हैं; कुछ दर्शन को आच्छादित किये रहते हैं तथा कुछ मोह उत्पन्न करने के साधन बने रहते हैं। इस प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय—इन आठ कर्मों के १४४ भेदों का वर्णन जैन ग्रन्थों में दिया गया है (त० सू० ८।५–१६)।

कर्म

जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध तथा विच्छेद दिखलाने के लिए जैन दर्शन-सम्मत सप्त पदार्थों का वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। इन पदार्थों के नाम हैं—(१) आस्रव, (२) बन्ध, (३) संवर, (४) निर्जरा, (५) मोक्ष, जो पूर्ववर्णित (६) जीव तथा (७) अजीव के साथ मिल कर सात पदार्थ माने जाते हैं (त० सू० १।४)। भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के साथ जीव के सम्बन्ध कराने का प्रधान कारण कर्म ही है। उसी के साथ सम्बन्ध होने से जीव का बन्धन तथा उसके प्रभाव से उन्मुक्त होने पर जीव का मोक्ष निर्भर रहता है। अपने व्यापार के लिए अपरतन्त्र कर्मों का जीव के साथ सम्बन्ध होना 'आस्रव' कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र (६।१–२) में शरीर, वचन तथा मन की क्रिया को योग का नाम दिया गया है और यही योग ही 'आस्रव' कहलाता है। जिस प्रकार जलाशय में जल के प्रवेश कराने वाले नाले का मुख आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार कर्म के प्रवेश कराने का मार्ग होने के कारण योग को 'आस्रव' की संज्ञा दी गई है। इस

सप्त पदार्थ

तरह चरम तत्त्वों के अज्ञान तथा वासनादि के कारण कर्मो का जीव के प्रति जो संयुक्त होनेकी क्रिया हुआ करती है उसे ही जैन दर्शन 'आस्रव' कहता है। आस्रव दो प्रकारका होता है—भावास्रव (कर्मोत्पादक रागादिभाव) तथा द्रव्यास्रव (पुद्गलकर्मों का आना – द्र० सं० गाथा ३०)।

उसके अनन्तर कर्मों के द्वारा जीवों का साक्षात् व्याप्त कर लेना बन्ध कहलाता है। दूसरे शब्दों में जब जीव कषाययुक्त होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तब इसे 'बन्ध' की संज्ञा प्रदान की जाती है[1]। उमास्वामी (त० सू० ८।१) बन्धन के पाँच कारण मानते हैं—(१) मिथ्यात्व (अतत्त्व में तात्त्विक दृष्टि रखना); (२) अविरति (दोषों से विरत न होकर सदा उनमें लगा रहना); (३) प्रमाद (कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्यों में अविवेक के कारण सावधान न होना) (४) कषाय (समभाव की मर्यादा का तोड़ना), (५) योग (मानसिक, कायिक तथा वाचिक प्रवृत्ति)। इन्हीं कारणों से जीव कर्म के द्वारा बन्धन को प्राप्त करता है।

अब इन कर्मोका सम्बन्ध-विच्छेद भी दो भिन्न-भिन्न क्रमों से निष्पन्न हो सकता है। आगे आनेवाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा बन्द कर देने को 'संवर' कहते हैं (त. सू. ९।१)। यह 'आस्रव' से विपरीत क्रिया है। संवर का ग्रहण करना अग्रिम कर्मों के मार्ग को निरुद्ध कर जीव को अत्यधिक बन्धन में पड़ने से बचाता है तथा उसे मुक्ति की ओर उन्मुख करता है। संवर दो प्रकार का होता है—भावसंवर तथा द्रव्यसंवर। 'भावसंवर' मुमुक्षु के उन मानसिक उद्योगों तथा नैतिक प्रयत्नों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके द्वारा वह कर्म के मार्ग का निरोध कर देता है। 'द्रव्यसंवर' नवीन पुद्गलकर्म के सम्बन्ध के वास्तविक निरोध की संज्ञा है। वास्तव क्रिया के पहिले ही मानस व्यापार का होना अनिवार्य है। अतः संवर दो प्रकार का माना जाता है।

---

१ सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । स बन्धः ॥
त० सू० ८।२–३

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी निर्जरा की होती है जिसके द्वारा सम्पादित कार्यों को निर्वीर्य बनाकर फलभाव के लिए उन्हें जीर्ण कर देना होता है। इनका फलस्वरूप 'मोक्ष' कहलाता है। इसकी स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के बिना सम्भव नहीं हो सकती; इसलिए उमास्वाति ने समग्र कर्मों के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया है[1]। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को पा लेता है और उसमें इस 'अनन्त-चतुष्टयों' की उत्पत्ति सद्यः हो जाती है—अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति। कैवल्य प्राप्त कर लेने पर जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज के परम मंगल के सम्पादन करने में लगा रहता है। वह अपने आदर्श चरित्र से मनुष्यमात्र के हृदय में दुःख-निवृत्ति के लिए आशा का संचार करता रहता है।

गुणस्थान

सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु का आध्यात्मिक विकास एकदम नहीं हो जाता, प्रत्युत उसे इस मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है। मोक्षमार्ग के इन सोपानों को जैनदर्शन में "गुणस्थान" कहते हैं[2]। प्रत्येक धर्म इस कल्पना की युक्तिमता स्वीकृत करता है। जैनदर्शन के अनुसार गुणस्थानों की संख्या १४ है जिनमें मिथ्यात्व से लेकर क्रमशः सिद्धि की अन्तिम श्रेणी तक पहुँचना लक्ष्य माना जाता है। गुणस्थान की कल्पना मनोवैज्ञानिक आधारपर प्रतिष्ठित है। इन गुणस्थानोंके नाम क्रमशः यों हैं:-(१) मिथ्यात्व (विवेक-हीनताकी दशा),(२) ग्रन्थिभेद (सत् असत् के विवेकका उदय), (३)मिश्र (निश्चयानिश्चयकी मिश्रित दशा) (४)अविरत सम्यग्दृष्टि (संशय नाश होनेपर सम्यक् श्रद्धाकी अवस्था) (५)देशविरति

---

१ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। त० सू० १०।२-३

२ द्रष्टव्य नाहर और घोषाल--ऐन एपिटोम आफ जैनिज्म। Nahar & Ghoshal—An Epitome of Jainism. पृ० ६२०–६४६

(पापों का आंशिक त्याग), (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह (मोक्ष को आवरण करनेवाले भिन्न २ कर्मों के नाश से उत्पन्न दशाएँ) (१३) सयोग-केवल (इस गुणस्थानमें साधक अनन्तज्ञान तथा अनन्तसुख से देदीप्यमान हो उठता है। वह तीर्थंकर कहलाता है और उसमें उपदेश देने की तथा धार्मिक सम्प्रदाय स्थापन की योग्यता हो जाती है; इस दशा में शुक्लध्यान की सहायता से जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है); (१४) अयोग केवल—यही अन्तिम दशा है। यह अवस्था उत्पन्न होते ही साधक ऊपर उठने लगता है। लोकाकाश-आलोकाकाश के बीच में एक नितान्त पवित्र स्थान है, यही इन सिद्धों की निवास भूमि है। इस स्थान को 'सिद्धशिला' कहते हैं। वह अनन्त-चतुष्टय को प्राप्ति कर चरमशान्ति का अनुभव करता है। साधकों के लिए यही चरम मुक्तावस्था है।

सम्यक् चारित्र

सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिए इन सार्वभौम पाँच महाव्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है। (१) अहिंसा (शरीर से, वचन से या मन से किसी भाँति किसी प्राणी को हानि न पहुँचाना) (२) सत्य (जो वस्तु जिस रूपमें विद्यमान हो उसे उसी रूप में कहना), (३) अस्तेय (दूसरे किसी की वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना कभी ग्रहण न करना), (४) ब्रह्मचर्य (वीर्य रक्षा करते हुए नैष्ठिक जीवन व्यतीत करना), (५) अपरिग्रह (किसी भी पदार्थ में आसक्ति परित्याग कर उसे ग्रहण न करना अर्थात् संसार के समस्त विषयों से सच्चा वैराग्य)। इन व्रतों में सांसारिक गृहस्थों के लिए कभी कभी वस्तुस्थिति के विचार से शिथिलता भी दिखलाई गई है। यतियों के लिए अपरिग्रह के कठोर नियम का विधान है, पर गृहस्थों के लिए उसके स्थान पर सन्तोष का ही। जैन धर्म में आचार के नियमों के पालन में बड़ी कठोरता तथा व्यवस्था दीख पड़ती है।

(६) समीक्षा

जैन दर्शन इस जगत् के मूल में अनेक तत्वों की सत्ता स्वीकार करता है। अतः वह दार्शनिक बहुत्ववाद के समर्थक रूप में हमारे सामने आता है। वह आरम्भ से ही वास्तववाद (रीअलिजम) का अनुयायी है। वह हमारी बाह्येन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूत जगत् की सत्ता को वास्तव मानता है। कुछ दार्शनिक लोग जगत् की सत्ता में बाह्य इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ही प्रधान साधन मानते हैं। उनकी सम्मति में चक्षुरादि बाहरी इन्द्रियाँ जिन पदार्थों का स्वयं अनुभव जिस रूप में करती हैं वे पदार्थ उसी रूप में सत्य हैं। विपरीत इसके कुछ दार्शनिक, लोग अन्तरिंद्रिय — मन बुद्धि के—द्वारा ग्राह्य विषय को ही सत्य अंगीकार करते हैं; परन्तु जैन दर्शन इस विषय में दोनों के समन्वय का इच्छुक है। उसके अनुसार बाह्य जगत् की सत्यता प्रमाणित करने के लिए मन के साथ साथ बाह्य इन्द्रियों की भी उपयोगिता किसी प्रकार भी न्यून नहीं है। इस प्रकार जैन दर्शन का दृष्टिबिन्दु निःसन्देह बहुत्वसंवलित वास्तववाद (प्ल्युरलिस्टिक रीअलिजम) है। इस दृष्टि के अनुयायी होने से पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनित्स के समान ही जैन दार्शनिक इस जगत् जैन समस्त प्रदेशों में जीवों की सत्ता स्वीकार करता है[१]! इस विश्व में उस प्रदेश का सर्वथा अभाव है जिसे जीव अपनी उपस्थिति से सजीव नहीं बनाते। वह विविध विचित्रतामय विपुलप्रदेश-संवलित विश्व के कण कण में जीवों की सत्ता को स्वीकार करता है तथा किसी प्रकार को इन्हें हानि न पहुँचाने के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित होकर वह अहिंसा को परम धर्म मानता है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का माननीय तथा बहुमूल्य देन माना जाता है। समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बिना ध्यान दिये सत्य ज्ञान

---

१ राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० ३३४

का उदय नहीं हो सकता। गुणरत्न ने एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण देकर इस सिद्धान्त की पर्याप्त पुष्टि की है[1]। जिसने एक वस्तु का सर्वथा ज्ञान सम्पादन कर लिया, उसने समग्र वस्तुओं के सर्वथा ज्ञान को प्राप्त कर लिया तथा समस्त वस्तुओं का सर्वथा अनुभव कर्ता एक वस्तु का सर्वथा अनुभव करनेवाला है। नानात्मक सत्ता की तात्त्विक आलोचना 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त को मानकर ही की जा सकती है। यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अंश में त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन दर्शन ने वस्तु विशेष के विषय में होने वाली विविध लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जायगा। यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय-दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता, तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परमतत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है। यह जैन सिद्धान्त दार्शनिक विवेचन के लिए आपाततः उपादेय तथा मनोरञ्जक प्रतीत होता है, पर वह मूलभूत तत्त्व के स्वरूप समझाने में नितान्त असमर्थ है। इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचो बीच तत्त्वविचार को कतिपय क्षण के लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्राम-गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।

आचार-मीमांसा जैन दर्शन का बड़ा महत्वपूर्ण अंग है। जैन मत आरम्भ में धर्म के रूप में उदित हुआ था; क्रमबद्ध दर्शन का रूप उसे

---

१ एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥।
षड्-दर्शन-समुच्चयटीका पृ० २२२

अवान्तर शतकों में प्राप्त हुआ। अतः विद्वजन आस्रव तथा संवर के मोक्षोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन ही जैन दर्शन का प्रधान विषय बतलाते हैं; अन्य बातें सब उसी के प्रपञ्च-भूत हैं। जैनधर्म की एक बड़ी त्रुटि दीख पड़ती है कर्मफल के दाता ईश्वर की सत्ता न मानने में। वह ईश्वर-विषयक युक्तियों का तर्क से खण्डन करता है तथा वह ईश्वर के निषेध करने में सविशेष जागरूक बना हुआ है। कर्म की स्वतन्त्रता ईश्वर की अध्यक्षता के अभाव में भी तत्तत् फल देने में स्वयं कारण मानी जा सकती है। इस विषय में जैनदर्शन मीमांसकमत के साथ समता रखता है, पर जहाँ मीमांसा धर्मकर्म के अन्तिम निर्णय के लिए भगवती श्रुति का आश्रय लेती है वहाँ जैनधर्म उस आश्रय से भी वञ्चित रहता है। मानव हृदय अपनी श्रद्धा तथा भक्ति की विशेष उन्नति के लिए किसी साकार वस्तु को चाहता है। सिद्धों को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर जैनधर्म ने इस कमी की पूर्ति कर दी है। 'अर्हत्' की देवत्व कल्पना मनुष्यों के आर्त हृदय को आश्वासन देने के लिए संजीवनी औषधि का काम करती है। पर इससे भी बढ़कर है उसका जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य तथा अनन्त सौख्य में गम्भीर विश्वास। वह मनुष्यमात्र के लिए आशा का सन्देश तथा स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा देता है। इस विषय में यह धर्म उपनिषत्-प्रतिपादित आध्यात्मिक परम्परा के अधिकारी होने से ही इतना प्रभावशाली बन पाया है, यह कहना ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दोनों दृष्टियों से अयुक्त न होगा।

---

१ आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥ स० द० सं० पृ० ३१

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध दर्शन

ऐतिहासिक गवेषणा के अनुसार बुद्ध धर्म का उदय जैन धर्म के अनन्तर हुआ। बौद्ध 'निकायों' में अन्तिम जैन तीर्थंकर नाटपुत्त के नाम, सिद्धान्त तथा मृत्यु के उल्लेख अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं, परन्तु जैन 'अंगो' में बुद्ध धर्म-विषयक उल्लेखों का अभाव ही दृष्टि-गोचर होता है। बुद्धधर्म के दो रूप हमें इतिहास के पृष्ठों में मिलते हैं—पहला शुद्ध धार्मिक रूप है जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन को अनावश्यक मान कर आचारमार्ग का ही जनता के कल्याण के लिए सरल प्रतिपादन किया गया है। दूसरा दार्शनिक रूप है जिसमें बौद्ध तत्त्वविवेचकों ने बुद्ध की आचार शिक्षा के तह में रहनेवाले सूक्ष्म सिद्धान्तों का तर्क-निष्णात बुद्धि से गहरा अनुशीलन किया तथा बुद्ध धर्म की धुँधली दार्शनिक रूपरेखा को स्पष्ट कर दिखलाया। इन दोनों रूपों का संक्षिप्त विवेचन इस परिच्छेद का विषय है।

इस धर्म के संस्थापक गौतमबुद्ध का चरित नितान्त प्रख्यात है। ५४८ ई० पू० (५०५ विक्रम पूर्व) के वैशाखी पूर्णिमा को शाक्यगणाधिप शुद्धोदन की भार्या मायादेवी के गर्भ से गौतम का जन्म हुआ। १९ वें वर्ष में उन्होंने पत्नी के प्रेममय आलिंगन, नवजात शिशु के मन्द मुसुकान तथा राजपाट के विशाल वैभव को लात मारकर महाभिनिष्क्रमण किया। सांख्योपदेशक आराड कालाम के उपदेशों को उन्होंने सुना, पर सन्तोष न हुआ। अन्ततोगत्वा पच्चीस साल की अवस्था में अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष से गौतम ने उरुवेल में चार आर्यसत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति कर ४७१ वि० पू० के वैशाखी पूर्णिमा को 'बुद्धत्व' प्राप्त किया। मिगदाव (सारनाथ) में कौण्डिन्य

गौतम बुद्ध

आदि पंचवर्गीय पञ्च भिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर इन्होंने 'धर्मचक्रप्रवर्तन' किया। गणराज्य के आदर्श पर बुद्ध ने भिक्खुओं के 'संघ' की स्थापना की तथा मानव क्लेशों से उद्धार पाने के लिए 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा जनसाधारण को 'मागधी भाषा' में दी। ४२६ वि० पू० वैशाख पूर्णिमा को ८० वर्ष की आयु में मल्लगणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला गोरखपुर) में निर्वाण प्राप्त किया। जन्म, बोधिप्राप्ति तथा निर्वाणप्राप्ति की घटनाएँ एक ही तिथि वैशाख पूर्णिमा को घटित हुई थीं। अतः बुद्ध धर्म के लिए यह तिथि नितान्त पवित्र मानी जाती है।

त्रिपिटक

बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। अतः उन्हें विस्मृतिगर्भ से बचाने के लिए बुद्ध के निर्वाणकाल में महाकश्यप के सभापतित्व में बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगीति (सम्मेलन) राजगृह में सम्पन्न हुई जिसमें बुद्ध के पट्टशिष्य आनन्द के सहयोग से 'सुत्तपिटक' तथा नापितकुलोद्भूत उपालि के सहयोग से 'विनयपिटक' का संकलन किया गया। सुत्तपिटक के अन्तर्गत 'मातिका' (मात्रिका=दार्शनिक अंश) के पल्लवीकरण से अवान्तर काल में 'अभिधम्म पिटक' का निर्माण किया गया। बुद्ध धर्म के ये ही तीन पिटक सर्वस्व हैं—सुत्तपिटक (बुद्ध के उपदेश), विनय पिटक (आचार सम्बन्धी ग्रंथ), अभिधम्म पिटक (दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक ग्रन्थ)। इन पिटकों (पेटारियों) के भीतर अनेक छोटे मोटे ग्रन्थ हैं[१]। सुत्तपिटक में पाँच निकाय (सुत्त समूह) हैं—(१) दीघ निकाय (३४ सुत्त), (२) मज्झिम निकाय

---

१ इन ग्रन्थों के विषय-विवेचन के लिए देखिए डा० विमलचरण ला—हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर (दो भाग) तथा डा० विन्तरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग दूसरा।

(१५२ सुत्त), (३) संजुत्त निकाय (५६ संजुत्त), (४) अंगुत्तर निकाय (११ निपात), (५) खुद्दक निकाय (१५ छोटे-मोटे ग्रन्थ जिनमें बुद्ध की ४२३ उपदेशात्मक गाथाओं का संग्रहात्मक 'धम्मपद' तथा बुद्ध के पूर्व जन्मसे सम्बद्ध ५५० कथाओं का संग्रहरूप 'जातक' नितान्त विख्यात हैं। इनके अतिरिक्त खुद्दक पाठ, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस तथा चरियापिटक हैं। विनयपिटक के तीन अंग हैं— (१) सुत्तविभंग या पातिमोक्ख, भिक्खु पातिमोक्ख तथा भिक्खुनी पातिमोक्ख (२) खन्धक—(क) महावग्ग तथा (ख) चूलवग्ग तथा (३) परिवार। अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत सात ग्रन्थ हैं—पुग्गलपञ्ञति, धातुकथा, धम्मसंगणि, विभंग, पट्ठान पकरण, कथावत्थु तथा यमक। नागसेनकृत 'मिलिंदपञ्ञो' त्रिपिटक के समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

(१) बुद्ध की आचार शिक्षा

बुद्ध की शिक्षाओं के रहस्य समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का लक्ष्य न था, प्रत्युत इस क्लेश-बहुल प्रपञ्च से उद्धार पाने के लिए सरल आचार मार्ग का निर्देश करना ही उनका प्रधान ध्येय था। शिष्यों के द्वारा अध्यात्मविषयक प्रश्नों को सुनकर बुद्ध के चुप हो जाने का यही रहस्य है। ऐसे प्रसंग निकायों में अनेक बार आते हैं कि बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में 'अतिप्रश्नों' के पूछनेसे अपने शिष्यों को रोका। श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर मालुंक्यपुत्त[१] ने बुद्ध से लोक के शाश्वत, अशाश्वत, अन्तवान्, अनन्त होने के तथा जीव और शरीर की भिन्नता, अभिन्नता आदि के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा, परन्तु भगवान् ने आचारमार्गके लिए वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तरज्ञान),

१ द्रष्टव्य चूलमालुंक्यसुत्तंत (६३ वाँ सुत्त), मज्झिम निकाय (पृ० २५१—५३)

संबोधि (परमज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति) के उत्पन्न करनेमें साधक न होनेसे उन्हें अव्याकृत (व्याकरण—कथन के अयोग्य) बतलाया[1]। इस विषय में उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया। यदि कोई व्यक्ति विषदिग्ध बाण से विद्ध होकर कराहता हो, और बंधु-बान्धव चिकित्सा के लिए किसी विषवैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हों, तो क्या उस रोगी के लिए वैद्य के नाम, गोत्र, रूप, रंग आदि की जानकारी के लिए आग्रह करना पहले दर्जे की मूर्खता नहीं है? भवरोग के रोगी प्राणियों की दशा भी ठीक ऐसी ही है। उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना है? उन्हें तो कर्तव्यमार्ग की रूपरेखा का जानना ही जरूरी है।

कर्तव्य-शास्त्र के विषय में बुद्ध ने इन चार आर्य-सत्यों का अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से रहस्योद्घाटन किया है—(१) इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है (दुःखम्); (२) इन दुखों का कारण विद्यमान है (दुःख-समुदयः); (३) इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है (दुःखनिरोधः) तथा (४) इन निरोध-प्राप्ति के लिए उचित उपाय या मार्ग है (दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्)। सत्यों की संख्या अनन्त है; परन्तु अत्यधिक महत्त्व रखने से ये ही सत्य-चतुष्टय सर्वश्रेष्ठ हैं। चन्द्रकीर्तिके कथनानुसार इस सत्योंको 'आर्य' कहनेका अभिप्राय यह है कि आर्य (विद्वज्जन) लोग ही इन सत्योंके तह तक पहुँचते हैं। पामरजन जीते हैं, मरते हैं तथा दुःखमय जगत्का अनुभव प्रतिक्षण करनेपर भी इन सत्यों तक नहीं पहुँच पाते[2]। हमने पहले बतलाया है चिकित्सा-शास्त्रके ढंगपर मोक्ष

---

१ द्रष्टव्य पोट्टपादसुत्त दीर्घ निकाय (१।९)।

२ ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न विद्यते पुंभिः।
अक्षिगतं तु तदेव हि जनयत्यरतिं च पीडां च ॥
करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म।
अक्षिसदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्विजते गाढम् ॥

—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ४७६।

शास्त्र को चतुर्व्यूह मानना भारत में एकमान्य सिद्धान्त है। वैद्यकशास्त्र की इस समता के कारण बुद्ध की 'महाभिषक्' (वैद्यराज) संज्ञा है तथा बौद्ध दार्शनिक साहित्य में 'भैषज्य' नामधारी ग्रन्थ भी मिलते हैं (जैसे भैषज्यगुरु–वैदूर्यप्रभराज सूत्र जो चीन और जापान में बौद्धसिद्धान्तों के लिए नितान्त मान्य है)[1]।

आर्यसत्य

प्रथम आर्यसत्य दुःख है। लौकिक अनुभव कहता है कि इस जगती-तल पर दुःख की सत्ता इतनी ठोस तथा स्थूल है कि उसका कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। द्वितीय आर्यसत्य दुःखसमुदय है—दुःखों के कारण। इस विषम दुःख के उदय के लिए केवल एक ही कारण नहीं है, प्रत्युत कारणों की एक लम्बी शृंखला है। इस कारण-परम्परा की लोकप्रिय संज्ञा है द्वादश निदान[2]—(१) जरामरण; (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान; (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरूप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या। पूर्वके प्रति पर-निर्दिष्ट कारण हैं। जरामरण का कारण है जाति, जन्म लेना। जाति का कारण है भव अर्थात् प्राणिमात्र के पुनर्भव या पुनर्जन्म उत्पन्न करनेवाले कर्म। वसुबन्धु ने 'भव' का यही अर्थ किया है (यद् भविष्यद्-भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः—अभिधर्म कोश ३।२४)। भव उत्पन्न होता है उपादान—आसक्ति से। उपादान अनेक प्रकारके होते हैं। कामोपादान (स्त्री में आसक्ति), शीलोपादान (व्रतों में आसक्ति) से कहीं बढ़ कर है आत्मोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)।

---

१ इसका संस्कृत मूल भी हाल में प्रकाशित हुआ है। द्रष्टव्य Dr. N. Dutta : Gilgit MSS Vol.

२ द्रष्टव्य दीघ निकाय का १५ वाँ महानिदान-सुत्त, मज्झिम निकाय का ३८ वाँ महातण्हा-संखय (महातृष्णासंक्षय) सुत्त तथा अभिधर्म कोश, तृतीय कोशस्थान १९-२३ श्लोक।

आसक्ति पैदा होती है तृष्णा—इच्छा—के कारण। इन्द्रिय द्वारा बाह्यार्थानुभव के बिना तृष्णा की उत्पति हो नहीं सकती; अतः वेदना (इन्द्रियजन्यानुभूति) तृष्णा की जननी है । वेदना का उद्गमस्थल है स्पर्श अर्थात् विषयेन्द्रिय सम्पर्क; जो स्वयं षडायतन (मन सहित ज्ञानेन्द्रियपंचक) के ऊपर निर्भर रहता है । यह षडायतन नामरूप—दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान-विशेष—का कार्य है। नामरूप की सत्ता विज्ञान (चैतन्य) पर प्रतिष्ठित है। यह चित्तधारा या चैतन्य मातृगर्भ से भ्रूण के नामरूप का साधक है । यह विज्ञान संस्कार (पूर्व जन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न संस्कार) से उत्पन्न होता है जो स्वयं अविद्या—ज्ञान-का कार्य है । इस प्रकार समस्त दुःखपुंजों का आद्य कारण अविद्या ही है। इन द्वादश निकायों के चक्र को 'भवचक्र' (संसार का चक्कर) कहते हैं।

इस भवचक्र का सम्बन्ध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीन जन्मों से है। इन्हीं द्वादश निदानों का दूसरा नाम 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है जो बुद्धधर्म का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है—

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्य [प्रति+इ (जाना)+ल्यप्] किसी वस्तुकी प्राप्ति होने पर, समुत्पाद=अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्ष कारणतावाद[1] । 'प्रतीत्य समुत्पाद' बुद्धसम्मत 'कारणवाद' है । उसका उपयोग मानव व्यक्ति की स्थिति समझाने के लिए किया गया है । मनुष्य की उत्पत्ति श्रृंखला-बद्ध होती है । इस श्रृंखला के बारह अंग हैं तथा तीन काण्ड हैं:—

क—अतीत जन्म से सम्बद्ध निदान { १ अविद्या, २ संस्कार,

---

[1] प्रतीत्यशब्दो ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते । पदि प्रादुर्भाव इति समुत्पादशब्दः प्रादुर्भावेऽर्थे वर्तते । ततश्च हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः । चन्द्रकीर्ति—मा० का० वृ०, पृ० ७

ख—वर्तमान जीवन से सम्बद्ध निदान
- ३ विज्ञान,
- ४ नामरूप,
- ५ षडायतन
- ६ स्पर्श,
- ७ वेदना,
- ८ तृष्णा,
- ९ उपादान,
- १० भव,

ग—भविष्य जीवन से सम्बद्ध निदान
- ११ जाति,
- १२ जरामरण[1],

तृतीय आर्यसत्य दुःख-निरोध या निर्वाण है। कारण की सत्ता ही पर कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। यदि कारण-परम्परा का निरोध कर दिया जाय, तो आप से आप चलनेवाली मशीन की तरह कार्य का निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायगा। मूल कारण अविद्या का, विद्या के द्वारा निरोध कर देने पर दुःख-निरोध अवश्य हो जाता है।

चतुर्थ आर्यसत्य दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् अर्थात् निर्वाण मार्ग है। बुद्ध ने सुख-समृद्धि में जीवन यापन करनेवाले सुखमार्गियों तथा घोर व्रताचरण से इस काञ्चन काया को सुखाकर काँटा बना देनेवाले तापसों के जीवन को निर्वाण के लिए सहायक न मानकर इन उभय सुख तथा दुःख के छोरों को छोड़ कर 'मध्यम प्रतिपदा' को खोज निकाला। इस प्रतिपद् को आर्य अष्टांगिक मार्ग[2] भी कहते हैं जिसके आठ अंगों का संक्षिप्त वर्णन यों है—(१) सम्यक् ज्ञान (आर्यसत्यों का तत्त्वज्ञान); (२)

---

१ स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः ।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः ॥—अभि० को० ३।२०

२ द्रष्टव्य दीर्घ निकाय का २०वाँ 'महासतिपट्ठान-सुत्त' पृ० १९७-१९८

सम्यक् संकल्प (दृढ़ निश्चय); (३) सम्यक् वचन (सत्यवचन); (४) सम्यक्-कर्मान्त (हिंसा, द्रोह, दुराचरण-रहित कर्म); (५) सम्यक्-आजीव (न्यायपूर्ण जीविका); (६) सम्यक् व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने देना तथा भलाई के वास्ते सतत उद्योग करना), (७) सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना, आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादिचित्तसंताप से अलग हटना); (८) सम्यक् समाधि (रागद्वेषादि द्वन्द्व के विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)। इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है।

आर्यसत्यों की समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का मार्ग उपनिषत्प्रतिपादित मार्ग से एकान्त भिन्न नहीं है। उपनिषदों का

त्रिरत्न

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था। परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसके धारण करने का सामर्थ्य शरीर में नहीं होता। ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक है। बुद्ध ने भी 'शील' के द्वारा शारीरिक शोधन पर विशेष जोर दिया है। बुद्धदर्शन में तीन साधन हैं शील, समाधि तथा प्रज्ञा। (१) शील से समग्र सात्त्विक कर्मों का तात्पर्य है। भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के कतिपय साधारण शील हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है (दी० नि० पृ० २४–२८) अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना–ये 'पञ्चशील' कहे जाते हैं। इनकी व्यवस्था दोनों के लिए समान हैं, परन्तु भिक्षुओं के लिए अन्य पांच शीलों का (दश शीलों) उपदेश है–अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या—का त्याग। दीर्घ निकाय के ३१ वें सुत्त 'सिगालोवाद सुत्त' में गृहस्थाचार का विस्तृत-प्रमाणिक वर्णन मिलता है। त्रिपिटक में यान द्वय का विधान है–समथयान तथा विपस्सना-यान। निर्वाण के लिए

समाधि का स्वतन्त्र साधन रूप से अभ्यासी साधक 'समथयानी' कहलाता है। समाधि के अभ्यास करने का अन्तिम फल चित्त वृत्तियों का प्रत्यक्षानुभव है जिसे प्राप्त करनेवाले व्यक्ति की संज्ञा 'कामसक्खी' है। (२) समाधि से तीन प्रकार की विज्जायें उत्पन्न होती हैं—पूर्व जन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी। सामञ्ञफल सुत्त (दी० नि० पृ० २८–२६) में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त सहित सुन्दर वर्णन दिया गया है तथा 'विसुद्धि मग्ग' का मुख्य विषय यही समाधि तथा उसके अवान्तर विभेद हैं। समाधि के विषय में बौधों का कथन उपनिषद् मूलक होने पर भी स्थल-स्थल पर अनेक नवीन महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण है। (३) प्रज्ञा तीन प्रकार की है[1]—श्रुतमयी (आप्त प्रमाण-जन्य निश्चय), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) तथा भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)। शीलसम्पन्न श्रुत-चिन्ता-प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। राजा अजातशत्रु को श्रामण्य-फलों की चर्चा करते समय बुद्ध ने प्रज्ञा के फलों का विशद वर्णन किया है। प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्य श्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वजन्मस्मरण, दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के अनन्तर दुःख-क्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्त कामास्रव (भोगने की इच्छा), भवास्रव (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदा के लिए निर्मुक्त हो जाता है[2]। साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अतः बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील, समाधि तथा प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। धम्मपद ने बुद्ध शासन के रहस्य को पापाकरण, पुण्य-संचय, चित्तपरिशुद्धिः-इन तीन शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

---

१ द्रष्टव्य अभिधर्म कोश ६।५

२ द्रष्टव्य सामञ्ञफल सुत, दीघनिकाय पृ० ३०–३२

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥
(धम्मपद १४।५)

(२) दार्शनिक सिद्धान्त

बुद्ध धर्म की आचार-प्रधान शिक्षाओं के मूल में दो दार्शनिक सिद्धान्त प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं:—(१) संघातवाद और (२) सन्तानवाद । बुद्ध को उपनिषत्–प्रतिपादित आत्मा के रहस्य को समझाना प्रधान विषय था । सकल दुष्कर्मों तथा दुष्प्रवृत्तियों के मूल में इसी आत्मवाद को कारण मानकर बुद्ध ने आत्मा जैसे एक, पृथक् पदार्थ की सत्ता को ही अस्वीकार किया है (दी० नि० पृ० ११३–११५)। वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु आत्मा को उनके संघात (समूह) से भिन्न पदार्थ नहीं मानते । आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का पुंजमात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता क्या कभी प्रत्यक्षरूप से दीख पड़ती है ? उनका सिद्धान्त आजकल के मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के समकक्ष हैं जो मानस दशाओं को मानकर भी तदेकीकरणात्मक आत्म-पदार्थ को मानने के लिए तैयार नहीं हैं ।

नैरात्म्यवाद

यह आत्मा नामरूपात्मक है । इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये जाने के लिए जो अपने स्वरूप का निरूपण करते हैं उन पदार्थोंको संज्ञा कहते है (अनुभवार्थमात्मानं रूपयतीति) । वह वस्तु जिसमें भारीपन हो और जो स्थान घेरती है 'रूप' कहलाती है । अतः रूप से तात्पर्य 'रूप' जल, तेज तथा वायु चतुर्भूत तथा तज्जन्य शरीर से है । जिसमें न तो भारीपन है, न जो स्थान घेरता हो ऐसे द्रव्य को 'नाम' कहते हैं अर्थात् मन तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ । अतः नामरूपका अर्थ हुआ शरीर और मन, शारीरिक कार्य तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ । आत्मा इस शरीर तथा मन, भौतिक तथा

मानसिक प्रवृत्तियों, का एक समुच्चयमात्र है । रूप एक ही प्रकार का है, पर नाम चार प्रकार का होता है—वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—इन पाँच स्कन्धों (समुदाय) का पुञ्जमात्र है । भूत तथा भौतिक पदार्थ (शरीर) को 'रूप', किसी वस्तु के साक्षात्कार करने को संज्ञा', तज्जन्य दुःख, सुख तथा उदासीनता के भाव को 'वेदना', अतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को 'संस्कार' तथा चैतन्य को 'विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। विज्ञान तथा संज्ञा स्कन्धों में वही भेद है जो निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में होता है। 'यत् किंचित्' रूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष 'विज्ञान' है तथा नामजात्यादि योजना-विशिष्ट ज्ञान 'संज्ञा' है। ये ही 'पञ्च स्कन्ध' हैं।

आत्मा के विषय में नागसेन

मिलिन्द प्रश्न (पृ० ३०-३३) में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द से बौद्ध-सम्मत आत्म-स्वरूप का वर्णन एक बड़ी सुन्दर उपमा के सहारे बतलाया है। नागसेन ने राजा से पूछा इस कड़कड़ाती धूप में जिस रथ पर सवार होकर आप इस स्थान पर पधारे हैं उस रथ का इदमित्थं वर्णन क्या आप करते हैं ? क्या दण्ड रथ है या अक्ष रथ है ? राजा ने निषेध करने पर फिर पूछा कि क्या चक्के रथ हैं ? या रस्सियाँ रथ हैं ? या लगाम या चाबुक रथ है ? बारम्बार निषेध रखने पर नागसेन ने पूछा, आखिर रथ है क्या चीज़ ? अगत्या मिलिन्द को स्वीकार करना पड़ा कि दण्ड, चक्र आदि अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'रथ' नाम दिया गया है; इन अवयवों को छोड़कर किसी अवयवी की सत्ता नहीं दीख पड़ती। तब नागसेन ने बताया कि ठीक यही दशा 'आत्मा' की भी है; पञ्चस्कन्धादि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी के नितरां अगोचर होने के कारण इन अवयवों के आधार पर 'आत्मा' नाम केवल व्यवहार के ही लिए दिया गया है। आत्मा की वास्तव सत्ता

है ही नहीं। इस अज्ञात अवास्तव आत्मा के पारलौकिक सुखोत्पादन की इच्छा से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रपञ्च में पड़नेवाले लोग उसी प्रकार उपहास्यास्पद तथा अनादरणीय हैं, जिस प्रकार गुण वर्णादि को न जानने पर भी जनपदकल्याणी की कामनावाला पुरुष अथवा प्रासाद की सत्ता बिना जाने, उस पर चढ़ने के गरज़ से चौरस्ते पर सीढ़ी लगानेवाला व्यक्ति[१]। यही बौद्धों का संघातवाद या नैरात्म्यवाद है।

त्रिपिटकों के कथनानुसार यह आत्मा तथा जगत् अनित्य है। इसका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता। यह पञ्च स्कन्ध बौद्धों के अनुसार दो क्षण तक भी समानरूप से स्थिर नहीं रहता; वह तो प्रतिक्षण में परिणाम प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार जीव तथा जगत् दोनों परिणामशाली हैं। जल-प्रवाह तथा दीपक शिखा के उदाहरणों से इस सन्तान के सिद्धान्त का विशदीकरण किया गया है। जिस जल में हम एक बार स्नान करते हैं; क्या दूसरी बार के हमारे स्नान के समय भी वह जल वही पुराना अनुभूत जल रहता है? उसी प्रकार दीपशिखा की अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है। क्षण क्षण में एक लौ निकलकर अस्त हो जाती है और दूसरी लौ के उत्पन्न होने का कारण बनती है।

(२) सन्तानवाद

नागसेन ने दूध के विकारों का दृष्टान्त देकर इस तत्त्व को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। दूध दुहे जाने पर कुछ समय के उपरान्त जम कर दही बन जाता है, दही से मक्खन तथा मक्खन से घी बना दिया जाता है? यहाँ भिन्न-भिन्न विकारों के सद्भाव में भी वस्तु की एकता का अपलाप नहीं किया जाता; ठीक इसी भाँति किसी वस्तु के अस्तित्व के प्रवाह में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक अवस्था लय होती है। इस प्रकार एक प्रवाह जारी रहता है, पर इस प्रवाह की दो अवस्थाओं

---

१ द्रष्टव्य--पोट्ठपादसुत्त, दीर्घ निकाय पृ० ७३।

में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता; क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। जन्मान्तर ग्रहण में भी यही प्रवाह जारी रहता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के अन्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान् उठ खड़ा होता है (मि० प्र० पृष्ठ ४९–५०)। इसी प्रकार अनुभव की वस्तु क्षण-क्षण में परिणाम प्राप्त हो रही है; वस्तु की एकता तदाकार वस्तुओं की एक वीथी है। वास्तविक एकता जगत् में अलभ्य वस्तु है। बुद्ध के इस सिद्धान्त में हम दो विपरीत मतों के समन्वय करने का उद्योग पाते हैं—एक मत सत्तापर विश्वास करता है तथा दूसरा मत असत्तापर निश्चय रखता है। पर मध्यम प्रतिपदा के पक्षपाती बुद्ध के अनुसार सत्य सिद्धान्त दोनों छोरों के बीचोबीच में कहीं है। बुद्ध सत्ता तथा असत्ता के बीच 'परिणाम' के सिद्धान्त को मानते हैं। जगत् के सत्य-रूप की अवहेलना न करते हुए भी वे उसकी परिणामात्मक व्याख्या करते हैं। इस विश्व में परिणाम ही सत्य है, पर इस परिणाम के भीतर विद्यमान किसी परिणामी पदार्थ का अस्तित्व सत्य नहीं है। बुद्ध की यह सूझ दार्शनिक जगत्को एक अपूर्व बहुमूल्य देन मानी जाती है। पश्चिमी जगत् में 'परिणाम' की सत्यता का सिद्धान्त बुद्ध से अवान्तर काल का है। ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक 'हिरेक्लिटस' ने इस सिद्धान्त को बुद्ध के कई पुश्त पीछे निर्धारित किया तथा फ्रेंच दार्शनिक 'बर्गसों' ने 'क्रीएटिव इवोल्यूशन' ग्रन्थ में आधुनिक जगत् में इसी सिद्धान्तकी मनोरम व्याख्या कर विपुल कीर्ति अर्जन किया है।

(३) बौद्धधर्म का धार्मिक विकास

बुद्ध के निर्वाणान्तर इस धर्म का बहुमुखी विकास इतना विस्तृत है कि इस परिच्छेद में उसका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता। दार्शनिक विकास की धारा को समझने के लिए थोड़ी मोटी बातें पाठकों के सामने रखी जाती हैं। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष के पीछे वैशाली की द्वितीय संगीति (३२६ वि० पू०)

धार्मिक सम्प्रदाय

में वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्रीय) भिक्खुओं ने आचार तथा अध्यात्म-विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के विरोध में अपना झंडा ऊँचा किया। उसी समय से बौद्ध संघ में फूट पैदा होकर दो वादों का जन्म हुआ—स्थविरवाद (जो प्राचीन विनयों में रंचकमात्र भी संशोधन करने के प्रतिकूल था) तथा महासंघिक (संशोधनवादी)। इसी संगीति के सौ वर्षके भीतर ही १८ विभिन्न सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जिन्हें 'निकाय' कहते हैं। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश-निकायशास्त्र' में इन निकायों का विशद वर्णन किया है, परन्तु वसुमित्र का वर्णन आचार्य भव्य, दीपवंस तथा कथावत्थु की अट्ठकथा के निर्देशों से भिन्न प्रकार का है। अट्ठकथा के अनुसार महासंघिकों के भिन्न निकायों के नाम ये थे—गोकुलिक, एकव्यावहारिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक तथा चैत्यवादी। स्थविरवादके निकायोंकी संज्ञा थी-महीशासक (अवान्तर निकाय=सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, सांक्रान्तिक, सौत्रान्तिक, धर्मगुप्तिक) तथा वृजिपुत्रक या वात्सीपुत्रीय (अवान्तर निकाय—धर्मोत्तरीय, भद्रयाणिक, षाण्णागारिक तथा साम्मितीय) यह स्थिति अशोकवर्धन के समय थी, पर पीछे की शताब्दियों में इन निकायों के सिद्धान्तों में अवान्तर भेद होते गये। चैत्यवादी निकाय के ५ भेद पीछे हुए—पूर्वशैलीय, अपर शैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक तथा वैपुल्यवादी (वेतुल्लवादी)। इनमें प्राचीनता के पक्षपाती थेरवाद (स्थविरवाद) को ही 'हीनयान' कहते हैं। महासंघिक निकाय से ही अनेक अवान्तर परिवर्तनों के अनन्तर 'महायान' का उदय हुआ।

इन निकायों के सिध्दान्त किसी समय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण दार्शनिकों ने भी इनका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया

---

१ इन निकायों के विशिष्ट सिद्धान्तों के लिए द्रष्टव्य कथावत्थु के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना।

है, परन्तु आज ये सिद्धान्त विस्मृतप्राय हो गये हैं। 'कथावत्थु' ही इन निकायों के रहस्योद्घाटन करने के लिए एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। कतिपय निकायों के संक्षिप्त वर्णन से ही हमें सन्तोष करना पड़ता है जिनका दार्शनिक जगत् में विशेष आदर है। (१) महासंघिक 'लोकोत्तर बुद्ध' के सिद्धान्त को मानते थे। उनकी दृष्टि में बुद्ध सर्वशक्ति-सम्पन्न अलौकिक पुरुष थे; सास्रव (संसारिक) धर्म का लेशमात्र भी सम्पर्क उन्हें न था तथा वे ऋद्धि (शक्तिविशेष) के द्वारा नैसर्गिक नियमों का भी निरोध कर सकते थे। ये लोग अवतारवाद के पक्षपाती थे। शाक्यमुनि इसी लोकोत्तर बुद्ध के लोकानुवर्तन के निमित्त अवतार थे। भिक्षु जीवन का चरम लक्ष्य 'अर्हत्' न हो कर 'बोधिसत्त्व' की उपलब्धि था। (२) सर्वास्तिवाद जगत् के भूतात्मक तथा चित्तात्मक प्रत्येक पदार्थ को त्रिकाल-सत्य मानता है। ये लोग बुद्ध को दैवी शक्ति-सम्पन्न मानव-मात्र मानते हैं। इनके मतमें बुद्ध की सत्ता काल्पनिक और मायिक न होकर वास्तिक है। सर्वास्तिवादीयों के मतों का खण्डन शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य (२।२।१८-२७) में किया है। (३) साम्मितीयों[१] का एक समय बोलबाला था। इनके मत का उल्लेख विशेषतः उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ३४२) में किया है। ये लोग स्कन्ध-पञ्चक से अतिरिक्त एक विशिष्ट पुद्गल पदार्थ की सत्ता मानते थे जो पञ्चस्कन्धों के साथ ही उत्पाद-विनाशशाली था तथा उन्हें धारण किये रहता था[२]। अन्तराभव देह (जीव की मृत्यु तथा पुनर्जन्म के बीच में विद्यमान शरीर) की सत्ता इन लोगों को मान्य थी और इसी की पुष्टि

---

१ साम्मितीयों के सिद्धान्त के लिए द्रष्टव्य डा० पुसें (Dr. Poussin) का लेख—इनसाइक्लोपिडिया आफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स भाग ११, पृ० १६८—१६९।

२ प्रज्ञाकारमति ने इसी पुद्गलवाद के कारण इन्हें 'अन्तश्चरतीर्थिक' (बौद्ध सम्प्रदाय में बागी) कहा है। द्रष्टव्य बोधिचर्यावतार पञ्जिका ९।६०।

में पुद्गल की कल्पना भी आदरणीय थी। (४) वैपुल्यवाद के सिद्धान्त भयंकर विप्लव मचानेवाले थे। इनके सिद्धान्तों में महायान की ही सूचना नहीं मिलता, प्रत्युत तान्त्रिक वज्रयान के भी बीज अन्तर्निहित हैं। इनका एक विलक्षण सिद्धान्त-मैथुन के विषय में था कि किसी खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) पति-पत्नी में स्वाभाविक अनुरक्ति रहने पर या भविष्यलोकों में साहचर्य के लिए मैथुन का आचरण किया जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी यह नियम मान्य था। बुद्ध की ऐतिहासिकता का स्पष्ट निषेध तथा मैथुन की अवस्थाविशेष में अनुज्ञा एकदम घोर परिवर्तन के सूचक सिद्धान्त थे। वैपुल्यवादियों के सबसे बड़े प्रचारक आचार्य नागार्जुन माने जाते हैं। अतः ऐतहासिक अनुशीलन से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि महासंघियों का ही अन्धक सम्प्रदाय तथा वैपुल्यवाद के रूप में विकसित रूप महायान सम्प्रदाय है। आज कल महायान का प्रचार भारत के उत्तरी प्रदेशों—तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान—में पाया जाता है। महायानवादी थेरवाद को अपनी दृष्टि से हेय मानकर उन्हें 'हीनयान' अर्थात् निर्वाण प्राप्ति का निकृष्ट मार्ग कहते हैं और अपने सिद्धान्त को 'महायान' कहते हैं। भारत के दक्षिण तथा पूरब के सिंघल, बरमा, स्याम, जावा आदि प्रदेशों में बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को मानने वाले 'हीनयान' का प्रचार है।

त्रिविध यान

बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार त्रिविध यान हैं तथा प्रत्येक यात में जीवन्मुक्ति या बोधि की कल्पना एक दूसरे से नितान्त विलक्षण है—श्रावक-बोधि, प्रत्येक-बुद्धबोधि तथा सम्यक्संबोधि। (१) श्रावक-बोधि का आदर्श हीनयान को मान्य है। बुद्ध के पास धर्म सीखने वाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। जीव को परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं है; यदि वह स्वयं आर्य अष्टांगिकमार्ग का यथावत् अनुसरण करे, तो संसार की रागद्वेषमयी विषय-वागुरा से मुक्ति पा सकता है। श्रावक के लिए चार अवस्थाओं का विधान किया गया

है—सोतापन्न (स्रोत आपन्न), सकदागामी (सकृद् आगामी), अनागामी तथा अहरत्त (अर्हत)। स्रोतआपन्न साधक का चित्त प्रपञ्चमार्ग से एक दम हट कर निर्वाणरूपी स्रोत-प्रवाह में पड़कर आध्यात्मिक उन्नति में अग्रसर होता है। व्यासभाष्य के शब्दों में चित्त-नदी उभयतोवाहिनी है—पाप की ओर भी बहती है, कल्याण की ओर भी बहती है। (चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। यो० सू० १। १२) अतः कल्याणगामी प्रवाह में चित्त को डाल लेना प्रथम अवस्था का मूल मन्त्र है। महालिसुत्त (दी० नि० ६ ठा सुत्त) ने तीन संयोजनों (बन्धन—सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शील-व्रत-परामर्श) के क्षय होने से फिर पतित न होने वाले नियत संबोधि की ओर जाने वाले व्यक्ति को 'स्रोत-आपन्न' कहा है। इसके ४ अंग होते हैं—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, तथा संघानुस्मृति अर्थात् बुद्ध धर्म संघ में अत्यन्त श्रद्धा तथा अखण्ड अनिन्दित समाधिगामी कमनीय शीलों का सम्पादन।

संसार के प्रपञ्च में अज्ञानपूर्वक जीवन यापन करनेवाला व्यक्ति 'पृथक् जन' कहा जाता है। बुध्द के ज्ञानरश्मियों से जब साधक का सम्बन्ध हो जाता है तथा वह निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तब उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'आर्य' है। आर्य को अर्हत् अवस्था तक पहुँचने में चार भूमियों को पार करना होता है। प्रत्येक भूमि में दो दशायें हैः—मार्गावस्था, फलावस्था। स्रोतापन्न भूमि की प्रथम अवस्था को 'गोत्रभू' कहते हैं, जब कामक्षय होने से कामलोक से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है तथा साधक रूपलोक की ओर अग्रसर होता है। उस समय उसका नवीन (लोकोत्तर) जन्म सम्पन्न होता है। वह एक क्षण के लिए अनास्रव ज्ञान को पा लेता है। तीन संयोजकों (बन्धनों) के क्षय होने से साधक को सात जन्म से अधिक जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

चार अवस्थायें

द्वितीय भूमि स्रोतापन्न की फलावस्था से आरम्भ कर अर्हत् की मार्गदशा तक रहती है। इस भूमि में उसे 'कायसाक्खी' संज्ञा मिलती है। आस्रव-क्षय करना ही प्रधान लक्ष्य रहता है। सकृदगामी संसार में एक ही बार आता है। अनागामी के लिए फिर इस भवचक्र में आने की आवश्यकता नहीं। अन्तिम भूमि में आस्रवों का नितान्त क्षय हो जाता है। अतः जीव अर्हत् पद को प्राप्त कर स्वकीय व्यक्तिगत कल्याण साधक में तत्पर हो जाता है। उसे दूसरों को निर्वाण प्राप्त कराने की योग्यता नहीं रहती। श्रावकयान का यही अर्हत्वप्राप्ति लक्ष्य है।

(२) 'प्रत्येकबुद्ध' की कल्पना अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के बीच की साधना का सूचक है। जिस व्यक्ति को बिना गुरूपदेश के ही स्वफूर्ति से बुद्धत्व लाभ हो जाय, उसे कहते हैं--प्रत्येकबुद्ध। बुद्धत्व लाभ हो जाने पर भी उसे दूसरों के उद्धार करने की शक्ति नहीं रहती। वह तो द्वन्दमय जगत् से अलग हट कर निर्जन स्थान में एकान्त वास करता हुआ विमुक्तिसुख का प्रत्यक्ष अनुभव किया करता है।

महायान के मुख्य सिद्धान्तों त्रिकाय (धर्मकाय, निर्माणकाय तथा संयोग काय); दशभूमि, धर्मशून्यता या धर्मसमता अथवा तथता तथा बोधिसत्त्व—मे बोधिसत्त्व के रहस्य को प्रथमतः यथार्थ रूप से निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है।

बोधिसत्त्व

(३) बोधिसत्त्व की कल्पना महायान की सबसे बड़ी विशेषता है। 'बोधिसत्व' का शाब्दिक अर्थ है बोधि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (बोधौ सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः[१])। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले साधक का जीवन-लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण-साधन होता है। बोधिसत्त्व का 'स्वार्थ' इतना विस्तृत रहता है कि उसके

---

१ बोधिचर्यावतार-पञ्जिका पृ० ४२१।

'स्व' की परिधि में जगत् के समस्त जीव समा जाते हैं। उसके प्रधान गुण होते हैं—महामैत्री तथा महाकरुणा। विश्व के पिपीलका से लेकर हस्ती-पर्यन्त जीवों में जब तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है तब तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता। उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों के निरीक्षण से स्वभावतः द्रवीभूत हो उठता है। बोधिचर्यावतार (तृतीय परिच्छेद) में बोधिसत्त्व के आदर्श का सुन्दर वर्णन है:—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्॥

बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसंभार का मैंने अर्जन किया है उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो! मुक्त जीवों के हृदय में जो आनन्द सागर हिलोरे मारने लगता है, वही मेरे जीवनको आनन्दमय बनाने के लिए पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है?

बोधिसत्त्व को प्रथमतः बोधिचित्त का ग्रहण करना पड़ता है। सब जीवों के उद्धार के लिए सम्यक् संबोधि में चित्त को प्रतिष्ठित करना बोधिचित्त का ग्रहण है। उसके लिए वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना—इस सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। षट्पारमिताओं का अनुशीलन भी नितान्त उपयोगी साधन है। 'पारमिता' कहते हैं पूर्णत्व को। दान, शील, क्षान्ति-वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट्पारमिताओं का अर्जन बुद्धत्वप्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। आत्मभाव का त्याग तथा निःस्वार्थ बुद्धि की प्रकृष्टता दानपारमिता है। प्राणातिपात आदि गर्हित कृत्यों से चित्त की विरति का नाम शील है। दूसरों के द्वारा अपकार किये जानेपर भी चित्त की अकोपनता क्षान्ति है। वीर्य का फलरूप ध्यान चित्त की नितान्त एका-

भ्रता है। दानादि पंच पारमिताओं का उद्देश्य प्रज्ञापारमिता का उदय कराना है। प्रज्ञापारमिता (पूर्णज्ञान या सर्वज्ञता) की प्राप्ति शून्यता में प्रतिष्ठित होनेवाले व्यक्ति को होती है। उस समय यही ज्ञान होता है कि भावों की उत्पत्ति न तो स्वतः होती है, न परतः, न उभयतः, न अहेतुतः (कारण बिना)। व्यवहार दशा में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्यता है, परमार्थ दशा में सब भाव धर्मशून्य हैं। जगत् की सत्ता सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं। वास्तव में सब भावों की शून्यता ही परमार्थ ज्ञान है। प्रज्ञापारमिता प्राप्त करने वाले बोधिसत्त्व के लिए इस जगत् के समस्त व्यवहार मायिक, स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होते हैं। 'नैरात्म्यपरिपृच्छा सूत्र' में बोधिचित्त का विशद वर्णन है। बोधिचित्त (संबोधिनिष्ठ चित्त) निःस्वभाव; निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपञ्चसमतिक्रान्त माना जाता है[1]। प्रज्ञापारमिता की देवी-रूप से उपासना बौद्धों का प्रधान आचार है[2]। बोधिसत्त्व में ही उपदेश के द्वारा प्रणियों को मुक्त बनाने की योग्यता रहती है।

महायान सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी निवृत्तिप्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे प्रवृत्तिप्रधान तथा भक्तिभावान्वित बनाकर मानवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त बना दिया। हीनयान में शुष्क ज्ञान की ही प्रधानता थी, परन्तु महायान ने भक्तिवाद को आश्रय देकर जीवों की

---

१ निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥

—नैरात्म्य-परिपृच्छा-सूत्र, श्लो० १२.

२ सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम्।
बोधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला॥
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः॥—प्रज्ञापारमितासूत्र

आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के नैसर्गिक विकास के लिए अवसर प्रदान किया। बौद्धधर्म का विकास अवान्तर शताब्दियों में भी होता ही गया। वैपुल्य-वादियों ने मन्त्र-तन्त्र की ओर विशेष अभिरुचि दिखलायी थी। इनके प्रधान आचार्य तान्त्रिकशिरोमणि नागार्जुन की गुह्य शिक्षाओं ने महायान का रूप परिवर्तन कर दिया। 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में मन्त्र-तन्त्रों का पर्याप्त विधान है। भोट ग्रन्थों का कहना है कि 'धान्यकटक' तथा 'श्रीपर्वत' के प्रान्त में 'मन्त्रयान' का उदय हुआ। आगे चलकर इसी मन्त्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिससे मद्य, मन्त्र, हठयोग आदि तान्त्रिक आचारों का विपुल प्रचार हुआ। अविनाशी, अच्छेद्य तथा अभेद्य होने से 'शून्यता' ही वज्र का वाच्यार्थ है।

> दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
> अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥ —वज्रशेखर।

वज्रयान की दार्शनिक दृष्टि शून्यवाद की है, पर आचार में तान्त्रिक क्रियाकलाप की बहुलता है। इस प्रकार वज्रयान तान्त्रिक बुद्धधर्म का विकसित रूप है। यही वज्रयान सहजयान के रूप में परिवर्तित होकर भारतेतर प्रदेशों तथा पूर्वी भारत के धार्मिक विकास का प्रधान बना।

(४) दार्शनिक विकास

पहले कहा गया है कि बुद्ध ने तत्त्वों के ऊहापोह को अनिर्वचनीय तथा अव्याकृत बतलाकर अपने शिष्यों को इन व्यर्थ बकवादों से सदा रोका, पर हुआ वही, जिसके विरुद्ध वे उपदेश दिया करते थे। बौद्ध पण्डितों ने बुद्ध के उपदेशों के तह में पहुँचकर विशेष सूक्ष्म विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्तों को ढूँढ निकाला। तिरस्कृत तत्त्वज्ञान ने अपना बदला खूब चुकाया। धर्म एक कोने में पड़ा रह गया और तत्त्वज्ञान की तूती बोलने लगी।

तार्किक विकास

बुद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है पर ब्राह्मण दार्शनिकों ने इन भेदों पर दृष्टिपात न कर बौद्धदर्शन को चार सम्प्रदायों में बाँटा है। चारों सम्प्रदायों के नाम हैं:—

(१) वैभाषिक—बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद

(२) सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद

(३) योगाचार—विज्ञानवाद

(४) माध्यमिक—शून्यवाद

यह श्रेणीविभाग 'सत्ता' विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर ही किया गया है। 'सत्ता' की मीमांसा करने वाले दर्शन चार ही हो सकते हैं। व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण आरम्भ किया जाता है। स्थूल से सूक्ष्म विवेचन की ओर बढ़ने से पहला मत उन दार्शनिकों का होगा जो बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। बाह्य वस्तुका व्यावहारिक जगत् में अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः बाह्यार्थ को प्रत्यक्षरूपेण सत्य मानने वाले बौद्धों को वैभाषिक कहते हैं। दूसरा मत बाह्यार्थ को प्रत्यक्षसिद्ध न मानकर अनुमेय मानता है। इस मत के अनुयायी सौत्रान्तिक कहे जाते हैं। तीसरा मत बाह्य, भौतिक जगत् की नितान्त मिथ्यात्व स्वीकार कर चित्त को ही एकमात्र सत्य पदार्थ मानता है। यह मत विज्ञानवादी योगाचार दार्शनिकों का है। चौथा मत वह है जो चित्त को भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार करता। उसके मन्तव्यानुसार न बाह्यार्थ है और न विज्ञान है, प्रत्युत शून्य ही परमार्थ सत्य है। ये शून्याद्वैत के अनुयायी हैं। इस समस्त जगत् की सत्ता प्रातिभासिक (सांवृतिक) है, शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। इस मत के अनुयायी शून्यवादी माध्यमिक कहे जाते हैं। अतः 'सत्' के विषय में हो विभिन्न कल्पना चतुष्टय के आधार पर

जैन तथा ब्राह्मण दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन को चार श्रेणियों में विभक्त किया है।

इन मतों के सिद्धान्तों का वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से इस श्लोक में किया गया है[1]—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकल वैभाषिको भाषते॥

इन चारों सम्प्रदायों में वैभाषिक का सम्बन्ध हीनयान से है तथा अन्य तीन मतों का सम्बन्ध महायान से है, क्योंकि सत्ताविषयक प्रश्न को लेकर मतभेद होने पर भी ये महायान के सम्मत सिद्धान्तों के अनुयायी हैं। तत्त्वसमीक्षा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पर आता है तो योगाचार-माध्यमिक दूसरी छोर पर टिके हुए हैं। सौत्रान्तिक का स्थान इन दोनों के बीच का है, क्योंकि कतिपय अंश में वह सर्वास्तिवाद का समर्थक है, पर अन्य सिद्धान्तों में वह योगाचार की ओर झुकता है। निर्वाण के महत्वपूर्ण विषय पर भी इन मतों की विशेषता निम्नलिखित प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है—

वैभाषिक तथा प्राचीन मत	संसार सत्य, निर्वाण सत्य।
माध्यमिक	संसार असत्य, निर्वाण असत्य।
सौत्रान्तिक	संसार सत्य, निर्वाण असत्य।
योगाचार	संसार असत्य, निर्वाण सत्य।

बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास भी अत्यन्त रोचक है। विक्रम के पूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग पन्द्रह सौ वर्ष बौद्ध दर्शन की स्थिति का महत्त्वपूर्ण समय है। इस दीर्घकाल में बौद्ध आचार्य बुद्धधर्म के तीन बार

ऐतिहासिक विकास

१ मानमेयोदय (अड्यार सं०) पृ० ३००।

परिवर्तन स्वीकार करते हैं जिसे वे 'त्रिचक्र' के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक विभाग पाँच सौ वर्ष का माना जा सकता है। पहले कालविभाग में आत्मा के अनस्तित्व का सिद्धान्त प्रधान था। बाह्य आयतन या विषय के अस्तित्व का निषेध माना जाता था। यह जगत् शक्तियों का मूलसत्ताविहीन एक क्षणिक परिणाममात्र, सन्तानमात्र है। पारस्परिक कार्य-कारणभाव की सत्ता मानी जाती थी। आचार की दृष्टि से व्यक्तिगत निर्वाण को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान कर 'अर्हत्' पद की प्राप्ति ही मानवमात्र का कर्तव्य स्वीकृत की गई थी। इस स्वरूप का परिचय हमें वैभाषिक मत में उपलब्ध होता है।

दूसरा कालविभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पञ्चम शताब्दी तक था। पुद्गल-शून्यता के स्थान को सर्वधर्म-शून्यता या धर्म-नैरात्म्यवाद ने ग्रहण कर लिया। व्यक्तिगत कल्याण की जगह सर्वजनीन विश्वकल्याण की उन्नत भावना विराजने लगी। इस नवीन बौद्ध मत ने जगत् की सत्ता का एकदम तिरस्कार न कर उसे परमार्थ दृष्टि से आभासमात्र माना। आर्यसत्य की जगह द्विविध सत्यता (सांवृतिक तथा पारमार्थिक) की कल्पना ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया। मूल बौद्ध धर्म के बहुत्ववाद के स्थान पर अद्वैतवाद (शून्याद्वैतवाद) के सिद्धान्त को प्रश्रय दिया गया। सत्यता का निर्णय सिद्धों का प्रातिभ चक्षु ही कर सकता है। अतः तर्कबुद्धि की कड़ी आलोचना कर रहस्यवाद की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव हुआ। अर्हत् के संकीर्ण आदर्श ने पलटा खाया और बोधिसत्त्व के उदारभाव ने विश्व के प्राणियों के सामने उन्नति तथा परमानन्द प्राप्ति का मंगलमय आदर्श समुपस्थित किया। 'मानव बुद्ध' के स्थान पर 'लोकोत्तर बुद्ध' का सिद्धान्त लाया गया। बौद्ध दर्शन का यह विकास 'शून्यवाद' के नाम से पुकारा जाता है।

तीसरे विकास का समय विक्रम की पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है। न्याय की उन्नति होना इस समय का प्रधान दार्शनिक

कार्य था। सर्वशून्यता का सिद्धान्त दोषमय माना गया और उसके स्थान पर विज्ञान-चैतन्य-चित्त की सत्यता मानी गई। बाह्यार्थ का निषेध स्वीकार कर समग्र प्रपञ्च चित्त का विविध परिणाममात्र माना गया। विषयीगत प्रत्ययवाद का सिद्धान्त विद्वज्जन मान्य हुआ, परन्तु इस नवीन दर्शन की एक विलक्षण कल्पना थी आलय-विज्ञान की। विज्ञानवाद के आदिम आचार्य असंग और वसुबन्धु को यह कल्पना मान्य थी, पर उनकी शिष्य-मण्डली (दिङ्नाग आदि) ने आलय-विज्ञान को आत्मा का ही निगूढ़ रूप बतलाकर न्यायपद्धति से इसका खण्डन किया। बौद्ध दर्शन का यह तृतीय विकास विज्ञानवाद या योगाचार के नाम से विख्यात है। इसके बाद बौद्ध दर्शन में मौलिक कल्पना का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। पुरानी कल्पना ही नवीन रूप धारण करने लगी। अतः दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व की बात न हुई। एक बात ध्यान देने की है कि शून्यवाद का उदय न नागार्जुन से हुआ, न विज्ञानवाद का उदय मैत्रेय से। ये मत प्राचीन महायान सूत्रों के आधार पर अवान्तर शताब्दियों में इन आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित किये गये। शून्यवाद की झलक 'प्रज्ञापारमितासूत्र' में तथा विज्ञानवाद का आभास 'लंकावतारसूत्र' में उपलब्ध होता है। अश्वघोष (प्रथम शतक) कृत 'महायानश्रद्धोत्पाद शास्त्र' में 'भूततथता' के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

(बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास[1])

समय विभाग	प्रथम विक्रमपूर्व ५००–१ विक्रमी		मध्यम विक्रमी १–५००		अन्तिम विक्रमी ५००–१०००	
मुख्य सिद्धान्त	बहुत्ववाद (पुद्गल शून्यता)		अद्वैतवाद (सर्वधर्म-शून्यता)		प्रत्ययवाद (बाह्यार्थ-शून्यता)	
	गरम मत	नरम मत	गरम मत	नरम मत	गरम मत	नरम मत
सम्प्रदायवादी	सर्वास्तिवादी	वात्सी पुत्रीय	प्रासंगिक	स्वतन्त्रिक	आगमानुसारी	न्यायवादी
			माध्यमिक			
आचार्य	कात्यायनीपुत्र और संघभद्र		नागार्जुन तथा आर्यदेव	भव्य	असंग तथा वसुबन्धु	दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति

---

१ द्रष्टव्य डा० चेरबात्स्की (Dr, Stcherbatsky)—बुद्धिस्ट लाजिक, भाग प्रथम पृष्ठ १४ ।

(क) वैभाषिक मत

इन चारों सम्प्रदायों में आचार्यों ने पाडित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। बौद्ध दर्शन की ग्रंथ-सम्पत्ति बड़ी विशाल, मौलिक तथा मूल्यवान् है, परन्तु आजकल संस्कृत मूल के अभाव में तिब्बती तथा चीनी अनुवादों से ही सन्तोष करना पड़ता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वमान्य ग्रन्थ 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान शास्त्र' है जिसे कात्यायनीपुत्र ने बुद्ध-निर्वाण के तीन सौ वर्ष पीछे निर्माण किया था। इस विपुलकाय ग्रन्थ में ८ परिच्छेद, ४४ वर्ग तथा १५ हजार श्लोक थे। संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है, परन्तु चौथी (३८२ ई०) तथा सातवीं शताब्दी (हुएनच्वांगकृत) के चीन-भाषा के अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कनिष्क के समय चतुर्थ संगीति में इस ग्रन्थ पर 'अभिधर्म विभाषाशास्त्र' के नाम एक भाष्यग्रन्थ की रचना की गई। मूल संस्कृत का यहाँ भी अभाव है, परन्तु तिब्बती तथा चीनी (हुएनच्वांगकृत) अनुवाद प्राप्त हैं। इसी 'विभाषा' के आधार पर प्रतिष्ठित होने से इस सम्प्रदाय का नाम 'वैभाषिक' पड़ा।

साहित्य

(१) 'वसुबन्धु' का 'अभिधर्मकोश' काश्मीर-वैभाषिकों की परम आदरणीय, प्रामाणिक तथा मौलिक रचना है। वसुबन्धु का नाम बौद्ध दर्शन के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। अपनी विद्वत्ता, उन्नत आचरण, प्रकाण्ड आचार्यत्व के कारण इनका नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में एक गौरवास्पद वस्तु है। इनकी सर्वातिशायिनी प्रतिभा के लिए कोई विषय अगम्य न था। अपने जीवन के आरम्भिक काल में ये वैभाषिक थे, परन्तु पीछे असंग के उपदेश से विज्ञानवादी हो गए। पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिकगोत्री एक ब्राह्मण के तीन पुत्रों में ये मध्यम पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में इन्होंने अयोध्या को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। ।यहीं स्थविर बुद्धमित्र के द्वारा हीनयान में दीक्षित होकर प्रति-

पक्षियों को विवाद में परास्त कर इन्होंने अपनी वावदूकता, विद्वत्ता, तथा शास्त्रनिपुणता का पर्याप्त परिचय दिया। कुमारजीव ने ४०१—४०९ के बीचोबीच वसुबन्धु का पुण्य चरित लिखा। इनका समय अनेक अकाट्य प्रमाणों के आधार पर चतुर्थ शतक (२८०—३६०) माना जाता है। इनका वैभाषिक विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' है जिसकी विमल ख्याति तिब्बत, चीन, जापान तथा मंगोलिया में आज भी अक्षुण्ण है। वहाँ यह ग्रन्थ प्रातःस्मरणीय स्तोत्रों के समान कण्ठ किया जाता है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में 'शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः' लिखकर ब्राह्मणों में भी इस ग्रन्थ की महत्ता का निदर्शन उपस्थित किया है। इसकी अनेक टीकाओंमें स्थिरमति (तत्त्वार्थ), दिङ्नाग (मर्मप्रदीप), यशोमित्र (स्फुटार्था) की टीकायें प्रामाणिक तथा बहुमूल्य मानी जाती हैं। यशोमित्र ने अनुमति तथा वसुमित्र की व्याख्याओं को अपना उपजीव्य बतलाया है (स्फुटार्था श्लो० ५)। अतः ये टीकायें निःसन्दिग्ध नितान्त प्राचीन तथा प्रमाणिक हैं। डाक्टर पुसें ने अश्रान्त घोर परिश्रम कर कोश के मूल का उद्धार किया है तथा चीनी, अनुवाद को पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियों के साथ अनेक भागों में प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त परमार्थसप्तति (सांख्यसप्तति का खण्डन), तर्कशास्त्र तथा वादविधि बौद्ध न्याय के माननीय ग्रन्थ हैं।

(२) **संघभद्र (चतुर्थ शतक)** वसुबन्धु के प्रतिस्पर्धी बौद्धाचार्य थे। वसुबन्धु के मतों का खण्डन करने लिए इन्होंने 'कोशकरका' का निर्माण किया जिसमें कोश के मन्तव्यों का सप्रमाण खण्डन है। 'समय-प्रदीपिका' वैभाषिक सिद्धान्तों का सार ग्रन्थ है। 'करका' में ७ लक्ष श्लोक थे, प्रदीपिका में १० हजार। हुएनच्वांग कृत इनके चीनी अनुवाद भी आज उपलब्ध हैं।

वैभाषिकों के मतानुसार यह नानात्मक जगत् वस्तुतः सत्य है; इनकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है। बाह्य और

सिद्धान्त आभ्यन्तर द्विविध भेद की कल्पना कर वैभाषिक भौतिक तथा मानसिक जगत् दोनों को परस्परनिरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत करते हैं। वस्तु-विभाग दो प्रकार से किया जाता है—विषयीगत तथा विषयगत। विषयीगत विभाजन-पद्धति से समस्त पदार्थ तीन प्रकार से बांटे जा सकते हैं:—

(१) पंचस्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।

(२) द्वादश आयतन—'आयं तनोतीति आयतनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आयतन अनुभव के साधनभूत द्वार को कहते हैं। इनकी संख्या बारह है—षट् इन्द्रिय तथा षट् विषय। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन—इन इन्द्रियों को आभ्यन्तरवर्ती होने के कारण 'अध्यात्म-आयतन' तथा उनके विषयभूत रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, तथा धर्म आयतन (अतीन्द्रिय) को बाह्य आयतन कहते हैं।

(३) अष्टादश धातु—जिन शक्तियों के एकीकरण से घटनाओं का एक प्रवाह (सन्तान) निष्पन्न होता है, उन्हें 'धातु' कहते हैं। इन धातुओं की संख्या १८ है जिसमें आदिम द्वादश ऊपर निर्दिष्ट आयतन हैं तथा नवीन धातुओंमें चक्षुर्विज्ञान धातु, श्रोत्रविज्ञान धातु, घ्राणविज्ञान धातु, जिह्वाविज्ञान धातु, कायविज्ञान धातु तथा मनोविज्ञान धातु की गणना की जाती है।

विषयगत विभाजनपद्धति के अनुसार यह त्रैधातुक जगत् दो प्रकार के धर्मों का समुच्चयमात्र है। वैभाषिक लोग प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ को 'धर्म' कहते हैं। अभिधर्म कोश (प्रथम कोशस्थान) के अनुसार धर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) सास्रव (मलसहित) तथा (२) अनास्रव (मलरहित; विशुद्ध)। सास्रवधर्मों की दूसरी संज्ञा 'संस्कृत' है। इस शब्द का प्रयोग साधारण 'विशुद्ध' अर्थ में न होकर एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। संस्कृत का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'हेतुप्रत्यय जनित' है (सम्भूय अन्योन्यमपेक्ष्य कृता जनिताः संस्कृताः—अभि० को० १।४) ये

रागद्वेष आदि मलों के आश्रय होने से 'सास्रव' भी कहे जाते है। अनेक वस्तुओं के संमिश्रण से उत्पन्न होनेवाले (अतएव अनित्य), पदार्थ 'संस्कृत' हैं (संस्कृतं क्षणिकं यतः—अभि० को० ४।२)। संस्कृत धर्म ७२ प्रकार के होते हैं:—(१) रूपधर्म ११ प्रकार, (२) चित्तधर्म (मन या विज्ञान) १ प्रकार, (३) चैत्तधर्म (या चित्त संप्रयुक्त संस्कार=विज्ञान के साथ सम्बद्ध धर्म) ४६ प्रकार; (४) रूपचित्तविप्रयुक्त (भौतिक और मानसिक उभयविध धर्मों से विभिन्न) संस्कार १४ प्रकार।

असंस्कृत की अभिधर्मकोश (१।५) में संज्ञा अनास्रव (विशुद्ध) तथा मार्गसत्य है। ये धर्म हेतु-प्रत्यय-जनित न होने से नित्य हैं। अतः असंस्कृत से अभिप्राय नित्य धर्मों से है जो तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) आकाश—यह निर्विशेष, अनन्त, नित्य, सर्वव्यापक सत्तात्मक पदार्थ है। इसका रूप नहीं होता, यह भौतिक वस्तु नहीं है, परन्तु स्वतंत्र सत्तामक पदार्थ है। आवरणाभाव आकाश का लिंग है, स्वरूप नहीं है। आकाश को अभावात्मक मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों का खण्डन औचित्य-पूर्ण नहीं प्रतीत होता। भावपदार्थ मानने के कारण कमलशील ने तत्त्व-संग्रह-पञ्जिका में वैभाषिकों को बौद्ध मानने में संशय प्रकट किया है।

(२) प्रतिसंख्या निरोध—प्रतिसंख्या (प्रज्ञा) के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग (प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक्-पृथक्—अभि० को० १।६) यदि प्रज्ञा के उदय होने पर किसी सास्रव धर्म के विषय में राग या ममता का सर्वथा परित्याग किया जाय तो उस धर्म के लिए प्रतिसंख्या-निरोध का उदय होता है।

(३) अप्रतिसंख्यानिरोध—बिना प्रज्ञा के ही निरोध। जिस वस्तु का अप्रतिसंख्यानिरोध होता है, वह अनुत्पत्तिक धर्म बन जाता है अर्थात् भविष्य में वह उत्पन्न नहीं होता। प्रतिसंख्यानिरोध से 'आस्रव-क्षय ज्ञान' उदित होता है अर्थात् समस्त मलों के नाश होने का ही ज्ञान

उत्पन्न होता है, भविष्य में उनकी उत्पत्ति की संभावना रहती है। यह 'अनुत्पाद ज्ञान' अप्रतिसंख्यानिरोध का फल है जिसमें भविष्य में रागादिकों की कथमपि उत्पत्ति न होने से जीव भवचक्र से मुक्ति लाभ करता है।

इस प्रकार समस्त धर्मों की संख्या (संस्कृत ७२+असंस्कृत ३) ७५ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये ही चार भूत हैं; अकाश भूत नहीं है। पृथिव्यादि भूत-चतुष्टय के अन्तिम उपादान 'अणु' हैं जो चार प्रकार के होते है। पार्थिव परमाणु कठिन स्वभाव, जलीय स्निग्ध, तैजस उष्ण तथा वायवीय चलन-स्वभाव होते हैं। परमाणु षट्कोणात्मक होते हैं—

षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता। (स० द० सं० पृ० ३१)

ज्ञान के साधन दो प्रकार के होते हैं—ग्रहण और अध्यवसाय। ग्रहण के द्वारा पदार्थ के सामान्य निर्विशेष रूप की उपलब्धि होती है। वस्तु को नाम-जाति आदि योजना (कल्पना) से संयुक्त करना अध्यवसाय कहलाता है। यह निश्चयात्मक होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। ग्रहण तथा अध्यवसाय का भेद निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान के अनुरूप ही है।

वैभाषिकों के अनुसार निर्वाणधातु दो प्रकार का होता है—(१) सोपधिशेष तथा निरुपधिशेष। 'ज्ञानप्रस्थान सूत्र' में इस विषय का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया गया है। कुछ लोग सोपधिशेष को सास्रव, संस्कृत, कुशल आदि बतलाते हैं और निरुपधिशेष को अनास्रव असंस्कृत अव्याकृत परन्तु दोनों ही अनास्रव, असंस्कृत तथा अव्याकृत हैं। आस्रव क्षय होने पर भी

निर्वाण

१ द्रष्टव्य इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली भाग ६ (१९३०) पृ० ३९-४९।

जो अर्हत् जीवितावस्था में है, उसे पञ्च-स्कन्ध-प्रयुक्त अनेक विज्ञान शेष रहते हैं; अतः उसकी दशा का नाम है सोपधिशेष दशा; परन्तु शरीरपात होने पर, संयोजन-क्षय होने पर, समस्त उपाधियों के अभाव में निरुपधिशेष निर्वाण होता है। अतः संक्षेप में इन दोनों निर्वाणों में वही अन्तर है जो जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में है।

(ख) सौत्रान्तिक मत

हीनयान के दार्शनिक दो सम्प्रदायों में विभक्त हैं—वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। सौत्रान्तिक दार्शनिक अभिधर्म को बुद्धरचित न होने से अप्रामाणिक मानते हैं। तथागत के आध्यात्मिक उपदेश सुत्तपिटक के ही कतिपय सूत्रों (सूत्रान्तों) के ही सन्निवेशित हैं; अभिधर्म्म बुद्ध की रचना न होने से भ्रान्त हो सकता है, परन्तु सूत्रान्त बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं के भण्डार होने से नितान्त प्रामाणिक हैं। अतः इस सम्प्रदाय का नामकरण 'सौत्रान्तिक' है[1]। 'दार्ष्टान्तिक' सम्प्रदाय सौत्रान्तिकों की एक शाखा है।

नामकरण

सौत्रान्तिकों की उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर प्रतीत होती है, क्योंकि सौत्रान्तिकों के प्रधान सिद्धान्त वैभाषिक ग्रन्थों की वृत्तियों में विशेषतः उपलब्ध होते हैं। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के स्वरचित्त भाष्य में वैभाषिकों के अनेक मुख्य सिद्धान्तों में दोषोद्घाटन कर उनका खण्डन किया है। ये खण्डन सम्भवतः सौत्रान्तिक दृष्टि-बिन्दु से किये गये हैं। अतः वैभाषिक संघभद्र ने वसुबन्धु प्रदर्शित दोषों के निराकरण के लिए 'समय-प्रदीपिका' तथा 'न्यायानुसार' की रचना की, परन्तु सौत्रान्तिक यशोमित्र ने इनके समर्थन में अपनी 'स्फुटार्था' वृत्ति अभिधर्मकोश पर

---

१ कः सौत्रान्तिकार्थः। ये सूत्र-प्रामाणिका न तु शास्त्र-प्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः।

—यशोमित्र स्फुटार्थः पृ० १२

लिखी है। यही कारण है दोनों सम्प्रदायों के मत साथ-साथ उल्लिखित मिलते हैं।

सौत्रान्तिक के ४ विशिष्ट आचार्यों का उल्लेख मिलता है। (१) कुमारलात—हुएनच्वांग (६५० ई०) के कथनानुसार सौत्रान्तिक मत के स्थापक कुमारलात ही थे[1]। इनका समय द्वितीय शतक का उत्तरार्ध तथा तृतीय शतक का प्रथमार्ध माना जाता है। इस प्रकार ये नागार्जुन के समसामयिक थे। 'कल्पना मण्डितिका' इनकी एकमात्र रचना है जिसमें धार्मिक कथाओं का गद्य-पद्य में वर्णन है। (२) श्रीलात—कुमारलात के शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने 'विभाषाशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु दुर्भाग्यवश यह अभी तक अप्राप्य है। 'निर्वाण' के विषय में श्रीलब्ध का अपना विशिष्ट मत था[2]। (३) धर्मत्रात तथा (४) बुद्धदेव

आचार्य

१ T. Watters—On Yuan Chwang's Travels in India. वाटर्स सम्पादित युआनच्वांग यात्रा-विवरण भाग २, पृ० २२५। इस आचार्य का नाम 'कुमारलात' ही था। यह उनके ग्रन्थ की पुष्पिका से स्पष्ट है। इनका नाम कुमारलाभ या कुमारलब्ध चीनी नाम के अशुद्ध संस्कृतीकरण के कारण त्याज्य है।

२ कुमारलब्ध के एक दूसरे शिष्य हरिवर्मा ने सत्यसिद्धि सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ 'सत्यसिद्धिशास्त्र' की कुमारजीव (४०२ ई०) कृत चीनी भाषानुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इसका समय तृतीय शतक का मध्यकाल माना जा सकता है। सत्यसिद्धि सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त 'सर्वधर्मशून्यता' है। सर्वास्तिवादी लोगों के विपरीत ये लोग पञ्चस्कन्धात्मक वस्तु के अभाव के साथ साथ रूपादि स्कन्धों की भी अनित्यता मानते थे। परन्तु अन्य सिद्धान्त हीनयान के ही थे। अतः सत्यसिद्धि हीनयान-सम्मत शून्यवाद का प्रचारक था। इसका विशेष विवरण श्री यामाकामी सोगन ने 'सिस्टम्स आफ बुधिस्टिक थाट' (पृ० १७२-१८५) में किया है।

के विशिष्ट सिद्धान्तों के निर्देश अनेक वैभाषिक ग्रन्थों में किये गये हैं। अभिधर्मकोश (५।२६) की टीका में इन आचार्यों के काल-विषयक मतों का उल्लेख आदर के साथ किया गया है। धर्मत्रात की सम्मति में भाववैसादृश्य (भावान्यथात्व) के कारण और बुद्धदेव के विचारानुसार अन्यथान्यथात्व के कारण भूत, वर्तमान, भविष्यकाल में भेद का समर्थन किया जा सकता है; वास्तविकरूप से वर्तमानकाल की ही सत्यता प्रमाण-सिद्ध है। (५) वसुमित्र ने अष्टादशनिकायों के विस्तृत वर्णन के वास्ते 'समयभेदउपरचन चक्र' नामक पुस्तक लिखी है। (६) यशोमित्र—स्फुटार्थावृत्ति (पृ० १२) के प्रमाण पर सौत्रातिक मत के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं।

सौत्रान्तिकों के मुख्य सिद्धान्त संक्षेपरूप में अब दिये जाते हैं। (१) काल के विषय में ये लोग वर्तमान काल की ही सत्यता मानते थे। भूत तथा भविष्य काल की सत्ता काल्पनिक तथा निराधार है। इस प्रकार वैभाषिकों से इनका पर्याप्त मतभेद था। वैभाषिक भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसीलिए उन्हें 'सर्वास्तिवादी' कहते हैं (अभि० को० ५।२५)। धर्मत्रात तथा बुद्धदेव के कालभेद विषयक मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है। (२) ज्ञान के विषय में ये स्वतः प्रामाण्यवादी थे। जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं-प्रकाश्य है। स्वसंवित्ति या स्वसंवेदन का यह सिद्धान्त विज्ञानवादियों को भी अभिमत है। (३) वैभाषिकों के विरुद्ध ये लोग बाह्य जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय बतलाते हैं। जब समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष असम्भव है। जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का

सिद्धान्त

१ द्रष्टव्य डा० पुसें का सौत्रान्ति शीर्षक लेख, इन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स भा० ११ पृ० २१२—२१४।

सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह क्षणिक वस्तु अतीत के गर्भ में चली गई रहती है। केवल तज्जन्य विज्ञान ही शेष रह जाता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नीलपीतादि बुद्धिवाले चित्र मन पर खिंच जाते हैं, इन्हीं चित्रों की सहायता से इनके उत्पादक बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। अतः बाह्यार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष-गोचर न होकर अनुमान-सिद्ध है।[1] (४) बाह्य वस्तु सत् है, परन्तु इसके आकार के विषय में सौत्रान्तिकों में विशेष मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कतिपय सौत्रान्तिकों की सम्मति में पदार्थ स्वयं 'आकार' रखता है, परन्तु अन्य सौत्रान्तिकों के कथनानुसार पदार्थ में आकारनिवेश चित्तसे विनिर्मित है। एक तीसरे मत में वस्तु का आकार उभयात्मक होता है। (५) परमाणुवाद के विषय में भी सौत्रान्तिकों का विशिष्ट मत था। परमाणुओं में पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव होता है। परमाणु स्वयं निरवयव होते हैं, अतः स्पर्श अवयवों का न होकर समस्त वस्तु का ही होगा। ऐसी दशा में एक परमाणु का दूसरे परमाणु से तादात्म्य हो जायगा। अतः परमाणुओंका संघात परमाणु से परिमाण में अधिक न हो सकेगा। परमाणु निरन्तर होते हैं, दोनों के बीच अन्तर का सर्वथा अभाव रहता है। (६) विनाश का कोई हेतु नहीं है; समस्त पदार्थ स्वभाव से ही विनाशधर्म शील हैं; वे अनित्य नहीं हैं, बल्कि क्षणिक हैं। उत्पाद का अर्थ है अभूत्वा भावः[2] (सत्ता धारण न करने के अनन्तर स्थिति)। पुद्गल (आत्मा) तथा आकाश सत्ताहीन पदार्थ हैं, वस्तुतः सत्य नहीं हैं। क्रिया, वस्तु तथा क्रियाकाल-तीनों में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। वस्तु असत् से उत्पन्न होती है, एक क्षण तक अव-

---

१ नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः ।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ॥—स० सि० सं० पृ० १३।

२ द्रष्टव्य माध्यमिकवृत्ति पृ० २८१।

स्थान धारण करती है और फिर लीन हो जाती है, तब भूत तथा भविष्य की सत्ता क्यों मानी जाय ? (७) निर्वाण के विषय में श्रीलात का विशिष्ट मत था कि प्रतिसंख्या निरोध तथा अप्रतिसंख्या-निरोध में कोई अन्तर नहीं है। प्रतिसंख्यानिरोध से अभिप्राय है प्रज्ञानिबन्धन भाविक्लेशानुत्पत्ति अर्थात् प्रज्ञा के कारण भविष्य में उत्पन्न होने वाले क्लेशों का न होना। अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ क्लेश-निवृत्तिमूलक दुःखानुत्पत्ति है। क्लेशों की निवृत्ति के ऊपर ही दुःख या संसार की अनुत्पत्ति अवलम्बित रहती है; अतः क्लेशानुदय दुःखाभाव का कारण है। श्रीलब्ध की यही निर्वाण-कल्पना है।

विज्ञानवाद ज्ञान की सत्ता अंगीकार करता है, परन्तु ज्ञेय के अभाव में ज्ञान की सत्ता क्योंकर प्रमाणित हो सकती है ? विज्ञानवादियों का यह कथन है कि विज्ञान ही बाह्य वस्तु के समान प्रतीत होता है, बाह्य वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। दो वस्तुओं की समानता तभी सिद्ध मानी जा सकती है जब उन दोनों में पृथक्ता हो तथा दोनों की स्वतन्त्र सत्ता हो। एक की ही सत्ता होने पर सादृश्य का ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता। वास्तव में वस्तु तथा वस्तुज्ञान अभिन्न पदार्थ हो नहीं सकते, क्योंकि वस्तु एक पृथक् सत्तात्मक पदार्थ है और उसका ज्ञान विषयी में उत्पन्न होने से उससे पृथक् होना ही चाहिए। वस्तु होता है विषय, पर वस्तुज्ञान होता है विषयीगत। अतः दोनों की भिन्नता प्रमाण से प्रतिपन्न है। दोनों की अभेद कल्पना के अवसर पर 'मैं ही घट हूँ' ऐसा विषय-विषयी-संवलित अनुभव होना चाहिए, पर लोक व्यवहार में यह अनुभव नहीं होता।

(ग) योगाचार सम्प्रदाय

मैत्रेय (तृतीय शतक)—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के विषय में पर्याप्त मतभेद था, परन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने मैत्रेय या मैत्रेयनाथ

आचार्य को एक ऐतिहासिक व्यक्ति तथा विज्ञानवाद का प्रवर्तक होना बलवत्तर प्रमाणोंसे सिद्ध किया है। इनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ हैं—(१) 'मध्यान्त विभाग' या 'मध्यान्तविभंग सूत्र' जिसमें कारिका भाग मैत्रेय का तथा गद्यांश असंगका है। इसके ऊपर वसुबन्धु ने भाष्य तथा स्थिरमति ने भाष्यपर टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ प्रकरण थे। तिब्बती अनुवाद पूरे ग्रंथ का है, मूल संस्कृत प्रथम प्रकरण का ही अधूरा उपलब्ध हुआ है।[1] (२) 'अभिसमयालंकार' (प्रज्ञापारमिता के विषय में अद्वितीय ग्रन्थ इसका पूरा नाम 'अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेश शास्त्र' है जिसमें आठ अधिकार हैं। आर्य विमुक्तिसेन, भदन्त विमुक्तिसेन (दोनों षष्ठ शतक) तथा हरिभद्र (नवम शतक) ने टीकायें लिखी हैं[2]। (३) 'सूत्रालंकार', (४) महायानउत्तरतन्त्र, (५) धर्मधर्मताविभंग। भोट देशीय इतिहास—लेखक 'बुस्तोन' के अनुसार मैत्रेय को ये ही पाँच कृतियाँ हैं।

असङ्ग (चतुर्थ शतक)—पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र असंग का नाम इनके गुरु (मैत्रेय) से भी बढ़कर है। ये समुद्रगुप्त के समय में अयोध्या में आकर रहते थे। ग्रन्थ निर्माण के अतिरिक्त इन्होंने अपने अनुज वसुबन्धु को योगाचर मत में दीक्षित किया तथा विज्ञानवाद के प्रचारार्थ ग्रन्थ लिखवाया। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'महायान-संपरिग्रह' (टीका वसुबन्धु की),'महायानाभिधर्मसंगीति शास्त्र', 'योगाचारभूमि शास्त्र' (या सप्तदश भूमि शास्त्र), 'अभिसमयालंकार टीका। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'महायान सूत्रालंकार' को डा० लेवी

---

१ पं० विधुशेखर शास्त्री और डा० तुशी के सम्पादकत्व में प्रथम परिच्छेद ही कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज (नं० २४) में प्रकाशित हुआ है।

२ तिब्बती अनुवाद के साथ मूल ग्रन्थ डा० चेरबास्की के सम्पादकत्व में बिब्लोथिका बुद्धिका सीरीज (नं० २३ में प्रकाशित हुआ है।

ने फ्रेंच अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। वसुबन्धु ने योगाचार मत में दीक्षित होनेपर बीस और तीस कारिकाओं में 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' लिखी जिनके संस्कृत मूल का 'विंशिका' तथा 'त्रिंशिका' नाम से डा० लेवी ने पेरिससे प्रकाशित किया है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' विज्ञानवाद का सर्वमान्य, नितान्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

स्थिरमति—वसुबन्धु के साक्षात् शिष्य थे। वसुबन्धु के वृत्तिकार-रूप से इनकी विपुल ख्याति है। समय चतुर्थ शतक का अन्तिम भाग मानना चाहिए। प्रसिद्ध ग्रन्थ—(१) त्रिंशिका भाष्य (मूलसंस्कृत प्रकाशित है), (२) मध्यान्तविभंग सूत्रभाष्य टीका, (३) अभिधर्म-कोश भाष्यवृत्ति, (४) सूत्रालंकार-वृत्ति-भाष्य, (५) मूलमाध्यमिक कारिका-वृत्ति।

दिङ्नाग—बौद्ध न्याय के प्रसिद्ध आचार्य दिङ्नाग अपनी प्रगल्भ वावदूकता तथा शास्त्रार्थ-पटुता के कारण 'वादिवृषभ' की उपाधि से सम्मानित किये गये हैं। कांची के पास 'हिंसवक्र' में ब्राह्मणकुलोद्भूत दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। अतः इनका समय ३४५-४२५ ई० के आसपास है। प्रसिद्ध ग्रन्थ—(१) प्रमाणसमुच्चय, (२) प्रमाणसमुच्चय वृत्ति, (३) न्यायप्रवेश (मूलसंस्कृत प्रिन्सिपल ध्रुव के सम्पादकत्व में बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है), (४) हेतुचक्रडमरु, (५) प्रमाणशास्त्र न्यायद्वार या न्यायमुख, (६) आलम्बनपरीक्षा तथा इसकी वृत्ति।

धर्मकीर्ति—(षष्ठशतक ६३५-६५०) दिङ्नाग के भाष्यकार-रूप से ब्राह्मण न्याय ग्रन्थों में भी ये उल्लिखित हैं[1]। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' (बिहार उड़ीसा सोसाइटी की पत्रिका में प्रकाशित) तथा 'न्यायबिन्दु' है जिनमें बौद्ध न्याय के ऊपर ब्राह्मण नैयायिकों के

---

१ जीवन-चरित के लिए द्रष्टव्य पृ० ३०२, ३०३-३०५

आक्षेपों का उत्तर देकर स्वसिद्धान्त का मण्डन है। टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह आदरणीय है। इन्होंने केवल प्रमाण शास्त्र (न्याय) पर ही अपने सातों ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) प्रमाण-वार्तिक (१४५४½ कारिका); (२) न्यायबिन्दु (१७७ श्लोक); (३) हेतुबिन्दु (४४४ श्लोक); (४) प्रमाणविनिश्चय (१३४० श्लोक), (५) वादन्याय (वादविषयक ग्रन्थ) (६) सम्बन्ध परीक्षा (२९ कारिका-जिनमें क्षणिकवाद के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध का निरूपण है), (७) सन्तानान्तर सिद्धि (७२ सूत्र)—जिनमें मनः सन्तान (मन एक वस्तु न होकर क्षण-क्षण में नष्ट और नया उत्पन्न होनेवाला सन्तान—घटना है) से भी पूरे दूसरी मनः सन्तानें हैं, इसे सिद्ध किया है। इसीलिए इसका सार्थक नामकरण है। इन ग्रन्थों में तीन (१, २, ५) मूल संस्कृत में छपे हैं। हेतुबिन्दु मिला है, पर प्रकाशित नहीं है। शेष के तिब्बती अनुवाद मिलते हैं।

धर्मपाल—(षष्ठ शतक का आरम्भ) नालन्दा बौद्ध बिहार के अध्यक्ष थे। योगाचार तथा शून्यवाद दोनों मतों के ग्रंथों पर टीकायें लिखीं। **'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि व्याख्या'** वसुबन्धु के प्रसिद्ध ग्रन्थ की तथा 'शतशास्त्र वैपुल्यभाष्य' शून्यवादी आर्यदेवके विख्यात ग्रन्थ की टीका है।

विज्ञानवाद

विज्ञानवादी योगी के अनुसार दो आवरणों की निवृत्ति से मोक्षलाभ कर सकता है—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। इन आवरणों की सत्ता रहने पर मुक्ति तथा सर्वज्ञता की उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकती। मुक्ति का बाधक क्लेश है। अतः क्लेशावरण की निवृत्ति हो जाने पर मोक्षलाभ हो जाता है; पर सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होती। इसकी प्राप्ति ज्ञेयावरण की निवृत्ति होने पर ही हो सकती है। आत्मदृष्टि से राग-द्वेषादि क्लेशों की उत्पत्ति होती है। जब साधकको पुद्गल-नैरात्म्य में

प्रतिष्ठा हो जाती है तब क्लेशों का नाश होने से मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है। पर जब धर्मनैरात्म्यज्ञान में साधक प्रतिष्ठित हो जाता है, तो किंचित् ज्ञेय के अभाव में चित्त सर्वज्ञतावस्था को प्राप्त कर लेता है। यही विज्ञानवादी दार्शनिकों के मत से परम पद की प्राप्ति है।

विज्ञान या चित्त ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। यह नाना उपचार-समन्वित संसार मनोविजृम्भणमात्र है। उपचार दो प्रकार के अनुभव में आते हैं—आत्मोपचार तथा धर्मोपचार। जीव, जन्तु, आत्मा, मनुष्य—ये आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान धर्मोपचार हैं। विज्ञान के बाहर इनकी सत्ता नहीं है अर्थात् आत्मा तथा धर्मविज्ञान के ही विभिन्न परिणामरूप हैं। विज्ञानवादी चित्त को आठ प्रकार का बतलाते हैं; चक्षुर्विज्ञान आदि षड्भेद वैभाषिकों को भी सम्मत हैं,पर योगाचार के मत से मनोविज्ञान तथा आलय विज्ञान विज्ञान के दो भेद अधिक माने जाते हैं। इस विभाग-पद्धति में आलयविज्ञान की कल्पना विज्ञानवादियों के सूक्ष्म मानसतत्त्व-विवेचन की सूचना देती है। चक्षुर्विज्ञान आदि षड्विज्ञान जो बाह्यवस्तु तथा इन्द्रिय के संस्पर्श से उत्पन्न होते हैं, विषयज्ञान के लिए द्वारमात्र हैं। ये स्वोपलब्ध ज्ञान को मनोविज्ञान के पास ले जाते हैं जो स्वयं आलय-विज्ञान के पास उन्हें उपनीत करता है। तभी विषय के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। समस्त जगत् चित्त का परिणाममात्र होने से इन्हीं अष्टभेदों के अन्तर्भूत बतलाया जा सकता है।

योगाचार के मत से विज्ञान तथा विज्ञेय का अन्तर स्पष्ट है। विज्ञेय परिकल्पितस्वभाव होने से वस्तुतः नहीं है, पर विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से नितान्त सत्य है। ऊपर आत्मोपचार तथा धर्मोप्रचार का नामोल्लेख किया गया है। जहाँ जो वस्तु नहीं रहती है, वहाँ उसका उपचार होता है। इस जगत् में न आत्मा है न धर्म, परन्तु इसके उपचार अनादिकाल से वर्तमान हैं। उपचार होने से ये परिकल्पित-मात्र हैं,

परमार्थिक या सत्य स्वरूप नहीं है। त्रिंशिका (का० १-२) के अनुसार विज्ञान के परिणाम तीन प्रकार से होते हैं—(१) विपाक, (२) मनन, तथा (३) विषयविज्ञप्ति। कुशल तथा अकुशल कर्मवासना के परिपाक से आक्षेपानुसार फल की अभिनिर्वृत्ति का नाम 'विपाक परिणाम' है। इसका दूसरा नाम 'आलय-विज्ञान' है। सब सांक्लेशिक धर्म-बीजों के आलय स्थान होने से इसकी 'आलय-विज्ञान' संज्ञा है। यह आलयविज्ञान सदा स्पर्श, मनस्कार, वित्, संज्ञा तथा चेतना नामक पाँच सर्वत्रग धर्मों से अन्वित रहता है। विज्ञान परिणाम का द्वितीय प्रकार 'मनन' या 'क्लिष्ट मन' कहलाता है। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मनका स्वभाव है अतः उसे मनन कहते हैं। क्लिष्ट मन आलयविज्ञान के आश्रय को लेकर प्रवृत्त होता है या अपने मनन कार्य में लगता है। विज्ञान परिणाम का तृतीय भेद 'विषय-विज्ञप्ति' है। चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक के छः प्रकार के विज्ञानों के षड्विध विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, तथा धर्म—की उपलब्धि ही विषयविज्ञप्ति है। यह उपलब्धि तीन प्रकार की हो सकती है—कुशल, अकुशल, तथा तदुभय-भिन्न। अलोभ, अद्वेष तथा अमोह से युक्त विषयोपलब्धि कुशल है; लोभ, द्वेष तथा मोह से समन्वित होने पर अकुशल है।

यह त्रिविध विज्ञान-परिणाम योगाचारके मतसे विकल्पमात्र है। यह जगत् विज्ञान के विविध परिणामों का रूप धारण करनेवाला विकल्परूप है। विकल्प तीन प्रकार के हैं—आलय-विज्ञान का, क्लिष्टमन का तथा प्रवृत्तिविज्ञान का। आलयविज्ञान में समस्त धर्मों की उत्पादनशक्ति अन्तर्निहित है, क्योंकि वह 'सबीज' कहा गया है। इस आलयविज्ञान से ही समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः इस जगत् में विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि होती है (त्रिंशिका का० १८)।

आलयविज्ञान का सिद्धान्त योगाचार के आदि आचार्य असंग तथा वसुबन्धु के द्वारा उद्भावित किया गया है, पर दिङ्नाग इसे आत्मा का

ही निगूढ़ रूप बतलाकर इसे स्वीकृत नहीं करते। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने प्रबल युक्तियों का प्रदर्शन किया है। इस कारण योगाचारों में आगमानुसारी तथा न्यायवादी दो मतों की स्थिति मानी जाती है। अद्वय-वज्र ने अपने 'तत्त्वरत्नावली' में योगाचार के साकार ज्ञानवादी तथा निराकार ज्ञानवादी दो मतभेदों का वर्णन किया है। साकार ज्ञानवादियों के मत से ज्ञान बाह्यपदार्थों के स्वरूप को ग्रहण करता है, पर निराकार ज्ञान-वादियों के मत से ज्ञान आकारहीन होता है, उसका सत्यस्वरूप स्वसंवेदनरूप होता है। बाह्य अर्थों की सत्ता मानना मूखता-विजृम्भित है। बाह्यार्थके मायिक होने से स्वसंवेदनरूप ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। कहना न होगा कि इस ज्ञान के स्वरूप का अनुभव सिद्ध योगियों को ही होता है। अतः सिद्धान्ततः विज्ञानवादी होने पर योग तथा आचार को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण ये योगाचार के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

(घ) माध्यमिक मत

नागार्जुन—शून्यवाद या माध्यमिक सिद्धान्त के प्रचारक थे। इनके जीवन चरित के विषय में बड़ी-बड़ी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। ये

आचार्य

दक्षिण भारत के निवासी ब्राह्मण थे। अनन्तर बौद्ध-धर्म में दीक्षा लेकर श्रीपर्वत पर रहते थे। अलौकिक कल्पना, अगाध विद्वत्ता, प्रगाढ तान्त्रिकता के कारण इनकी विपुल कीर्ति भारतके दार्शनिक जगत् में सदैव अक्षुण रहेगी। प्रधान रचना 'माध्य-मिक शास्त्र' या माध्यमिक कारिक है जो २७ प्रकरणों में विभक्त है। शून्यवाद की प्रतिष्ठा इसी ग्रन्थ पर है। इसकी महत्त्वशाली वृत्तियों में आचार्यभव्य कृत 'प्रज्ञा प्रदीप' तथा चन्द्रकीर्ति विरचित 'प्रसन्नपदा' मुख्य हैं। 'प्रज्ञ-पारमिता'-शास्त्र' (पञ्चविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमिता की टीका जो कुमारजीव के द्वारा ४०२–४०५ में अनूदित हुई थी) तथा 'दश-भूमिविभाषा शास्त्र' (दशभूमिसूत्र की वृत्ति) विषयपर्यालोचन के महत्त्व से महायान के विश्वकोष कहे जा सकते हैं।

आर्यदेव—(२००-२२४ ई०) चन्द्रकीर्ति के वर्णनानुसार ये सिंघलद्वीप में उत्पन्न हुए थे और उस देश के राजा के पुत्र थे। अतुल सम्पत्ति को लात मारकर ये दक्षिण में आए और नागार्जुन के शिष्य बन गये। ये शून्यवाद के प्रकाण्ड आचार्य थे। इनकी अनुपम दार्शनिक कृति 'चतुःशतक' है जिनमें नामानुसार चार सौ ही कारिकायें हैं, १६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में २५ कारिकायें हैं। धर्मपाल तथा चन्द्रकीर्ति ने टीकायें लिखी थीं जिनमें धर्मपाल की वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध को हुएनच्वांग (६५० ई०) ने चीनी भाषा में अनुवादित किया था। चीनी में इसका अभिधान 'शतशास्त्र वैपुल्य' है। चन्द्रकीर्ति की वृत्ति के साथ समग्र का अनुवाद तिब्बती भाषा में तथा वृत्ति का कतिपय अंश मूल संस्कृत में उपलब्ध होता है। शून्यवाद के रहस्योद्घाटन के लिए यह नितान्त प्रामाणिक, प्रमेयबहुल ग्रन्थ हैं। प्रथम शतकद्वय को धर्मशासन शतक (बौद्धधर्म का शास्त्रीय प्रतिपादन) तथा अन्तिम शतकद्वय को विग्रह शतक (परमतखण्डन) कहते हैं। ग्रन्थ के उत्तरार्ध को अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने विश्वभारती सीरीज (नं० २) प्रकाशित किया है।

स्थविर बुद्धपालित (पञ्चम शतक)—माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रमाणभूत आचार्यों में से अन्यतम हैं। इन्होंने नागार्जुन के 'माध्यमिक कारिका' के ऊपर एक वृत्ति लिखी है जिसका अभी तक केवल तिब्बती अनुवाद ही उपलब्ध हुआ है। वे प्रासंगिक मत के उद्भावक माने जाते हैं।

भावविवेक ('भव्य' या चीनी ग्रन्थों के अनुसार भाविवेक')—बौद्ध न्याय के 'स्वातन्त्र मत' के उद्भावक थे। नवीत मत के प्रवर्त्तक होने से अवान्तर शताब्दियों में इनकी विशेष ख्याति थी। इनके प्रधान ग्रन्थ—(१) प्रज्ञाप्रदीप (माध्यमिक कारिका की वृत्ति जिसका तिब्बती

अनुवाद ही प्राप्य है), (२) मध्यम-हृदय-कारिका, (३) मध्यमार्थ-संग्रह, (४) हस्तरत्न—हैं।

चन्द्रकीर्ति (६००-६५० ई०)—दक्षिण भारत के निवासी थे। बुद्धपालित तथा भव्य के प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि से इन्होंने शून्य-वाद के ग्रन्थों को पढ़ा। इस प्रकार ये पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के प्रशिष्य थे। नालन्दा में अध्यापक थे। इनके विख्यात ग्रन्थ हैं—(१) माध्य-मिकावतार, (२) प्रसन्नपदा—माध्यमिक कारिकाओं की सर्वश्रेष्ठ सुबोध प्रामाणिक टीका। इसे डाक्टर पुसें ने बिब्लीओथिका बुद्धिका सीरीज (नं० ४) में मूल संस्कृत में सम्पादित किया है। (३) चतुः-शतक वृत्ति—आर्यदेव के ग्रन्थ पर टीका जो तिब्बती अनुवाद में पूरी तथा मूल संस्कृत मे अधूरी ही मिलती है। प्रासंगिक मत के आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने समय के सब से श्रेष्ठ माध्यमिक विद्वान थे।

शान्तरक्षित (८ म शतक)—स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे तथा नालन्दा बिहार में अध्यापक थे। तिब्बत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर तिब्बत गये, एक बड़े विहार की स्थापना की तथा उसके अध्यक्ष बने। इन्होंने धर्मकीर्ति के वाद-न्याय पर विस्तृत टीका लिखी है, परन्तु इनका मौलिक विपुलकाय ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' है। इस ग्रन्थ में ब्राह्मण दार्शनिकों के मत की विस्तृत समीक्षा कर बौद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। यह वास्तव में नितान्त प्रौढ़ तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ है। इसकी टीका कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रह पञ्जिका' नाम से लिखी है। कमलशील स्वयं नालन्दा में तन्त्रों के अध्यापक थे तथा गुरु के साथ तिब्बत गये थे। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० ३०, ३१) में प्रकाशित हुआ है।

शून्यवाद

माध्यमिक मत के आचार्यों ने अपने मतवाद की संज्ञा शून्यवाद दी है। बौद्धों के चारों दर्शनों में सबसे अधिक वैमत्य इस शून्यवाद के

तात्त्विक स्वरूप के निरूपण करने में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण दर्शनों ने 'शून्य' शब्द का अर्थ सर्वत्र सकल सत्ता का निषेध ही किया है।

इस कल्पना का मूलाधार 'शून्य' शब्द का लोकव्यवहार में प्रयुक्त अर्थ है। परन्तु क्या माध्यमिक आचार्यों की दार्शनिक कृतियों में इस शब्द का यही अर्थ है? आधुनिक परिशीलन ने इस शब्द का एक विलक्षण पारिभाषिक अर्थ खोज निकाला है। किसी भी पदार्थ के स्वरूप निर्णय करने में चार ही कोटियों का प्रयोग किया जा सकता है—अस्ति, नास्ति, तदुभयं (अस्ति और नास्ति) तथा नोभयं (न अस्ति न च नास्ति)। पर परम तत्वका निर्णय इन कोटियोंकी सहायता से नहीं किया जा सकता। वह मनोवाणीसे अगोचर होने से नितरां अनिर्वचनीय है। इसी कारण उस परमतत्त्व की अनिर्वचनीयता की सूचना देने के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धदर्शन में अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग चतुष्कोटि-विमुक्त तत्त्व के लिए है[1], परन्तु वेदान्त में इसका प्रयोग सदसद्-विलक्षण के लिए ही किया जाता है। 'शून्य' का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का सूचक है। हीनयान के आचारविषयक मध्यम प्रतिपद् के अनुरूप ही माध्यमिक लोग तत्त्वमीमांसा के विषय मे मध्यमप्रतिपदा के सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके अनुसार वस्तु न तो एकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्, प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों सत् तथा असत् के मध्यबिन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है जो स्वयं शून्य रूप ही होगा। यह शून्य अभाव से नितान्त

शून्य का अर्थ

---

१ न सन् नासन् सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥
—माध्यमिककारिका १।७।

२ अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥—समाधिराजसूत्र।

भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परन्तु यह शून्य निरपेक्ष परमतन्त्र का सूचक है। इस आध्यात्मिक मध्यमार्ग के उद्भावक होने के कारण ही इस दर्शन का नाम 'माध्यमिक' दिया गया है[1]।

यह शून्य ही सर्वश्रेष्ठ एक अपरोक्ष तत्व है। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य शून्याद्वैत के समर्थक हैं। यह समस्त नानात्मक प्रपञ्च इसी शून्य का ही विवर्त माना जाता है। परमतत्व की ही सत्यता सर्वतोभावेन माननीय है, परन्तु उसका स्वरूप इतना अकथनीय, अज्ञेय है कि हम न तो यही कह सकते हैं कि वह सत् है, या असत् है, या इन दोनों को संवलित करनेवाला सत् असत् दोनों हैं या इन दोनों में से कोई भी नहीं है। इसकी सूचना देने के लिए 'शून्य' का व्यवहार इस दर्शन में किया गया है।

माध्यमिक आचार्य नागार्जुन ने दो प्रकार की सत्यता मानी है[2]—(१) पारमार्थिक तथा (२) सांवृतिक। अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित शून्यपद वाच्य-तत्व परमार्थिक सत्य है तथा बुद्धि के अगोचर है। बुद्धिमात्र विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने से अविद्यात्मक है। अतः बुद्धि में इतनी योग्यता नहीं है वह परमसत्य का यथार्थ ग्रहण कर सके। संवृति[3] (माया या अविद्या) के

सिद्धान्त

---

१ अतो भावाभावान्तद्वयरहितत्वात् सत्स्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता मध्यमा प्रतिपत् मध्यमो मार्ग इत्युच्यते। चन्द्रकीर्ति—प्रसन्नपदा।

२ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥—माध्यमिककारिका २४।८।

३ संवृति की व्युत्पत्ति चन्द्रकीर्ति ने इस प्रकार की है—समन्ताद् वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते।
—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ४९२।

कार्यभूत होने से समस्त जगत् की सत्ता सांवृतिक या व्यावहारिक है। माध्यमिक लोग अविद्या के दो कार्य मानते हैं (१) स्वभाव दर्शन का आवरण तथा (२) असत् पदार्थ स्वरूप का आरोपण। संवृति दो प्रकार की होती हैं (१) तथ्यसंवृति—जब हम प्रत्यक्ष दृश्य घट पदादि विषयों का अदुष्ट इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं, तब उसे तथ्यसंवृति कहते हैं जो लौकिक दृष्टया सत्य माना जाता है। (२) मिथ्यासंवृति—जब मरीचिकादि दुष्ट इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं तब इन्हें व्यावहारिक दृष्टि से मिथ्या कहते हैं। यही है मिथ्या संवृति। अतः सांवृतिक सत्य का अर्थ होता है व्यावहारिक सत्यता।

परमार्थ इससे विलक्षण होता है। त्रिकाल में अबाधित होने से शून्य तथा निर्वाण तत्त्व परमार्थरूप माना जाता है। इस तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण योगिजनों के द्वारा ही किया जा सकता है। आर्य सत्य-चतुष्टय के तीन सत्य दुःख, समुदय तथा मार्ग संवृति-स्वभाव होने से सांवृतिक सत्य के अन्तर्भूत हैं। केवल निरोध परमार्थ सत्य है। इन्हीं दोनों सत्यों के आधार पर बुद्ध लोग जीवों को धर्मोपदेश किया करते थे।

यह अद्वैत परमार्थ तत्त्व शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में 'तथागत' नाम से सुप्रसिद्ध है। इसके आलम्बन बिना न तो आत्मकल्याण सम्पन्न हो सकता है और न परकल्याण। अविद्या के द्वारा अस्पृष्ट होने से इसमें समस्त मलों का अभाव रहता है। उभयविध क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण से यह उन्मुक्त रहता है। सम्यक् संबोधि के सिवा इस अद्वैततत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् संबोधि की प्राप्तिके लिए षट् पारमिताओं—ज्ञान, शील, क्षान्ति, वीर्य, समाधि तथा प्रज्ञा—की उपलब्धि नितान्त आवश्यक है। ज्ञान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकाल तक अभ्यास करने से पुण्यसंभार की प्राप्ति होती है तथा वीर्य और समाधि के सतत अभ्यास से ज्ञानसंभार का उदय होता है। पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार के उदय से प्रज्ञा का उन्मेष होता है। प्रज्ञा की निर्म-

लता का सम्पादन धीरे-धीरे किया जाता है। साधन तथा फलरूपा होने से इसके द्विविध भेद माने जाते हैं। साधन प्रज्ञा के प्राप्त होने पर साधक 'अधिमुक्त चरित' कहलाता है, पर अपरोक्ष ज्ञान के आविर्भाव होने पर फलरूपा प्रज्ञा का उदय होता है जिसमें बोधिसत्त्व भूमियों की प्रतिष्ठा होती है। बुद्धत्व ही प्रज्ञा का अन्तिम उत्कर्ष है। उस समय द्वैत ज्ञान का सर्वथा लोप होता है। योगी लोग इस प्रज्ञा को निर्विकल्प तथा सर्वधर्म-शून्यताधिगमरूप बतलाते हैं। इस दशा में स्वदुःख और पर-दुःख सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। समस्तधर्म स्वभावहीन हैं, इसी का नाम 'शून्यता' है।

नागार्जुन की तर्कपद्धति नितान्त सूक्ष्म, परन्तु अभावात्मक है। उस शैली से परीक्षा करने पर जगत् के समस्त पदार्थ तथा बौद्धिक धारणायें निःस्वभाव प्रतीत होती हैं। नागार्जुन 'माध्यमिक कारिका' में गति, इन्द्रिय, स्कन्ध, धातु, दुःख, संसर्ग, स्वभाव, कर्म, बन्धमोक्ष, काल, आत्मा—आदि समग्र व्यावहारिक धारणाओं को पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा कर इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सब एकदम असत्य हैं। 'शून्यता' ही एक सत्य परमार्थ पदार्थ है। शून्यवादियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निष्कर्ष नागार्जुन ने पहली ही कारिका में दे दिया है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

भाव न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः (दूसरे कारण से), न दोनों से, न अहेतु से। इस कारिका की व्याख्या में आचार्य बुद्धपालित ने भावोत्पत्ति के अभाव की यथार्थता का विवेचन बड़ी सुन्दर युक्तियों से दिखलाया है। यदि पदार्थ स्वतः उत्पन्न होते हैं, तो ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी। जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन क्या होगा? अपने से भिन्न वस्तुओं से भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होते,

क्योंकि तब किसी पदार्थ से कोई पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा। दोनों पक्षों में दोष होने से इनका समुच्चय ठीक नहीं। बिना हेतु के ही कार्य उत्पन्न होते हैं, यह भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि कार्य-कारण का सिद्धान्त माननीय है और ऐसी दशा में सब पदार्थ सब पदार्थों से उत्पन्न होने लगेंगे। अतः त्रैधातुक (कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातुमय) जगत् के भावों की उत्पत्ति नहीं होती। पाठकों को शून्यवादियों की तर्कप्रणाली के रूप दिखलाने के लिए यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

बुद्धपालित तथा उनके अनुयायियों ने निर्वाण तथा शून्यता की स्वरूपोपलब्धि में तर्क का सर्वतोभावेन तिरस्कार किया है; अतः उन्हें 'माध्यमिक प्रासंगिक' की संज्ञा प्राप्त है; पर भव्य (या भाव-विवेक) ने माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए न्यायानुमोदित स्वतन्त्र तर्कों की कल्पना की है जिससे इन्हें 'माध्यमिक स्वातंत्रिक' की संज्ञा मिली है। भव्य अपने कुशाग्र तर्क के लिए महामान्य दार्शनिकों में नितान्त विख्यात हैं, पर सप्तम शतक में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में बुद्धपालित की शैली का अनुसरण कर आचार्य भव्य की पद्धति को गहरा धक्का पहुँचाया। चन्द्रकीर्ति की व्याख्या परम्परागत सिद्धान्तों के लिए चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों में भी प्रमाणभूत थी। अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली (पृ० १४) में माध्यमिकों के दो मतभेदों का उल्लेख किया है—(१) मायोपमाद्वयवाद तथा (२) सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद। पहला मत अद्वयवाद को माया के समान मानता है तथा दूसरा मत सब धर्मों के अप्रतिष्ठान में ही परमार्थ सत्य के स्वरूप को देखता है। महायान के 'अधिमात्र' अनुयायी शून्यवाद के माननेवाले दार्शनिक थे।

समीक्षा

बुद्ध दर्शन की मूलभित्ति उपनिषद् ही हैं। कर्मकाण्ड की अकिञ्चित्करता, भवप्रपञ्च के मूल में अविद्या का कारण होना, तृष्णा के उच्छेद

से रागद्वेषादि बन्धनों से मुक्त होना, कर्म सिद्धान्त की व्यापकता—आदि सामान्य सिद्धान्त दोनों में उपलब्ध होते हैं। 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति का तत्त्व छान्दोग्य में उल्लिखित है (छा० उप० ६।२।१)। अन्य कतिपय सिद्धान्तों में समानता भले हो, परन्तु क्षणिकवाद, अनात्मता, विज्ञान तथा शून्य की वास्तविकता के सिद्धान्त इतने घोर विद्रोहात्मक थे कि ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिकों ने इनका खण्डन नितान्त प्रौढ़ युक्तियों के सहारे किया है।

क्षणभङ्गनिरास

(१) जगत् के समस्त पदार्थों को क्षणिक मानने से व्यवहार तथा परमार्थ की उपपत्ति कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती[१]। वस्तुओं के क्षणिक होने पर किसी क्षण की क्रिया अपने फलोत्पादन किये बिना ही अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है; इस दोष का नाम 'कृतप्रणाश' है। और किसी भी क्रिया के बिना किए प्राणी को स्वयं अकृत कर्मों के फल को भोगना पड़ता है (अकृत कर्मभोग)। भवभंग का दोष उसी प्रकार जागरूक है। कर्मफल के भोगने के लिए ही प्राणियों का जन्म होता है, परन्तु क्षणिकवाद के मानने पर जब प्राणियों में उत्तरदायित्व का ही अभाव है, तब संसार की उत्पत्ति ही क्योंकर सिद्ध मानी जाय? मोक्ष सिद्धान्त को भी इससे हानि पहुँचेगी। बुद्धधर्म मोक्षप्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का विधान करता है, परन्तु कर्मफल के क्षणिक होने पर मोक्ष की प्राप्ति भी सुतरां असम्भव है, तब निरोधगामिनी प्रतिपद् की व्यवस्था का फल क्या होगा? स्मृतिभंग भी क्षणिकवाद के निराकरण के लिए एक प्रबल व्यावहारिक प्रमाण है। स्मरणकर्ता तथा अनुभवकर्ता की एकता लोकव्यवहार अंगीकार करता

---

१ द्रष्टव्य कुमारिल—श्लोकवार्तिक (पृ० २१७-२२३), शंकराचार्य—२।२।१८ शांकरभाष्य, जयन्तभट्ट —न्यायमंजरी भाग २ (पृ० १६—३१), मल्लिषेण—स्याद्वादमंजरी पृ० १२२—१२६।

है। पदार्थ का स्मरण वही कर सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो, परन्तु क्षणिकवाद के अनुसार अनुभव का कर्ता पूर्वदिन से कालिक सम्बन्ध रखनेवाला देवदत्त है और स्मरण करता है अद्यतन-कालिक-सम्बद्ध देवदत्त व्यक्ति। स्मरण के समान प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की व्यवस्था कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। अतः लौकिक तथा शास्त्रीय उभय दृष्टियों से क्षणिकवाद विचार की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। इसीलिए इतने दोषों के सद्भाव रहने पर हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद को माननेवाले बौद्ध को ठीक ही 'महासाहसिक' कहा है (अ० यो० व्य० श्लोक १८)—

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग-भवप्रमोक्ष-स्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते॥

क्षणिकवाद के अंगीकार से विषम अनवस्था की झलक जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी (पृ० ३९) में बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
संस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः।
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरितं किमन्यदियतो दम्भस्य भूमिः परा॥

आत्मा को पञ्चस्कन्धात्मक मानने से निर्वाण को हानि पहुँचती है। जिस स्कन्ध-पञ्चक ने पुण्यसंभार का अर्जन किया, वह तो अतीत की वस्तु बन गया है। ऐसी दशा में पूर्वप्रदर्शित दोषों का सद्भाव तो बना ही रहेगा। इस वैषम्य को दूर करने के लिए बौद्धों ने 'वासना' का अस्तित्व माना है। पूर्वज्ञान से उत्तर ज्ञान में जनित शक्ति को बौद्ध 'वासना' कहते है (वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः—स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १९)। प्रथमतः वासना का क्षणसन्तति के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं उपपन्न होता। अन्यच्च, वासना स्वयं निर्विषय ही

ठहरती है। मृगमद की वासना के समान पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का 'वासित' होना (वास्यता) वासना का स्वरूप है, परन्तु स्थायी आधार के अभाव में वह संक्रमणशीलता कैसे सिद्ध मानी जाय? स्थायी वस्त्र की सत्ता रहने पर ही मृगमद की वासना युक्तियुक्त है, परन्तु पञ्चस्कन्धों के क्षणिक होने से वासना का आधार कौन पदार्थ होगा? ऐसी दशा में 'वासना' की कल्पना अनात्मवाद को दार्शनिक त्रुटि से बचा नहीं सकती। आचार्य शंकर का यह कथन (२।२।३० शारीरिक भाष्य) यथार्थ है—अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः। संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते। एवं लोके दृष्टत्वात्[१]।

विज्ञानवाद का खण्डन आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र (२।२।२८-३२) के भाष्य में बड़े विस्तार के साथ किया है। विज्ञानवादियों का बाह्यार्थ के अभाव का सिद्धान्त कथमपि माननीय नहीं है, क्योंकि बाह्यार्थ की उपलब्धि का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। घटपटादि की अनुभूति सर्वजन प्रसिद्ध है। 'बाह्य पदार्थ विज्ञानात्मक होने पर भी बाह्य की भाँति (बहिर्वत्) प्रतीत होता है' इस कथन से भी बाह्यार्थ की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। सादृश्य की प्रतीति उभय पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता पर ही अवलम्बित रहती है। 'देवदत्त वन्ध्यापुत्र के समान प्रकाशित हो रहा है', इस वाक्य का प्रयोग भला कोई कर सकता है, जब वन्ध्यापुत्र का एक असत्य कल्पना है। जाग्रत जगत् को भी स्वप्नवत् मायिक बतलाना तथ्य से बहुत दूर है, क्योंकि स्वप्नानुभूत पदार्थ का जागरण होने पर बाध हो जाता है, परन्तु जागरित दशा में उपलब्ध वस्तु का बाध किसी अवस्था में नहीं होता। और भी एक महान् भेद है। स्वप्नदर्शन स्मृतिरूप है, परन्तु जागरितदर्शन उपलब्धिरूप है।

१ 'वासना' के विस्तृत खण्डन के लिए द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक (पृ० २२४-२६७) तथा स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १९।

जागने परही स्वप्न की प्रतीतिं होती है। भूतकालीन होने से उसका स्मरण ही होता है, परन्तु जाग्रत अवस्थामें जो अनुभव किया है वह एक नई वस्तु होती है। स्मृति और उपलब्धि में स्पष्ट भेद है। स्मृति पूर्व अनुभव के स्मरण को कहते हैं और उपलब्धि होती है नया अनुभव। ऐसी दशा में जागरिंत जगत् को स्वप्नजगत् के समान मानना कपोल-कल्पनामात्र है।

शून्यवाद की कल्पना भी इसी प्रकार घोर विप्लव मचानेवाली है। शून्यवादी प्रमाता प्रमेय प्रमाण तथा प्रमिति इन तत्त्व-चतुष्टय को परिकल्पित, अवस्तु मानते हैं। सूक्ष्म तर्क के आधार पर वे इन तत्त्वों का खण्डन कर इसी निषेधात्मक सिद्धान्त पर पहुँचते है कि जितना वस्तुतत्त्व का विचार किया जाता है, उतना ही वह विशीर्ण हो जाता है (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा); परन्तु आचार्य कुमारिल ने श्लोक वार्तिक (पृ० २६८-२४५) में इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े ऊहापोह के साथ किया है। मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरी (श्लोक १७) में इसके दोषों का संक्षेप में वर्णन किया है। शंकराचार्य ने तो शून्यवाद को इतना लोक-हानिकर माना है कि उन्होंने एक ही वाक्य में इसके प्रति अपनी अनादर-बुद्धि दिखला दी है—शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते (२।२।३१ शां० भा०)।

तृतीय खण्ड

सप्तम परिच्छेद

न्याय-दर्शन

षड्दर्शनों का संक्षिप्त विवरण इस खण्ड का मुख्य विषय है। आस्तिक दर्शनों में ये ही प्रधान माने जाते हैं। इनकी उत्पत्ति तथा विकास का सामान्य वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है। यहाँ विकास की रूपरेखा विशेष रूप से दिखलाई जावेगी। आरम्भ न्याय-दर्शन से किया जा रहा है। वैदिक धर्म के स्वरूपानुसन्धान के लिए न्याय की परम उपादेयता है। इसीलिए मनु ने श्रुत्यनुगामी तर्क के सहारे ही धर्म के रहस्य जानने की बात लिखी है[1]। न्याय समस्त विद्याओं का प्रकाशक है। वात्स्यायन के शब्दों में[2] न्यायविद्या समस्त विद्याओं का प्रदीप है; सब कर्मों का उपाय, प्रवर्तक है तथा समग्र धर्मों का आश्रय है। यही सार्वजनीन उपयोगिता न्याय की लोकप्रियता का मुख्य हेतु है।

---

१ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ मनु० १२।१०६ ।

२ प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥ न्या० भा० १।१।१।

(१) नामकरण और आरम्भ

नामकरण

न्यायदर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन है। न्याय का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु-तत्त्व की परीक्षा (प्रमाणैरर्थ-परीक्षणं न्यायः —वात्स्यायन न्या० भा० १।१।१) इस प्रमाणों के स्वरूप के वर्णन करने से तथा इस परीक्षाप्रणाली के व्यावहारिक रूप प्रकट करने से यह दर्शन न्यायदर्शन के नाम से पुकारा जाता है। 'न्याय' शब्द का एक विशिष्ट परिभाषिक अर्थ है—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक परार्थानुमान के पञ्च अवयव। इस संकीर्ण अर्थ में न्याय शब्द का प्रयोग प्रमाणों में अन्यतम परार्थ अनुमान के लिये किया जाता है। इसका दूसरा नाम है—आन्वीक्षिकी अर्थात् अन्वीक्षा के द्वारा प्रवर्तित होने वाली विद्या। अन्वीक्षा का अर्थ है[१] (१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान अथवा (२) प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण की सहायता से अवगत विषय की अनु (पश्चात्) ईक्षा (ईक्षण=पर्यालोचन=ज्ञान) अर्थात् अनुमिति। अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने से इस विद्या का नाम अन्वीक्षिकी है। अनुमान प्रक्रिया में हेतु का महत्त्व सबसे अधिक होता है; अतः इसका नाम हेतुविद्या या हेतुशास्त्र भी है। विद्वानों की परिषद् में किसी गूढ़ विषय के विचार या शास्त्रार्थ को 'वाद' के नाम से पुकारते हैं। ऐसे शास्त्रार्थों में नितान्त उपादेय होने के कारण यह वादविद्या या तर्कविद्या के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रमाण की मीमांसा करने से न्यायदर्शन प्रमाणशास्त्र भी कहलाता है। इन विभिन्न अभिधानों पर दृष्टिपात करने से न्याय का मूल प्रयोजन

---

१ प्रत्यक्षागमाश्रितम् अनुमान सा अन्वीक्षा अथवा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा। तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ॥ (न्या० भा० १।१।१)।

छिपा नहीं रह जाता कि प्रमाणों के द्वारा प्रमेय वस्तु का विचार करना और प्रमाणों की विस्तृत विवेचना करना न्यायदर्शन का प्रधान उद्देश्य है।

न्यायविद्या की उत्पत्ति का समय इतना सुदूर, अतीत तथा धुँधला है कि उसका यथार्थ ज्ञान इस समय एक प्रकार से असम्भव सा है।

न्यायविद्या की उत्पत्ति

तर्क के उपयोग से तथ्य का पता लगाना प्राचीन काल में भी अज्ञात न था। श्रुति ने आत्मदर्शन के जिन उपायों का वर्णन किया है उनमें उपपत्तियों के सहारे तर्कानुकूल मनन भी एक उपाय है। इसके अतिरिक्त उपनिषत्काल में ही अजातशत्रु तथा जनक की सभा में तत्कालीन अनेक तार्किकों का जमाव होता था जिसमें अनेक रहस्यमय समस्याओं की आलोचना वाद का प्रधान विषय थी। अतः उपनिषदों के समय में भी वाद की सफलता के लिए अनेक तर्क-प्रधान नियमों की छानबीन की जा चुकी थी तथा तर्कविद्या आरम्भिक अवस्था को पार कर चुकी थी।

संहिता काल में दो प्रकार की दृष्टियों की पर्याप्त सूचना उपलब्ध होती है जिनमें पहली दृष्टि को 'प्रातिभ' तथा दूसरी दृष्टि को 'तर्क-प्रधान' कह सकते हैं। तर्क-प्रधान दृष्टि श्रौत आचार के विभिन्न नियमों में आभासमान विरोध परिहार के लिए प्रयुक्त की जाती थी। आचार-पक्ष के सामने कभी तर्कपक्ष की गौणता स्वीकृत की जाती थी और कभी आचारपक्ष को गौण मानकर तर्कपक्ष की प्रधानता मानी जाती थी। श्रौतानुष्ठान के विरोध को सुलझाने के लिए मीमांसा ने तर्क का उपयोग सर्वप्रथम किया। मीमांसकगण भारतीय दर्शन के इतिहास में पहले नैयायिक थे। इसी कारण मीमांसा के लिए 'न्याय'' शब्द का प्रयोग किया जाता था। बहुत दिनों तक 'न्याय' धर्म की मीमांसा के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। पर पीछे वह श्रौत आचार की परिधि

को छोड़कर बाहर आया और धर्मेतर विषयों की विवेचना में भी प्रयुक्त होने लगा।

इस प्रकार वैदिक काल में तर्क की पर्याप्त उन्नति के लक्षण उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों के सिद्धान्त मूलतः अद्वय-प्रतिपादक हैं तथा न्याय वैशेषिक के मौलिक सिद्धान्तों से प्रतिकूल हैं, तथापि कतिपय तथ्य उपनिषदों में भी यत्र तत्र मिलते हैं। बृहदारण्यक (२।१।१९) का कथन है कि जब आत्मा (अन्तःकरण) नाडियों के द्वारा पुरीतत नामक नाडी में स्थित हो जाता है तब निद्रा आती है। न्याय ने इस सिद्धान्त को ग्रहण किया, पर आत्मा के स्थान पर मन को ला जमाया। वैशेषिक द्रव्य की कल्पना तथा संख्या के निर्धारण करने में उपनिषदों का विशेष ऋणी है, क्योंकि उपनिषदों में द्रव्यों की संख्या का निरूपण अनेक स्थानों पर पाया जाता है। छांदोग्य (७।१२।१) ने आकाश को शब्दों का वाहक बतलाया है; उसका कहना है 'आकाश के द्वारा मनुष्य किसी को बुलाता है, आकाश के द्वारा मनुष्य सुनाता है और आकाश के ही द्वारा मनुष्य शब्द की प्रतिध्वनि सुनता है।' न्याय ने इस सिद्धान्त को अपने दर्शन में खूब महत्त्व दिया है। अतः अन्य दर्शनों के समान न्यायदर्शन भी श्रुति-मूलक है।

(२) न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य

भारतीय दर्शनों के इतिहास में ग्रन्थ-सम्पत्ति के अनुरोध से न्याय-दर्शन का स्थान वेदान्त दर्शन को छोड़कर सर्वश्रेष्ठ है। विक्रम की ५ वीं शताब्दी पूर्व से लेकर आजतक न्याय-दर्शन की विमल धारा अविच्छिन्न रूप से बहती चली आती है। आरंभ में न्याय और वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शनों के रूप में प्रादुर्भूत हुए। अपने उत्पत्तिकाल में न्याय पूर्व-मीमांसा दर्शन का पुत्र था परन्तु कालान्तर में वह वैशेषिक का कृतक पुत्र बन गया। इसीलिये वात्स्यायन ने वैशेषिक को न्याय का 'प्रतितन्त्र

सिद्धान्त' माना है। बौद्धकाल में इन दोनों दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया कि न्याय के सूत्र वैशेषिक दर्शन के सूत्रों के नाम से उल्लिखित किये जाने लगे। वसुबन्धु ने इसी विस्तृत अर्थ में वैशेषिक शब्द का प्रयोग किया है तथा 'शतशास्त्र' में आर्यदेव के द्वारा उद्धृत न्याय-सूत्रों को उनके टीकाकार ने वैशेषिक सूत्र बतलाया है। ११वीं शताब्दी में शिवादित्य के 'सप्तपदार्थी' में दोनों दर्शनों का समन्वय एक साथ किया गया मिलता है। समन्वय की प्रक्रिया दो प्रकार से निष्पन्न की गई मिलती है। यदि न्यायसम्मत षोडश पदार्थों का वर्णन अभिप्रेत होता, तो प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिकसम्मत षट्पदार्थों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे तर्कभाषा में)। यदि वैशेषिक की रूपरेखा स्वीकृत की गई, तो 'बुद्धि' गुण के अन्तर्गत न्याय-सम्मत प्रमाणों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे कारिकावली तथा तर्क-संग्रह में)। कणाद सूत्र गौतम सूत्रों से प्राचीनतर है।

न्याय दर्शन का इतिहास लगभग दो हजार वर्षों का इतिहास है। उसमें विकास की दो प्रकार की धारायें दृष्टिगत होती हैं। पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है जिसे षोडश पदार्थों के यथार्थ निरूपण होने से 'पदार्थ मीमांसात्मक' प्रणाली (कैटेगोरिस्टिक) कहते हैं। दूसरी प्रणाली को प्रमाण मीमांसात्मक (एपिस्टोमोलॉजिकल) कहते हैं जिसे गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्व चिन्तामणि' प्रवर्तित किया। प्रथम धारा को 'प्राचीन न्याय' तथा दूसरी को 'नव्यन्याय' कहते हैं।

गौतम—न्यायसूत्र के रचयिता गोत्र-नाम गौतम या गोतम है, व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है। गौतम के जन्मस्थान का यथार्थ निर्णय अभीतम नहीं हुआ है, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति इन्हें मिथिलानिवासी मानने के पक्ष में है। न्यायसूत्र पाँच अध्यायों मे विभक्त है और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में। इनमें षोडश पदार्थों के उद्देश (नामकथन), लक्षण (परिभाषा) तथा परीक्षण किये गये हैं। इन

षोडश पदार्थों के नाम है—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह-स्थान। इन पदार्थों का उपयोग बादी प्रतिवादी के द्वारा सिद्धान्त-निर्णय के लिए किया जाता है। न्यायसूत्र के निर्माण काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है! सूत्रों में शून्यवाद का खण्डन पाकर डा० याकोबी सूत्रों की रचना तृतीय शताब्दी में मानते हैं, पण्डित हरप्रसाद शास्त्री द्वितीय शतक में तथा डा० विद्याभूषण षष्ठ शतक विक्रम पूर्व मानते हैं[1]। सूत्र नितान्त प्राचीन हैं। चतुर्थ अध्याय में उल्लिखित 'वाद' बुद्ध के जन्मकाल से भी प्राचीन हैं। अतः गौतम के समय को विक्रम-पूर्व चतुर्थ शतक मानने में कोई भी विप्रपत्ति नहीं दीख पड़ती। सूत्रों में क्षेपकों की कल्पना भी निःसार तथा निर्मूल है।

वात्स्यायन (वि० पू० प्रथम शतक)—ने न्यायसूत्रों पर विस्तृत भाष्य की रचना की है। सूत्रों के गूढ़ अर्थों के रहस्य जानने के लिए भाष्य से बढ़कर अन्य प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है। भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि इसके भी प्रथम व्याख्या-ग्रन्थ की सत्ता थी। अनेक वार्तिकों का उद्धरण तथा व्याख्यान भाष्य के प्रथम अध्याय में पाये जाते हैं। 'त्रिविधमनुमानम्' (न्या० सू० १।१।५) के व्याख्याप्रसंग में भाष्य-कार ने दो प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया है। अतः सूत्रकार तथा भाष्यकार के बीच यदि चार सौ वर्ष का अनन्तर मानों जाय, तो भाष्य का रचनाकाल विक्रमपूर्व प्रथम शतक सिद्ध होगा।

उद्योतकर (षष्ठ शतक)—इन्होंने दिङ्नाग के कुतर्कों के खण्डन करने के लिए तथा ब्राह्मण न्यायकी निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से न्याय वार्तिक लिखा। सुबंधु ने अपनी वासवदत्ता में 'न्यायसंगतिमिव

---

१ म० म० पं० गोपीनाथ कविराज—न्यायभाष्य अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० १-१८।

उद्योतकर-स्वरूपाम्' लिखकर न्यायजगत् में उद्योतकर की विमल कीर्तिकी सूचना दी है। यह सुप्रसिद्ध बात है कि दिङ्नाग के विख्यात टीकाकार धर्मकीर्ति ने 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस दिङ्नागीय प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रांत' पद जोड़कर उद्योतकर के प्रबल खण्डन से इसे बचाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अतः धर्मकीर्ति (७ म शताब्दी का द्वितीय भाग) तथा सुबन्धु (षष्ठ शतक का मध्य भाग) से उद्योतकर की पूर्ववर्तिता प्रमाणप्रतिपन्न है। दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभ न्यायविद्या के विमल प्रकाश को सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकर ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। यह ग्रन्थ प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण है। उद्योतकर की बौद्ध न्याय की विद्वत्ता नितान्त श्लाघनीय है।

वाचस्पति मिश्र (नवम शतक)—के समय में पण्डित मण्डली की उपेक्षा से न्यायवार्तिक का गूढ़ार्थ समझना कठिन पड़ गया था। उद्योतकर की 'अतिजरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए वाचस्पति ने 'तात्पर्य टीका' का प्रणयन किया। इनके 'न्यायसूचीनिबन्ध' की रचना ८९८ में (वस्वंक वसुवत्सरे[1]) हुई थी जो सम्भवतः विक्रम सम्वत् है। अतः इनका समय नवमी शताब्दी का मध्य भाग है। ये मिथिला के निवासी थे, अपने अलौकिक पाण्डित्य के कारण सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहे जाते थे। वैशेषिक को छोड़ कर षड्दर्शनों पर इनकी विरचित टीकायें प्रामाणिक, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं। तात्पर्य टीका ने वास्तव में न्याय के प्रमेयों को तथा वार्तिक के रहस्यों को समझाने में इतनी सफलता पाई कि ये 'तात्पर्याचार्य' के नाम से न्याय-जगत् में विख्यात हैं।

जयन्त भट्ट (नवम शतक)—'न्याय मञ्जरी' में वाचस्पति मिश्र तथा आनन्दवर्धन के उल्लेख करने से इनका समय नवमी शताब्दी का

---

१ न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्री वाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

उत्तरार्ध है। इनकी 'न्याय मञ्जरी' गौतम सूत्र के चुने हुए सूत्रों के ऊपर एक प्रमेयबहुला वृत्ति है। विरोधमतावलम्बियों (विशेषतः चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त) का प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा खण्डन अत्यन्त रमणीय, रोचक भाषा मे किया गया है।

भासवज्ञ (नवम शतक)—रत्नकीर्ति (१००० ई०) ने अपोह-सिद्धि में इनके न्यायभूषण को उद्धृत किया है तथा इन्होंने धर्मकीर्ति से 'विरुद्ध व्यभिचारी' दोष को ग्रहण किया है। अतः इनका समय ९ म शताब्दी का अन्त है। इनकी एक ही रचना 'न्याय सार' न्याय जगत् में इन्हें अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। स्वार्थ तथा परार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पक्षाभास तथा दृष्टान्ताभास का वर्णन तथा आत्मा की निरतिशय आनन्दोपलब्धिरूप मुक्ति की कल्पना—इनकी ये कतिपय कल्पनायें नैयायिक जगत् में नितान्त अपूर्व हैं।

उदयनाचार्य (दशम शतक)—उदयन का समय १० म शतक का उत्तरार्ध है। लक्षणावली के निर्माण का काल ९०६ शकाब्द (९८४ ईस्वी) है[१]। 'तात्पर्य परिशुद्धि' तात्पर्य टीका की एक बहुमूल्य व्याख्या है। परन्तु इनकी सबसे बड़ी विशेषता मौलिक चिन्ता थी। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं—आत्मतत्वविवेक (प्रसिद्ध नाम बौद्ध-धिक्कार) तथा न्याय-कुसुमाञ्जलि। प्रथम ग्रन्थ मे क्षणभंग तथा शून्यवाद का खण्डन कर न्याय-सम्मत आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण है। न्यायकुसुमाञ्जलि तो उदयन के ग्रन्थों का मुकुटमणि है। इसमें सांख्यादि वैदिक तथा बौद्धादि वेदबाह्य दर्शनों के ईश्वर-निषेध-बाधक प्रमाणो का न्यायपक्ष से बड़ा ही मार्मिक तथा विद्वत्तामण्डित खण्डन है। ईश्वर सिद्धि के विषय मे ऐसा तर्कप्रधान ग्रन्थ न्यायजगत् में है ही नहीं।

---

१ तर्काम्बराङ्क-प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

गङ्गेश (१३ शतक) —उदयनाचार्य के अनन्तर मिथिला ने ऐसे एक नैयायिक रत्न को जन्म दिया जिसने प्राचीन न्याय की धारा पलट कर 'नव्यन्याय' का जन्म दिया। इनका नाम गंगेश उपाध्याय था जिनकी रचना 'तत्त्व-चिन्तामणि' न्याय के इतिहास में वास्तव में एक नवीन युग का प्रवर्तक है। गङ्गेश के हाथों में पुराना पदार्थ-शास्त्र अब सर्वाङ्गपरिपूर्ण प्रमाण-शास्त्र में परिवर्तित हो गया। तत्त्व-चिन्तामणि' की भाषा भी इसी प्रकार अपनी विशिष्टता के लिये विख्यात है। गङ्गेश ने अवच्छेदक, अवच्छेद्य, निरूपक, निरूप्य, अनुयोगी तथा प्रतियोगी आदि विचार-मापक शब्दावली की उद्भावना करके भषा का जो शास्त्रीय विशुद्ध रूप निर्धारित किया वह वास्तव में एक श्लाघनीय व्यापार है। गङ्गेश ने खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष (१२ वे शतक का अन्तिम भाग) का उल्लेख कर उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है। जयदेव पक्षधरमिश्र; १३ शतक का अन्तिम भाग) ने इस तत्व चिन्तामणि के ऊपर 'आलोक' नामक टीका लिखी है। इस प्रकार इनका समय श्रीहर्ष तथा जयदेव के मध्य में अर्थात् १३ वीं शताब्दी के आरम्भ में समझना चाहिये।

अब पाण्डित्य की कसौटी क्या थी? उदयन तथा गङ्गेश के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर व्याख्या की रचना। गङ्गेश के पुत्र वर्धमान उपाध्याय अपने पिता के समान ही उद्भट नैयायिक थे। सर्व-प्रथम इन्होंने उदयन के ग्रन्थों, गङ्गेश के 'चिन्तामणि' तथा वल्लभाचार्य के 'न्याय लीलावती' पर 'प्रकाश' नामक सुन्दर टीकाओं का निर्माण किया है। जयदेव के विषय में कहा जाता है कि तत्कालीन विद्वन्मण्डली में उनका प्रतिस्पर्धी कोई नहीं था[1]। किसी सिद्धान्त को लेकर पक्षभर तक

---

१ शंकरवाचस्पत्योः सदृशौ शंकरवाचस्पती एतौ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न भूतले क्वापि॥

समर्थन करने के कारण जयदेव ही सर्व साधारण में 'पक्षधर मिश्र' के नाम से ख्यात थे। इन्होंने चिन्तामणि को 'आलोक' व्याख्यान से उद्भासित किया है। इन्हीं के शिष्य रुचिदत्त मिश्र भी अपने समय के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे जिन्होंने वर्धमान के 'कुसुमाञ्जलि-प्रकाश' पर 'मकरन्द तथा चिन्तामणि पर 'प्रकाश' नामक टीकायें लिखी हैं।

इस प्रकार लगभग दो सौ वर्षों तक मिथिला न्याय-विद्या की केन्द्र-स्थली बनी रही। १५वीं शताब्दी में बङ्गाल के नवद्वीप में विद्यापीठ की स्थापना हुई। १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के काल को नव्य न्याय के इतिहास में सुवर्ण युग समझना चाहिये। इसी युग में बङ्गाल के नैयायिकों ने अनेक प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थों की रचना कर नवद्वीप को वह प्रतिष्ठा प्रदान की जो आज भी अविच्छिन्न रूप से उसे प्राप्त है। इन नैयायिकों में वासुदेव सार्वभौम सर्वप्रथम थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का अन्त तथा १६ वीं शताब्दी का आरम्भकाल है। इन्हें बङ्गाल के अनेक महापुरुषों के गुरु होने का गौरव प्राप्त है। धार्मिक निबन्धों के निर्माता रघुनन्दन, शाक्त तन्त्रों के प्रामाणिक व्याख्याता सुप्रसिद्ध तान्त्रिक कृष्णानन्द तथा नैयायिक-शिरोमणि रघुनाथ भट्टाचार्य जैसे सुप्रसिद्ध पुरुष सार्वभौम ही के शिष्य थे।

नवद्वीप के नैयायिक

रघुनाथ शिरोमणि—(१६ वीं शताब्दी) बंगीय नैयायिकों में रघुनाथ जैसा धुरन्धर तार्किक कोई नहीं हुआ। तर्क-विषयक अद्वितीयता के कारण नदिया की विद्वन्मण्डली ने इन्हें 'शिरोमणि' की उपाधि प्रदान की थी। इनकी सबसे श्रेष्ठ पुस्तक 'दीधिति' है जो गङ्गेश के तत्वचिन्तामणि' की विवरणात्मक तथा विवेचनात्मक टीका है। मूल ग्रन्थ के समान कालान्तर में 'दीधिति' ही पाण्डित्य की निकषग्रावा बन गई। यह ग्रन्थरत्न ग्रन्थकार के मौलिक विचारों, रमणीय कल्पनाओं तथा प्रकृष्ट युक्तियों का भण्डार है।

मथुरानाथ—शिरोमणि के शिष्यों में मथुरानाथ तर्कवागीश निश्चय रूप से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इन्होंने 'आलोक' 'चिन्तामणि', तथा 'दीधिति' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर गूढ़ार्थप्रकाशिनी 'रहस्य' नाम्नी टीकायें लिखी हैं।

जगदीश भट्टाचार्य (१७ वीं शताब्दी) – मथुरानाथ के बाद नवद्वीप के सबसे बड़े नैयायिक जगदीश ने 'दीधिति' के ऊपर एक विस्तृत तथा प्रामाणिक टीका लिखी है जो सर्वसाधारण में 'जागदीशी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' शब्दशक्ति के ऊपर नितान्त प्रामाणिक विस्तृत निबन्ध है जिसे पण्डितमण्डली जगदीश का सर्वस्व मानती है—"जगदीशस्य सर्वस्वं शब्दशक्तिप्रकाशिका"

गदाधर भट्टाचार्य— वंगीय नैयायिक त्रयी (मथुरानाथ, जगदीश तथा गदाधर) के अन्तिम ग्रन्थकार गदाधर भट्टाचार्य १७ वीं शताब्दी में हुए। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'दीधिति' की बृहत्काय व्याख्या है जो सर्वसाधारण में 'गादाधरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने उदयन के 'आत्मतत्त्व विवेक' के ऊपर तथा 'तत्वचिन्तामणि' के कतिपय भागों पर 'मूल गादाधरी' नामक व्याख्या लिखी है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने न्याय के महत्वपूर्ण विषयों के ऊपर लगभग ५२ मौलिक ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें 'व्युत्पत्तिवाद' तथा 'शक्तिवाद' विद्वत्समाज में विशेष लोकप्रिय तथा समादर के पात्र हैं।

यदि नव्य-न्याय को एक विशालकाय वटवृक्ष की उपमा दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस वटवृक्ष की जड़ें मिथिला की भूमि में बद्धमूल हुईं; इसका दृढ़तर स्तम्भ 'तत्वचिन्तामणि' के रूप में सुदृढ़ हुआ; इसकी विशालकाय शाखायें नवद्वीप की पवित्र-भूमि में 'दीधिति' के रूप में प्रकटित हुईं और इसके सुन्दर फल १७ वीं शताब्दी के प्रकाण्ड ग्रन्थ 'जागदीशी' और 'गादाधरी' के रूप में आविर्भूत होकर आज भी विद्वन्मण्डली को अपने मधुर आस्वाद से आनन्दित कर रहे हैं। यदि

रघुनाथ शिरोमणि तार्किकवादवृषभों के मुकुटमणि हैं, तो गदाधर नैयायिकों के वे सम्राट् हैं जिनके मस्तक को मणि से जटित वह मुकुट सुशोभित कर रहा है।

(३) न्याय-प्रमाणमीमांसा

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अपने सामने उपस्थित होनेवाली समस्त वस्तुओं के स्वरूप को प्रकट कर देता है, इसी प्रकार बुद्धि (ज्ञान) समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देती है। ज्ञान का अधिष्ठान आत्मा होता है। इसीलिये यह प्रकाश आत्माश्रय कहा गया है[1]।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) स्मृति और (२) अनुभव। संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति पद वाच्य होता है। अनुभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य भावनारूप संस्कार अनुभवकर्ता के हृदय में विद्यमान रहता है। तत्सदृश वस्तु के दर्शन होने पर वही सुप्त संस्कार प्रबुद्ध होकर द्रष्टा के सामने अनुभूत पदार्थ को पुनः लाकर उपस्थित कर देता है, इसे ही 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) यथार्थ तथा (२) अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं तथा अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा।

न्याय बाह्यार्थ की सत्यता स्वीकार करता है। बौद्धों के सिद्धान्तों की निःसारता दिखलाते समय भाष्यकार ने स्पष्ट करके दिखलाया है (न्या० भा० ४।२।२७) कि "यदि बुद्धि से पदार्थों का विवेचन किया जाता है, तो पदार्थों की यथार्थ अनुपलब्धि नहीं हो सकती। यदि वस्तुओं की अनुपलब्धि है, तो बुद्धि द्वारा उनका विवेचन सम्भव नहीं हैं। समग्र पदार्थों का बुद्धि के द्वारा विवेचन सिद्ध है, अतः हम नहीं कह

प्रभा

१ अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारक सकल-पदार्थस्यार्थ-प्रकाशकः प्रदीप इव देदीप्यमानः आत्माश्रयो यः प्रकाशः सा बुद्धिः (जिनवर्धन-सप्त-पदार्थी टीका)।

सकते कि उनकी यथार्थ उपलब्धि नहीं होती।" किसी वस्तु के यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है और ऐसे प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं (यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्—उदयन)। वस्तु के यथार्थरूप के विषय में भाष्यकार का कथन है—सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। सत् सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्वं भवति। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्वं भवति (न्या० भा० १।१।१)। 'यदि कोई वस्तु सद्रूप से ग्रहण की जाती हो, तो जिस रूप में वह हो उसी रूप में ग्रहण करना तत्व है, विपरीत रूप में नहीं'। असद्रूप वस्तु के विषय में भी यही नियम है। अतः जिस वस्तु का जिस रूप से सत्ता है, उसे उसी रूप में ग्रहण करना प्रमा है; अन्यथा रूप से ग्रहण करना अप्रमा है।

प्रामाण्य के विषय में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न कल्पनायें हैं। न्याय मीमांसा के 'स्वतः प्रामाण्यवाद' का खंडन करता है और 'परतः प्रामाण्य-' वाद को अंगीकार करता है। 'स्वतः प्रामाण्य' का अर्थ है कि ज्ञान के साथ ही साथ उसकी प्रामाणिकता की भी उत्पत्ति होती है। 'परतःप्रामाण्य' वादी ज्ञान के अनन्तर उसके प्रामाण्य को युक्तियों के सहारे पुष्ट करते हैं। स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक हैं और परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक। नैयायिकों का कहना है कि अगर ज्ञान का प्रामाण्य 'स्वतः' (अपने आप) गृहीत हो अर्थात् ज्ञान की सामग्री के अतिरिक्त उसके प्रामाण्य को समझाने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता न हो, तो 'इदं ज्ञानं प्रमाणं न वा'—यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं, इस प्रकार का संशय ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान के उत्पन्न करने के लिए जो सामग्री एकत्र की जायगी उसीसे उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जायगा। प्रामाण्य के विषय में सन्देह उत्पन्न होने के लिए कोई स्थान ही नहीं होगा। परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि यह विशिष्ट संशय उत्पन्न होता है। अतः नैयायिक प्रामाण्य को 'परतः' इसी प्रकार बाध्य होकर ही मानते हैं। ज्ञान की

प्रामाणिकता का अनुमान प्रवृत्ति की चरितार्थता से उपलब्ध होता है। 'जानाति इच्छति यतते' ज्ञान के अनन्तर इच्छा का उदय होता है और इच्छा के बाद यत्न का। यदि यत्न की सफलता हुई, तब तो ज्ञान यथार्थ है, अन्यथा नहीं। अतः ज्ञान के प्रमा होने में समर्थ-प्रवृत्ति-जनकता प्रधान लिंग है। तत्वचिन्तामणि के मत से अनुमान के द्वारा ही ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। अतः न्याय-दृष्टि से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः सिद्ध हैं।

भ्रान्ति के विषय में नैयायिकों ने बड़ी विवेचना की है। न्याय के अनुसार भ्रम विषयीमूलक है, विषयमूलक नहीं। वात्स्यायन (न्या० भा० ४।२।३५) ने स्पष्ट लिखा है— तत्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः-अर्थात् तत्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहता है। उद्योतकर ने (न्या० सू० १।१।४ के वार्तिक में) मृगमरीचिका की शास्त्रीय व्याख्या कर दिखलाया है कि सूर्य की किरणों का सद्भाव ठीक है, स्पन्दन व्यापार भी यथार्थ है; अतः अर्थ का व्यभिचार नहीं होता, प्रत्युत ज्ञान का ही व्यभिचार होता है (यत् तदुदकादिज्ञानमुपजायते मरीचिषु स्पन्दमानेषु न तत्रार्थो व्यभिचरति। न हि ते न मरीचयो न वा स्पन्दन्ते किन्तु ज्ञानं व्यभिचरति। अतस्मिन् तदिति भावादिति ज्ञानस्य व्यभिचारो नार्थस्य)। मरीचि में उदक की कल्पना को समझाने के लिए बौद्धों का असत्ख्याति या आत्मख्याति उपयुक्त नहीं है। इन्द्रिय-दोष के वश से मरीचि में उदक के धर्मों का स्मरण होता है। उदक धर्म के मानसिक उदय होते ही जहाँ-जहाँ उदक की पूर्वानुभूति हुई है वहाँ-वहाँ के जल का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष से देखे हुए उदक के गुणों का आरोप समीपवर्ती मरीचि में कर दिया जाता है। यही है 'अन्यथा-ख्याति' अर्थात् दूसरे गुणों का अन्य वस्तु में प्रतीत होना (ता० टी० पृ० ८५–९०)।

अन्यथाख्याति

प्रमा चार प्रकार की होती है:—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमिति (३) उपमिति (४) शाब्द । इन्द्रियार्थ के संयोग से उत्पन्न अनुभव 'प्रत्यक्ष', अनुमान से साध्य का अनुभव 'अनुमिति', सादृश्य-ज्ञान के द्वारा उत्पन्न अनुभव 'उपमिति' तथा शब्द की सहायता से उत्पन्न अनुभव 'शाब्द' कहलाता है। अप्रमा तीन प्रकार की होती है:—(१) संशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क। एक धर्मी में विरुद्ध-नानाधर्म विशिष्ट ज्ञान को 'संशय' कहते हैं। स्थाणुत्व-विशिष्ट स्थाणु को देखकर 'यह स्थाणु है या पुरुष', ऐसा संदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होना संशय कहलाता है। 'विपर्यय' मिथ्या ज्ञान को कहते हैं। जैसे शुक्ति में रजत-ज्ञान। अविज्ञातस्वरूप वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिए उपपादक-प्रमाण का सहकारी जो ऊह (सम्भावना) है उसी को 'तर्क' कहते हैं।

(क) प्रत्यक्ष

यथार्थ अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं। 'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनके द्वारा प्रमा या यथार्थ अनुभव की उत्पत्ति होती है उसे 'प्रमाण' कहते है। प्रमा चार प्रकार की है और तदनुसार प्रमाणों की भी संख्या चार ही है। प्रमाण साधन है और प्रमा उसका फल है। प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमिति प्रमा के करण को अनुमान; उपमिति प्रमा के साधन को उपमान तथा शाब्द प्रमा के करण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के लिये त्रिविध सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। प्रथमतः आत्मा का संयोग मन से; मन का इन्द्रिय के साथ तथा इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष सम्पन्न होता है। आत्म-मनःसंयोग ज्ञान-सामान्य के लिए आवश्यक होता है।

प्रत्यक्ष साधारणतया दो प्रकार का होता है:—(१) निर्विकल्पक (२) सविकल्पक। दूर पर विद्यमान होने वाली किसी वस्तु का ज्ञान

प्रत्यक्ष के भेद

जब पहिले पहल होता है तब उसके विषय में हमारा ज्ञान सामान्य कोटि को पारकर विशेष में कभी प्रवेश नहीं करता है। हमें यही पता चलता है कि कुछ है। पर क्या है? उनका स्वरूप कैसा है? किन-किन गुणों की सत्ता उसमें पायी जाती हैं? इत्यादि वस्तुओं का ज्ञान हमें उस समय कुछ भी नहीं होता। इसी नामजात्यादि-कल्पना से विहीन प्रत्यक्ष ज्ञान को 'निर्विकल्पक' कहते हैं। पर जब वस्तु के स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया, तथा संज्ञा का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तो नाम-जात्यादि-योजनाविशिष्ट यह ज्ञान 'सविकल्पक' के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्यक्ष की यह द्विविध कल्पना वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्य टीका' (पृ० १२३) में उपलब्ध होती है। उन्होंने न्यायसूत्रस्थ (१।१।४) प्रत्यक्ष लक्षण में आने वाले 'अव्यपदेश्यम्' तथा 'व्यवसायात्मक' पदों को क्रमशः इस द्विविध कल्पना का मूल बतलाया है। पर इस विषयमें भाष्य और वार्तिक में कोई विवरण नहीं मिलता। कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' में प्रत्यक्ष के ये दोनों भेद बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष के खण्डन के अवसर पर स्वीकृत किये गये हैं। अतः वाचस्पति मिश्र इस विषय में कुमारिल के ऋणी जान पड़ते हैं। मनोविज्ञान वस्तु-ग्रहण के अवसर पर सेन्सेशन (संवेदन) तथा परसेप्सन (प्रत्यक्ष) में जो अन्तर बतलाता है वही अन्तर निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी विद्यमान है। दोनों प्रकार नैयायिकों के समान कुमारिल को सम्मत हैं, परन्तु शाब्दिक तथा बौद्ध मत भिन्न हैं[1]। वैयाकरण लोग निर्विकल्पक ज्ञान नहीं मानते, उधर बौद्ध लोग निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानकर सविकल्पक को न प्रमाण मानते हैं और न प्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो अन्य भेद भी होते हैं:—(१) लौकिक (२) अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—(क) बाह्य (बहिरिन्द्रियों के द्वारा साध्य) और (ख) आन्तर (केवल मन के द्वारा

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य मानमेयोदय पृ० १७-१८

साध्य)। बाह्य प्रत्यक्ष भी पंचज्ञानेन्द्रियों के द्वारा साध्य होने से पाँच प्रकार का है (१) चाक्षुष (२) श्रावण (३) स्पार्शन (४) रासन तथा (५) घ्राणज। मानस प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है। इस प्रकार सब मिलाकर लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार का होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थसन्निकर्ष छः प्रकार का होता है— (१) संयोग, (२) संयुक्त-समवाय, (३) संयुक्त-समवेत-समवाय, (४) समवाय (५) समवेत-समवाय (६) विशेषणविशेष्यभाव। चक्षु से घटके प्रत्यक्ष होने पर संयोग, घटरूप (कृष्ण, पीत, रक्त आदि वर्ण) के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय, घटरूपत्व के प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष' होते हैं। श्रोत्र आकाशरूप ही है; अतः शब्द के प्रत्यक्ष होने में समवाय सन्निकर्ष होगा, क्योंकि गुणगुणी का वास्तव में सम्बन्ध समवाय होता है। शब्दत्व का प्रत्यक्ष समवेतसमवाय से तथा अभाव का प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है (तर्कभाषा पृ० ५-६)।

अलौकिक सन्निकर्ष

जब पाकशाला में अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध निश्चित होता है, तब धूम-विशेष का ही सम्बन्धग्रहण होता है। धूम वह्नि-व्यभिचारी है या नहीं ? इस सन्देह का निराकरण क्यों कर हो सकता है ? सकल धूमों का चाक्षुष ज्ञान तो हो नहीं सकता; अतः सकल धूमों में तथा दृश्यमान धूम में भी विद्यमान 'धूमत्व' सामान्य के द्वारा ही इसका प्रत्यक्ष माना जाता है। (१) इस सन्निकर्ष का नाम है—सामान्य-लक्षणा प्रत्यासत्ति। पाश्चात्य नैयायिक 'इन्डक्टिभ लीप' के नाम से जिसे पुकारते हैं उसका काम भारतीय नैयायिक सामान्य-लक्षण प्रत्यासत्ति के द्वारा निष्पन्न करते हैं (२) अलौकिक सन्निकर्ष ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति कहलाता है। सामने रखे गये पुष्प के रमणीय रूप के ज्ञान के साथ-साथ उसके सुगन्ध का भी ज्ञान मुझे होता है। चाक्षुष ज्ञान के साथ ही साथ गुलाब की भीनी गन्ध का भी अनु-

भव होता है। जो लोग गन्ध का अनुभव अनुमानजन्य मानते हैं, उनके लिए तो यह प्रश्न नहीं उठता, परन्तु प्रत्यक्ष मानने वालों के लिए यह समस्या अवश्य है कि दूरस्थित पुष्प से घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध तो होता ही नहीं। परन्तु गन्धका ज्ञान होता है। अतः यहाँ अलौकिक सन्निकर्ष माना जाता है। पुष्प के ज्ञान के साथ ही साथ इसके गन्ध का ज्ञान भी सम्बद्ध है। अतः इस ज्ञान को ज्ञानलक्षणसन्निकर्षजन्य कहते हैं। (३) तृतीय अलौकिक ज्ञान 'योगज' कहलाता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (दीवाल आदि के द्वारा व्यवधान वाली) तथा विप्रकृष्ट (काल तथा देश उभयरूप से दूरस्थ) वस्तुओं का ग्रहण लोकप्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता (न चास्य सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्-व्यासभाष्य १।४९)। परन्तु ऐसे वस्तुओं का अनुभव अवश्य होता है। अतः इनके लिए प्रणिधान की सहायता अपेक्षित होती है। इसे योगजसन्निकर्षजन्य कहते हैं। योगियों के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में भर्तृहरि (वा० प० १।३७) ने ठीक ही कहा है—

अनुभूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥

(ख) अनुमान

किसी लिंग (हेतु) के ज्ञान से उस लिङ्ग को धारण करने वाले वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है, (तल्लिंगिलिंगपूर्वकम्)। पर्वत के शिखर से निकलने वाली धूमरेखा को देखकर उस पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना कि यह पर्वत वह्निमान् है, अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष से अनुमान के भेद-साधकों का उद्योतकर ने वर्णन किया है—(१) प्रत्यक्ष मुख्यतया एक ही प्रकार का होता है, पर अनुमान विविध प्रकार का होता है ; (२) प्रत्यक्ष वर्तमान काल में द्रष्टा के सामने विद्यमान पदार्थ के विषय में हो सकता है, परन्तु अनुमान भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल से सम्बद्ध वस्तुजात के विषय

में होता हैं। (३) व्याप्ति का स्मरण अनुमान के लिए आवश्यक साधन है, पर प्रत्यक्ष को ऐसे किसी साधन पर अवलम्बित होने की आवश्यकता नहीं होती (न्यायवार्तिक १।१।४)।

पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात् ('यह पर्वत धूम से युक्त होने के कारण वह्निमान् है') इस अनुमानवाक्य में पर्वत के विषय में अग्नि की सत्ता धूम हेतु से अनुमान के द्वारा सिद्ध की जा रही है। अतः पर्वत 'पक्ष', वह्निमान् 'साध्य'; तथा धूम 'हेतु' कहलाता है। पक्ष, साध्य तथा हेतु पाश्चात्य न्याय-वाक्य के माइनर टर्म, मेजर टर्म तथा मिडिल टर्म के पर्यायवाची हैं। अन्नंभट्टने उसे पक्ष बतलाया है, जिसमें साध्यकी स्थिति सन्दिग्ध है (सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः)। यदि साध्य की सत्ता का ज्ञान पूर्व से ही हमें प्राप्त हो, तो उसके विषय में अनुमान करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, पर नव्य नैयायिक लोग सन्दिग्ध-साध्यवत्ता को पक्षता का लक्षण नहीं स्वीकार करते। उनकी राय में वस्तु का पूर्व-ज्ञान अनुमान का बाधक नहीं हो सकता, यदि उस वस्तु को सिद्ध करने की अभिलाषा (सिसाधयिषा) अनुमन्ता में विद्यमान हो। अतः सिसाधयिषा की सत्ता पक्षता का प्रधान लक्षण[1] हैं। जिस वस्तु को सिद्ध करना हो, उसे 'साध्य' तथा जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे 'हेतु' कहते हैं। साध्य का दूसरा नाम व्यापक, तथा हेतु का साधन, लिंग तथा व्याप्य है। उक्त उदाहरण में अल्प दृष्टान्तों में उपस्थित होने से धूम व्याप्य कहलाता है तथा तदपेक्षया बहुतर स्थानों में विद्यमान होने से अग्नि व्यापक कहा जायगा। व्याप्य की सत्ता देखकर ही व्यापक की सत्ता का अनुमान न्याय-संगत है। व्यापक की सत्ता से व्याप्य (धूम) की सत्ता का अनुमान कथमपि नहीं हो सकता।

---

१ सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न तिष्ठति स पक्षः। भाषापरिच्छेद, ७० वीं कारिका की मुक्तावली देखिए।

न्यायसूत्रों (१।१।५) में अनुमान तीन प्रकार का बतलाया गया है—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट। इन अनुमान-प्रकारों के लक्षण के विषय में न्यायसूत्र के टीकाकारों में गहरा मतभेद है। 'पूर्व' तथा 'शेष' मीमांसा के पारिभाषिक शब्द हैं। अतः यह अनुमान-भेद मीमांसकों की कल्पना प्रतीत होता है; नैयायिकों ने इसे ग्रहण कर इनके मुख्य अर्थ में परिवर्तन भी किया है। मीमांसा में 'पूर्व' का प्रयोग प्रधान तथा 'शेष' का अंग के लिए किया जाता है, पर नैयायिकों ने प्रधान तथा अंग के सम्बन्ध को कारण-कार्य भाव के ऊपर अवलम्बित ठहराया है।

अनुमान के भेद

भाष्यकार के मतानुसार जब कारणसे कार्य का अनुमान किया जाता है तब 'पूर्ववत्', और कार्य से कारण के अनुमान करने पर 'शेषवत्' होता है। आकाश में काले-काले मेघमण्डल को देखकर वृष्टि होने का अनुमान करना पूर्ववत् का उदाहरण है। नदी में होनेवाली बाढ़ को देखकर वर्षा का अनुमान करना—कार्य से कारण का अनुमान करना—शेषवत् कहलाता है। इनकी एक दूसरी व्याख्या भी मिलती है। (१) अन्वयमुख से प्रवृत्त होनेवाला अनुमान पूर्ववत् तथा व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होनेवाला अनुमान शेषवत् कहलाता है। धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान पहले अनुमान का उदाहरण है। (२) शेष का अर्थ होता है अवशिष्ट होनेवाला; अतः पारिशेष्यात् अनुमान करने पर शेषवत् माना जा सकता है। उदाहरणार्थ शब्द स्वरूप का निर्धारण करने के अवसर पर सत् तथा अनित्य होने के कारण यह जाना जाता है कि शब्द सामान्य, विशेष तथा समवाय से पृथक् होकर द्रव्य, गुण तथा कर्म के ही अन्तर्गत हो सकता है। इन तीनों की अन्तर्भुक्तता के विचार पर यही ज्ञात होता है कि शब्द एक द्रव्याश्रित होने से द्रव्य से पृथक्, तथा शब्दान्तर के हेतु होने से कर्म से पृथक् है। अतः परिशेष से वह गुणरूप ही हो सकता है। यह अनुमान शेषवत् का उदाहरण माना जाता है।

(३)सामान्यतो दृष्ट (सामान्यतः=सामान्यस्य,दृष्टं=दर्शनं; सामान्यमात्र का दर्शन)वहाँ होता है जहाँ वस्तु विशेष की सत्ता का अनुभव न होकर उसके सामान्यरूप का ही हमें परिचय प्राप्त है; यथा इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान। कार्य को देखकर करण का अनुमान तर्कानुकूल है। लेखन कार्य को देखकर तत्साधनभूत लेखनी का अनुमान करना उचित ही है। इसी दृष्टान्त के आधारपर वस्तुग्रहणरूप फल के लिए तत्-साधनभूत इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में रूप का ग्रहण कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ इन्द्रियविशेष की सत्ता न देखकर तत्सामान्य करणत्वमात्र का ही अवलोकन हमारे लिए साध्य है। न्यायसूत्र में गौतमाभिमत ये ही तीन अनुमान हैं (न्या० वा० पृ० ४३--५७; ता० टी० पृ० १५६--१६६)।

अनुमान के अन्य दो भेद होते हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। अपने ही लिए जब अनुमान किया जाता है वह होता है स्वार्थानुमान; पर यदि उसका प्रयोजन दूसरा कोई व्यक्ति हो, तो वह होगा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान के लिए वाक्य प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। पर जब दूसरे व्यक्ति को किसी अनुमिति का ज्ञान प्राप्त कराना प्रधान उद्देश्य रहता है, तब परार्थानुमान का प्रयोग किया जाता है। इसमें पाँच वाक्यों का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है।

न्याय अथवा पञ्चावयव वाक्य

परार्थानुमान पाँच वाक्यों के द्वारा प्रकट किया जाता है जिनके नाम प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन हैं। इन पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है (न्या० सू० १।१३२-३९)—

(१) देवदत्त मरणशील है (प्रतिज्ञा)।

(२) क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु)।

(३) जितने मनुष्य हैं वे सब मरणशील हैं जैसे राम, श्याम, मोहन सोहन आदि (उदाहरण) ।

(४) देवदत्त भी ऐसा ही एक मनुष्य है (उपनय) ।

(५) अतएव देवदत्त मरणशील है (निगमन) ।

'प्रतिज्ञा' पहला वाक्य है जो सिद्ध किये जानेवाली वस्तु का निर्देश करता है । 'हेतु' दूसरा वाक्य है जो अनुमान को सिद्ध करनेवाले कारणत्व का निर्देश करता है । तीसरा वाक्य 'उदाहरण' कहलाता है जिसमें उदाहरण के साथ हेतु और साध्य के नियत साहचर्य-नियम का उल्लेख किया जाता है । चौथा वाक्य 'उपनय' कहलाता है जिसमें व्याप्ति-विशिष्ट पक्ष का बोध होता है । इतना होने पर अनुमान के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है और वह 'निगमन' कहलाता है ।

अनुमान प्रयोग में वाक्यों की संख्या के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है । वेदान्ती और मीमांसक लोग तीन ही वाक्यों को अनुमान के लिए पर्याप्त मानते हैं=आदिम तीन वाक्य अथवा अन्तिम तीन वाक्य (वे० प० पृ० ९२) । प्राचीनकाल में वाक्यों की संख्या दस मानी जाती थी । वात्स्यायन ने पूर्वोक्त पाँच वाक्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच वाक्यों को भी माननेवाले नैयायिकों का उल्लेख किया है (न्या० भा० १।१।३२) । वे वाक्य ये हैं—(१) जिज्ञासा, (२) संशय,(३) शक्यप्राप्ति , (४) प्रयोजन,(५) संशय-व्युदास । भाष्यकार के मन्तव्यानुसार इनकी नितान्त आवश्यकता अनु-मान के लिए न होने से इनका उल्लेख नहीं किया जाता । ये सिद्धि के लिए सहायकमात्र हैं, अतः इनका वर्णन 'न्याय' में नहीं किया जाता ।

अब इसकी विशेषता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है । यह पंचा-वयव वाक्य मनोवैज्ञानिक आधारपर अवलम्बित है । पाश्चात्य न्याय में डिडक्शन और इन्डक्शन भेद कर तर्क दो प्रकार का माना जाता है, पर भारतीय न्याय में इन दोनों का श्लाघनीय सम्मेलन किया गया

मिलता है। व्याप्य और व्यापक के नियत सम्बन्ध पर ही अनुमान की पूरी इमारत खड़ी रहती है। इसी व्याप्ति की सूचना उदाहरण-वाक्य की विशेषता है। चतुर्थ वाक्य उपनय या परामर्श वाक्य की अपनी खास विशिष्टता है। बिना परामर्श के अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान की ही आवश्यकता नहीं, प्रत्युत उस व्याप्ति का पक्ष में रहना भी उतना ही आवश्यक है। अतः व्याप्त हेतु का पक्षधर्म होना (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान) 'परामर्श' माना जाता है। केवल धूमवान् होने से पर्वत की अग्निमत्ता अनुमित नहीं हो सकती, जब तक धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान न हो और इस प्रकार वह्नि-व्याप्य धूम का ज्ञान पर्वत में न हो। निगमन हेतु-द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञा का उल्लेख करता है। जिसकी प्रतिज्ञा आरम्भ में की गई थी वह हेतु द्वारा सिद्ध कर दिया गया है, यही निगमन वाक्य प्रदर्शित करता है।

अनुमान की मूलभित्ति

अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति का स्थान अत्यन्त महत्व का है। इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने, विशेषतया नैयायिकों ने, व्याप्ति की आलोचना करने में इतनी कुशाग्रबुद्धि का परिचय दिया है कि वह दार्शनिक जगत् में एक आश्चर्यजनक व्यापार स्वीकार किया जाता है। व्याप्ति के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवेचना नव्यन्याय के ग्रंथों में की गई है। हेतु (धूम) तथा साध्य (वह्नि) के नियत साहचर्य सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं। दो वस्तुओं के एक साथ विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना हम तबतक नहीं कर सकते जबतक हमें उनके सदा नियम से एकत्र रहने की सूचना न मिले। 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस साहचर्य की सत्ता हम नियतरूप से पाते हैं, अतः धूम तथा वह्नि की व्याप्ति न्यायसंगत प्रतीत होती है। इसीलिए व्याप्ति को प्राचीन ग्रंथों में 'अविनाभाव' के नाम से पुकारते थे। अविनाभाव जो वस्तु जिसके बिना विद्यमान न रह सके उनका सम्बन्ध है। धूम की सत्ता तभी है जब वह्नि के साथ उसका सम्बन्ध स्वीकार किया

जाता है। व्याप्ति धूम तथा वह्नि के साथ सम्पन्न होती है। परन्तु वह्नि तथा धूम के साथ व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती। क्योंकि वह्नि के स्थलों में धूम की सार्वत्रिक विद्यमानता उपलब्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ अयोगोलक पिण्ड (लोहे के जलते हुए गोले) में अग्नि के रहने पर भी धूम नहीं दीख पड़ता। अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध तभी सिद्ध हो सकता है जब गीली लकड़ी का उपयोग जलाने के लिए किया जाय। इस आर्द्रेन्धन-संयोग को न्यायशास्त्र में 'उपाधि' कहते हैं। व्याप्ति के लिए उपाधि का अभाव नितान्त आवश्यक है। अतः हेतु और साध्य के नियत और अनौपाधिक (उपाधिविरहित) सम्बन्ध को व्याप्ति के नाम से पुकारते हैं (हेतुसाध्ययोरनौपाधिको नियतः सम्बन्धो व्याप्तिः, भा० प०, का० ६०--६९)

कतिपय मनुष्यों में मरणधर्मत्व की सत्ता को देखकर समस्त मानवों में उस धर्म की विद्यमानता को मान बैठना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? ऐसी सार्वत्रिक व्याप्ति की स्थिति किस प्रकार प्रमाण-प्रतिपन्न मानी जा सकती है? इसका उत्तर दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से दिया है। बौद्ध नैयायिकों ने (दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि) व्याप्ति के निषेधात्मक पक्षपर विशेषरूप से जोर दिया है, यथा साध्य के अभाव में हेतु की अनुपलब्धि। उनके मतानुसार अविनाभाव का प्रत्येक दृष्टान्त हेतु तथा साध्य के नियत सम्बन्ध को सूचित करता है। यह सम्बन्ध तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्यकारणभाव) पर अवलम्बित रहता है। वेदान्तियों के वक्तव्यानुसार व्याप्ति साहचर्यावलोकन पर अवलम्बित रहती है। दो वस्तु यदि एक साथ सदा रहती हैं (सहचार) तथा इसके विपरीत कोई भी दृष्टान्त हमारी दृष्टि में न आया हो (व्यभिचारादर्शन) तो वेदान्त के अनुसार उनमें व्याप्ति सम्बन्ध माना जा सकता है (व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते व्याप्तिः, वे० प० पृ० ८३)।

नैयायिक लोग व्याप्ति की प्रामाणिकता के विषय में वेदान्तियों के

मत को स्वीकार करते हैं कि अनुभव की एकरूपता व्याप्ति को तथ्य सिद्ध कर सकती है परन्तु अन्वय, व्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिरास, तर्क और सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति---इन साधनों के प्रयोग करने से ही व्याप्ति के तथ्य का यथार्थ परीक्षण किया जा सकता है।

व्याप्ति की सिद्धि करनेके लिए पहली बात आवश्यक है—अन्वय। 'सत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः'। एक वस्तु की सत्ता होने पर दूसरी की सत्ता होना अन्वय कहलाता है यथा धूम की सत्ता होने पर वह्नि की सत्ता। दूसरा साधन व्यतिरेक है—"तदभावे तदभावो व्यतिरेकः"। एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का अभाव हो, यथा वह्नि के अभावस्थलों पर धूम का अभाव। दोनों में किसी प्रकार का व्यभिचार न होना चाहिए (व्यभिचाराग्रह)। इतने साधनों के होनेपर भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती जब तक उपाधि का निरास (दूरीकरण) न किया जाय। अनुकूल तर्क इसका पाँचवाँ सहायक साधन है। धूम तथा वह्नि की व्याप्ति के लिए तर्क की अनुकूलता है कि यदि पर्वत में वह्नि न होता, तो धूम भी नहीं होता। पर धूम की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से निष्पन्न है। अतः तर्क दोनों के साहचर्य का द्योतक है। इतने पर भी सन्देह के लिए स्थान है, पर अन्तिम साधन से उसका सर्वथा निरास किया जाता है। इतना तो निश्चित है कि समग्र मानवों के परीक्षण का अवसर हमें न मिल सकता है और न यह साध्य ही है तथापि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा हम मानवता तथा मरणशीलता के पारस्परिक सम्बन्ध को सिद्ध मानकर समग्र मनुष्यों को मरणशील बताने के अधिकारी हो सकते हैं। इतने उपायों से इस प्रकार प्रमाणित होने से ही व्याप्ति की सत्यता मानने में कथमपि संकोच न होना चाहिए[१]।

---

१ द्रष्टव्य चिन्तामणि का व्याप्तिग्रहोपाय प्रकरण तथा भाषा-परिच्छेद का० १२७ की मुक्तावली।

पाश्चात्य जगत् में न्याय की रूपरेखा ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (अरिस्टाटल) ने निश्चित की थी। कतिपय परिवर्तनों के साथ उनकी उद्भावित शैली तथा सिद्धांतों का अनुगमन आज भी पश्चिमी तर्क करता है। उनके अनुमान वाक्य (सिलाजिज़्म) के साथ 'न्याय' की तुलना अत्यन्त शिक्षाप्रद है। पाश्चात्य अनुमान में आकारगत सत्यता की ही उपलब्धि होती है, तात्त्विक सत्यता की आवश्यकता नहीं मानी जाती, परन्तु भारतीय अनुमान में दोनों प्रकार की सत्यताओं का होना अनिवार्य रहता है। पश्चिमी तार्किक वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) निरपेक्षवाक्य (केटेगारिकल), (२) काल्पनिक (हाइपोथेटिकल), (३) वैकल्पिक (डिसजन्क्टिव), परन्तु भारतीय तार्किक वाक्य केवल प्रथम प्रकार का ही होता है। पश्चिमी न्याय में केवल तीन वाक्यों से अनुमान की पूरी प्रक्रिया निष्पन्न होती है—(१) साध्यवाक्य (मेजर प्रेमिस), (२) पक्षवाक्य (माइनर प्रेमिस) तथा (३) फलवाक्य (कंक्ल्यूजन), परन्तु भारतीय न्यायशास्त्र में ५ वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। पश्चिमी न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी पूर्ण-व्यापी (यूनिवरसल) और कभी अंशव्यापी (पर्टिकूलर) होकर विविधरूप धारण करता है, परन्तु भारतीय न्याय-वाक्य पूर्ण-व्यापी भावात्मक एक ही प्रकार का होता है। परन्तु सबसे महान् अन्तर भारतीय न्याय में 'परामर्श' (उपनय) की स्थिति से है। पश्चिमी न्याय में प्रथम दोनों वाक्यों का समन्वयात्मक वाक्य नहीं होता, परन्तु भारतीय न्याय में हेतु-वाक्य और उदाहरण का एकीकरणात्मकरूप उपनय की सत्ता नितान्त आवश्यक है, वास्तव में परामर्शज्ञान से ही अनुमिति का उदय होता है। यहाँ हेतु के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से समस्त दोष (हेत्वाभास) हेतु के आभास पर अवलम्बित रहते हैं, परन्तु पश्चिमी न्याय में पक्षाभास (एलिसिट माइनर) तथा साध्याभास (एलिसिट मेजर) नामक दोषों की भी सत्ता स्वीकृत की गई है। परा-

पाश्चात्य अनुमानवाक्य से 'न्याय' की तुलना

र्थानुभेद और स्वार्थानुमान प्रकार भी पश्चिमी जगत् में उपलब्ध नहीं होते। मोटे तौर से दोनों में ये स्फुट प्रतीयमान विभेद हैं।

हेत्वाभास

हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती हैं। अतः हेतु के निर्दोषता के विषय में नैयायिकों का विशेष आग्रह रहता है। हेतु में पाँच गुणों के होने पर वह सत्-हेतु कहा जाता है—(१) पक्षे सत्ता (हेतु का पक्ष में रहना), (२) सपक्षे सत्ता (सपक्ष में हेतु का विद्यमान होना); (३) विपक्षाद् व्यावृत्तिः (पक्ष से विपरीत दृष्टान्तों में यथा कूप, जलाशय आदि में हेतु का अभाव); (४) असत्प्रतिपक्षत्वम्। (साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव, (५) अबाधितविषयत्व (प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित न होना)। अनुमान की सत्यता हेतु के इन गुणों पर अवलम्बित रहती है। यदि इन गुणों में से किसी में त्रुटि लक्षित होती है तब सत् हेतु न होकर हेतु का आभासमात्र रहता है (हेतु+आभास) अर्थात् आपाततः हेतु में निर्दुष्टता लक्षित होती है, पर वास्तव में वह दोष से संवलित रहता है। इसे ही 'हेत्वाभास' कहते हैं। बौद्ध न्याय में इनके अतिरिक्त पक्ष और दृष्टान्त के दोषों का भी विस्तृत विवेचन किया गया मिलता है। हेत्वाभास के नाम इस प्रकार हैं—

(१) सव्यभिचार (अनैकान्तिक), (२) विरुद्ध, (३) प्रकरण-सम (सत्प्रतिपक्ष), (४) साध्यसम (असिद्ध), (५) कालातीत (बाधित)।

सव्यभिचार हेतु साध्य के साथ भी रहता है तथा उससे पृथक् भी। इसके तीन प्रकारों में साधारण हेत्वाभास में हेतु साध्य तथा साध्याभाव दोनों में विद्यमान रहता है। असाधारण में हेतु पक्ष में ही

निश्चित रहता है, इसके लिए सपक्ष तथा विपक्ष दृष्टान्त का अभाव रहता है। अन्वय तथा व्यतिरेक दृष्टान्त से रहित हेतु अनुपसंहारी कहलाता है। विरुद्ध हेत्वाभास में हेतु साध्याभाव से व्याप्त रहता है तथा सत्प्रतिपक्ष में उस साध्य के अभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहता है। असिद्ध तीन प्रकार का होता है—(क) आश्रयासिद्ध (पक्ष की असिद्धि होने पर), (ख) स्वरूपासिद्ध (हेतु की असिद्धि होने पर), (ग) व्याप्यत्वासिद्ध (व्याप्ति के सोपाधिक होने पर)। बाधित हेत्वाभास में साध्य का अभाव अनुमान से इतर प्रमाणों से सिद्ध रहता है। अतः साध्य की सिद्धि के लिए अनुमान के प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में हेत्वाभासों का यही सामान्य परिचय है।

(ग) उपमान

उपमान नैयायिकों का तीसरा प्रमाण है। पहिले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'उपमान' कहते हैं। "गो के सदृश गवय होता है" इस वाक्य के श्रवणानन्तर जंगल में जानेवाला पुरुष जब गो की समानतावाले पशु को देखकर उसे 'गवय' पद का वाच्य समझता है तब इस ज्ञान का अनुभव उसे 'उपमान' के द्वारा होता है। अतः उपमान में वस्तुद्वय का सादृश्य-ज्ञान करण है तथा 'गवय गो के समान होता है' इस वाक्य का स्मरण सहकारी कारण है। सादृश्य कई प्रकार का हो सकता है—'एकान्त सादृश्य' एक गाय का दूसरी गाय के साथ; 'कतिपयांश में सादृश्य' गाय का सादृश्य भैंस के साथ तथा 'आंशिक' सादृश्य मेरु तथा सर्षप का सत्तांश में सादृश्य। परन्तु भाष्यकार ने इन सादृश्यों का उपमान के लिए खण्डन किया है और प्रसिद्ध सादृश्य को ही उपयुक्त ठहराया है। समानता के अंगों की विपुल संख्या उपमान में महत्त्वशालिनी नहीं है, प्रत्युत समानता की ख्याति तथा महत्ता। अतः

प्रसिद्ध सादृश्य के बल पर जहाँ संज्ञा तथा संज्ञा का सम्बन्ध स्थापन किया जाता है उसे उपमान कहते हैं (समाख्यासम्बन्ध-प्रतिपत्तिः उपमानार्थः—न्यायवार्तिक १।१।६)।

उपमान के स्वतन्त्र प्रमाण मानने में दार्शनिकों ने बड़ी विप्रतिपत्ति खड़ी की है। चार्वाक उपमान का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते। दिङ्नाग उपमान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं[१]। वैशेषिक लोग इसे अनुमान के अन्तर्मुक्त बतलाते हैं, 'गो सदृश होने से यह पशु गवय है' यह ज्ञान हेतु के ऊपर अवलम्बित होने से अनुमान का एक प्रकारमात्र है[२]। सांख्य[३] उपमान में शब्द तथा प्रत्यक्ष की आंशिक स्थिति मानता है। गवय में गोसादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है तथा गोसादृश्यवान् पशु के गवय होने में उपदेश का वाक्य प्रमाणभूत है। भासर्वज्ञ ने नैयायिक होने पर भी उपमान को शब्द के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। जैनदर्शन उपमान को प्रत्यभिज्ञामात्र मानता है[४]। मीमांसा[५] तथा वेदान्त[६] उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं अवश्य, पर उनकी कल्पना नैयायिक कल्पना से नितान्त भिन्न पड़ती है। इन विप्रतिपत्तियों का मार्मिक खण्डन न्यायग्रन्थों में किया गया है। वास्तव में उपमान अंशतः अन्य प्रमाणों के ऊपर अवलम्बित होने पर भी अन्ततः एक स्वतन्त्र प्रमाण है। उपमान सीधा सादा न होकर एक मिश्रित व्यापार है। 'गवय गोसमान पशु होता है' इस अंश में शब्द की, गवय में गोसादृश्य के अनुभव में प्रत्यक्ष की, 'यही गवय है' इस अंश में पूर्ववाक्य की स्मृति तथा अनुमान की सत्ता भले ही सिद्ध मानी जाय, परन्तु 'गवयपद का वाच्य यही गवयपशु है' इस अंश में उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है

(१) न्यायवार्तिक १—१—६। (२) द्रष्टव्य उपस्कार वै० सू० ६।२।५ सूत्र पर। (३) द्रष्टव्य तत्त्वकौमुदी, कारिका ५। (४) प्रमेय कमलमार्तण्ड पृ० ९७-१०० (५) शास्त्रदीपिका पृ० ७४—७६। (६) वेदान्तपरिभाषा परिच्छेद ३।

ही, क्योंकि यह अंश किसी अन्य प्रमाण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

(घ) शब्द

शब्द अन्तिम प्रमाण है। आप्तोपदेशः शब्दः (न्या० सू० १।१।६)। किसी आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द कहते हैं। 'आप्त' वह कहलाता है जो वस्तु को यथार्थरूप से जानता है तथा हितोपदेष्टा होने के कारण जिसके वाक्यों को हम प्रमाण मान सकते हैं। लौकिक तथा वैदिक रूप से शब्द दो प्रकार हैं। लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्य को कहते हैं। वैदिक शब्द श्रुति के वाक्य को कहते हैं। पद के समूह को वाक्य कहते हैं। पद शक्ति से सम्पन्न रहता है। नैयायिक लोग दो प्रकार की शक्ति मानते हैं—अभिधा तथा लक्षणा। पदशक्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। प्राचीन नैयायिकगण ईश्वर की इच्छा को संकेत मानते हैं। 'यह शब्द इस अर्थ को बोध करे' इसी ईश्वरेच्छा पर शब्द-संकेत निर्भर रहता है, पर नव्यनैयायिक पुरुष की इच्छा को भी संकेत का कारण मानते हैं। संकेतग्रह के विषय में भी दार्शनिकों में गहरा मत-भेद है। न्याय जाति, व्यक्ति तथा आकृति—इन तीनों के ऊपर संकेत स्वीकार करता है। वाक्यार्थ-बोध के लिए आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का रहना नितान्त आवश्यक है।

वेद के विषय में नैयायिकों तथा मीमांसकों ने बड़ा विचार किया है, पर दोनों के विचार एक दूसरे से अत्यन्त विभिन्न पड़ते हैं। ईश्वर की सत्ता न माननेवाली मीमांसा को वेद के विषय में ईश्वर की कर्तृता अंगीकृत नहीं हो सकती। अतः पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उद्भूत न होने से वेद 'अपौरुषेय' है, परन्तु न्याय जगत्कर्तृरूप से ईश्वर को मानता है। अतः वह वेद को ईश्वरकर्तृक होने से 'पौरुषेय' मानता है। जयन्त-भट्ट ने वेद की पौरुषेयता सिद्ध करने के लिए बड़ी प्रबल युक्तियों का उपन्यास किया है। मीमांसक वेदको नित्य मानते हैं, परन्तु नैयायिक अनित्य। जब वेद कार्य हुआ तब वह नित्य कैसे हो सकता है? परन्तु

उसकी अनित्यता जगत् के पदार्थों की अनित्यता के समान नहीं है।

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थकारों में वेद में अनेक दोषों की उद्भावना की है, पर इनका खण्डन न्याय तथा मीमांसा ने बड़ी तर्ककुशलता के साथ किया है। वेद-प्रामाण्य न मानने पर भी जैन तथा बौद्धदर्शन शब्द प्रमाण को मानते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण दार्शनिकों को वेदवचन प्रमाणभूत हैं, उसी प्रकार बौद्धों को बुद्धवचन (पाली त्रिपिटक) तथा जैनों को जैनागम (अर्धमागधी में लिखित 'अंग') माननीय हैं। अतः शब्द इन दोनों के लिए भी ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है।

कार्य कारण सिद्धान्त

प्रमाण का लक्षण देते समय हमने ऊपर 'करण' शब्द का प्रयोग किया है। असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं—वह विशिष्ट वस्तु जो किसी कार्य के उत्पादन में विशेषरूपसे कारण हो, 'करण' कहलाती है। यहाँ 'कारण' का विचार अप्रासंगिक न होगा। कार्य के नियत रूप से पूर्वमें होने वाली वस्तु 'कारण' कहलाती है; नियत पूर्ववर्ती कहने से तात्पर्य यह है कि उस कार्य के वास्ते बिना किसी व्यवच्छेद के उस वस्तु को पूर्ववर्ती होना ही चाहिए। यदि यह पूर्ववर्तिता कादाचित्क है—कभी है और कभी नहीं है, तो उसे कारण नहीं माना जा सकता। कारण को अनन्यथा-सिद्ध होना भी उतना ही आवश्यक है। उन वस्तुओं को 'अन्यथासिद्ध' कहते हैं जिनकी कार्यविशेष के लिए उपादेयता उतनी उत्कट रूप से नहीं होती। विश्वनाथ ने पाँच प्रकार के 'अन्यथासिद्धों' का वर्णन किया है[1]। दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश, कुलालपिता तथा अपनी पीठ पर मिट्टी लाने वाला गर्दभ—इन सब की घटोत्पादन में कारणता नहीं होती, क्योंकि नियतपूर्ववर्ती होने पर भी ये अन्यथासिद्ध हैं। मिट्टी के लाने में गर्दभ का बहुल प्रयोग होने पर भी उसमें घट के प्रति कारणता नहीं हो सकती है, क्योंकि

१ कारिकावली-कारिका २०–२२

दूसरे साधनों से भी वही कार्य निष्पन्न किया जा सकता है। अतः गर्दभ को घटोत्पत्ति के प्रति नितान्त आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार 'कारण' का मान्य लक्षण है—अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् (दीपिका पृ० २५ तथा मुक्तावली का० १६)। प्रागभाव के प्रतियोगी की संज्ञा 'कार्य' हैं (कार्यं प्रागभाव-प्रतियोगि)। जिस वस्तु का अभाव होता है, उसे अभाव के प्रति 'प्रतियोगी' कहते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कारण (मृत्तिका) में कार्य (घट) का अभाव 'प्रागभाव' है। इसके प्रतियोगी अर्थात् घट को कार्य कहेंगे।

कार्य-कारण सम्बन्ध की मीमांसा दर्शनशास्त्र का एक नितान्त मौलिक कार्य है, क्योंकि इसी सम्बन्ध पर अन्य सिद्धान्तों की संगति सिद्ध होती है। कार्य-कारण का सम्बन्ध चार प्रकार का माना जाता है—(१) असत् से सत् की उत्पत्ति (बौद्ध),(२)सत् से सत् की उत्पत्ति (सांख्य-सत्कार्यवाद), (३) सत् से असत् कार्य का उदय (वेदान्त—विवर्तवाद), तथा (४)सत् से उत्पत्ति से प्रथम असत् कार्य की उत्पत्ति (न्याय)। न्याय के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व नहीं रहती अर्थात् कारण-सामग्री के उपयोग करने से मृत्तिका में 'घट' नामक एक अभूत-पूर्व नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है। नैयायिक दृष्टि में कार्य उपादान-कारण से एकदम भिन्न है। जिस सूत्र-समूह से पट बनता है, वह सूत ही कपड़ा नहीं है प्रत्युत कपड़ा सूत से अत्यन्त भिन्न है। कार्य कारण व्यापार से पूर्व कारण मे विद्यमान नहीं रहता। अतः इस सिद्धान्त का नाम असत्-कार्यवाद या आरम्भवाद है।

कारण तीन प्रकार का होता है—समवायी कारण, असमवायी कारण तथा निमित्त कारण। जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हुए कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे समवायी कारण (या उपादान कारण) कहते हैं जैसे घड़े के लिए मिट्टी। समवायिकारणता द्रव्य की ही होती है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए

जो कारण होता है, वह असमवायी कहलाता है। तन्तु-संयोग पटका असमवायी कारण है, क्योंकि पटरूपी कार्य के साथ तन्तुसंयोग तन्तुरूप एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध में निवास करता है। कारण पट के साथ तन्तुरूप एक ही तन्तु में समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान है, अतः तन्तुरूप पटरूप का असमवायी कारण है। असमवायी कारण नैयायिकों की अपनी खास सूझ है जिसे अन्य दार्शनिकों ने खण्डन करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं। गुण तथा क्रिया ही असमवायी कारण हो सकते हैं। इन दोनों से भिन्न कारण को निमित्त कारण कहते हैं जैसे घड़े का बनाने वाला कुलाल तथा उसके औजार। इन त्रिविध कारणों की परस्पर सहकारिता से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इन तीनों में से कार्योत्पत्ति के लिए जो असाधारण-विशिष्ट या नितान्त साधक है उसे 'करण' कहते हैं (साधकतमं करणम् अष्टा० १।४।४२)।

(४) न्याय तत्त्व समीक्षा

न्यायसूत्र (१।१।९) में प्रमेय के द्वादश भेद स्वीकृत किये गये हैं—(१) आत्मा-सब वस्तुओं का देखने वाला, भोग करने वाला जानने वाला। (२) शरीर-भोगों का आयतन या आधार; (३) इन्द्रिय—जिनके द्वारा आत्मा बाह्य वस्तुओं का भोग करता है—भोगों के साधन, (४) अर्थ-भोग किये जाने वाले वस्तुजात; (५) बुद्धि—भोग, ज्ञान; (६) मन—सुख-दुःख आदि आन्तर भोगों का साधनभूत इन्द्रिय; (७) प्रवृत्ति—मन, वचन तथा शरीर का व्यापार; (८) दोष—जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है; (९) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म; (१०) फल—सुखदुःख का संवेदन या अनुभव; (११) दुःख-इच्छाविघातजन्य क्लेश या पीड़ा; (१२) अपवर्ग—दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति। इन्हीं पदार्थों का ज्ञान मुक्ति के लिए सहायक है। अतः इन वस्तुओं को 'प्रमेय' कहते हैं।

प्रमेय

जगत् तथा आत्मा की नैयायिक कल्पना वैशेषिक के समान ही है। अतः इनका रूप अगले परिच्छेद में विवेचित किया जायगा।

उदयनाचार्य ने न्याय-कुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सिद्धि अकाट्य युक्तियों के सहारे की है। उन्हीं की कतिपय युक्तियाँ संक्षेप में दी जाती

ईश्वर सिद्धि के प्रमाण

हैं—(१) कार्यात्—जगत् के समस्त पदार्थ परमाणुजन्य, सावयव तथा अवान्तर महत्वविशिष्ट हैं। कार्य के लिए कर्ता की सत्ता मानना उचित ही है। घट की उत्पत्ति तदुत्पादक कुलाल की सत्ता के बिना न्यायसंगत नहीं है; उसी प्रकार कार्यरूप इस जगत् की सृष्टि करने वाला कोई चेतन पदार्थ अवश्य होगा (२) आयोजनात्—सृष्टि के अवसर पर परमाणुद्वय के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। परन्तु जड़ परमाणुओं का एक साथ आयोजन होना स्वयं सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए किसी चेतन पदार्थ की कल्पना नितान्त तर्कयुक्त है। (३) धृत्यादेः—तीसरी युक्ति संसार के धारण करने के विषय में है। यदि कोई चेतन धारण करने वाला न होता, तो यह जगत् कब का गिर गया होता। इस सृष्ट जगत् का नाश प्रलयकाल में होता है। अतः नाश के लिए किसी नाश-कर्ता की आवश्यकता बनी हुई है। (४) पदात्—इस जगत् में अनेक काल-कौशल विद्यमान हैं; जैसे वस्त्र का बनाना, गृह की एक विशिष्ट प्रकार से रचना करना। इस सम्प्रदाय-व्यवहार के लिए, इसकी उत्पत्ति के लिए, किसी ज्ञानवान् व्यक्ति की कल्पना करना पड़ता है। (५) प्रत्ययतः-श्रुति हमारे लिए परम प्रमाण है। उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों में किसी प्रकार की त्रुटि या विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती। कितने भी कुशाग्रबुद्धि के द्वारा किया गया अनुमान श्रुति की शिला पर पटके जाने से, विरुद्ध होने पर चूर चूर हो जाता है। श्रुति की इस प्रमाण-श्रेष्ठता का रहस्य क्या है? यही कि यह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा निर्मित्त की गई है। श्रुति का ज्ञान ईश्वर का परिचायक है। (६)

श्रुतेः-श्रुति स्पष्ट शब्दों में ईश्वर की सिद्धि बतलाती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।११) प्रतिपादित कर रहा है कि ईश्वर सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, सब प्राणियों की अन्तरात्मा है, वह सबका नियामक तथा रक्षक है। भगवद्गीता (९।१७) में श्रीकृष्ण ने अपने को जगत् का पिता, माता, धाता तथा प्रभव, प्रलय तथा स्थान बतलाया है। (७) वाक्यात्—महाभारत आदि ग्रन्थों के रचयिता के समान वाक्यभूत वेदों का भी कोई न कोई रचयिता अवश्य होगा। (८) संख्याविशेषात्—द्व्यणुक में परिमाण की उत्पत्ति परमाणु गत परिमाण (पारिमाण्डल्य) से न होकर परमाणुगत संख्याद्वय से होती है, ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है। यह द्वित्व संख्या अपेक्षाबुद्धि के द्वारा उत्पन्न होती है जो चेतन व्यक्ति के ही द्वारा निष्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में द्व्यणुकों में संख्या की उत्पत्ति ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर रही है। (९) अदृष्टात्—धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म का अपर नाम अदृष्ट है। अदृष्ट कर्म फल के उत्पादन में कारणभूत माने जाते हैं, परन्तु जड़ अदृष्ट में फलोत्पादन शक्ति बिना चेतन की प्रेरणा से सम्भव नहीं। अतः अदृष्ट की फलवत्ता के लिए ईश्वर को मानना ही न्यायसंगत होगा। इन युक्तियों की सहायता से न्याय ईश्वर की सिद्धि स्वीकार करता है[1]।

(५) न्याय-आचारमीमांसा

न्याय-वैशेषिक में आचार की सूक्ष्म मीमांसा बड़े विस्तार के साथ की गई है। विश्वनाथ ने मुक्तावली का० १४७-१५० में इस विषय की

---

१ इन युक्तियों को संक्षेप में उदयनाचार्य के न्यायकुसुमांजलि (५।१) के एक श्लोक में इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

समीक्षा बड़े मार्मिक ढंग से की है। मनुष्य को प्रत्येक चिकीर्षा (करने की इच्छा) किसी विशेष प्रयोजन के ऊपर आश्रित रहती है। चिकीर्षा के तीन हेतु हैं—(१) कृतिसाध्यता ज्ञान—इन बात का ज्ञान कि यह कार्य हमारे द्वारा साध्य हो सकता है; (२) इष्टसाधनताज्ञान—कार्य के करने से किसी अभिलषित वस्तु की सिद्धि का ज्ञान; (३) बलवदनिष्टाजनकताज्ञान—बलवान् अनिष्ट के न उत्पन्न होने का ज्ञान। इन तीनों ज्ञानों की चिकीर्षा के प्रति हेतुता है, प्रथम दो भावात्मक हेतु और अंतिम अभावात्मक हेतु है। समग्र प्रवृत्त के मूल ये ही हैं। कार्य हमारे प्रयत्नों से साध्य हो सकता है, इसका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इस ज्ञान के अभाव में वर्षा की उत्पत्ति में अथवा चन्द्रमण्डल के पकड़ने में जीव की प्रवृत्ति नहीं होती। अभीष्ट वस्तु की सिद्धि का ज्ञान भी जब तक नहीं है, तब तक हमारी प्रवृत्ति हो नहीं सकती। तृप्त पुरुष के भोजन में अप्रवृत्ति का कारण यही है। बलवान् अनिष्ट की अनुत्पत्ति का ज्ञान भी प्रवृत्ति उत्पन्न करने में साधक होता है। रोग से दूषितचित्त पुरुष विषभक्षण कर आत्महत्या इसीलिये कर लेता है कि उसे बलवान् अनिष्ट न उत्पन्न होने का ज्ञान रहता है। उपादान का प्रत्यक्ष होना भी इसी प्रकार हेतु होता है। संक्षेप में प्रवृत्ति के दो कारण हैं—कार्यताज्ञान (इस कार्य का करना हमारा कर्तव्य है,इसका ज्ञान) तथा इष्टसाधनताज्ञान (कार्य के करने से इष्ट वस्तु की उत्पत्ति का ज्ञान)। प्रथम पक्ष प्राभाकर मीमांसकों का है। द्वितीय पक्ष नैयायिकों तथा भाट्टमतानुयायी मीमांसकों का। प्रवृत्ति के तीन कारण है राग (सुख देने वाले पदार्थों में आसक्ति), द्वेष (प्रतिकूल वस्तुओं से विरक्ति) तथा मोह (वस्तु के यथार्थ रूप न जानने से मिथ्याध्यवसाय, वस्तुपरमार्थापरिच्छेदलक्षणो मिथ्याध्यवसायो मोहः) ये तीन प्रवृत्ति के साक्षात्कारण हैं। ये तीनों विशिष्ट समुदाय के प्रतिनिधि हैं। अतः गौतम ने ४।१।३ सूत्र में इनके सम्मिलित रूपको 'त्रैराश्य' कहा है। रागपक्ष में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा तथा लोभ की

गणना है। द्वेषपक्ष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष का तथा मोहपक्ष में मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा (किं स्विदिति विमर्शः=यह क्या है ? ऐसा विचार), मान (असद्गुणाध्यारोपेण स्वोत्कर्षबुद्धिः=अविद्यमान गुणों की कल्पना कर अपने को उत्कृष्ट मानना=घमण्ड), प्रमाद (असावधानता) का समावेश किया जाता है। प्राणिमात्र के समस्त प्रवृत्तियों का उदय इन्हीं कारणों से होता है। परन्तु राग द्वेष के उत्पादक होने से प्रवृत्ति में सब से अधिक हेतुता है मोह की। वात्स्यायन के द्वारा निर्दिष्ट पूर्वोक्त दोषों का विस्तृत वर्णन जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी (प्रवर्तनालक्षण दोषा १।१।१८) में किया है।

वचन, मन तथा शरीर के आरम्भ को प्रवृत्ति कहते हैं (न्या० सू० १।१।१७) प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है[1]—पापिका तथा पुण्या। कायिक, वाचिक तथा मानसिक भेद से ये दोनों तीन प्रकार के होते हैं। पूर्वोक्त दोषों के वश होकर प्राणी शरीर से अहिंसास्तेयादि कर्मों को करता है, वचन से मिथ्या परुषादि वाक्यों का उच्चारण करता है, मन से परद्रोह, नास्तिक्य आदि करता है। यह पापात्मिका प्रवृत्ति अधर्म उत्पन्न करती है। शरीर से दान परित्राणादि का; वचन से सत्य हितादि का, मन से दयाश्रद्धादि का आचरण पुण्य प्रवृत्ति है जो धर्म की उत्पत्ति करती है।

सूत्रकार के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को 'अपवर्ग' कहते हैं (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः १।१।२२)। 'अत्यन्त' का अभिप्राय है कि

मुक्ति

उपात्त जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनुत्पादन। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, परन्तु भविष्य जन्म का न होना भी उतनी ही आवश्यक है। इन दोनों की सिद्धि होने पर आत्मा का दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति

१ द्रष्टव्य न्यायभाष्य १।१।२; न्यायमञ्जरी न्या० सू० १।१।१७।

सम्पन्न होती है। जब तक वासनादि आत्मगुणों का उच्छेद सिद्ध नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मुक्तावस्था में आत्मा के नवों विशेषगुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार—का मूलोच्छेद हो जाता है। धर्म तथा अधर्म के कारण ही सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः ये दोनों संसाररूपी प्रासाद के स्तम्भरूप हैं। इन गुणों के उच्छेद होने से शरीरादि कार्यों का अभाव हो जाता है। भोगायतन शरीर के अभाव में इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादिकों के साथ आत्मा का सम्बन्ध कथमपि सिद्ध नहीं होता। अतः न्याय मुक्तावस्था में आत्मा के विशेषगुणों का अत्यन्ताभाव अंगीकार करता है। मुक्त आत्मा के स्वरूप का सुन्दर परिचय न्यायमञ्जरी (पृ० ७७) में दिया गया है—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम्॥

अर्थात् मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहता है। 'ऊर्मि' का अर्थ क्लेश विशेष है। भूख प्यास प्राण के, लोभ-मोह चित्त के, शीत आतप शरीर के-क्लेशदायक होने से ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छः ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है और दुःख क्लेशादि सांसारिक बन्धनों से वह विमुक्त हो जाता है।

मुक्त आत्मा में सुख का भी अभाव रहता है। अतः मुक्तावस्था में आनन्दोपलब्धि नहीं होती। इस सिद्धान्त का मण्डन नैयायिकों ने बड़े आग्रह के साथ किया है[1]। वेदान्तियों का मत इसके ठीक विपरीत पड़ता है। इसका खण्डन जयन्तभट्ट ने बड़े विस्तार के साथ किया है।

---

१ द्रष्टव्य १।१।२२ सूत्र पर न्यायभाष्य और वार्तिक।

(पृ० ७८-८१)। उनके कथन का सारांश यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध लगा हुआ है और यह राग बन्धन का साधन है। अतः मोक्ष को सुखात्मक मानने में बन्धन की निवृत्ति कथमपि हो नहीं सकती ? 'आनन्दं ब्रह्म' आदि आनन्द-बोधक वाक्यों का तात्पर्य दुःखापाय बोधन में ही है। ज्वर या शिरःपीड़ादि-व्याधि-दुःखों के निवृत्त हो जाने पर सुखी होने की कल्पना लोक व्यवहार में भी न्याय्य मानी जाती है। उद्योतकर ने दो प्रकार का निःश्रेयस माना है[1]—(१)अपरनिःश्रेयस तथा (२)परनिःश्रेयस। तत्त्वज्ञान ही इन दोनों का कारण है। जीवन्मुक्ति को अपरनिःश्रेयस कह सकते हैं, पर निःश्रेयस विदेहमुक्ति है। वाचस्पति ने तात्पर्य टीका (पृ० ८०-८१) में इन दोनों का अन्तर विस्तार से विवेचन किया है। आत्मा के विषय में चार प्रतिपत्तियाँ हैं—श्रवण मनन, ध्यान तथा साक्षात्कार। आन्वीक्षिकी का उपयोग संशयादितत्त्व तथा प्रमाणतत्त्व के बोधन में होता है, परन्तु मनन से भी तुरन्त साक्षात्कार का उदय नहीं होता, क्योंकि विपर्यय ज्ञान के नाश हो जाने पर भी उसकी वासना का उपक्षय नहीं होता। ध्यान आत्मसाक्षात्कार के लिए नितरां उपादेय है। बिना योगज-ध्यान के आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। चतुर्थी प्रतीति पाने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं। परन्तु प्रारब्धकर्मों का सम्बन्ध तब तक भी लगा ही रहता है। इनको भी उपभोग से जब क्षीण कर देते हैं, तभी परनिःश्रेयस का उदय होता है (परं निःश्रेयसं न तावद् भवति यावत् उपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते। तस्मात् तत्त्वसाक्षात्काराधानप्रयत्नात् परः तदुपभोगप्रयत्नश्चास्थेयः। तथा च न तुल्यकाल उत्पादः परापरयोर्निःश्रेयसयोः—तात्पर्यटीका पृ० ८१)।

१ निःश्रेयसस्य परापरभेदात्। यत्तावदपरं निःश्रेयसं तत् तत्त्वज्ञानान्तरमेव भवति। परं च निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानात् क्रमेण भवति—न्यायवार्तिक १।१।१।

अब मुक्ति के साधनों पर विचार करना आवश्यक है। गौतम ने दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावात् अपवर्गः (१।१।२) सूत्र में मोक्षमार्ग के स्वरूप का परिचय दिया है। मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि दोषों का सद्-भाव होता है, उनसे शुभा या अशुभा प्रवृत्ति का उदय होता है जिससे शरीर धारण करना पड़ता है। जन्म देने से प्रतिकूल संवेदनात्मक दुःखों की उत्पत्ति होती है। मिथ्याज्ञान आदि का अविच्छेदेन सदा प्रवर्तमान होना संसार है। इस संसारोच्छेद के लिए कारण मिथ्याज्ञान है जिस का समुच्छेद नितान्त स्पृहणीय है। मिथ्याज्ञान का धंस होता है तत्त्व ज्ञान से। अतः आत्मस्वरूप विषयक तत्त्वज्ञान से ही दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप अपवर्ग की सिद्धि होती है। जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी (पृ० ८९-९१) में कर्मज्ञानसमुच्चयवाद का विशदरूपेण खण्डन कर ज्ञान की ही उप-योगिता पर जोर दिया है। परन्तु तत्त्वज्ञान से आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि के लिए ध्यान धारणादि योग प्रसिद्ध उपायों का अवलम्बन श्रेयस्कर है। गौतम ने 'तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगा-च्चाध्यात्मविंध्युपायैः'। (न्या० सू० ४।२।४६) सूत्र में प्राणायाम आदि उपायों के आश्रय लेने की बात स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादित की है।

मुक्ति मार्ग

(६) समीक्षा

न्यायदर्शन की भारतीय दर्शन साहित्य को सबसे अमूल्य देन शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति है। प्रमाण की विस्तृत व्याख्या तथा विवे-चना कर न्यायके जिन तत्त्वों को खोज निकाला है, उनका उपयोग अन्य दर्शन भी कुछ परिवर्तनों के साथ अपने विवरणों में निश्चय रूपसे करते हैं। हेत्वाभासों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत कर न्याय ने अनुमान को दोषनिर्मुक्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इसपर कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का यह आक्षेप है—गौतम मुनि को अपने दर्शन में अपवर्ग

के साधक तत्त्वज्ञान का वर्णन करना उचित था, परन्तु इसके विपरीत उन्होंने छल वितण्डा जाति आदि का वर्णन करके परमर्म के भेदन में अपने अमूल्य समय को व्यर्थ बिताया[१]। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, इनका उपयोग परमर्म के भेदन में ही नहीं किया जाता है। सूत्रकार ने स्वयं तत्त्वाध्यवसाय के रक्षणार्थ जल्पवितण्डा को उसी प्रकार उपयोगी माना है जिस प्रकार कण्टक-शाखा का आवरण बीज के अंकुरों की रक्षा करता है (न्या० सू० ४।२।५०)। अतः छल आदि का उपयोग विनाशात्मक न होकर रचनात्मक है। इनके अभाव में सूक्ष्ममति नास्तिकों की अपात-रमणीय युक्तियों से प्रतारित होकर साधारण मनुष्य न जाने कब का उन्मार्ग का पथिक बन गया होता? अतः इनके वर्णन करने में गौतम की निसर्ग-निर्मल करुणावृत्ति झलकती हुई दीख पड़ती है[२]।

परन्तु न्यायदर्शन की तर्कपद्धति जितनी सन्तोषजनक है, उतना उसका तत्त्वज्ञान सन्तोषजनक नहीं है। न्याय ने इस जगत् को ज्ञान से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्तात्मक वस्तु बतलाया है तथा उसमें अनेक नित्य पदार्थों की कल्पना की है। आत्मा के अतिरिक्त परमाणु, मन, आकाश; काल तथा दिक् सब नित्य माने जाते हैं। इस दृष्टि से जगत् की व्याख्या करने में अनेक त्रुटियाँ परिलक्षित होती हैं। न्याय की व्याख्या में इतने नित्य पदार्थों के अस्तित्व मानने के लिए कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। सच्चा दर्शन वही हो सकता है जिसमें एक नित्य पदार्थ की

---

१ द्रष्टव्य अन्ययोग-व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक १०।

२ दुःशिक्षित-कुतर्कांश-लेश-वाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्-प्रतारितः ।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥ न्यायम० (पृ. ११)

सत्ता मानकर समस्त पदार्थों का सम्बन्ध उसी ने प्रदर्शित किया जाय तथा सद्वस्तु के एकत्व पर जोर दिया जाय। इस सिद्धान्त के अनंगीकार करने से न्याय में अनेक दोष दृष्टिगत होते हैं।

ईश्वर को निमित्तकारणरूप से जगत् का स्रष्टा बतलाकर न्यायदर्शन ने उसमें मानवीय भावों की कमजोरियों को उपस्थित कर दिया है। नैयायिक ईश्वर लौकिक कर्ता के अनुरूप कल्पित किया है। जिस प्रकार बढ़ई अपने हथियारों से काठ को काट-पीट कर कुरसी, टेबुल आदि बनाया करता है और जिस प्रकार दूकान में बैठा हुआ लोहार लोहे से तरह तरह के सामान बनाया करता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर परमाणुओं से जगत् की सृष्टि किया करता है। वह इस सृष्टिकार्यके लिए उपादान कारणों के ऊपर अवलम्बित रहता है। उपादानों की सत्ता पर अवलम्बित रहनेवाला ईश्वर किस प्रकार सर्वशक्तिमान् तथा परमस्वतन्त्र माना जा सकता है? वेदान्त ने ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण दोनों एक साथ मानकर इस अनुपपत्ति को दूर कर दिया है, परन्तु न्याय में इस युक्ति का निरास कथमपि नहीं किया जा सकता।

न्याय ने आत्मा के स्वरूप की स्वतन्त्रता दिखलाकर तथा उसे शरीर और इन्द्रियों से पृथक् स्थायी नित्य पदार्थ प्रमाणित कर चार्वाक तथा बौद्ध के सिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन किया है तथा आत्मा की स्वतन्त्रता भली प्रकार प्रदर्शित की है, परन्तु मुक्त आत्मा की जो कल्पना की है, वह दार्शनिकों के प्रबल खण्डन का विषय है। नैयायिक मुक्ति का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के कौतुकावह कटाक्ष का विषय है। मुक्तावस्था में समस्त अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में नित्य आनन्द को मानने वाले वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नैयायिक मुक्ति की जो दिल्लगी उड़ाई है वह पण्डितसमाज में अपनी रोचकता के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। उनका कथन है जिन सूत्रकार ने सचेता पुरुषों के लिए ज्ञानसुखादि विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य

बतलाकर उपदेश दिया है उनका अभिधान गौतम शब्दतः ही यथार्थ नहीं हैं, अपितु अर्थतः भी है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गोतम (अतिशयेन गौः—गोतमः) पक्का बैल है[1]। वैष्णव दार्शनिकों ने भी इसीलिए नैयायिकों के ऊपर फबतियाँ सुनाई हैं। मुक्तावस्था में आनन्द धाम गोलोक तथा नित्यवृन्दावन में सरस विहार करने की व्यवस्था बतलाने वाले वैष्णव लोग इस नीरस मुक्ति की कल्पना से घबरा उठते हैं और भक्तों के भावुक हृदय पुकार उठते हैं कि वृन्दावन के सरस निकुंजों में शृगाल बन कर जीवन बिताना हमें मंजूर है, परन्तु हम लोग वैशेषिक मुक्ति को पाने के लिए कथमपि इच्छुक नहीं है[2]। यह आक्षेप केवल नैयायिकों के ही ऊपर नहीं है। अन्य दार्शनिकों के मत से भी मुक्ति में दुःखाभाव ही रहता है, सुख नहीं। सांख्य आदि समस्त दार्शनिकों के प्रति भी यही आक्षेप है। नैयायिक विशेष विद्वान् होने से इस मण्डली का प्रतिनिधित्व करता है।

---

१ मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
—नैषधचरित १७। ७५।

२ वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥
—स० सि० सं० पृ० २८

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक दर्शन

पण्डितमण्डली में एक प्रसिद्ध कहावत प्रचलित है—काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्। अर्थात् कणाद दर्शन तथा पाणिनीय व्याकरण सब शास्त्रों में उपाकारक होते हैं। शब्द के यथार्थ निर्णय में पाणिनीय व्याकरण के ही समान पदार्थों के स्वरूप-निर्णय में वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपादेय है। इस दर्शन का नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूक्य दर्शन है। अन्तिम दोनों नाम इसके आद्य प्रवर्तक उलूक ऋषि के पुत्र महर्षि कणाद के नाम पर दिये गये हैं, पर 'वैशेषिक' नाम का रहस्य क्या है? इसके रहस्य को विद्वानों ने भिन्न भिन्न रूप से बतलाया है। चीनदेशीय दार्शनिक चित्सान (५४६–६२३ ई०) तथा क्वहेइची (६२३–६८२ ई०) के द्वारा संगृहीत एक प्राचीन परम्परा के अनुसार कणाद सूत्रों का 'वैशेषिक' नामकरण अन्य दर्शनों से, विशेषतः सांख्यदर्शन से, विशिष्ट अर्थात् अधिक युक्तियुक्त होने के कारण किया था[1]। पर भारतीय विद्वन्मण्डली के अनुसार 'विशेष' नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना करने के कारण कणाद दर्शन की 'वैशेषिक' संज्ञा प्राप्त हुई है (व्या०भा० १।४९)।

नामकरण

वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति कब हुई? बौद्ध ग्रंथों में (मिलिन्द प्रश्न, लंकावतार-सूत्र, ललितविस्तर आदि) वैशेषिक दर्शन का नामोल्लेख पाया

---

१ द्रष्टव्य डा० उई (Dr. Ui.)—वैशेषिक फ़िलासफ़ी पृ० ३-७।

जाता है; इन ग्रन्थों में न्याय सिद्धान्तों को भी वैशेषिक नाम से ही स्मरण किया है। सांख्य तथा वैशेषिक मतों को बुद्ध से पूर्वकालीन मानने में बौद्ध सम्प्रदाय की एकवाक्यता दीख पड़ती है। जैनों की तत्त्व-समीक्षा सम्भवतः वैशेषिक पदार्थों की कल्पना पर आश्रित है। अतः वैशेषिक दर्शन जैन तथा बौद्ध दोनों से प्राचीनतर प्रतीत होता है।

(१) वैशेषिक दर्शन के आचार्य

इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। त्रिकाण्डशेष कोष में इनका दूसरा नाम 'काश्यप' मिलता है तथा किरणावली में उदयनाचार्य ने इन्हें कश्यप मुनि का पुत्र बतलाया है। अतः इनके गोत्र नाम 'काश्यप' होने में सन्देह नहीं है। श्रीहर्ष ने नैषध (२२।३६) में कणाददर्शन की औलूक संज्ञा दी है। वायुपुराण में कणाद प्रभास निवासी सोमशर्मा के शिष्य और शिव के अवतार बतलाये गये हैं[१]। अतः कणाद मुनि काश्यप गोत्री, सोमशर्मा के शिष्य तथा उलूक मुनि के पुत्र थे।

कणाद

वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है और वे १० अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में द्रव्य, गुण तथा कर्म के लक्षण तथा विभाग का, दूसरे आह्निक में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्यायों में नव द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय के प्रथमाह्निक में परमाणुवाद का तथा द्वितीयाह्निक में अनित्य-द्रव्य-विभाग का, पञ्चम अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय में वेद-प्रामाण्य के विचार के बाद धर्माधर्म का, ७ वे तथा ८वें अध्याय में कतिपय गुणों का, ९ वें अध्याय में अभाव तथा ज्ञान का, १० वें में सुख-दुःख-विभेद तथा त्रिविध कारणों का वर्णन किया गया है। न्यायसूत्रों

१ न्यायकन्दली की म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी की प्रस्तावना पृ० ७—१०।

से तुलना करने पर वैशेषिक सूत्र प्राचीन ठहरते हैं। इनका रचनाकाल तृतीय शतक विक्रम पूर्व है[1]।

रावण भाष्य

वैशेषिक सूत्रों पर यही सबसे पुराना भाष्य था जिसका पता ग्रन्थों के निर्देशों से ही चलता है। ग्रन्थ स्वयं अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। किरणावली में उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद के पदार्थधर्म-संग्रहको लघु बतलाया है तथा भाष्य को विस्तृत। पद्मनाभमिश्र के किरणावली-भास्कर के अनुसार भाष्य कोई विशिष्ट ग्रन्थ है। २-२-२१ ब्र० सू० शांकरभाष्य में दो द्व्यणुत्र को मिलकर चतुरणुक बनने की बात लिखी है (द्वे द्वयणुके चतुरणुकमारभेते)। प्रकटार्थ विवरण (जिसका निर्देश रत्नप्रभा में हैं) के अनुसार यह प्राचीन मत रावण भाष्य में प्रतिपादित है (रावण-प्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तन वैशेषिक दृष्टयेदं भाष्यमित्याहुः—रत्नप्रभा) रावणभाष्य में प्रतिपादित यह मत प्राचीन है तथा प्रशस्तपाद के सम्प्रदाय से नितान्त भिन्न है। अनर्घरावण (पञ्चम अंक, विष्कम्भक) में रावण अपने को 'वैशेषिक कटन्दी पण्डितः' कहता है। रुचिपति उपाध्याय ने 'कटन्दी' को रावणभाष्य का नाम बतलाया है। इसके स्थान पर 'कन्दली' पाठ भी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि अष्टम शतक में रावण के वैशेषिक पण्डित होने तथा भाष्य लिखने की बात इतनी प्रसिद्ध थी कि उसका श्रेय रामायण के प्रतिनायक को दिया गया। बहुत सम्भव है कि नास्तिक मत की बातें होने के कारण 'रावण भाष्य' लुप्त हो गया। वैशेषिकों का 'अर्घ वैनाशिक' नाम इसी भाष्य के सिद्धान्तों के कारण पड़ा था।[2]

---

१ द्रष्टव्य बोडस—तर्कसंग्रह की प्रस्तावना पृ० ४०। कुप्पुस्वामी-प्राइमर आफ इण्डियन लाजिक, प्रस्तावना पृ० (३०)।

२ Journal of Oriental Research Vol. III. pp. 1-5.

भरद्वाज वृत्ति नितान्त प्राचीन प्रतीत होती है। पं० जयनारायण ने विवृत्ति रचकर तथा महामहोपाध्याय पण्डित चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने भाष्य का निर्माणकर इन सूत्रों के यथार्थ अर्थ के समझने में हमारा बड़ा उपकार किया है।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपाद का 'पदार्थ-धर्मसंग्रह' वैशेषिकतत्त्वों के निरूपण के लिए नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। साधारण रीति से इसे भाष्य कहते हैं, पर यह सूत्रस्थ पदों के उल्लेखपूर्वक उक्तानुक्तचिन्तासमन्वित प्रबन्ध नहीं है। इसमें तो ग्रन्थकार ने केवल वैशेषिक सिद्धान्तों के ऊपर अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित किया है। सूत्र के बाद इस दर्शन के इतिहास में सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ यही प्रशस्त-पाद भाष्य है। इसमें विशेषतः परमाणुवाद, जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय, प्रमाण तथा गुणों का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। वसुबन्धु के द्वारा इनके सिद्धान्तों के खण्डन किये जाने और न्याय-भाष्य में इनके सिद्धातों के उपयोग किये जाने से इन्हें वात्स्यायन और वसुबंधु से प्राचीन द्वितीय शतक में होना न्यायसंगत प्रतीत होता है[१]। प्रशस्तपादभाष्य के आधार पर 'चन्द्र' नामक किसी आचार्य ने 'दश-पदार्थी शास्त्र' की रचना की जिसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय तथा विशेष—इन षट् पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्य-विशेष तथा अभाव ये चार नवीन पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं। चन्द्र सप्तक शताब्दी से पहले के ही होंगे, क्योंकि इसका अनुवाद ६४८ ई० में चीन भाषा में किया गया उपलब्ध होता है जिसका अंग्रेजी अनु-वाद जापानी विद्वान् डा० उई ने किया है।

'प्रशस्तपादभाष्य' पर प्रसिद्ध आचार्यों की टीकायें उपलब्ध होती हैं—

---

१ आचार्य ध्रुव—न्यायप्रवेश की प्रस्तावना पृ० १८।

(१) व्योमशिवाचार्य—इनके नाम से पता चलता है कि ये सम्भवतः दक्षिण के शैवाचार्य थे। इनकी विरचित व्योमवती प्रशस्तपादभाष्य की सबसे प्राचीन टीका है। उदयनाचार्य ने किरणावली में 'आचार्याः' कह कर तथा राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में भाष्य-टीकाकारों में इन्हीं का नाम सबसे पहले उल्लिखित किया है। ये श्रीहर्षवर्धन के समकालिक सिद्ध होते हैं। श्रीधर, शिवादित्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्य प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणद्वय मानने के पक्ष में हैं, परन्तु व्योमशिवाचार्य शब्द को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं[1]।

(२) उदयनाचार्य—उदयनाचार्य ने भाष्य के रहस्योद्घाटन के लिए एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या 'किरणावली' लिखी है। माधव (पृ० ९०) के कथनानुसार तमके आरोपित नीलरूप मानने का सिद्धान्त श्रीधर के नाम से सम्बद्ध है। पर नामोल्लेख बिना किये उदनाचार्य ने इस मत का खण्डन किया है (किरणा० पृ० ११२)। उधर श्रीधर ने भी 'न्याय कन्दली' में उदयन के किरणावली के वाक्यों के स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है तथा उनके सिद्धान्तों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाली है। इससे प्रतीत होता है कि श्रीधर ने न्यायकन्दली सर्वप्रथम लिखी। अनन्तर 'किरणावली' की रचना उदयन ने की, परन्तु श्रीधर ने ग्रन्थ के पुनः संशोधन के अवसर पर उदयन के मत की समीक्षा भी की। किरणावली की टीकाओं में वरदराज (११ शतक), वादीन्द्र (१३ वीं शतक का पूर्वभाग; रससार), वर्धमानोपाध्याय (१३ वाँ शतक—

१ मणिभद्र ने हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की टीका में इनके मत का उल्लेख किया है—यद्यपि औलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि, तथापि श्रीधरमतापेक्षया अत्र द्वे एव निगदिते।

(पृ० ६२ चौखम्भा संस्करण)।

किरणावली प्रकाश), पद्मनाभ मिश्र (१६ शतक, किरणावली भास्कर) की टीकायें सुप्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

(३) श्रीधराचार्य—इनके पिता का नाम बलदेव तथा माता का अम्बोका देवी। गौड़ देश के भूरिसृष्टि नामक गाँव के निवासी होने से ये बंगदेशीय प्रतीत होते हैं। इन्होंने भाष्य के ऊपर 'न्यायकन्दली' नामक महत्त्वपूर्ण टीका ९१३ शक (६९१ ई०) में लिखी[१]। शास्त्रीय ज्ञान इनका जितना ही विस्तृत था, इनकी प्रज्ञा उतनी ही तलस्पर्शिनी थी। न्यायकन्दली वैशेषिक सिद्धान्तों के लिए एक प्रमाणभूत ग्रन्थ मानी जाती है। इनके 'अन्धकार' विषयक सिद्धान्त की समीक्षा अनेक मान्य दार्शनिकों ने की है। कन्दली की टीकाओं में पद्मनाभ मिश्र का 'न्यायकन्दलीसार' तथा जैन विद्वान् राजशेखर की 'न्यायकन्दली पञ्जिका' प्रसिद्ध हैं।

(४) श्रीवत्स कृत 'न्याय लीलावती' चौथी टीका है। वल्लभ की न्याय-लीलावती टीकात्मक न होने पर भी यदि कथमपि टीका मान भी ली जाय, तथापि यह श्रीवत्सकृत नहीं है।

(५) वल्लभाचार्य—इनकी 'न्यायलीलावती' वैशेषिक सिद्धान्तों का आगार है और इसकी प्रसिद्धि 'किरणावली' के समान ही है। किरणावली के समान ही अनेक टीकाग्रन्थों से मण्डित होने का गौरव इस ग्रन्थ को भी प्राप्त है। आचार्य वल्लभ के जन्म-प्रदेश का पता नहीं चलता, पर वादीन्द्र के द्वारा रससार (१२२५ ई०) में उल्लिखित होने से इनका समय १२ वीं शताब्दी का अन्तभाग माना जा सकता है। इस ग्रंथ की सात टीकाओं का पता चलता है जिनमें वर्धमान उपाध्याय का

---

१ त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता।
श्रीपाण्डुदासयाचित-भट्ट-श्री-श्रीधरेणेयम्॥

'लीलावती प्रकाश' तथा पद्मधर मिश्र का 'न्याय लीलावती विवेक' दूसरों से प्राचीन है।

(६) पद्मनाभ मिश्र—इनका दूसरा नाम प्रद्योतन मिश्र था। इनके टीकाग्रन्थ का नाम 'सेतु' है जो द्रव्यग्रन्थ तक ही उपलब्ध होता है। पद्मनाभ मिश्र वैशेषिक दर्शन के विशेषज्ञ विद्वान् थे, मिथिला निवासी थे तथा १६ शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

(७)शंकर मिश्र—इनकी टीका का नाम 'कणाद रहस्य' है जो वास्तव में वैशेषिक सिद्धान्त का प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। (८) जगदीशभट्टाचार्य—प्रशस्तपाद की एक टीका जगदीश भट्टाचार्य निर्मित 'सूक्ति' भी है। द्रव्यग्रन्थ तक यह टीका उपलब्ध हुई है। मल्लिनाथसूरि—इनका 'भाष्यनिकष' अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

शिवादित्यमिश्र (१० म शतक)—इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सप्तपदार्थी है जिसमें वैशेषिक सिद्धान्तों का नैयायिक सिद्धान्तों के साथ मनोरम समन्वय किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना १२ वीं शताब्दी से पहले हुई, क्योंकि श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में इनके प्रमालक्षण का खण्डन किया है[१]। इन्होंने उदयन की किरणावली का पर्याप्त उपयोग सप्तपदार्थी में किया है, उदाहरणार्थ जाति तथा तम का लक्षण। इन्होंने अभाव का सप्तम पदार्थ रूप में वर्णन किया है। सप्त पदार्थों के अतिरिक्त लक्षणमाला इनका एक अन्य वैशेषिक विषयक ग्रन्थ है।

शंकरमिश्र (१५ वाँ शतक)—ये दरभंगा के पास 'सरिसव' गाँव के रहने वाले थे जहाँ इनकी स्थापित सिद्धेश्वरी का मन्दिर आज भी

---

१ तेषु तावत् 'तत्वानुभूतिः प्रमा इत्युक्तम्'-(खण्डन)। इसकी टीका करते समय शंकरमिश्र ने इसे न्यायाचार्य (शिवादित्य) के 'लक्षणमाला' ग्रंथ का बतलाया है।

विद्यमान है। इनके पिता मीमांसा, व्याकरणादि अनेक शास्त्रों निष्णात, 'अयाची' मिश्र के नाम से लब्धप्रतिष्ठ, भवनाथमिश्र थे तथा माता का नाम भवानी था। इनके पितृव्य जीवनाथमिश्र भी बड़े भारी पण्डित थे। ये अपने समय के एक असाधारण प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक माने जाते थे। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थः-(१) उपस्कार—(कणादसूत्रों की टीका), (२) कणादरहस्य—(प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या कहे जाने पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ), (३) आमोद—(न्यायकुसुमाञ्जलि की व्याख्या), (४) कल्पलता—(आत्मतत्व विवेक की टीका), (५) आनन्दवर्धन—(श्रीहर्ष के खण्डनखण्ड खाद्य की टीका), (६) कण्ठाभरण—(न्यायलीलावती की व्याख्या), (७) मयूख-(चिन्तामणि की टीका (उपस्कार तथा वादि विनोद में उल्लिखित) (८) वादिविनोद-(वादविषयक मौलिक ग्रन्थ), (९) भेदरत्नप्रकाश-(न्याय वैशेषिक के द्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादक, श्री हर्षके खण्डन ग्रन्थ का खण्डन करने वाला मौलिक ग्रन्थ)।

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (१७ वाँ शतक)—ये बंगाल में नव्य न्याय के संस्थापक तथा रघुनाथ शिरोमणि जैसे विद्वानों के विद्यागुरु वासुदेव सार्वभौम के अनुज रत्नाकर विद्यावाचस्पतिके पौत्र थे। इनके पिता काशीनाथ विद्यानिवास एक लब्धकीर्ति दार्शनिक थे जो अकबर के अर्थसचिव टोडरमल के यहाँ श्राद्ध के उपलक्ष में संघटित सभा में नवद्वीपीय पण्डितमण्डली के प्रतिनिधि थे। इनके न्याय-वैशेषिक-विषयक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं:—

(क) भाषापरिच्छेद—१६८ कारिकाओं में वैशेषिक सिद्धान्तों का सुचारु वर्णन किया गया है। अपने प्रियपात्र राजीव के उपकारार्थ ग्रन्थकार ने ही इस पर न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली टीका बनाई। विषय प्रतिपादन की शैली इतनी मनोरम है कि यह तर्कसंग्रह के अनन्तर सबसे

अधिक लोकप्रिय प्रकरण-ग्रन्थ है। इसके ऊपर बालकृष्ण भारद्वाज के पुत्र महादेव भट्ट भारद्वाज ने 'मुक्तावली प्रकाश' नामक टीका लिखना आरम्भ किया जिसे उनके पुत्र दिनकर भट्ट ने पूरा किया। 'दिनकरी' के नाम से विख्यात इस व्याख्या पर रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरी तरंगिणी' अथवा 'रामरुद्री' नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ की रचना की है।

(ख) न्यायसूत्रवृत्ति—इसमें न्याय-सूत्रों की सरल व्याख्या शिरोमणि के व्याख्यान के अनुसार की गई है। वृद्धावस्था में वृन्दावन में निवास करते समय विश्वनाथ ने इस वृत्ति का निर्माण १५५३ शक (१६३१ ई०) में किया।

अन्नंभट्ट—(१७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) इनका सुप्रसिद्ध 'तर्क संग्रह' लोकप्रियता में अद्वितीय है। यह तार्किक तत्त्वों की जानकारी के लिए सबसे पहला, सरल तथा बोधगम्य ग्रन्थ है। अन्नंभट्ट तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था। काशी आकर इन्होंने विद्यासम्पादन किया था। इस घटना की सूचना 'काशी-गमनमात्रेण नान्नंभट्टायते द्विजः' इस प्रसिद्ध लोकोक्ति से हमें लगती है। इनकी ख्याति तर्कसंग्रह तथा उसकी टीका दीपिका के कारण है, परन्तु इन्होंने अन्य शास्त्रों पर भी प्रामाणिक टीकायें लिखी हैं—(१) राणको-ज्जीवनी (न्यायसुधा की बृहत्काय टीका— मीमांसा , (२) ब्रह्मसूत्र-व्याख्या (वेदान्त), (३) अष्टाध्यायी टीका, (४) उद्योतन (कैयट-प्रदीप का व्याख्यान), (५) सिद्धाञ्जन (जयदेव के 'मण्यालोक' की टीका)। तर्कसंग्रह के ऊपर २५ व्याख्याग्रन्थों की तथा दीपिका के ऊपर १० व्याख्यानों—प्रकाशित तथा अप्रकाशित—की उपलब्धि से ग्रन्थ के महत्त्व का पता चलता है। इन टीकाओं में गोवर्धन मिश्र की न्याय-बोधिनी, श्री कृष्णधूर्जटि दीक्षित का सिद्धान्तचन्द्रोदय, चन्द्रजसिंह का

पदकृत्य, नीलकण्ठभट्ट की नीलकण्ठी तथा तदात्मज लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विद्वत्तामण्डित हैं।

(२) वैशेषिक तत्त्वमीमांसा

वैशेषिक लोग जगत् के वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार करते हैं। 'पदार्थ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—पदस्य अर्थः=पदार्थः। 'अर्थ' से तात्पर्य उस वस्तु से है जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं (ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः) अतः पदार्थ का अर्थ है अभिधेय वस्तु, किसी नाम को धारण करनेवाली चीज। प्रमिति (ज्ञान) का विषय होना भी पदार्थ का लक्षण है। अतः ज्ञेयत्व (ज्ञान विषय होने की योग्यता रखना) तथा अभिधेयत्व (नाम की योग्यता रखना) पदार्थ का सामान्य लक्षण है[१]।

पदार्थ विभाग

सूत्रों में ६ पदार्थों के ही नाम उपलब्ध होते हैं। कणाद ने अभाव का भी वर्णन किया है अवश्य, पर सतात्मक पदार्थों का वर्गीकरण अभीष्ट होने से उन्होंने अभाव का पदार्थत्व स्वीकार नहीं किया है। अभाव को पदार्थों की गणना में पीछे रखा गया। चन्द्र नामक किसी प्राचीन वैशेषिक आचार्य ने षट् भाव पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्यविशेष तथा अभाव पदार्थों की नवीन कल्पना कर पदार्थों की संख्या दस बतलाई है[२]। इनमें अभाव की गणना पदार्थों में पीछे स्वीकृत की गई। सामान्य-विशेष में नवीनत्व की सम्भावना नहीं थी। शक्ति के पदार्थत्व की कल्पना मीमांसकों ने मानी है। रोकनेवाली वस्तु की उपस्थिति में किसी वस्तु की शक्ति का सर्वथा तिरोभाव दृष्टिगोचर होता है, पर उसके अभाव में वह शक्ति प्रकट हो जाती है। मणिविशेष के सान्निध्य में अग्नि की

---

१ प्रमितिविषयाः पदार्थाः—सप्तपदार्थी (पृ० २) अभिधेयत्व पदार्थ सामान्यलक्षणम्—तर्कदीपिका (पृ० २)।

२ देखिये डा० उई—वैशेषिक फिलासफी।

दाहिका शक्ति का तिरोभाव प्रत्यक्ष-सिद्ध है तथा उसकी अनुपस्थिति में वह शक्ति प्रकट हो जाती है। इस लोकव्यवहार के दृष्टान्त पर शक्ति को मीमांसक गण एक नवीन पदार्थ मानते हैं, पर वैशेषिकों को यह अभीष्ट नहीं है। वे लोग कारणसामग्री की समग्रता में प्रतिबन्धकाभाव को भी कारण ठहराते हैं, अतः शक्ति की पृथक् पदार्थ कल्पना प्रमाणपुरःसर नहीं है[1]। इसी प्रकार 'सादृश्य' का भी खण्डन किया गया है।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) भावपदार्थ (२) अभावपदार्थ। भावपदार्थों के छः भेद माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। अभाव चार प्रकार का माना जाता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। इन पदार्थों का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत किया जाता है।

द्रव्य

कार्य के समवायी कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं[2]।

द्रव्य वैशेषिकों के मतानुसार नौ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। लोक प्रत्यक्ष के आधार पर तम में नीलरूप तथा अपसरणात्मक कर्म की सत्ता मानकर तम को भाट्ट मीमांसक द्रव्य अथवा गुण मानते हैं[3]। पर वैशेषिक आचार्यों ने इसका खण्डन प्रमाणपुरःसर किया है। आलोक (प्रकाश) की सहायता से चक्षु रूप-

---

१ मानमेयोदय पृ० २५८-२६२। शक्तिर्द्रव्यादिस्वरूपमेव—सप्तपदार्थी (पृ० १७) मुक्तावली (का० २),

२ द्रष्टव्य—क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। वै० सू० १।१।१५ तथा सप्तपदार्थी पृ० २१।

३ मानमेयोदय पृ० १५९-१६३।

सम्पन्न द्रव्यों का ग्राहक माना जाता है, पर अन्धकार के प्रत्यक्षीकरण में प्रकाश की सहायता तनिक भी अपेक्षित नहीं होती। अपसरण की क्रिया भी औपाधिक है—प्रकाश के आगमनपर अवलम्बित है। अतः नीलरूप तथा चलनक्रिया दोनों औपाधिक होने से तम में द्रव्यत्व की कल्पना प्रमाणसिद्ध नहीं मानी जा सकती। अतः यह तम तेजःसामान्य का अभाव-मात्र है। नैयायिकों तथा वैशेषिकों की अन्धकार के विषय में यही निश्चयात्मक धारणा है। पर श्रीधराचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं। न्यायकन्दली में उन्होंने अपने इस स्वतन्त्र मत का वर्णन किया है। उनका कहना है कि किसी वस्तु पर आरोपित नील वर्ण के अतिरिक्त अन्धकार कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अतः वे तम को गुण के अन्तर्गत मानते हैं। उदयनाचार्य ने इस मत का खण्डन कर प्रकाशसामान्याभाव को स्वीकृत किया है (किरणा० पृ० ११२) माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह (पृ० ६०) में प्रभाकर मीमांसकों के एकदेशीय मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार अन्धकार आलोक-ज्ञान का अभाव रूप है, न कि आलोक-सामान्य का। इस प्रकार तम के स्वरूप के विषय में वैशेषिकों ने खूब विवेचना की है। उदयन से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पीछे होने वाले, खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता दार्शनिक शिरोमणि श्रीहर्ष इन मतवादों से पूरे परिचित थे। अतः उन्होंने औलूकदर्शन को तमःस्वरूप निर्णय में नितान्त समर्थ बतलाते हुए कवित्व तथा दार्शनिकत्व दोनों का मनोरम सामञ्जस्य उपस्थित किया है।

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय। नैषध० २२।३६।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश इन पाँचों को 'महाभूत' कहते हैं। पृथ्वी का विशेष गुण गन्ध है। अन्य द्रव्यों में होने वाले कतिपय इतर गुण भी पृथ्वी में पाये जाते हैं जैसे रूप, रस, स्पर्श, संख्या आदि। पृथ्वी दो प्रकार की होती है—नित्य तथा अनित्य। समस्त

पार्थिव पदार्थों की उत्पत्ति अत्यन्त सूक्ष्म, अविभाज्य रूप परमाणुओं से होती है। अतः कारणभूत परमाणु में रहने वाली पृथ्वी नित्य है, पर कार्यरूप से विद्यमान पृथ्वी अनित्य है। अनित्य पृथ्वी तीन रूपों को धारण करती है—शरीर, इन्द्रिय विषय। शीत स्पर्श विशिष्ट द्रव्य को 'जल' तथा उष्णस्पर्श विशिष्ट द्रव्य को 'तेज' कहते हैं। नित्यानित्य भेद से पृथ्वी के समान ये भी दो प्रकार के होते हैं। शरीर इन्द्रिय विषयजन्य भेद इनमें भी उसी प्रकार रहता है।

रूप से रहित तथा स्पर्श से युक्त द्रव्य को 'वायु' कहते हैं। रूप-रहित होने से वह प्रथम तीन द्रव्यों से भिन्न हो जाता है तथा स्पर्श-विशिष्ट होने से वह आकाशादि अन्तिम पाँच द्रव्यों से पृथक् ठहरता है। वायु प्रत्यक्ष होता है या नहीं? इस प्रश्न को लेकर प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में गहरा मतभेद है। प्राचीन नैयायिक वायु को चाक्षुष प्रत्यक्ष न मान कर अनुमान से सिद्ध मानते हैं[1], पर नव्य नैयायिक वायु का प्रत्यक्ष स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं। प्राचीन नैयायिक गण उद्भूत रूप को प्रत्यक्ष के लिए प्रधान साधन बतलाते हैं[2]। इसका कारण यह है कि उनकी सम्मति में 'प्रत्यक्ष' शब्द चाक्षुष-प्रत्यक्ष के सीमित अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। इस कल्पना के कारण रूपरहित वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना सुतरां असिद्ध है। पर नव्यनैयायिक इस बहिर्द्रव्यप्रत्यक्ष को चाक्षुषप्रत्यक्ष के ऊपर ही अवलम्बित होने की कल्पना को कथमपि स्वीकार नहीं करते। उनकी सम्मति में बाह्य प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूपके समान ही उद्भूत स्पर्श भी कारण है[3]। वायु में अनुष्णा-

---

१ सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावात् वायोरनुपलब्धिः—वै० सू० ४।१।७ तथा प्रशस्तपादभाष्य पृ० १६।

२ उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरः—भाषापरिच्छेद कारिका ५४।

३ तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं संभवत्येव—मुक्तावली (का० ४६)

तीत उद्भूत स्पर्श की सत्ता विद्यमान होने से उसे प्रत्यक्ष न मानना न्याय-विरुद्ध होगा। 'आकाश' अन्तिम भूत-द्रव्य है, जिसका विशेष गुण शब्द है। शब्द के अधिकरण होने से आकाश की सिद्धि मानी जाती है प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं, प्रत्युत अनुमान के द्वारा। परन्तु भाट्ट मीमांसकों के मत से आकाश का प्रत्यक्ष होता है (मानमयोदय पृ० १८८) 'काल'—पृथिवी आदि द्रव्यों के समान काल भी एक पृथक् द्रव्य है। यह कालिक ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व के द्वारा एवं वस्तु-द्वय की एककालता, भिन्नकालता, दीर्घकालता तथा अल्पकालता के द्वारा सिद्ध होता है। इसके गुण संख्या, परिमाण; पृथक्त्व, संयोग और विभाग हैं। यह वस्तुतः एक है पर उपाधिभेद से नाना है। 'दिक्'—पूर्व, पच्छिम, उत्तर और दक्षिण आदि लोक-व्यवहार का कारण दिक् है। काल के समस्त गुण दिक् में ही विद्यमान हैं। दिक् एक और नित्य है परन्तु उपाधि भेद से नाना है।

आत्मा

आत्मा नित्य द्रव्य है जिसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, संस्कार आदि गुण निवास करते हैं। वह शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् होकर एक स्वतन्त्र सत्ता धारण करनेवाला द्रव्य है। आत्मा इंद्रियों से सर्वथा भिन्न है। कभी हम एक वस्तुको अपनी आखों से देखते हैं तथा रुचिकर होने पर उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा ज्ञान यही रहता है कि वस्तु एक ही है। जिसे हम आँखोंसे देखते हैं उसे हीं हम हाथ से छूते हैं। इन्द्रियद्वय-साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रियरूप ही होता, तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कैसे सिद्ध की जाती (न्या० सू० ३।१।१—३)? दाहिने हाथ से छूए गये पदार्थ को बाएँ हाथ से स्पर्श करने पर उसकी एकता का खण्डन नहीं होता

आत्मा के इन्द्रियात्मक होने का खण्डन

(न्या० सू० ३।१।७)। एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रियों पर पड़ा करता है। वृक्ष में लटकते हुए पके आमों को देखती हैं आँख, पर उसका प्रभाव पड़ता है जीभ पर, क्योंकि जीभ से पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता, तो जीभ से पानी टपकने को हम किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। पानी टपकने का कारण यही हो सकता है कि पके आम को देखने वाले व्यक्ति को पूर्व काल में आस्वादित आम के स्वाद का स्मरण हो आता है (न्या० सू० ३।१।१२)। अतः फलों के द्रष्टा तथा स्वाद के स्मरणकर्ता को एक होना न्याय-संगत है। पर इन्द्रिय में चैतन्य मानने से इस घटना की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य-दृष्ट वस्तु को दूसरा स्मरण नहीं करता। इन्द्रिय को आत्मा स्वीकार करने पर उनके उपघात होने पर स्मृति की व्यवस्था हो नहीं सकती। अनुभव तथा स्मरण समानाधिकरणरूप से ही एक में विद्यमान रहते हैं। जो अनुभव का कर्ता है, स्मरण का भी कर्ता वही हो सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति में चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत पदार्थ का चक्षु के नाश होने पर स्मरण न होना चाहिए। पर लोकानुभव इससे नितान्त विपरीत है। अतः इन्द्रियों को आत्मा मानना नितान्त असिद्ध है[1]। कर्ता तथा करण की भिन्नता अनुभवसिद्ध हैं। लेखन का साधन (लेखनी) तथा लेखन का कर्ता (लेखक) दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। इसी प्रकार अनुभव के कर्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रियाँ) की भिन्नता ही प्रमाण सिद्ध है, अभिन्नता नहीं।

नित्य मन को भी आत्मा मानने में विप्रतिपत्ति हो है। अणुरूप होने के कारण मन का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्व कारण माना जाता है। ऐसी दशा में मन को ही यदि आत्मा मान लिया जायगा; तो उसमें विद्यमान सुखदुःख इच्छा आदि भी अप्रत्यक्ष होने लगेंगें। पर अनुभव से विरुद्ध

मन आत्मा नहीं

---

१ तथात्वे चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।—मुक्तावली ४८ का०।

होने से इसे सिद्धान्त मानना अन्याय होगा। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय तथा मन—इन तीनों से पृथक् चैतन्याधिष्ठित द्रव्य की ही आत्मा संज्ञा है।

आत्मा के शरीरात्मक होने का खण्डन

आत्मा को शरीरात्मक मानने वाले चार्वाक लोकानुभव को निश्चित रूप से समझा नहीं सकते। सद्योजात शिशु के कार्यकलाप पर दृष्टि डालिए। उत्पन्न होने के कतिपय दिनों के अनन्तर शिशु बिछौने पर लेटा हुआ हँसने लगता है। हँसना प्रसन्नता के कारण हि होता है, पर उसके कतिपय दिनों के जीवन में हर्षोत्पादक घटना का अभाव होता है। अतः वह जन्मान्तरीय अनुभूत प्रसन्नता की घटनाओं को संस्कार के वश से स्मरण किया करता है और उसी स्मरण के बल पर यह हँसता है। यही व्याख्या तर्कसंगत प्रतीत होती है। पर यह व्याख्या आत्मा को शरीररूप होने पर निष्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव के कर्ता शरीर के नाश होनेपर ही यह नया शरीर बालक को प्राप्त हुआ है[1] (न्या० सू० ३।१।१९)। बालक की दुग्धपान की प्रवृत्ति भी आत्मा को शरीररूप मानने पर सिद्ध नहीं हो सकती। प्रवृत्ति में इष्टसाधनताज्ञान कारण होता है। वह अनुभव के अभाव में इस जन्म का न होकर जन्मान्तरीय ही होता है[1] (न्या० सू० ३।१।२२)। मनुष्यों की अवस्था तथा स्वभाव में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। क्यों? पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के कारण। ऐसी अवस्था में पूर्व जन्म में कर्म करने वाले तथा इस जन्म में तदनुरूप फल भोगने वाले व्यक्ति की एकता माननी ही पड़ती है (न्या०

१ तस्मान्मुखविकासस्य हर्षो, हर्षस्य च स्मृतिः।
स्मृतेरनुभवो हेतुः स च जन्मान्तरे शिशोः॥—न्या० म० (पृ० ४७०)।

२ द्रष्टव्य वै० सू० ३।२।४ तथा इसका उपस्कार. प्र० पा० भा० पृ० १२–३४, न्यायकन्दली पृ० ७१-८८।

सं पृ० ४७१) । इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से भी पृथक् है तथा नित्य है ।

वेदान्त आत्मा को एक मानता है, पर न्याय लोक-व्यवहार के अनुरोध पर आत्मा को अनेक मानता है । इच्छा, सुख, प्रवृत्ति तथा ज्ञान आदि की विभिन्नता के कारण आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है ।

अब आत्मा के अनुभव पर विचार करना है । इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य नैयायिकों में मतभेद सा दीख पड़ता है । वात्स्यायन का स्पष्ट मत है कि आत्मा अनुमान का विषय है तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इस अनुमान के लिंग हैं (१।१।१० पर न्याय भाष्य) । किसी सुख देने वाली वस्तु को पाने की इच्छा, दु:ख देने वाली वस्तु से द्वेष जिसमें उत्पन्न हुआ करता है वही आत्मा है । इस प्रकार प्राचीन नैयायिक आत्मा को अनुमेय मानते हैं, परन्तु पिछले नैयायिकों ने आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय माना है तथा उसके प्रत्यक्ष के लिए एक पृथक् अन्तरिन्द्रिय (मन) स्वीकार किया है । इस मानस प्रत्यक्ष में भी मतभेद है । कोई नैयायिक आत्मा का मन के साथ सम्पर्क होने पर 'अहमस्मि' (मैं हूँ) अहंप्रत्यय रूप से शुद्ध चैतन्यरूप में उसका अनुभव बतलाते हैं, परन्तु अन्य नैयायिक शुद्ध चैतन्यरूप को प्रत्यक्ष का अविषय मान कर 'मैं जानता हूँ' 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि परामर्श वाक्यों में प्रकटित, प्रत्येक ज्ञान में ज्ञातारूप से आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध स्वीकार करते हैं । आत्म-प्रत्यक्ष के साधनभूत मन के इन्द्रियत्व विषय में नाना मत हैं । इन दोनों मतों का समन्वय जयन्तभट्ट ने यह कहकर दिखलाया है कि आत्मा के मानस प्रत्यक्ष मानने पर भी उसे अनुमेय मानना ही युक्तिसंगत है[1] ।

(हाशिया: आत्मा की अनुमेयता-प्राचीन मत; आत्मा का मानस प्रत्यक्ष-नवीनमत; दोनों का समन्वय जयन्त भट्ट)

---

१ अनुमेयत्वमेवास्तु लिङ्गेनेच्छादिनाऽऽत्मनः । न्या० म० पृ० ४३४ ।

अहं-प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव महर्षि कणाद को भी सम्मत है। आत्मा न तो आगमिक है, न अनुमेय, अपितु प्रत्यक्षगम्य है[1]। अनुमान के आश्रय लेने का अभिप्राय शरीरादि में आत्म-बुद्धि माननेवाले सन्देहवादियों का निराकरण-मात्र है। इसी अभिप्राय से शरीर में प्राण अपान की सत्ता, निमेष, उन्मेष, जीवन कार्य आदि को कणाद ने आत्मसिद्धि में लिंग बतलाया है। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में (पृ० ३०–३५) अनेक प्रबल युक्तियों के सहारे आत्मा की सिद्धि विस्तार से दिखलाई है।

मन

आत्मा इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों के अनुभव करने में समर्थ होता है। बाह्य विषय के ज्ञान के लिए वह बहिरिन्द्रियों की सहायता लेता है। उसी प्रकार सुख दुःख आदि आभ्यन्तर अर्थ की उपलब्धि के लिए भी उसे किसी अन्तरिन्द्रिय की आवश्यकता बनी हुई है। वह उपलब्धि-साधन मन इन्द्रिय है[2]। बाह्येन्द्रियों के द्वारा ज्ञानप्राप्ति में भी मन की सहायता अपेक्षित रहती है।

मन प्रतिशरीर में भिन्न होने से अनेक, क्रियाकारिता रखने से मूर्त तथा अणुपरिणाम माना जाता है। लोकानुभव मन के अणुत्व सिद्ध करने में प्रधान साधन हैं। पुष्पवाटिका में बैठनेवाला पुरुष नेत्रों से फूलों की शोभा देखता है, कान से ग्रामोफोन का रेकार्ड सुनता है तथा अपने हाथों से सामने पड़े टेबुल की चिकनाहट स्पर्श द्वारा जानता है। इस प्रकार तीन इन्द्रियों के द्वारा तीन विषयों का ज्ञान उसे एक साथ हो रहा है। पर वे एककालावच्छिन्न नहीं होकर क्रमानुसार एक के बाद एक

१ अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम्। वै० सू० ३।२।९।

२ द्रष्टव्य प्र० पा० भा० पृ० २७, न्या० कु० ९०–९३, सप्तपदार्थी (पृ० ८२) मुक्ता० (कारिका ८१), तर्कसंग्रह (मनः प्रकरण।

होते हैं। ज्ञान की क्रमानुसारिता मन के अणुत्व की सिद्धि करने में पर्याप्त साधन मानी जाती है[1]। यदि मन में विभुत्व होता, तो वह एक काल में इन तीनों इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता तथा तथा इन तीनों विभिन्न विषयों का तीनों इन्द्रियों के द्वारा एककालावच्छिन्न अनुभव प्राप्त होता। पर लोक में ऐसे अनुभव का अभाव है जो मन में विभुत्व के अभाव का सूचक है। जिस इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होगा, उस क्षण में उसके द्वारा तद्ग्राह्य विषय का ही अनुभव प्राप्त हो सकेगा। अतः मन का अणुत्व प्रमाणप्रतिपन्न है।

गुण द्रव्य में आश्रित रहते हैं और स्वयं गुण या क्रिया से रहित होते हैं। गुण तथा द्रव्य का अन्तर यह है कि द्रव्य गुण का आश्रय होता है, परन्तु गुण गुण का आश्रय नहीं होता है।

(२) गुण

कर्म संयोग विभाग के प्रति कारण है, परन्तु सूत्रकार ने गुण को 'संयोगविभागे-ष्वकारणं' (वै० सू० १।१।१६) बतलाकर कर्म से भिन्न अंगीकृत किया है[2]। कर्म क्षणिक होता है; परन्तु गुण द्रव्य में उस समय तक वह अवश्य रहता है, जब तक वह द्रव्य रहता है या जब तक किसी विरोधी गुण की उत्पत्ति नहीं हो जाती।

कणाद ने सूत्रों (वै० सू० १।१।६) में इन १७ गुणों का ही नामोल्लेख किया है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न। प्रशस्तपाद ने अन्य ६ गुणों का वर्णन अपने भाष्य में अधिक किया है (प्र० पा० भा० पृ० ३९)—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार,

---

१ साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते
अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते—भाषापरिच्छेद का ८५।

२ द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।
वै० सू० १।१।१६, प्र० पा० भा० पृ० ३८, मुक्ता० का० ८६।

अदृष्ट तथा शब्द। इन गुणों में धर्म तथा अधर्म भेद से अदृष्ट दो प्रकार का माना जाता है। इस प्रकार कणाद-निर्दिष्ट १७ तथा प्रशस्त-पाद-उल्लिखित ७ मिला कर गुणों की संख्य २४ मानी जाती है[1]।

गुण दो प्रकार के होते हैं—(१) वैशेषिक या विशेष गुण तथा (२) सामान्य गुण। इन चौबीस गुणों में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, अदृष्ट (धर्म-अधर्म) भावनाख्य संस्कार और शब्द ये सोलह 'वैशेषिक गुण' अर्थात् विशेष गुण हैं। एवं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाव, परत्व अपरत्व, असांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व, एवं वेग ये दश सामान्य गुण हैं।

गुणों के विषय में नैयायिकों और वैशेषिकों में कई सिद्धान्तगत विभेद हैं—

(१) पाकजोत्पत्ति—नैयायिकों का सिद्धान्त है कि घड़े को आग में डालने पर घड़े का नाश नहीं होता, प्रत्युत छिद्रों से होकर गर्मी परमाणुओं के रंग को बदल देती है। अतः घड़े का पाक होता है परमाणुओं का नहीं। इसका नाम 'पिठर पाक' मत है, परन्तु वैशेषिकों के मत में अग्नि-व्यापार से परमाणु अलग अलग हो जाते हैं तथा पक कर लाल होकर वे ही द्व्यणुकादि क्रम से पुनः घटोत्पत्ति करते हैं। इसकी संज्ञा 'पीलु (अणु) पाक' है। पीलु-पाकवाद पर वैशेषिकों का बड़ा आग्रह है (मुक्ता० का० १०५, न्या० मं० पृ० ११–१२)

(२) द्वित्वसंख्या—द्वित्व संख्या वैशेषिकों के मत से 'अपेक्षा बुद्धि-जन्य' है, पर नैयायिकों के कथनानुसार 'अपेक्षाबुद्धि-ज्ञाप्य' है। अनेक एकत्व की बुद्धि को अपेक्षाबुद्धि कहते हैं, (अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षा-बुद्धिरिष्यते, भा० पा० का० १०८) वैशेषिक लोग अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व

---

१ इनके लक्षण तथा विवेचन के लिए द्रष्टव्य प्रशस्तपाद-भाष्य पृ० ३८–१४६, भाषापरिच्छेद का०—८६–१६८।

संख्या को उत्पन्न मानते हैं, परन्तु नैयायिक लोग केवल ज्ञाप्य मानते हैं। वैशेषिकों के मत में नाना एकत्वों से द्वित्व की कल्पना स्वतन्त्र है। द्वित्व एक स्वतन्त्र वस्तु है। अपेक्षाबुद्धि से इसकी पृथक् उत्पत्ति होती है, परन्तु न्यायमत में एकत्व की कल्पना के भीतर ही द्वित्व की कल्पना अन्तर्निविष्ट है। अतः अपेक्षा बुद्धि के उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। कार्य होने से द्वित्वसंख्या अनित्य होती है।

(३) विभागजविभाग-वैशेषिक लोग विभागजन्य विभाग मानते हैं। जैसे हस्त-वृक्ष विभाग से शरीर-वृक्ष का विभाग। नैयायिकों को यह विभाग सम्मत नहीं है। इन्हीं मतभेदों का निर्देश एक प्राचीन श्लोक में किया गया है—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

गुण के समान ही कर्म द्रव्य में आश्रित रहने वाला धर्म है[१]। द्रव्य कर्म का आश्रय हो सकता है पर कर्म द्रव्य का आश्रित धर्मविशेष है।

(३) कर्म

कर्म गुण से भी भिन्न है। गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है, अर्थात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, पर कर्म अभी साध्यावस्था में है। उसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय नहीं हो सका है। यह वस्तुओं के संयोग तथा विभाग का स्वतन्त्र कारण है। कर्म की मूर्त द्रव्यों में ही वृत्ति रहती है। अल्प-परिमाण वाले द्रव्य ही 'मूर्त' माने जाते हैं[२]। उन्हीं की मूर्ति की सम्भावना है पर व्यापी विभु द्रव्य मूर्त नहीं हो सकते[३]। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा

---

१ द्रष्टव्य वै० सू० १।१।१७, प्र० पा० भा० पृ० १४०, भाषा परिच्छेद (का० ५, ६), तर्कसंग्रह पृ० ९।

२ इयत्तावच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्तत्वम्—सप्तपदार्थी।

३ सकलमूर्तसंयोगित्वं विभुत्वम्—सप्तपदार्थी।

मन-इन्हीं मूर्त द्रव्यपञ्चक में कर्म की वृत्ति रहती है। विभु द्रव्य—जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा—में कर्म की कथमपि सम्भावना नहीं है।

कर्म पाँच प्रकार का माना जाता है—(१) उत्क्षेपण, (ऊपर फेंकना (२) अपक्षेपण (नीचे फेंकना), (३) आकुञ्चन (सिकोड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना) अवयवों में सान्निध्य नष्ट होकर विप्रकृष्टता आना। (५) गमन।

(४) सामान्य

स्वविषय के सब वस्तुओं में रहने वाला, आत्मस्वरूपानुगम प्रत्यय का उत्पादक, अनुवृत्तिप्रत्यय का कारण सामान्य होता हैं। सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत—समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध—रहता है। मनुष्य उत्पन्न हों या मर जाँय, आवें या चले जायँ, पर मनुष्यत्व रूप सामान्य सदा विद्यमान रहता है अतः इसकी नित्यता प्रमाणप्रतिपन्न है। सामान्य की दूसरी संज्ञा 'जाति' भी है। व्यापकता की दृष्टि से सामान्यतीन प्रकार का[१] माना जाता है। 'पर सामान्य'—सबसे अधिक व्यक्तियों में रहने वाली जाति; 'अपर सामान्य'—सबसे कम व्यक्तियों में रहने वाली जाति तथा 'परापर सामान्य'—जो दोनों के बीच में रहने वाला होता है। परसामान्य का दूसरा नाम 'सत्ता' है, क्योंकि इसके भीतर समस्त सामान्यों का अन्तर्भाव हो जाता है; घटत्व घटमात्र में रहने के कारण अपर सामान्य का उदाहरण है; द्रव्यत्व परापर सामान्य है, क्योंकि द्रव्यत्व, कर्मत्व तथा गुणत्व में विद्यमान सत्ता की अपेक्षा द्रव्यमात्र में सीमित होने से छोटा- (अपर) है परन्तु घटत्व की अपेक्षा वह कहीं बड़ा है। अतः इन दोनों के बीच में रहने से यह मध्यवर्ती सामान्य का दृष्टान्त माना जाता है।

---

१ वै० सू० १।२।४-११, प्र० पा० भा० पृष्ठ ४, मुक्ता का ८-९।

नैयायिकों के मत से अनेक व्यक्तियों में रहने पर भी कोई धर्म सामान्य या जाति नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति की अभिन्नता जाति की बाधिका है। आकाश के एक व्यक्ति होने से 'अकाशत्व' जाति नहीं है। एक ही घट व्यक्ति को घट तथा कलश दो भिन्न नामों से पुकारते हैं। अतः घटत्व तथा कलशत्व दो पृथक्-पृथक् जातियाँ नहीं बन सकतीं। संकीर्ण होने के कारण मूर्तत्व तथा भूतत्व जाति नहीं हो सकते, क्योंकि अकेले मूर्तत्व की मन में तथा भूतत्व की सत्ता आकाश में है; पर पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चारों द्रव्यों में मूर्तत्व तथा भूतत्व दोनों विद्यमान हैं। अतः इनका संकर हो जाता है। अनवस्थाभय से सामान्य के ऊपर किसी सामान्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती, उसी प्रकार स्वरूप-हानि के भय से न विशेषत्व जाति है और सम्बन्धाभाव के हेतु न समवायत्व जाति है। इनको 'उपाधि' के नाम से पुकारते हैं[1]। इस प्रकार जाति तथा उपाधि की कल्पना वैशेषिकों की सूक्ष्म विवेचना शक्ति को सूचित करती है।

विशेष की कल्पना सामान्य की कल्पना से ठीक विपरीत पड़ती है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों के एक श्रेणीबद्ध होने का कारण यदि सामान्य है,

(५) विशेष

तो ठीक इसके उलटे एक श्रेणी के समानगुण धारण करनेवाले व्यक्तियों के पारस्परिक विभेद की सत्ता सिद्ध करनेवाला पदार्थ 'विशेष' ही है[2]। पृथ्वी का एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्यों कर हैं? एक आत्मा दूसरे आत्मा से भिन्न या

---

१ व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥—(किरणावली पृ० १६१)।

२ द्रष्टव्य वै० सू० १।२।६, प्र० पा० भा० १६८-१७०, न्या० क० पृ० ३२३-३२४, मुक्ता० (का० १०)।

एक मन दूसरे मन से भिन्न किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? इस पार्थक्य की कल्पना के लिए इन द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। विशेष नित्य द्रव्यों—जैसे पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा तथा मन—में निवास करता है। विशेष की सत्ता न मानने पर सब आत्मा एक ही समान होने से उनमें पारस्परिक विशिष्टता का अभाव दृष्टिगोचर होता तथा समस्त मनुष्यों में एक मनुष्यत्व सामान्य की स्थिति होने से व्यक्तित्व की स्थिति असिद्ध ही रहती। इसीलिए सावयव द्रव्यों के लिए नहीं, प्रत्युत नित्य द्रव्यों की पृथक्ता के लिए 'विशेष' पदार्थ का अंगीकार करना न्यायसंगत है। नित्य द्रव्यों में रहने से विशेष भी नित्य है तथा आश्रयभूत द्रव्यों की अनन्तता होने के कारण विशेष भी अनन्त है। विशेष स्वतोव्यावर्तक होते हैं अर्थात् एक विशेष से दूसरे विशेष का भेदक स्वयं विशेष ही हुआ है, अन्यथा अनवस्था दोष के होने का भय है।

सृष्टिकाल में कार्यवस्तुओं में भेद की उपपत्ति के लिए अणुओं में 'पाकज विशेष' माना जाता है, जो अदृष्ट के समान प्रलय में भी नष्ट नहीं होता[1]। नैयायिक आचार्य यह 'पाकज' विशेष नहीं मानते (न्याय भाष्य पृ० ३५२)।

(६) समवाय

समवाय[2] भावपदार्थों में अन्तिम पदार्थ है। कोई भी वस्तु किसी वस्तु के साथ बिना किसी सम्बन्ध के रह नहीं सकती। मुख्यतया सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—संयोग तथा समवाय। संयोग सम्बन्ध उन वस्तुओं में होता है जो संयोग के बिना भी अपनी पृथक् सत्ता धारण कर सकती हैं। यह

---

१ न्याय कुसुमाञ्जलि बोधनी पृ० ३२।

२ द्रष्टव्य वै० सू० १।१।३, प्र० पा० भा० पृ० १७१-१७९, न्या० क० पृ० ३२५-३२८, मुक्ता० (का० ११)।

सम्बन्ध अनित्य होता है; यह कतिपय क्षण तक ही अपनी सत्ता बनाये रहता है। अतः युतसिद्ध वस्तुओं के अनित्य बाह्य सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। पर समवाय सम्बन्ध इससे नितान्त भिन्न है। वह वस्तुद्वय में रहनेवाला नित्य सम्बन्ध है। अंग-अंगी में, गुण-गुणवान् में, क्रिया-क्रियावान् में, जाति-व्यक्तियों में तथा विशेष-नित्यद्रव्यों में यह निवास करता है। यह बात जो प्रसिद्ध ही है कि समग्र वस्त्र अपने अवयवभूत तन्तुओं में रहता है, लालिमा गुलाब के फूल में, लेखनक्रिया लेखक में, मनुष्यत्व मनुष्य नामधारी व्यक्तियों में तथा विशेष आत्मा तथा परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में निवास करता है। पर इन दोनों का सम्बन्ध समवाय के द्वारा ही सम्पन्न होता है। समवाय की विशेषता है इसकी नित्यता। संयोग तो अनित्य सम्बन्ध है, पर समवाय की दशा ऐसी नहीं है। ऊपर जिन वस्तुयुगलों का वर्णन किया गया है, उनको पारस्परिक स्थिति के निर्वाह करने के लिए समवाय सम्बन्ध मानना पड़ता है। अतः इन परस्पर नित्य सम्बद्ध (अयुत सिद्ध) वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय है। जब तक उक्त पदार्थों की सत्ता बनी हुई है, तब तक इस सम्बन्ध की सत्ता मानी ही जावेगी। 'समवाय' की कल्पना न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के लिए नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है, क्योंकि इसी के आधार पर इनके कार्य-कारण के विषय की विशिष्ट कल्पना अवलम्बित है।

(७) अभाव

कणाद सूत्रों में तथा भाष्य में षट् पदार्थों के वर्णन मिलने के कारण अभाव की कल्पना वैशेषिक दर्शन के इतिहास में पीछे के ग्रन्थकारों की अलौकिक सूझ है, यह कितने ही आलोचकों की धारणा है। शिवादित्य मिश्र के 'सप्तपदार्थी' ग्रन्थ में अभाव का पदार्थों में वर्णन मिलने से कुछ लोग उन्हें ही इस पदार्थ की प्रथम कल्पना करनेवाला मानते हैं, पर ये सब धारणायें भ्रान्त हैं। अभाव पदार्थ की कल्पना वैशेषिक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए नितान्त

आवश्यक है। वास्तववाद के लिए अभाव की सत्ता उतनी ही यथार्थ तथा आवश्यक है, जितनी भाव पदार्थों की। वैशेषिक दर्शन के अनुसार दुःखात्यन्ताभावरूपा मुक्ति के स्वरूप का विवेचन अभाव पदार्थ की कल्पना बिना किया ही नहीं जा सकता। कणाद ने भी सूत्रों (१।२।१ तथा ९।१।३) में अभाव का वर्णन किया है, पर पदार्थ रूप से नहीं। उदयनाचार्य इसे सूत्रकार की त्रुटि या अननुमति मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका कथन[1] है कि अभाव की कल्पना सूत्रकार को भी अभिमत थी, उन्होंने प्रतियोगि-मात्र के वर्णन करने से अभाव को भी पदार्थों में अंगीकार कर लिया है। अतः अभावपदार्थ प्राचीन वैशेषिकों को भी उसी प्रकार मान्य था, जिस प्रकार नवीन वैशेषिकों को। इसलिए अभाव पदार्थ का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है[2]।

अभाव दो प्रकार का होता है—(१) संसर्गाभाव, (२) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव दो वस्तुओं में होने वाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध है अर्थात् कोई वस्तु अन्य वस्तु में विद्यमान नहीं है। अन्योन्याभाव का अर्थ होता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है अर्थात् दोनों में पारस्परिक भेद है। संसर्गाभाव तीन प्रकार का माना जाता है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव तथा (३) अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है। अतः इन दोनों भेदों को मिलाने से अभाव चार प्रकार का होता है। संसर्गाभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—

---

१ 'एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टाः, अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः, प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्'—किरणावली।

२ प्रभाकरभट्ट अभाव को अधिकरणात्मक मानकर उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते (मानमेयोदय पृ० २६३–२६४)। इस मत का नैयायिकों तथा भाट्टों ने खण्डन कर इसकी पृथक् पदार्थता सिद्ध की है। द्रष्टव्य मुक्तावली (का० १२)।

'क ख में नहीं है, पर अन्योन्याभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—'क ख नहीं है'।

उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव—पहले होनेवाला अभाव—कहते हैं। उत्पत्ति के पीछे कारण में कार्य के होने वाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। अतः प्रध्वंसाभाव सादि होते हुए अनन्त माना जाता है। दो वस्तुओं का संसर्ग वर्तमान, भूत तथा भविष्य तीनों काल में विद्यमान न रहने पर अत्यन्ताभाव होता है। कोई भी वस्तु किसी अधिकरण में संसर्ग-विशेष से ही विद्यमान रह सकती है जैसे भूतल पर घट की स्थिति संयोग सम्बन्ध से ही मानी जा सकती है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। अतः भूतल पर घट के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी 'भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट का अत्यन्ताभाव है' यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है। उसी प्रकार सुरभि सुमन में गन्ध की सत्ता समवाय सम्बन्ध से है, संयोग सम्बन्ध से नहीं। अतः 'इस फूल में संयोग सम्बन्ध से गन्ध का अत्यन्ताभाव है' इस कथन में पुष्प में सुगन्ध के अनुभव होने पर भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। इसे ही अत्यन्ताभाव कहते हैं। जिसका अभाव रहता है, उसे न्याय की दार्शनिक भाषा में 'प्रतियोगी' कहते हैं। इस अत्यान्ताभाव में प्रतियोगिता संसर्गावच्छिन्न होती है अर्थात् किसी संसर्ग-विशेष का अवलम्बन करके ही किसी वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव स्वीकार किया जाता है। प्रागभाव की तरह यह न तो उत्पत्ति से सम्बद्ध है और न प्रध्वंसाभाव की तरह उत्पत्ति के नाश से। अतः अनादि भी है तथा अनन्त भी। एक वस्तु की दूसरी वस्तु से भेद होने पर अन्योन्याभाव होता है, जिस प्रकार 'घट पट नहीं है'। इस कथन से घट से पट की भिन्नता के समान पट से घट की भी भिन्नता स्वीकृत की जाती है। घट पट नहीं है और न पट ही घट है—इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है।

परमाणुवाद

अन्य दार्शनिकों के तरह वैशेषिकों ने भी जगत् के उपादान के विषय में विशेष विचार किया है। वास्तववाद के सिद्धान्त के अनुयायी दर्शनों ने परमाणु को जगत् का उपादान बतलाया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में इसी मूलभूत पदार्थ से इस नानात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। पर परमाणु के साथ जगत् का सम्बन्ध एक अभिन्न प्रकार से ही निष्पन्न नहीं होता, प्रत्युत वास्तववाद के समर्थक दर्शनों में इस विषय में गहरा मतभेद है। कार्य को नवीन उत्पन्न द्रव्य अथवा कारण का परिणाम न मानकर कारणों का केवल संघात-मात्र माननेवाले बौद्धों के मत में यह जड़ प्रपञ्च कर्मनियमित क्षणिक तथा परमाणु पुञ्जरूप—परमाणु से सर्वथा अभिन्न—है (अर्थात कार्य कारण का परिमाण न होकर तदभिन्न है)। जैनियों के मत में यह जगत् कर्म-नियमित स्थिर तथा परमाणुओं (पुद्गलों) का परिणाम (किसी अंश में भिन्न और किसी अंश में अभिन्न=भिन्नाभिन्न) है। प्रभाकर के मत में जगत् कर्मनियमित तथा परमाणु का कार्य (भिन्न) है, पर न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार यह जगत् परमाणु का कार्य (भिन्न) होते हुए कर्म-नियमित न होकर कर्म की सहकारिता से ईश्वर-नियमित है।

जगदुपादान के विषय में नाना मत

अनुभव साक्षी है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष वाले समस्त पदार्थ अवयव-विशिष्ट होते हैं। प्रत्यक्षानुभूत घट के अवयव कपाल हैं तथा पट के अवयव तन्तु है। इन अवयवों के भी अवयवों की तथा उनके भी अवयवों की कल्पना की जा सकती है, पर एक स्थल पर इन अवयवधाराओं को विराम देना ही होगा। यदि अवयवधारा का अवसान न मानकर अनन्त अवयव-परम्परा स्वीकार की जायगी, तो पर्वत तथा राई दोनों के परमाणुओं में तुल्यता होने लगेगी। क्योंकि जिस प्रकार अवयवपरम्परा

के अन्त न मानने से पर्वत के अनन्त अवयव होंगे, उसी प्रकार राई के भी अनन्त अवयव होंगे जिनमें नियामक न होने से तुल्यत्वापत्ति होने लगेगी। इस दोष से बचने के लिए अवयवधारा का कहीं न कहीं विराम मानना ही पड़ेगा। जिन अवयवों पर उसका विराम स्वीकार किया जायगा, वे स्वयं अवयव-रहित होंगे तथा स्वयं उपादान होने से नित्य द्रव्य माने जावेंगे। इस प्रकार के सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव नित्य द्रव्य को 'परमाणु' कहते हैं। ये परमाणु चार प्रकार के हैं—पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय।

इन परमाणुओं से जगदुत्पत्ति के प्रकार का वर्णन प्रशस्तपाद ने अपने (पृ० १९-२२) भाष्यमें बड़े सुन्दर ढंग से किया है। अणुपरिमाण-विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति होती है जो अणुपरमाणु विशिष्ट होने से स्वयं अतीन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है। वस्तु स्थिति यह है कि परमाणु नित्य है। दो परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। द्व्यणुक भी अणु-परिमाण वाला है। किन्तु कार्य्य होने से वह अनित्य है। तीन द्व्यणुकों से जिस त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है वह महत्परिमाणवाला होता है। अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। फलतः परमाणु और द्व्यणुक अतीन्द्रिय हैं और त्रसरेणु से लेकर आगे के और सभी कार्य द्रव्य इन्द्रिय गोचर होते हैं। घर के छत के छेद से जब सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तब उनमें नाचते हुए जो छोटे-छोटे कण नेत्रगोचर होते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं और इनका छठाँ भाग 'परमाणु' कहलाता है[1]। त्र्यणुक का महत्त्व द्व्यणुकों की संख्याके कारण उत्पन्न माना जाता है, न कि उनके अणुपरमाणु से। चार त्रसरेणुओं के

उत्पत्ति क्रम

---

१ जालान्तरगते भानो यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और तदनन्तर जगत् की सृष्टि होती है। प्रत्येक द्रव्य की सृष्टि में इसी क्रम का अनुसरण माना जाता है।

वैशेषिक मत में परमाणु स्वभावतः शान्त अवस्था में निष्पन्द रूप से निवास करते हैं; उनमें प्रथम परिस्पन्द का क्या कारण है? प्राचीन वैशेषिक लोग प्राणियों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट को इसका कारण बतलाते हैं। अदृष्ट की दार्शनिक कल्पना बड़ी विलक्षण है। अयस्कान्त मणि की ओर सूई की स्वाभाविक गति[1], वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना[2], अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की आद्य स्पन्दनात्मक क्रिया—अदृष्ट के द्वारा जन्य बतलाई जाती हैं। पर पीछे के आचार्यों ने अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि क्रिया मानी है[3]। अदृष्ट के स्थान पर महेश्वर की सत्ता कारणभूत मानी गई है। महेश्वर की जगत् के संहार करने की इच्छा उत्पन्न होने पर अदृष्टों का शक्ति-प्रतिबन्ध उत्पन्न हो जाता है अर्थात् अदृष्टों की शक्ति रुद्ध हो जाति है। अतः उसका सद्यः फल प्रलय की उत्पत्ति होती है। पर जब प्राणियों के कर्म फलोन्मुख होते हैं और अदृष्ट वृत्तिलाभ करता है, तब महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से आत्मा तथा परमाणु का संयोग उत्पन्न होता है; उसके कारण परमाणुओं में कर्म की उत्पत्ति होती है और क्रमशः सृष्टि का आविर्भाव होता है।

वैशेषिकों की यह परमाणु-कल्पना स्वप्रतिभोत्पादित सिद्धान्त है। ग्रीक दार्शनिक डिमाक्रिटस के परमाणुवाद से यह सिद्धान्त नितान्त

---

१ मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्। वै० सू० ५।१।१५

२ वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् — वै० सू० ५।२।७

३ प्र० पा० भा० पृ० २०, न्या० क० पृ० ५२-५३

भिन्न है। ग्रीसदेशीय विवेचना के अनुसार परमाणु स्वयं गुणरहित होते हैं, पर उनमें तौल, स्थान, तथा क्रम का अन्तर होता है, पर कणाद के अनुसार परमाणु में विशेष गुण होता है। डिमाक्रिटस तथा एपिकुरस ने परमाणुओं को स्वतः गमनशील तथा आत्मा को भी उत्पन्न करनेवाला बतलाया है। वे अनन्त आकाश में विचरण करते हुए पारस्परिक संघर्ष से स्वतः जगत् की सृष्टि करते हैं, क्योंकि ईश्वर के बहिष्कार कर देने से उनका कोई भी सचेतन नियामक विद्यमान नहीं रहता, परन्तु वैशेषिक सिद्धान्त इससे नितान्त भिन्न ठहरता है। यहाँ परमाणु स्वभावतः निष्पन्दावस्था में रहते हैं; उनमें स्पन्द का आविर्भाव अदृष्ट के सहकार से ईश्वर की इच्छा से होता है। वे पृथिव्यादिभूत चतुष्टय की ही उत्पत्ति कर सकते हैं, आत्मा स्वयं नित्य द्रव्य हैं तथा उनके समान ही साथ-साथ स्थिति धारण करता है। दोनों में तात्त्विक विभेद यह है कि ग्रीकसिद्धान्त भौतिकवाद का समर्थक है, पर भारतीय सिद्धान्त आध्यात्मिकवाद का पोषक है। ऐसी दशा में डाक्टर कीथ[1] की भारतीय परमाणुवाद के सिद्धान्त पर ग्रीक प्रभाव की कल्पना नितान्त निर्मूल है।

(४) वैशेषिक ज्ञानमीमांसा

बुद्धिप्रकरण में ज्ञान की मीमांसा प्रशस्तपाद भाष्य में विशेष रूपेण की गई है। ज्ञान सामान्यतः दो प्रकार का होता है—(१) विद्या तथा (२) अविद्या। ये दोनों चार-चार प्रकार के होते हैं। अविद्या के चार प्रकार हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। अनेक प्रसिद्ध विशेषवाले दो पदार्थों में सादृश्यमात्र के दर्शन से और उभयस्थ विशेषों के स्मरण न करने से उभयावलम्बी विमर्ष को 'संशय' कहते हैं। यह दो प्रकार का है—अन्तः (भीतरी) और बाह्य (बाहरी)। विपर्यय का अर्थ है अवस्तु में वस्तु का ज्ञान (अतस्मिन् तदिति प्रत्ययः) अर्थात् भ्रम।

---

१ द्रष्टव्य कीथः इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटमिजम पृ० १७ १८।

अनध्यवसाय से तात्पर्य 'अनिश्चय' से है। 'यह क्या है'? यह आलोचनमात्र ज्ञान। 'कटहल' को देखकर किसी अन्यप्रान्तीय मनुष्य का निश्चय पर न पहुँचना अनध्यवसाय है। स्वप्न तो प्रसिद्ध है। प्रशस्तपाद के मत से स्वप्न के तीन कारण होते हैं—संस्कारपाटव, धातुदोष, तथा अदृष्ट। कामी या क्रुद्ध पुरुष जिस विषय का चिन्तन करता हुआ सोता है उसकी चिन्तासन्तति स्वप्न में प्रत्यक्षरूप से दीख पड़ती है। वात-प्रकृति या वातदूषित व्यक्ति आकाश में गमन, पित्त-प्रकृति व्यक्ति अग्निप्रवेश और स्वर्णपर्वत, कफप्रकृति सरित् समुद्र का सपना देखता है। अदृष्ट से विचित्र स्वप्नों का उदय प्रसिद्ध ही है। विद्या चार प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्ष। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना नैयायिकों के समान है। वैशेषिक लोग उपमान और शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मानकर द्विविध प्रमाण के पक्षपाती हैं। स्मृति प्रसिद्ध है। ऋषियों का अतीन्द्रिय विषयों का प्रतिभाजन्य यथार्थ निरूपणात्मक ज्ञान 'आर्ष' कहलाता है। प्राचीनकाल में वैशेषिक दर्शन का साहचर्य बौद्धदर्शन के साथ विशेष घनिष्ठ प्रतीत होता है। शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने से ही ये 'अर्ध वैनाशिक' (आधे बौद्ध) के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

(५) वैशेषिक कर्तव्यमीमांसा

वैशेषिक दर्शनके प्रथमसूत्र से ही पता चलता है कि धर्म की व्याख्या करना महर्षि कणाद का प्रधान लक्ष्य है। धर्म का लक्षण है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वै० सू० १।१।२)। किरणावली और उपस्कार के व्याख्यानुसार अभ्युदय का अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस का मोक्ष है। धर्म वही है जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान और मुक्ति की उपलब्धि हो या तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो। प्रशस्तपाद के अनुसार कर्ता का मोक्षसाधक, अतीन्द्रिय, शुद्ध संकल्प से उत्पन्न, स्वकीयवर्ण तथा आश्रम

में नियत कर्मों के साधन से उत्पन्न होनेवाला पुरुष का गुण 'धर्म' कहलाता है (पृ० १३८)। धर्म के साधक कर्म दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य धर्मोंमें धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणिहित-साधन, सत्य वचन, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, अनुपधा (भावशुद्धि), अक्रोध, स्नान, पवित्रद्रव्य-सेवन, विशिष्ट देवताकी भक्ति, उपवास और अप्रमाद की गणना है। विशेष धर्म चारों वर्ण तथा चारों आश्रम के कर्तव्य रूप हैं जिनका निरूपण स्मृति ग्रन्थों में विस्तार के साथ किया गया है (मनु०२–६)। इन कर्मों का आचरण कामना के साथ किये जाने पर तत्तत्फलों की उत्पत्ति होती है, परन्तु प्रयोजन के बिना अर्थात् निष्काम बुद्धि से इनका विधान भावप्रसाद (चित्त शुद्धि) के द्वारा धर्म की उत्पत्ति करता है। अतः निष्काम कर्म का आचरण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि परम्परया कराता है। धर्म की इस उपादेयता को न जानकर महर्षि कणाद पर यह लाञ्छन लगाना एकदम मिथ्याज्ञान-विजृम्भित है कि उन्होंने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की, परन्तु किया छः पदार्थों का वर्णन। सागर जानेके इच्छुक व्यक्ति के लिए यह हिमालय जानेके समान हुआ—

> धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।
> सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम्॥

मोक्ष की अभिव्यक्ति का प्रकार यह है कि निष्काम कर्मके सम्पादन से सत्त्वशुद्धि होती है अर्थात् प्रतिबन्धक अधर्म का सर्वथा तिरोधान हो जाता है। सत्त्वशुद्धि का फल तत्त्वज्ञान का उदय है, जो मिथ्याज्ञान-निवृत्तिरूप व्यापार के द्वारा मोक्ष का मुख्य कारण है। इस तरह मोक्षके उदय के प्रति तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण (सन्निपत्योपकारक) है, परन्तु निष्कामकर्म परम्परया (आरादुपकारक) कारण है[1]।

---

१ द्रष्टव्य प० पा० भा० पृ० १३९, किरणावलीभास्कर पृ० २१।

वैशेषिकमत ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद का पक्षपाती नहीं है, अपितु, ज्ञानवाद का ही। निष्काम कर्म तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायकमात्र है। निवृत्तिरूप धर्म से प्रसूत, द्रव्यादि षट् पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से उत्पन्न तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है (वै० सू० १।१।४)। अतः निवृत्तिरूप धर्म या निष्काम कर्म का आचरण करना इस क्लेश-बहुल संसार से निवृत्ति पानेवाले प्राणी का कर्तव्य होना चाहिये। योगाभ्यास, प्राणायाम आदि साधन भी नितान्त आवश्यक हैं[1]। प्रवृत्ति की न्याय सम्मत व्याख्या वैशेषिकों को भी सम्मत है। आज मोक्ष की कल्पना में प्रचलित नैयायिकों तथा वैशेषिकों में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता, परन्तु कभी दोनों मतों में अन्तर अवश्य था। भासर्वज्ञ[2] तथा सर्वसिद्धान्त संग्रह[3] के मतानुसार आनन्दरूपा मुक्ति के माननेवाले एकदेशी नैयायिक अवश्य थे, परन्तु वैशेषिकों ने सर्वदा दुःखात्यन्त-निवृत्ति और आत्मविशेष-गुणोच्छेदरूपा ही मुक्ति अंगीकृत किया है[4]। अर्थात् मुक्तिमें दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है और आत्मा अपने विशेष गुणों से विहीन हो जाता है।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता मानी गई या नहीं? इस प्रश्न को लेकर आलोचकों में बड़ा मतभेद है। वैशेषिक सूत्रों में केवल दो

ईश्वर

सूत्र ईश्वर की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं, परन्तु इनकी व्याख्या में ऐकमत्य नहीं है। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै० सू० १।१।३) में 'तद्' शब्द ईश्वर का बोधक माना गया है परन्तु वह धर्म का भी प्रतिपादक हो सकता है

---

१ उपस्कार सूत्र ६।२।१६।

२ न्यायसार पृ० ४०-४१।

३ नित्यनन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते ६।४१

४ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः। प्र० पा० भा० पृ० १४४।

(द्रष्टव्य उपस्कार)। वै० सू० २।१ १८ सूत्र में 'अस्मद्विशिष्ट' शब्द ईश्वर के समान योगियों का बोधक माना जा सकता है। अतः सूत्रों में ईश्वर का विस्पष्ट निर्देश प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रशस्तपाद से लेकर अवान्तरकालीन ग्रन्थकार ईश्वर की सिद्धि एकमत से स्वीकार करते हैं। प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में महेश्वर को प्रमाणभूत माना है, क्योंकि सृष्टिकाल में ईश्वर की सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) से ही जड़ परमाणुओं में आद्य स्पन्दन उत्पन्न होता है। भक्ति से संतोषित ईश्वर का अनुग्रह भी मोक्ष सम्पादन में साधन माना गया है। गुणरत्न के कथनानुसार वैशेषिक लोग पशुपति के अनुयायी होने से 'पाशुपत' कहे जाते थे (षड्दर्शन-समुच्चयवृत्ति पृ० ५१), जिस प्रकार शिव के भक्त होने से नैयायिक शैव कहे जाते थे। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन पर अनिश्वरवादी होने का लाञ्छन नहीं लगाया जा सकता।

(५) समीक्षा

तत्त्वज्ञान से आत्मा के यथार्थ रूप की अनुभूति होने पर निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, परन्तु आत्मा के स्वरूप-ज्ञान के लिए आत्मेतर द्रव्यों की जानकारी आवश्यक है। द्रव्योंके आश्रित धर्म गुण और कर्म हैं। तत्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा और आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञानसे ही हो सकती है। द्रव्य, गुण, कर्म के समानधर्मों के योग का नाम 'सामान्य' है (सामान्यं साधर्म्ययोगः)। समानधर्म कहीं व्यवस्थित रहता है (यथा गोत्वादि) और कहीं अव्यवस्थित रहता है (यथा आरोह परिणाह-विस्तार आदि) यदि केवल सामान्य धर्म का आश्रय लिया जाता है, तो तत्त्वार्थबुद्धि का उदय न होकर मिथ्याबुद्धि होती है। स्थाणु में पुरुषत्व की बुद्धि सामान्य धर्म के ही ऊपर निर्भर है। अतः वैधर्म्य का ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। वैधर्म्यज्ञान का पता विशेष से चलता है। सामान्य और विशेष जैसे नित्यपदार्थों का अन्य पदार्थों

के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए नित्य सम्बन्ध की कल्पना भी न्याय्य है। यह नित्य सम्बन्ध 'समवाय' है। भाव पदार्थों के समान अभाव भी उतना ही वास्तव, यथार्थ और महत्त्वशाली है। अतः आत्मा के साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा यथार्थ स्वरूप की प्रतीति के लिए सात पदार्थों की वैशैषिक कल्पना नितान्त संगत और औचित्यपूर्ण है (चन्द्रकान्त—वैशेषिकभाष्य १।१।४।)

वैशेषिक पदार्थमीमांसा की समीक्षा करने पर पहली बात जो आलोचकों के आक्षेप का विषय है वह पदार्थों की नियमित षट् संख्या है। पदार्थों की षट् संख्या का नियामक क्या है? क्या इतने से अधिक या न्यून पदार्थोंकी कल्पना मान्य नहीं हो सकती? स्वतन्त्र पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए परमुखापेक्षी नहीं होता, परन्तु स्वतन्त्र पदार्थ होने पर भी गुण और कर्म की द्रव्याश्रितता अभीष्ट है। यदि गुण कर्म द्रव्याधीन रहते हैं, तो क्या उनकी स्वतन्त्र पदार्थ कल्पना में इससे धक्का नहीं पहुँचता? अतः छः या सात पदार्थों की कल्पना में कोई भी नियामक हेतु प्रतीत नहीं होता। सामान्य तथा विशेष की कल्पना अनेक दार्शनिकों के प्रबल आक्षेप का विषय है। जैन दार्शनिक मल्लिषेण का कहना है कि सब पदार्थोंका यह स्वभाव है कि वे अनुवृत्ति और व्यावृत्ति स्वतः उत्पन्न करते हैं। उत्पन्न होनेवाला घट तदाकार-विशिष्ट समस्त द्रव्यों की घटप्रतीति उत्पन्न करता है और सजातीय विजातीय द्रव्यों से अपने स्वरूप को स्वयमेव व्यावृत्त करता है। ऐसे वस्तुस्थिति में इन दो नवीन पदार्थों की अनावश्यक कल्पना क्योंकर सुसंगत मानी जाय? (स्याद्वादमञ्जरी श्लोक ४)।

'सामान्य' दार्शनिकों के मतभेद का एक प्रधान विषय है। बौद्धों की सम्मति में जाति को कल्पना नाममात्र की है, वास्तव कल्पना नहीं; जगत् में व्यक्ति (स्वलक्षण) ही की सत्ता है जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, के द्वारा अनुभूत होता है। कणाद

जाति-समीक्षा

(वै० सू० १।२।३) जाति की केवल मानस सत्ता मानते हैं, परन्तु उनके पीछे के वैशेषिक नैयायिक, भाट्ट तथा प्राभाकर मीमांसक जाति की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् स्वतन्त्ररूपेण मानते हैं परन्तु इन वास्तववादी दार्शनिकों में भी जाति-व्यक्ति सम्बन्ध को लेकर मतभेद दृष्टिगोचर होता है। नैयायिक और प्राभाकर जाति-व्यक्ति का सम्बन्ध 'समवाय' मानते हैं, परन्तु कुमारिल जाति को व्यक्ति से भिन्न अथच अभिन्न मानते हैं। रामानुज व्यक्ति को सत् तथा तद्व्यतिरिक्त जाति को असद् मानते हैं, परन्तु वे संस्थानजन्य सुसादृश्य को वास्तव मानने के पक्ष मे हैं। शांकर-वेदान्त सामान्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता (वे० प० पृ० ११)। इस प्रकार दार्शनिकों की 'जाति' के विषय में स्वसिद्धान्तानुसारी भिन्न-भिन्न कल्पनायें हैं। परन्तु न्याय और बौद्धदर्शनका जाति के विषय में विरुद्ध मत हैं। न्याय जातिको मानता है, बौद्धदर्शन इसका प्रबल खण्डन कर अस्वीकार करता है।

बौद्ध दार्शनिक जाति कल्पना के सबसे कट्टर विरोधी और विदूषक हैं। उनकी आलोचना का सारांश यह है कि जगत् के स्वतंत्र सत्तात्मक पदार्थ स्थिति के लिए पृथक् देश को ग्रहण करते हैं। घट से दण्ड पृथक् द्रव्य है, क्योंकि उसका स्थितिसाधक स्थान अलग है। परन्तु जाति के विषय में यह नहीं कह सकते। जाति के स्वतंत्र पदार्थ होने से उसकी अनुभूति अलग होनी चाहिए थी, परन्तु उसका ग्रहण व्यक्तियोंके अतिरिक्त कहीं भी नहीं होता। पाचक व्यक्तियों के प्रत्यक्ष होनेपर क्या उनके सामान्य का कथमपि ग्रहण होता है? पाचकों में जो सामान्यानुगत धर्म है, वह पाक क्रियामूलक है। पाकक्रियाओं के विभिन्न होने पर भी एकाकार अनुगत धर्म के कारण उनमें परस्पर सादृश्य है। ऐसी दशा में सामान्यधर्म की उपलब्धि पाकक्रिया में होती है, न कि पाचक व्यक्तियों मे। ऐसी विषम स्थिति में 'पाचकत्व' की कल्पना आकाशसुमनके समान नितान्त निराधार, निःसत्त्व है। 'गोत्व' का अर्थ है गोभिन्नपदार्थों

से (जैसे अश्वादिकों से) भिन्न पशुगत धर्म (तदितरेतत्त्वम् अपोहः[१])। अतः व्यक्ति (स्वलक्षणः) की कल्पना वास्तव हैं, जाति की सत्ता नामतः है, वस्तुतः नहीं। पण्डित अशोक की यह व्यङ्ग्योक्ति वस्तुतः मर्मस्पर्शिनी है कि पाँच अगुलियों से अलग जो व्यक्ति सामान्यरूप छठे पदार्थ का सद्भाव मानता है उसे अपने सिर पर सींगों की भी स्थिति माननी चाहिएः—

इहासु पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुरीषु।
साधारणं षष्ठमिहेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥

वैशेषिक-सम्मत परमाणुकारणवाद तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। सृष्टिकाल में पृथग्भूत परमाणुओं मे संयोग उत्पन्न होने पर

परमाणुकारणवाद-समीक्षा

द्वयणुकादिक्रम से सृष्टि मानीं गई है। संयोग कर्म-जन्य होता है। अब प्रश्न यह है कि यह कर्म किं-निमित्तक होता है? दृष्ट कारणों मे प्रयत्न या अभिघात माना जा सकता है, परन्तु उस समय शरीर उत्पन्न न होने से आत्म-मनःसंयोगजन्य प्रयत्न का उदय स्वीकृत नहीं हो सकता! अभिघात की कल्पना भी इसी प्रकार असंगत है। अदृष्ट को कर्म का कारण मान सकते हैं, परन्तु अचेतन होने के कारण वह कर्मोत्पादन में किस प्रकार समर्थ हो सकता है? अतः किसी नियत कर्मनिमित्त के अभाव में अणुओं में आद्य कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, न कर्मजन्य संयोग, न संयोगजन्य द्वयणुकादि-सृष्टि। प्रलयकाल में इसी प्रकार वियोगोत्पादक कर्म के निमित्ता-भाव में जगत् का प्रलय असम्भव है। परमाणुओं को प्रवृत्तिस्वभाव मानने

---

१ बौद्धों के 'अपोहवाद' की सिद्धि तथा सामान्य-निरास के लिए द्रष्टव्य महापण्डित रत्नकीर्ति कृत 'अपोहसिद्धि', पण्डिताशोक कृत 'सामान्य-दूषणदिक्प्रसारिता', न्यायमञ्जरी पृ० २९८-३००। जातिमण्डन के लिए देखिए न्या० म० ३०१-३१८।

में नित्य प्रवृत्ति होगी, प्रलय का अभाव होने लगेगा। और निवृत्ति-स्वभाव मानने पर नित्यनिवृत्ति के सद्भाव में सृष्टि का अभाव होने लगेगा। उभय स्वभाव मानने पर परस्पर विरोध होगा और अनुभय स्वभाव मानने पर भी दोष वही रहेगा। अतः परमाणुओं में न तो स्वतः प्रवृत्ति-प्रवणता है न स्वतो निवृत्तिप्रवणता, प्रत्युत उनमें आद्य संयोग की उत्पत्ति के लिए किसी चेतन नियामक पदार्थ की सत्ता मानना ही ठीक होगा। वैशेषिकों का यह सिद्धान्त कि रूपादिमान् चतुर्विध परमाणु रूपादिमान् चतुर्विध कार्यों के उत्पादक तथा नित्य हैं सुसङ्गत नहीं प्रतीत होता। रूपादिमान् होने से परमाणुओं को अनित्य मानना पड़ेगा क्योंकि लोक का यह नियम है कि रूपादिमान् वस्तु स्वकारण की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य होती है। अतः परमाणुओं का भी स्वकारणापेक्षया स्थूल तथा अनित्य मानना ही न्यायसंगत है। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त की हानि पहुँचती है। अतः परमाणुकारणवादका कथमपि समर्थन नहीं किया जा सकता[1]। समवाय की कल्पना भी प्रमाण-प्रतिपन्न नहीं प्रतीत होती। यदि अणुओं से अत्यन्त-भिन्न द्व्यणुकों के साथ सम्बन्ध मानने के लिए समवाय स्वीकृत किया जाता है, तो अत्यन्त भेद की समता के आधार पर समवायी पदार्थों से अत्यन्त भिन्न समवाय के साथ सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी-जिससे अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा[2]। इन्हीं कारणों से वैशेषिकों के सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से सर्वमान्य भले न हों, परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान के समान वैशेषिक की भौतिक जगत् की समीक्षा लौकिक दृष्टि से नितान्त उपादेय और ग्राह्य है। तत्त्व-प्रासाद की आरम्भ की इन सीढ़ियों के द्वारा ही हम ऊपर चढ सकते हैं और अद्वैत तत्त्व की उपलब्धि में समर्थ हो सकते है।

---

१ द्रष्टव्य ब्र० सू० २।२ ११-१७ पर शाङ्करभाष्य।

२ द्रष्टव्य ब्र० सू० २।२।१३ पर शाङ्करभाष्य. स्याद्वादमञ्जरी पृ० ४०-४१।

नवम परिच्छेद

सांख्य दर्शन

'सांख्य' नामकरण का रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त में छिपा हुआ है। प्रकृति तथा पुरुष के पारस्परिक विभेद को न जानने से इस दुःखमय जगत् की सत्ता है। परन्तु जिस समय पुरुष के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसी समय उसके लिए दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। विवेक ज्ञान कारण है तथा दुःख-निवृत्ति कार्य है। इस ज्ञान की पारिभाषिकी संज्ञा है 'प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति' या प्रकृति-पुरुष विवेक। इसी का दूसरा नाम है संख्या=सम्यक् ख्याति=सम्यक् ज्ञान=विवेक ज्ञान। सांख्य दर्शन में 'संख्या' को नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा है। महाभारत[१] में 'सांख्य' शब्द की यही प्रामाणिक व्याख्या की गई है। कुछ लोग तत्त्वनिर्णय के कारण गिनती के अर्थ में व्यवहृत होनेवाले 'संख्या' शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, परन्तु यह व्याख्या उतनी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती जितनी पूर्वोक्त व्याख्या[२]।

'सांख्य' का अर्थ

---

१ संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥—महाभारत।

२ दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥—महाभारत।

(१) सांख्य का उद्गम और विकास

सांख्य नितान्त प्राचीन दर्शन है । सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है । यद्यपि 'सांख्य' शब्द 'योग' शब्द के साथ श्वेताश्वतर उपनिषद् (तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम् ६।१३) में उपलब्ध होता है, तथापि इसके अनेक माननीय सिद्धान्त उससे भी प्राचीन उपनिषदों में बीजरूप से मिलते हैं । सत्त्व, रज, तम—यह त्रिगुण का सिद्धान्त छान्दोग्य में प्रथमतः दृष्टि-गोचर होता है छान्दोग्य (६।४।१) का कथन है कि अग्नि का रूप लाल है, जल का शुक्ल तथा पृथिवी का कृष्ण । इस जगत् की सृष्टि मे ये तीन ही रूप कारणभूत हैं, ये ही सत्य हैं । जगत् केवल नामरूपात्मक होने से विकारमात्र है—वाक् का आरम्भण-मात्र है । प्रकृति की कल्पना में श्वेताश्वतर[1] ने इन्हीं वर्णों का उपयोग किया है । "प्रकृति एक है, अजा—उत्पन्न न होनेवाली है, लोहित, कृष्ण तथा शुक्लरूपों को धारण करनेवाली है तथा अपने स्वरूपानुसार प्रजाओंको उत्पन्न करनेवाली है ।" 'इन्द्रियों से बढ़कर अर्थ; अर्थ से बढ़कर मनः मन से बढ़कर बुद्धि; बुद्धिसे बढ़कर महान् आत्मा; महत् से बढ़कर अव्यक्त तथा अव्यक्त से बढ़कर पुरुष—पुरुष से बढकर अन्य कोई भी वस्तु नहीं होती ।' कठ (१।३।१०, १३) के इस क्रम को सांख्य ने अपने ग्रंथों में अपनाया है । प्रश्नोपनिषत् (६२) मे पुरुष की सोलह कलाओंका वर्णन मिलता है जो सांख्यके सूक्ष्म शरीरकी कल्पना का मूलाधार है । श्वेताश्वतर उपनिषद् तो सांख्य सिद्धांतो

सांख्य और उपनिषद्

किसी वस्तु के विषय में तद्गत दोषों तथा गुणों की छानबीन करना 'संख्या' कहलाता है । 'संख्या' का अर्थ आत्मा के विशुद्धरूप का ज्ञान भी किया गया है (शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते । शांकर विष्णुसहस्रनमभाष्य) ।

१ अजामेकां लोहितकृष्ण शुक्लां ।
बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः ॥ (श्वेता० ४।५)

का भण्डार है। ईश्वर प्रधान या प्रकृति, क्षेत्रज्ञ या जीवों का तथा गुणों का अधिपति है (प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः श्वेता० ४।१६)। जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से उत्पन्न होनेवाले तन्तुओं से जाला तनता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा अपने को प्रकटित करता है (श्वेता० ६।१०)। प्रकृति ईश्वर की मायाशक्ति है तथा प्रकृति का अधिपति महेश्वर मायी कहलाता है (मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् श्वे० ४।१०)। तन्मात्रा, त्रिगुण तथा प्रकृति-पुरुष-विवेक के सिद्धान्त मैत्रायणी उपनिषद् (द्वितीय और तृतीय प्रपाठक) में संकेतित किये गये हैं।

बुद्ध दर्शन तथा सांख्यदर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ निरूपण अभी तक नहीं हो पाया है। बुद्धचरित में सिद्धार्थ आराड कालाम जैसे सांख्य-तन्त्रोपदेशक आचार्य के समीप शिक्षा ग्रहण के लिए जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि में भी कतिपय समानताएँ दृष्टिगत होती है। दुःख की सत्ता पर जोर देना, वैदिक कर्मकाण्ड की गौणता स्वीकृत करना, ईश्वरकी सत्ता पर अनास्था रखना तथा जगत् को सतत परिवर्तनशील मानना (परिणाम-नित्यता), अहिंसा आदि सिद्धान्त सांख्य तथा बौद्ध दर्शन दोनों में समान रूपेण मान्य है। परन्तु सांख्य के प्रकृति पुरुष जैसे द्विविध तत्व की कल्पना, त्रिगुण के सिद्धान्त—आदि बौद्ध दर्शन में उपलब्ध नहीं होते। बौद्ध दर्शन आरम्भ काल में सांख्य सिद्धान्तों से प्रभावित अवश्य हुआ था। महाभारत के समय में अनेक सांख्याचार्यों का पता तो चलता ही है। साथ ही साथ तीन प्रकार के सांख्य का वर्णन मिलता है (महा० १२।३१८)। एक सांख्य २४ तत्वों को, दूसरा २५ तत्वों और तीसरा २६ तत्वों को अङ्गीकार करता था। महाभारत के जनक पञ्चशिख संवाद में (शान्ति ३०३-३०८) सांख्य के प्रधान सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी लोकप्रिय दर्शन सांख्य ही है। इस प्रकार उपनिषद्,

इतिहास, पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों में सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि इसकी प्राचीनता तथा महनीयता की पर्याप्त बोधिका है।

सांख्यदर्शन के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात करने से निम्नलिखित समय-विभाग स्वीकृत किये जा सकते हैं—

(१) उपनिषदों तथा भगवत्गीता का सांख्य (१०००-८०० ई० पूर्व) इस काल में सांख्य वेदान्त के साथ संमिश्रित है तथा ईश्वरवाद का समर्थक है।

काल-विभाग

(२) महाभारत तथा पुराणों का सांख्य (लगभग ३००-२०० ई० पूर्व)—इस काल में सांख्य वेदान्त के सिद्धान्तों से पृथक् होकर स्वतन्त्रदर्शन के रूप में प्रकट होता है। सांख्य सिद्धान्तों में विशेष विकास दृष्टिगत होता है। चरक का सांख्य भी इसी काल के सांख्य से मिलता जुलता है। चरक सांख्य की अनेक विशेषताएँ (शरीर स्थान, १ अ०)-पुरुष को अव्यक्तावस्थां में मानना, तन्मात्राओं का सर्वथा अभाव, मुक्तावस्था में पुरुष को चेतना-रहित दशा—महाभारत १२।२१९) में भी उपलब्ध होती है जिससे चरकपञ्च शिख के अनुयायी प्रतीत होते हैं। (३) ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट तथा सांख्यकारिका में वर्णित सांख्य (३०० ई० पूर्व ३०० ई०) इस काल का सांख्य निश्चितरूपेण निरीश्वरवदी है। प्रकृति तथा पुरुष को अन्तिम तत्व मानकर विश्व की तात्विक व्याख्या की गई है। ईश्वर के लिए इस सांख्य में कोई स्थान नहीं है। (४) विज्ञान भिक्षु का सांख्य (१६ वीं सदी)-विज्ञानभिक्षु एक विशिष्ट मौलिक दार्शनिक थे। उन्होंने साख्य से निरीश्वरवाद के लाञ्छन को हटाकर पुनः सेश्वरवाद को प्रतिष्ठा की है। विज्ञानभिक्षुने सांख्य के लुप्त गौरव का पुनः उद्धार किया है तथा उसे वेदान्त के साथ सुन्दर समन्वय उपस्थित कर महाभारतकालीन व्यापकता प्रदान की है।

गुणरत्न ने (प०द०स० वृत्ति पृ० ९६) सांख्यके दो सम्प्रदायोंका वर्णन किया है--मौलिक्य तथा उत्तर। मौलिक्य सांख्यमें प्रत्येक आत्मा के लिए एक स्वतन्त्र प्रधान की कल्पना स्वीकृत की गई है। यह सिद्धान्त चरक सांख्य से मिलता जुलता है। अतः महाभारत तथा चरककालीन सांख्य मौलिक्य सांख्य का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। उत्तर सांख्य कारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य ही है।

(२) प्रसिद्ध सांख्याचार्य

कपिल—सांख्यदर्शन के रचयिता का नाम 'कपिलमुनि' है। उपनिषदों में संकेतित सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन सबसे पहले इन्होंने किया था। उपनिषत्कालीन सांख्य वेदान्त के साथ मिश्रित था। उसे पृथक् कर स्वतन्त्र दर्शन के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इसी कारण कपिल 'आदिविद्वान्' के महत्त्वशालिनी उपाधि से विभूषित किये गए हैं। भागवत (१।८।११) के समय में ही सांख्य 'कालार्कभक्षित' हो चुका था। अतः इसके पुनरुद्धार के लिए कपिल ने तत्त्वग्रामों का सम्यक् निर्णय किया। आचार्य पंचशिखने अपने एक सूत्र[१] में कपिल को निर्माणकाय का अधिष्ठान कर आसुरि को सांख्यतन्त्र के उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया है। इस प्रकार कपिल अपने समय के सुप्रसिद्ध अग्रगण्य दार्शनिक प्रतीत होते हैं[२]।

कपिल की दो रचनाओं का पता चलता है – तत्त्व

---

१ आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ॥ (१।२५) पर व्यासभाष्य में उद्धृत।

२ कतिपय विद्वान् 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं श्वेता० (५।२) में कपिल के अभिधान का संकेत बतलाते हैं, परन्तु सन्दर्भानुसार इस शब्द की वैदान्तिक व्याख्या ही सत्य प्रतीत होती है। यह कपिलवर्ण व्यक्ति हिरण्यगर्भ से अभिन्न ही है। द्रष्टव्य श्वेता० ३।४,४।१२,६।१८।

समास[1] तथा सांख्यसूत्र । तत्त्वसमास केवल २२ छोटे सूत्रों का समुच्चयमात्र है । सांख्यसूत्र में ६ अध्याय हैं और सूत्र संख्या ५३७ हैं । पहले अध्याय में विषय का प्रतिपादन, दूसरे में प्रधान के कार्यों का निरूपण, तृतीय में वैराग्य, चतुर्थ में सांख्यतत्त्वों के सुगम बोध के लिए अनेक रोचक आख्यायिका, पंचम में परपक्ष का निरास, षष्ठ में सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय है । तत्त्वसमास को अनेक विद्वान् सांख्य शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ बतलाते हैं ।

तत्त्वसमास—समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । डा० कीथ ने इसकी रचना १३८० ई० के अनन्तर मानी है, क्योंकि इसी समय लिखे गए सर्वदर्शसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है । दासगुप्त तथा गार्बे का भी यही मत है । मैक्समूलर अवश्य इसे अतिप्राचीन मौलिक ग्रन्थ मानते थे । बोधायन कवि कृत 'भगवदज्जुक' नाटक महेन्द्र विक्रम (७ शतक) के समय लिखा गया था । इसमें तत्त्वसमास के ८ सूत्र उद्धृत हैं (पृ० १४–१५) वहाँ इन सूत्रों को 'सांख्य समय', कहा गया है । अतः इन सूत्रों की रचना सप्तम शताब्दी से अवश्य प्राचीन है ।

सांख्यसूत्र को अर्वाचीन मानना ठीक नहीं है । माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में इसका उल्लेख अवश्य नहीं किया है, तथापि उन्हीं के समकालिक माधव मन्त्री ने सूतसंहिता की टीकामें 'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था मूलप्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १।६१) को उद्धृत किया है । अतः इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ये सूत्र १४ शतक से प्राचीन हैं ।

---

१ तत्त्वसमास पर अनेक टीकायें सांख्यसंग्रह में प्रकाशित हुई है, जिनमें शिवानन्द कृत 'सांख्य-तत्त्वविवेचन', भावागणेश (१६ वीं शताब्दी) कृत 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन', सर्वोपकारिणी टीका, सांख्यसूत्र-विवरण आदि मुख्य हैं । सांख्यसूत्र पर 'अनिरुद्धवृत्ति' प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण मानी जाती है ।

आसुरि—कपि के साक्षात् शिष्य थे। इनके सिद्धान्त का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। स्याद्वाद-मंजरी में (१५ वें श्लोक) आसुरिका एक श्लोक उद्धृत किया गया है।

पञ्चशिख—'षष्टितन्त्र' के निर्माता आसुरि के शिष्य पञ्चशिख सांख्यदर्शन को सुसम्बद्ध तथा प्रतिष्ठित करनेवाले प्रथम आचार्य हैं। इनके कतिपय सिद्धान्त-विषयक सूत्र प्रमाण के लिए व्यासभाष्यमें उद्धृत किये गए हैं। वाचस्पतिमिश्र ने 'राजवार्तिक' नामक ग्रन्थ से कतिपय श्लोकों को उद्धृत कर साठ प्रधान विषय' की व्याख्या होने के कारण ग्रन्थ के 'षष्टितन्त्र' नामकरण को सार्थक बतलाया है (त० कौ० का०३७) 'अहिर्बुध्न्य संहिता (१२।१८–३०) के अनुसार साठ परिच्छेद थे। चीनी ग्रंथों के अनुसार इस षष्टिसहस्रश्लोकात्मक षष्टितन्त्र की रचना पञ्चशिख ने की थी। पञ्चशिख के सिद्धान्तों का परिचय महाभारत (शान्तिपर्व अ० ३०२–३०८) से भी मिल सकता है।

सांख्यकारिका (७१वीं कारिका) के अनुसार पञ्चशिख के अनन्तर शिष्य परम्परा के द्वारा यह शास्त्र ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ था, परन्तु इस शिष्य परम्परा का पूरा परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। पञ्चशिख-ईश्वरकृष्ण के मध्यकालीन युग के कतिपय प्रसिद्ध आचार्यों के नाम ये हैं—भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल (माठवृत्ति का० ७१); बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि वार्षगण्य कौडिन्य, मूक (युक्तिदीपिका का० ७१); गर्ग और गौतम (जयमंगला)। इन सांख्याचार्यों के विशिष्ट मतों का निर्देश अनेक दर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पौरिक के मतमें प्रतिपुरुष प्रधान की पृथक् सत्ता रहती है युक्तिदीपिका पृ० १६९) जो गुणरत्न के प्रमाण पर मौलिक्य सांख्यों का अन्यतम सिद्धान्त था (पृ० ९६) आचार्य पंचाधिकरण के अनेक विशिष्टमतों का उल्लेख प्रपञ्चसार तंत्र की पद्मपादाचार्य की टीका (१म० पटल,६४–९७ श्लोक) तथा युक्तिदीपिका में किया

गया है। महत् तत्त्व से पहले प्रधान के अन्तर अनिर्देश्यस्वरूप एक तत्त्व की उत्पत्ति होती है; यह विचित्र मत पंचाधिकरण का ही था। वार्षगण्य के मत का निर्देश योगभाष्य में ही है। परन्तु जैन ग्रन्थों में भी इन आचार्यों का उल्लेख होना इनकी ऐतिहासिकता का पर्याप्त प्रमाण है। तत्त्वार्थ-राजवार्तिक (पृ० ५१) ने कपिल और माठर के अतिरिक्त उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति तथा वाद्धलि के नामों का निर्देश किया है।

ईश्वरकृष्ण—इनकी सांख्यकारिका सांख्य का लोकप्रिय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने शारीरकभाष्य में सांख्य मत के उपन्यास करने के समय सांख्यसूत्र का निर्देश न करके इन्हीं कारिकाओं का उद्धरण दिया है। इस घटना से भी इसकी प्रामाणिकता तथा प्राचीनता की पुष्टि हो सकती है। चीनी भाषा में वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ के द्वारा छठीं शताब्दी में किया गया मिलता है। चीनी भाषा में इसे 'हिरण्य सप्तति' या सर्वण सप्तति कहते हैं। जापानी विद्वान् डा० तकाकुसू ने ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवासी की एकता मानी है परन्तु समय और सिद्धान्त में नितान्त पार्थक्य होने से उभय आचार्यों की अभिन्नता कथमपि मानी नहीं जा सकती। ईश्वर-कृष्ण का आविर्भाव काल चतुर्थ शतक में साधारणतया बतलाया जाता है-परन्तु वस्तुतः ये इससे कहीं अधिक प्राचीन हैं। जैनग्रंथ 'अनुयोगद्वार-सूत्र' (१०० ई०) 'काविलं', 'सट्ठितंतं', 'माठरं' के साथ 'कणगसत्तरी' का उल्लेख करता है। सन्दर्भानुसार 'कणगसत्तरी' सांख्यग्रंथ प्रतीत होता है। सांख्यकारिका के चीनदेशीय नाम 'सुवर्ण सप्तति' से हम परिचित हैं। अतः यह कणगसत्तरी निश्चयरूप से 'सांख्यकारिका' का ही नामान्तर है। इस उल्लेख से ईश्वरकृष्ण का समय ईसा की प्रथम शताब्दी से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

कारिका की अनेक विद्वतापूर्ण टीकायें उपलब्ध होती हैं जिनमें 'माठरवृत्ति' सबसे प्राचीन प्रतीत होती है (१) आचार्य माठर कनिष्क

के समसामयिक माने जाते हैं। अतः इनका समय अनुयोगद्वार के निर्देश के आधार पर भी प्रथम शतक में माना जाता है। (२ 'गौडपाद भाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। वृत्ति और भाष्य में अनेक स्थलों पर भाव और भाषागत विचित्र समानतायें है; अभीतक निश्चय नहीं हो सका है कि चीनी भाषा में अनूदित टीका का मूल वृत्ति है या भाष्य। गौडपाद का समय सप्तम शतक के आसपास है। ये माण्डूक्य कारिका के रचयिता गौडपादसे भिन्न हैं या अभिन्न ? इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय अभीतक नहीं हुआ है। (३) 'युक्तिदीपिका' हाल में 'कलकत्ता संस्कृत सीरिज़' (सं० २३)में प्रकाशित हुई है। यह अद्‌भुत पुस्तक है जो प्राचीन सांख्याचार्य के सिद्धान्तों से भरी पड़ी है। सांख्यके इतिहासकी जानकारी के लिए इससे अधिक प्रमाणिक ग्रन्थ का मिलना कठिन है। वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतों का उल्लेख स्थान स्थान पर किया गया है। शबरस्वामी का उल्लेख अवश्य है, परन्तु न कुमारिल का, न प्रभाकर का। ग्रन्थकार के नाम का पता नहीं चलता, परन्तु यह वाचस्पति मिश्र से प्राचीन अथवा समसामयिक अवश्य है। (४) वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' सांख्यसिद्धान्तों के प्रकाशनार्थ वस्तुतः कौमुदी है। (५) शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध, परन्तु शंकरार्य विरचित 'जयमङ्गला' सांख्यतत्त्व जिज्ञासुओं का मंगल साधन करनेवाली अल्पाक्षरा उपयोगिनी टीका है जिसकी रचना १४ शतक के आसपास की गई। (६) नारायण तीर्थ (१७ वीं शताब्दी) की चन्द्रिका' लघुकाय होने पर भी गम्भीरार्थप्रतिपादिनी है। (७) नरसिंह स्वामी का अभी तक अप्रकाशित 'सांख्यतरु-वसन्त' सांख्य और वेदान्त में मूलतः भेद नहीं मानता।

विंध्यवासी—सांख्याचार्य विन्ध्यवासी के विलक्षण सिद्धान्तों का पर्याप्त उल्लेख दार्शनिक ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलता है, परन्तु इनकी रचना की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। कुमारिल (श्लोकवार्तिक

पृ० ३९३, ७०४), भोजराज (भोजवृत्ति ४।२२), मेधातिथि (मनु-भाष्य १।५५), युक्तिदीपिका (पृ० १०८, १४४, १४८) शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रह (पृ० ६३६), गुणरत्न (पृ० १०२ तथा १०४), मल्लिषेण (स्याद्वादमञ्जरी पृ० ९७) ने इनके विशिष्ट मतों का निर्देश किया है। प्राचीन सांख्यसम्मत 'अन्तराभवदेह' की कल्पना इन्हें मान्य न थी, जिसका उल्लेख अनेक बार मिलता है [अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना, श्लो० वा० आत्मवाद, श्लो० ६२; युक्तिदीपिका (का० ४०)]। इनके ग्रन्थ के खण्डन करने के लिए वसुबन्धु ने 'परमार्थसतति' की रचना की। इस प्रकार इनका समय तृतीय शतक का अन्त तथा चतुर्थ को आदि (२५०-३२० ई०) प्रतीत होता है।

आचार्य विन्ध्यवासी का व्यक्तिगत नाम 'रुद्रिल' था परन्तु विन्ध्य के जंगलों में रहने से इनकी विन्ध्यवासी नाम से ख्याति हो गई थी। तत्त्वसंग्रह (पृ० २२) में उल्लिखित यह कटाक्षपूर्ण श्लोक वसुबन्धु की परमार्थ-सतति का प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें परिणामवाद के अंगीकार करनेवाले सांख्याचार्य विन्ध्यवासी की बड़ी मीठी चुटकी ली गई है। परमार्थ ने इनके गुरु का नाम 'वार्षगण्य' बतलाया है। शान्त-रक्षित ने ईश्वरकृष्ण का उल्लेख विन्ध्यवासी से अलग ही किया है। अतः सिद्धान्त तथा व्यक्तित्व की भिन्नता के हेतु दोनों की अभिन्नता मानी नहीं जा सकती।

विज्ञानभिक्षु—विज्ञानभिक्षु एक प्रकार से सांख्य के अन्तिम आचार्य हैं। १६ वों शताब्दी के प्रथमार्ध में ये काशी में ही विद्यमान थे। भिक्षुनाम धारण करनेपर भी न तो ये बौद्ध थे और न दशनामी संन्यासियों में अन्तर्भुक्त थे। यदि ऐसा होता, तो ये शंकराचार्य के मत-की खरी आलोचना से अवश्य विरत होते। ये बड़े स्वतन्त्र विचार के

१ यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद्दधीति च।
वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता॥

सांख्याचार्य थे। इन्होंने उपनिषद् तथा पुराणों के युग के अनन्तर वियुक्त होने वाले सांख्य और वेदान्त में हृदयंगम सामञ्जस्य दर्शाया है। इन्होंने तीन दर्शनों के ऊपर भाष्यग्रन्थ लिखे हैं—(१) सांख्य प्रवचनभाष्य—(सांख्यसूत्रों पर), (२) योगवार्तिक—(व्यासभाष्य पर), (३) विज्ञानामृतभाष्य—(ब्रह्मसूत्र पर)। इनके अतिरिक्त 'सांख्यसार' तथा 'योगसार' में इन दर्शनों के सिद्धान्त का संक्षिप्त प्रतिपादन सरल ढंग से किया गया है। इनके तीन विशिष्ट शिष्यों के नामोल्लेख मिलते हैं जिनमें भावा-गणेश सांख्य के विशेषज्ञ थे जैसा उनके तत्त्वसंग्रह के विद्वत्तापूर्ण व्याख्याग्रन्थ (तत्त्वयाथार्थ्यदीपन) से पता चलता है। सांख्य तन्त्र का अध्ययन-अध्यापन दुर्बल हो चला था। इसीलिए इन्होंने सांख्य को 'कालार्कभक्षित' कहा है। परन्तु इस तन्त्र की प्रणाली को पुनः जाग्रत करने तथा पुनरुज्जीवित करने में जितना श्लाघनीय उद्योग विज्ञानभिक्षु ने किया, वैसा किसी ने नहीं किया। सांख्य-योग को पुनः प्रतिष्ठित करने का सुयश विज्ञानभिक्षु को ही प्राप्त है।

(३) सांख्य-तत्त्व मीमांसा

सांख्य दर्शन में तत्वों की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। उसके अनुसार २५ तत्व होते हैं जिसके जानने से किसी भी आश्रम का पुरुष, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, संन्यासी हो या गृहस्थ हो, दुःखों से अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त कर लेता है[१]। इन पचीस तत्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित चार प्रकार से किया जाता है—(१) कोई तत्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (प्रकृति)। (२) कुछ तत्व कार्य ही होते हैं—किसी से उत्पन्न होते

१ पञ्चविंशतितत्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ सं० सि० सं० ९।११।

हैं पर स्वयं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते (विकृति)। (३) कुछ तत्त्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं—किन्हीं तत्त्वों से उत्पन्न भी होते हैं तथा अन्य तत्त्वों के उत्पादक भी होते हैं (प्रकृति-विकृति)। (४) कोई तत्त्व कार्य तथा कारण उभयविध सम्बन्ध से शून्य रहता है। न वह कार्य ही होता है, न कारण ही (न प्रकृति न विकृति)। सांख्य-सम्मत २५ तत्त्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है (सां० का० का० ३ ;:—

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति।
विकृति	१६	ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र)। कर्मेन्द्रिय (वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ)। मन, और महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अकाश)।
प्रकृति-विकृति	७	महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा (शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा)।
न प्रकृति-न विकृति	१	पुरुष

कार्यकारण सिद्धान्त

सांख्य का सिद्धान्त इस विषय में विलक्षण है। उसका कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य कारण में अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है और कारण की व्यक्तावस्था की संज्ञा कार्य है। इस प्रकार कार्य-कारण का भेद व्यावहारिक है, परन्तु अभेद तात्त्विक है। इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद या परिणामवाद के

नाम से पुकारते हैं। इसकी पुष्टि में सांख्याचार्यों ने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं[1]:—

(१) असद्करणात्—अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता वस्तुतः नहीं होती, तो कर्ता के कितना भी प्रयत्न करने पर यह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। वाचस्पति मिश्र का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि नील वस्तु सहस्रों शिल्पियों के उद्योग करने पर भी कथमपि पीत रंग की नहीं बनाई जा सकती। (२) उपादानग्रहणात्—किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए केवल विशिष्ट साधनों का उपयोग किया जाता है;दही चाहनेवाला दूध को ही ग्रहण करता है। तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जा सकता है। इन व्यावहारिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि कार्य कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी कारण से उत्पन्न होता दिखाई पड़ता। (३) सर्वसंभवाभावात्—सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी दृष्टिगोचर नहीं होती। यह भी कार्यकारण के पूर्वस्थित सम्बन्ध का नियामक है। (४) शक्यस्य शक्यकरणात्—शक्त (शक्ति सम्पन्न) कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होते देख यही कहा जा सकता है कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान है। (५) कारणभावात्—कार्य तथा कारण की एकता वास्तविक है। वस्तुतः कार्य और कारण एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के भिन्न नाम हैं—व्यक्त दशा का नाम कार्य है और अव्यक्त दशा का प्रचलित अभिधान कारण है। संसार का प्रतिदिन अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि कारण-व्यापार के पहले भी कारणमें कार्य की सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्य

---

१ असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥ सां० का० ९

के मत से न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश। कर्तृ-व्यापार से वस्तु का आविर्भावमात्र होता है—अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप धारण करती है। व्यापार के विराम होने पर वस्तु अव्यक्तावस्था प्राप्त होकर स्थूल से सूक्ष्म में परिणत हो जाती है। इसी पर सांख्य तत्त्वमीमांसा की पूरी इमारत खड़ी है।

सांख्य का वास्तववाद

सांख्यदर्शन द्वैतमत का प्रतिपादक है। उसकी दृष्टि में प्रकृति और पुरुष द्विविध मूल तत्त्व है, जिनके परस्पर सम्बन्धसे इस जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति जड़ात्मिका तथा एक है, परन्तु पुरुष चेतन तथा अनेक है। बाह्य जगत् की सत्ता को मानसिक व्यापार से स्वतन्त्र होकर पृथक्रूप से सिद्ध मानने के कारण सांख्य भी न्यायवैशेषिक के समान वास्तववादी है। परतु पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त को क्षणभर दूर रखकर कहा जा सकता है कि जहाँ इस जगत् की उत्पत्ति के लिए अनेक स्वतन्त्र नित्य पदार्थों की कल्पना करने से न्यायवैशेषिक अनेकत्ववादी है, वहाँ प्रकृतिपुरुष द्विविधतत्त्व को ही इस जगत् की व्याख्या के लिए पर्याप्त मानने से सांख्य द्वैतवाद का प्रतिपादक है। ये दोनों मौलिक तत्त्व प्रकृति और पुरुष हैं।

इस जगत् के समस्त पदार्थ—मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि—सीमित तथा अस्वतन्त्र होने के कारण कार्यरूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूलतत्त्व से अवश्य ही हुई होगी। इसी मूलतत्त्व का अन्वेषण तथा तात्त्विक विवेचन प्रत्येक दर्शन का आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है। बौद्ध, जैन, न्यायवैशेषिक तथा मीमांसा इस मूलतत्त्व को अत्यन्त सूक्ष्म 'परमाणु' बतलाते हैं। परन्तु सांख्य को इसमें बड़ी त्रुटि दीख पड़ती है। भौतिक परमाणुओं से स्थूल जगत् की उत्पत्ति भले ही सिद्ध की जा सके, परन्तु उनसे मन, बुद्धि जैसे सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अतः स्थूल और सूक्ष्म सकल कार्य की, जगत् की, उत्पादिका 'प्रकृति' मानी गई है।

इस प्रकृति की सिद्धि के लिए अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं। (१) जगत् के समस्त पदार्थ सीमित—परिमित, परतंत्र हैं। अतः इनका मूल कारण अवश्य ही अपरिमित तथा स्वतन्त्र होना चाहिए।

प्रकृति

(२) संसार के पदार्थों में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक पदार्थ सुख दुःख तथा मोह उत्पन्न करनेवाला है। अतः एक ऐसा मूलकारण अवश्य होना चाहिए जिनमें इन विशेषताओं का सद्भाव हो। (३) कारण-शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति अनुभव सिद्ध है और यह शक्ति कार्य की अव्यक्तावस्था को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। अतः समस्त कार्यों के जनक किसी अव्यक्त तत्त्व की कल्पना युक्ति-विरहित नहीं मानी जा सकती। (४) आविर्भावकाल में कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है तथा विनाशकाल में कार्य का उसी कारण में बिलय दीख पड़ता है। अतः निश्चित है कि सृष्टिकाल में पदार्थ जिस मूल कारण से उत्पन्न होते हैं, प्रलयकाल में उसी में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार अपरिमित, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक, मूलकारण को मानना पूर्वोक्त युक्तियों के आधारपर नितान्त युक्तियुक्त है[१]। इसे ही अव्यक्तरूप होने से 'अव्यक्त', प्रधानकारण होने से 'प्रधान', सबकी जननी होने से 'प्रकृति' आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें हैं। यह स्वयं अजन्मा है—कारण होते हुए भी स्वयं किसी का कार्य नहीं है। यदि इस तत्त्व के कारण की कल्पना की जाय तो, अनवस्था दोष गले पतित हो जाता है। अतः इस दोष के निरास के लिए प्रकृति को ही जगत् का आदि कारण मानना नितान्त उचित है। व्यासभाष्य (२।१९) में प्रकृति का स्वरूप अल्पाक्षरों में विवेचित किया गया है—निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तं अलिंगं प्रधानम्। तत्त्व वैशारदी ने इस वाक्य के गूढार्थ को विशदरूप

---

१ द्रष्टव्य—सांख्यकारिका १५–१६, सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचन भाष्य १।११०,१।१२२–१३७।

से अभिव्यक्त किया है। पुरुषार्थ-क्रियाक्षमता का नाम 'सत्ता' है—वह वस्तु जो अपनी स्थिति से पुरुष के लिए क्रिया करने में समर्थ हो 'सत्' कही जाती है। असत्ता से तात्पर्य अत्यन्त अविद्यमानता (तुच्छता) से है। गुणत्रय की साम्यावस्थारूपिणी प्रकृति न तो किसी पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकती है, न गगनकमलिनी की तरह तुच्छ स्वभाव है। सद् तथा असद् दोनों अवस्थाओं से विरहित है, तथापि शशविषाण की तरह नितरां असद् भी नहीं है। गुणक्षोभ न होने से व्यक्ति-रहित 'अव्यक्त' और अन्यत्र लय न प्राप्त करने से वह 'अलिंग' है अर्थात् सृष्टि का जैसे वह आदि है उसी प्रकार प्रलय का वही अन्तिम अधिष्ठान है जिसमें समग्र पदार्थ लीन हो जाते हैं। सत्त्व रज तम गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति कारण-रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, अलिंग, निरवयव, स्वतन्त्र, विवेकरहित, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मिणी है (सां० का० १०,११)

जगत् का स्वरूप

जगत् के समग्र पदार्थ सुख-दुःख-मोहात्मक है। सुन्दर रमणी पति के हृदय में आनन्दोल्लास प्रकट करती है, उसकी अप्राप्ति से व्यथित कामीजनों के हृदय को कभी दुःख की आग में जलाती है और कभी मोह के घने अन्धकार में निमग्न कर देती है। आशय यह है कि एक ही वस्तु इन परस्पर-विरुद्ध त्रिविध विशेषताओं को भिन्न प्रकारों से उत्पन्न किया करती है। इन तीनों को 'गुण' कहते हैं। नामसाम्य होने पर भी सांख्याभिमत गुण वैशेषिक कल्पना के अनुसार गुण नहीं है, प्रत्युत संयोग-विभागशाली और लघुत्वादि धर्मयुक्त होने से द्रव्यरूप हैं। वाचस्पतिमिश्र के मत से इन्हें गुण कहने का अभिप्राय यही है कि ये तीनों प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप हैं और पुरुष के अर्थ को सिद्ध करनेवाले हैं (परार्था गुणाः—त० कौ० का० १२)। गुण का

गुण

अर्थ रस्सी भी है। अतः विज्ञानभिक्षु के मतानुसार पुरुष को बन्धन में डालनेवाले त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वादि के निर्माता होने से इन्हें 'गुण' कहते हैं[1]। गुण तीन प्रकार के होते हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्वगुण प्रीतिरूप, लघु और प्रकाशक होता है। रज दुःखात्मक चंचल और कार्य में प्रवर्तक (उपष्टम्भक) होता है। तमोगुण मोहरूप, भारी और रोकने वाला (वरणक) होता है। इस प्रकार परस्पर भिन्न स्वभाव होने पर भी पुरुष के लिए इनकी वृत्ति प्रदीप के समान अनुकूल एकाकार होती है (सां० का० १२-१३)।

उभय दशा में वे परिणामशील है। अतः व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था उभय दशा में वे परिणामशील है। प्रकृति-अवस्था में उनमें पारस्परिक संयोग नहीं रहता, क्योंकि वे उस समय में अपने विशुद्ध रूप में अवस्थान करते हैं। इस दशा में भी परिणाम होता है जिसे 'सदृश परिणाम' कहते हैं, जब 'सत्वं सत्त्वतया परिणमति, रजः रजस्तया,तमश्च तमस्तया'। सृष्टि दशा में गुण 'परिणाम' को नहीं, प्रत्युत 'विकार' को उत्पन्न करते हैं। विकार परिणाम हो सकता है, परन्तु परिणाम विकार नहीं हो सकता। समानभाव से परिवर्तन 'परिणाम' है, परन्तु वैषम्यरूपेण परिवर्तन 'विकार' है। गुण इन्द्रियातीत हैं। उनका रूप कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता, क्षित्यादिक विकार ही दृष्टिगोचर होते हैं जो मायिक और तुच्छ हैं—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ (षष्टितन्त्र)

इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। बौद्धों के समान सांख्य सिद्धान्त भी परिणामनित्यता को स्वीकार करता है। प्रकृति

१ गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात् पुरुषपशुबन्धकत्रिगुणात्मकमहदादिरज्जु-निर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते। सां० प्र० भा० १।६१।

नित्य परिणामशालिनी है। जगत् के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तित होते रहते हैं। परन्तु यह परिणाम ऐकान्तिक नहीं है क्योंकि अवस्था परिवर्तित होने पर भी ये गुण अनुस्यूत रूप से विद्यमान रहते हैं। प्रकृति जब गुणसाम्य के कारण अव्यक्तरूप में रहती है तब प्रलय होता है। गुण विषमता के कारण सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रलयावस्था में भी प्रकृति परिणामशालिनी होती है। अन्तर इतना ही होता है कि उस समय का परिणाम अपने से भिन्न वस्तुओं को पैदा न कर अपने को ही प्रकट किया करता है। इसे ही कहते हैं सजातीय या 'स्वरूप परिणाम'। इस प्रकार भौतिक जगत् के विषय में सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि चितिशक्ति को छोड़ कर समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तनशाली है[1]।

प्रकृति के अनन्तर दूसरा मुख्यतत्त्व पुरुष है। पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है। वह साक्षात् चैतन्य रूप है, चेतन्य उसका गुण नहीं है। जगत् के पदार्थ त्रिगुण-सम्पन्न तथा चेतन होते हैं। इनमें त्रैगुण्य तो प्रकृति का अंश है और चैतन्यभाव चेतन पुरुष का अंश है। पुरुष में किसी तरह का सदृश या विसदृश परिणाम उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए वह अविकारी, कूटस्थ, नित्य तथा सर्वव्यापक है। क्रियाशीलता प्रकृति के धर्म होने के कारण पुरुष वस्तुतः निष्क्रिय तथा अकर्ता है। जगत् का कर्तृत्व प्रकृति ही किया करती है। निरीह पुरुष तो केवल साक्षीमात्र या द्रष्टामात्र है। त्रिगुण-विलक्षण होने से ही वह नित्य-मुक्त है—स्वभावतः वह कैवल्यसंपन्न है। इसीलिए वह 'मध्यस्थ' भी है (सां० का० १९)।

पुरुष

सांख्य पुरुष की कल्पना युक्तियों के दृढ़ आधार पर खड़ी की गई है (सां० का०, १७ का०)—(१) संघातपरार्थत्वात्—जगत् के समस्त

---

१ प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चितिशक्तेः (त० कौ० का० ५१)

पदार्थ संघातमय हैं। घर ईंटा, पत्थर, चूना आदि वस्तुओं का समुदाय है। वस्त्र अनेक तन्तुओं का समूह है। संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी अन्य के उपयोग (परार्थ) के लिए हुआ करती हैं। अतः प्रकृति से उद्भूत यह संघातमय जगत् अवश्य ही प्रकृति से अन्य के लिए स्थित है। वह है कौन ? इस जगत् से नितान्त विलक्षण 'पुरुष'। (२) त्रिगुणादिविपर्ययात्-त्रिगुणमय प्रकृति से भिन्न होने के कारण भी किसी एक असंघात पदार्थ की कल्पना न्याययुक्त है। (३) अधिष्ठानात्—जड़ पदार्थ में चेतन के बिना अधिष्ठान हुए प्रवृत्ति दिखलाई नहीं पड़ती। रथ एक स्थान से दूसरे स्थान को तभी जा सकता है जब उसका नियन्ता चेतन सारथि होता है। इसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् किसी चेतन पदार्थ के द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त है। (४) भोक्तृभावात्—संसार के समस्त विषय भोग्य हैं (भोगापवर्गार्थं दृश्यम् यो० सू० २।१८)। अतः इनका भोक्ता, भोग करने वाला, भी कोई न कोई अवश्य ही होगा जो गुणों में इनसे नितान्त भिन्न तथा विलक्षण होगा। भोग्य विषयों का भोक्ता ही पुरुष है। (५) कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः—इस जगत् में कम से कम कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो दुःखों से व्यथित होकर मुक्ति पाने के लिए वास्तव में प्रयत्नशील हैं। भौतिक जगत् के किसी भी वस्तु के लिए इस प्रकार मुक्ति के लिए प्रयत्न करना संभव नहीं, क्योंकि स्वभावतः त्रिगुणमय होने के कारण उनकी दुःख-निवृत्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। मुक्ति के लिए प्रवृत्ति इसी बात की गवाही देती है कि कोई पदार्थ अवश्य है जो त्रिगुण से विलक्षण होने के कारण क्लेशों से आत्यन्तिक निवृत्ति पा सकता है। वही पदार्थ पुरुष है।

सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि पुरुष बहुत हैं (सां० का० १८ का०)। लोकानुभव इसके लिए सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है। जन्म, मरण, करणों का नियम दृष्टिगोचर होता है। यदि पुरुषों की एकता होती, तो

एक व्यक्ति के जन्म लेते, सब पुरुषों का जन्म हो जाता या एक व्यक्ति के नेत्र-विहीन होनेपर समग्र पुरुष नेत्ररहित हो जाते। एककालिक प्रवृत्ति का अभाव भी पुरुष-बहुत्व का साधक है। त्रैगुण्य का विपर्यय या अन्यथाभाव भी साधक प्रमाण है। कोई सत्त्वबहुल, कोई रजोबहुल और कोई तमोबहुल पुरुष दृष्टिगोचर होते हैं। इन प्रमाणोंमे अरुचि होने पर नये प्रमाणों से भी पुरुषबहुत्व की सिद्धि की जा सकती है। पुरुष देशकालातीत है, अतएव वह एक होगा; इसमें कोई आधार नहीं है। मन के देशातीत द्रव्य होने से क्या मन बहुसंख्यक नहीं माना जा सकता? कालातीत का अर्थ है विकारहीन। तो क्या विकार-हीन होने से वस्तु एकसंख्यक ही होगी, इसका नियामक क्या है? अतः देशकाल से अतीत होने पर भी पुरुष में बहुसंख्यकता अवश्यमेव विद्यमान है[1]।

प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि उत्पन्न होती है। दोनों का संयोग ही सृष्टि का उत्पादक है। प्रकृति के जड़ होने से यह संसार केवल उससे उत्पन्न नहीं हो सकता, न स्वभावतः निष्क्रिय पुरुष से हो। इसलिए प्रकृति-पुरुष उभय का संयोग इस सृष्टि कार्य में अपेक्षित है। चेतन की अध्यक्षता में ही जड़ प्रकृति सृष्टि कार्य का सम्पादन कर सकती है। परन्तु सांख्य में सब से विषम प्रश्न है कि विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकृति पुरुष का संयोग किंनिमित्तक है? इस विषय में सांख्य अन्धे और लंगड़े की रोचक कहानी दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत करता है। अन्धे में चलने की शक्ति है, परन्तु मार्ग का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। उधर लंगड़ा मार्गदर्शक होते हुए भी चलने में असमर्थ है। परन्तु पारस्परिक संयोग से जिस प्रकार ये दोनों अपनी स्वार्थसिद्धि में सफल होते हैं, उसी भांति जड़ात्मिका परन्तु सक्रिय

सृष्टिक्रम

---

१ विशेष द्रष्टव्य स्वामी हरिहरानन्द आरण्य कृत योगभाष्य का बंगला अनुवाद; पृष्ठ ३२०–३२१।

प्रकृति तथा निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष का संयोग परस्पर कार्यसाधक है। प्रकृति भोग्या है; अतः भोक्ता के अभाव में प्रकृति की स्वरूप सिद्धि नहीं हो सकती; भोक्ता के द्वारा दृष्ट या अनुभूत होने पर ही प्रकृति का भोग्यत्व निष्पन्न होता है (दर्शनार्थम्)। पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिए बना रहता है कि वह उससे विवेक ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की सिद्धि करता है (कैवल्यार्थ सां० का० २१) प्राचीन सांख्य में प्रकृति पुरुष के अतिरिक्त 'काल' भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था[1] (श्रीमद्भागवत ३।६।२)। इसी काल के कारण पुरुष के सान्निध्य मे प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियों के कर्मादिको की फलोत्पत्ति का जब काल आता है तब सृष्टि होती है। पीछेका सांख्य स्वभाव को पुरुष के व्यतिरिक्त प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण मानता है। प्रथमतः रजोगुण की प्रबलता से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है; गुणों में वैषम्य भाव उत्पन्न होने पर सत्व की प्रधानता पहले रहती है। अतः महत‌तत्व में सत्वाधिक्य है। प्रकृति-विकृति मे रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है; भूतसृष्टि के तम की ऐकान्तिक प्रधानता रहती है।

पुरुष के सान्निध्य से जड़ात्मिका प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। प्रथम विकृति का नाम महत्‌त-त्त्व है जो जगत् की उत्पत्ति में बीज-रूप है। व्यष्टि में इस तत्त्व को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि का कार्य अध्यव-साय या कार्याकार्य के विषय में निश्चय करना है (सां० का० २३) सात्विक बुद्धि के चार गुण होते हैं—धर्म, ज्ञान वैराग्य तथा ऐश्वर्य। तामस बुद्धि के गुण ठीक इनसे विपरीत होते हैं—अधर्म; अज्ञान,

१ अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥
—विष्णुपुराण, प्रथमांश २।२६।

अवैराग्य तथा अनैश्वर्य। महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार की सत्ता का अनुभव प्राणी मात्र के लिए साधारण बात है। 'सब विषय मेरे लिए हैं', 'मैं ही इस कार्य के करने का अधिकारी हूँ तथा समर्थ हूँ' आदि लोकानुभव में जो अभिमान की भावना दृष्टिगोचर होती है, वह अहंकार का स्वरूप है। गुणविषमता के कारण अहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकृत (अर्थात् सात्त्विक); तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस)। इनमें तैजस रजोगुणात्मक होने से चालक है। अतः उसकी सहायता अन्य दोनों प्रकारों के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार तैजस-सहकृत सात्त्विक अहंकार से ११ प्रकार की इन्द्रियों (मन, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) की उत्पत्ति होती है। यह सांख्य कारिका (का० २५) तथा तत्वकौमुदी के अनुसार है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार अहंकार के विकारों का क्रम इससे भिन्न है। इन्द्रियों में मन ही मुख्यतया सात्त्विक है। अतः सात्विक अहंकार से मन की, राजस से दश इन्द्रियों की और तामस से पञ्च तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है (सां० प्र० भा० २। १८)। 'तन्मात्रा' शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के अत्यन्त सूक्ष्म रूप हैं। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि इनका प्रत्यक्ष योगीजनों को ही होता है। हमारे लिये ये अनुमान के विषय हैं। शब्द तन्मात्रा से शब्दगुणक आकाश की उत्पत्ति होती है। शब्दतन्मात्रासहित स्पर्शतन्मात्रा से शब्दस्पर्शगुणवान् वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तेज, जल, पृथिवी की उत्पत्ति पूर्व तन्मात्राओं से सहचरित स्वीय तन्मात्रा से होती है (सां० का० २२)। सांख्यसम्मत विकासक्रम इस प्रकार है—
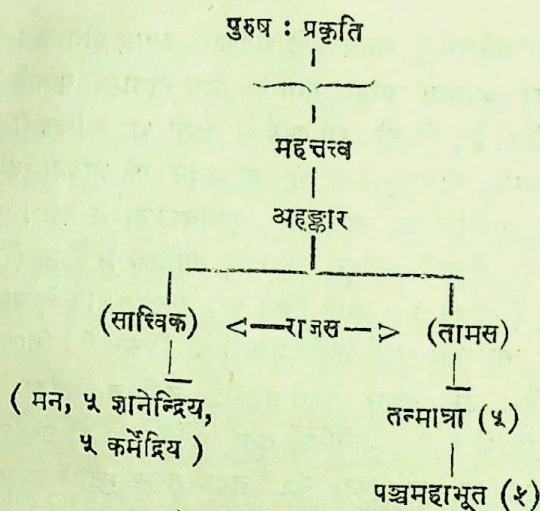
(४) सांख्य-ज्ञानमीमांसा

सांख्य के सामने महत्त्व पूर्ण समस्या अनुभव के कर्तृत्व को लेकर है। पदार्थों के अनुभव का कर्तृत्व किसमें निवास करता है ? यदि पुरुष में स्वीकार किया जाय, तो प्रकृतिजात भौतिक पदार्थों से बाह्य रहने के कारण उसकी अनुभवकर्तृता सिद्ध नहीं हो सकती। महत्तत्व या बुद्धि में भी उसकी सत्ता मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि बुद्धि जड़ है ; अतः उसमें ज्ञान का उदय कथमपि हो नहीं सकता। अतः अकेले न तो पुरुष मे, न बुद्धि ही में, अनुभव की उपलब्धि हो सकती है, प्रत्युत दोनों के सम्मिलन से अनुभव व्यापार की सुसम्पन्नता सिद्ध होती है। जब ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् के पदार्थों को बुद्धि के सामने उपस्थित करती हैं, तो बुद्धि उपस्थित पदार्थ का आकार धारण कर लेती है। बुद्धि में बाह्य पदार्थों का न तो आरोप होता है और न वे उसमें पाये जाते हैं, बल्कि बुद्धि ही पदार्थों के संसर्ग होने पर स्वयं तदाकाराकारित हो जाती है। इस आकार ग्रहण करने से जायमान बुद्धिपरिणाम को 'वृत्ति' के नाम से पुकारते हैं। इतने पर भी

(margin: ज्ञान)

अनुभव का उदय नहीं होता, जब तक बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थों के सम्पर्क होने का ही दूसरा नाम ज्ञान है[१]। इस ज्ञान के साथ पुरुष के संयुक्त होने का फल तत्कालीन अनुभव में स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है—'चेतनोऽहं करोति=मैं चेतन करता हूँ' यह अनुभव बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का परिणाम है, क्योंकि न तो वस्तुतः निष्क्रिय पुरुष कार्य का सम्पादन कर सकता है और न कार्य करने वाली बुद्धि में विचार करने की शक्ति है।

बुद्धितत्त्व प्राकृत होने से स्वभावतः अचेतन है तथा उसमें पदार्थ की उपस्थिति होने पर जायमान अध्यवसाय तथा सुखादि भी उसी प्रकार अचेतन हैं। इधर चेतन पुरुष निःसंग होने से सुख दुःखादिकों से नितान्त असंपृक्त है। बुद्धि में चैतन्य के प्रतिबिम्ब पड़ने से दोनों का उपकार होता है। बुद्धिच्छायापत्ति का यह अर्थ नहीं है कि पुरुष मे बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रत्युत प्रतिबिम्ब में बुद्धि धर्मों का आरोप किया जाता है। इस बुद्धिच्छायापत्ति से चेतन अपने को सुख तथा ज्ञान आदि से संयुक्त समझने लगता है। और पुरुष के संसर्ग (चिच्छायापत्ति) से अचेतना बुद्धि अपने को चेतन के समान समझने लगती है तथा उसका अचेतन अध्यवसाय चेतन के सदृश हो जाता (कौमुदी का० ५)। पुरुष स्वभावतः असंग तथा निगुणातीत है, परन्तु बुद्धि प्रतिबिम्ब होने पर ही उसे भोक्ता तथा ज्ञाता कह सकते हैं।[२] ऐसी दशा में ही वह अन्य दर्शनों में अभिमत जीव-स्थानीय होता है।

१ उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते—त० कौ० का० ५।

२ बुद्धावारोपितचैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानम्, ज्ञानेन सम्बन्धश्च चेतनोऽहं करोमीत्युपलब्धिः।—हरिदास भट्टाचार्य-टीका कुसुमाञ्जलि १।१४।

प्रथमतः पदार्थों का ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है जिससे ज्ञानेन्द्रियों में उन पदार्थों के विषय में परिचयमात्र (आलोचन) उत्पन्न होता है (सां० का० २७–२८)। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वृत्ति को समाप्त कर उन्हें मन को समर्पण करती हैं। मन उन पदार्थों के विषय में सम्यक् कल्पना करता है कि वे ये हैं, ये नहीं हैं। इस सम्यक् कल्पना के कारण ही मन को सांख्य शास्त्र में संकल्पनात्मक कहा गया है। (सां० का० २७)। मन के द्वारा समर्पित पदार्थ पर अहंकार की वृत्ति आरम्भ होती है कि 'ये पदार्थ मेरे लिए हैं, अन्य किसी के लिए नहीं।' इसके अनन्तर निश्चयात्मका बुद्धि की वृत्ति होती है। बुद्धि का काम इन पदार्थों के विषय में निश्चय करने का होता है। इसी बुद्धि में पुरुषगत चैतन्य के आरोप होने पर ही उस दशा का उदय होता है जिसे हम ज्ञान की दशा कहते हैं[1]। विषय के प्रति ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरणों (मन, अहंकार तथा बुद्धि) का व्यापार कभी युगपत् होता है, और कभी क्रमशः होता है (सां० का० ३०)। अँधेरी रात में बिजुली की चमक से अपने सामने अकस्मात् व्याघ्र को देखकर जो मनुष्य भाग खड़ा होता है, उसके कार्य में सब करणों का व्यापार नितान्त शीघ्रता से युगपत्—एक साथ ही—होता है। चक्षु से व्याघ्र का परिचय, मन के द्वारा संकल्प, अहंकार के द्वारा पृथक्करण तथा बुद्धि के द्वारा निश्चय कि यह पशु व्याघ्र ही है और उस भयानक वस्तु से अपनी शरीररक्षा के निमित्त भाग जाने की सलाह—ये समग्र व्यापोर एक साथ ही होते हैं। परन्तु अन्यत्र घनघोर रात्रि में पेड़ों के झुरमुट में खड़े होनेवाले व्यक्ति विशेष को देखकर चोर समझकर भाग जाने के निश्चय करने में पूर्वोक्त करणों का व्यापार क्रमशः—एक के बाद एक—होता है।

सांख्यदर्शन बुद्धिवृत्ति के द्वारा बाह्य जगत् के अनुभव प्राप्त करने

---

१ द्रष्टव्य सांख्यप्रवचन भाष्य १।८७।

का पक्षपाती है, तथापि विज्ञानवादियों के विपरीत बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान के समान ही उसे अभीष्ट है। बुद्धि में आरोपित पदार्थ का स्वरूप यदि बाह्य जगत् में विद्यमान उस पदार्थ के रूप के साथ एकाकार हो, तो सांख्य की कल्पना में वह ज्ञान सच्चा कहलावेगा। अतः अनुभव की सत्यता की परीक्षा पदार्थ के भौतिक बाह्यरूप और बुद्ध्यारोपित पदार्थरूप के अभिन्नाकार होने पर अवलम्बित रहता है। सांख्यसम्मत भ्रान्ति की कल्पना विलक्षण है। उसकी सम्मति में माध्यमिकों, प्राभाकरों, वेदान्तियों और नैयायिकों के ख्यातिवाद अनेकांश में त्रुटिपूर्ण अतएव अनुपादेय हैं (सां० सू० ५।५२-५५)। शुक्ति में जब रजतज्ञान होता है कि इदं रजतम् (यह रजत है), तब 'इदं' का ज्ञान सत् और 'रजतं' का ज्ञान असत् होता है। 'इदं' ज्ञान का आश्रय हमारे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। अतः यह 'सत्' (विद्यमान) है। रजत ज्ञान का आश्रय हमारे इन्द्रियों से अगोचर हैं और नेदं रजतं (यह रजत नहीं है) ज्ञान के द्वारा उत्तरकाल में बाधित भी होता है। अतः वह 'असत्' है। भ्रान्तिज्ञान इस प्रकार सत्-असत् उभयविध पदार्थों पर आश्रित रहता है। यह है सांख्य का सदसत् ख्यातिवाद (सां० सू० ५।५६)। पूर्वोक्त व्याख्या अनिरुद्ध वृत्ति के अनुसार है, परन्तु विज्ञानभिक्षु के मत में सब पदार्थों का नित्य होने से स्वरूपतः अबोध हैं, परन्तु चैतन्य में आरोपित होने पर संसर्गतः बाध है (स्वरूपेणाबाधः सर्ववस्तूनां नित्यत्वात्। संसर्गतस्तु बाधः सर्ववस्तूनां चैतन्येऽस्ति)। उदाहरणार्थ बाजार में बनियों की दूकानों पर रजत सद्रूप से विद्यमान है, परन्तु शुक्ति में अध्यस्त रजत असत् है। जगत् भी स्वरूपतः सत् है परन्तु चैतन्य में अध्यस्त होने पर असत् है—सद-सदात्मक है (५।५६ पर सांख्यप्रवचनभाष्य)।

सदसत्-ख्याति

सांख्य तीन प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (सां० का० ५)। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—आलोचन ज्ञान

(निर्विकल्पक) तथा सविकल्पक । अनुमान प्रथमतः दो प्रकार का होता है—अन्वयमुख से प्रवृत्त होनेवाला विधायक अनुमान (वीत) तथा व्यतिरेकमुख से प्रवृत्त होने वाला निषेधक अनुमान (अवीत) । अवीत केवल एक ही प्रकार का है जो 'शेषवत्' कहलाता है, परन्तु 'पूर्ववत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट' भेद से वीत दो प्रकार का माना गया है (त० कौ० का० ६) । इस प्रकार न्यायसूत्राभिमत 'त्रिविधमनुमानं' सांख्य-दर्शन में भी अंगीकृत है । आप्तश्रुति या आप्त वचन तीसरा प्रमाण है । तर्कानुकूल युक्तियों के द्वारा कथमपि सिद्ध न किये जाने के कारण ईश्वर की सत्ता प्रमाणिकोटि में नहीं आती । अतः तद्द्वारा विरचित न होने से वेद अपौरुषेय हैं[१] । बुद्धिपूर्वक निर्मित वस्तु को 'पौरुषेय' कहते हैं, वेद निःश्वास के समान ब्रह्मा से अबुद्धि पूर्वक स्वतः उत्पन्न होते हैं । अतः वे अपौरुषेय हैं (सां० सू० ५।५०) । श्रुति स्वार्थ प्रतिपादन में स्वतः प्रमाण है (सां० सू० ५।५१) सांख्यदर्शन ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को 'स्वतः' स्वीकार करता है[२] । सत्कार्यवाद के अनुसार अत्यन्त असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती । अतः ज्ञान के अनन्तर प्रामाण्य और अप्रामाण्य का जो उदय होता है, वह ज्ञान में निसर्गतः विद्यमान रहता है । अन्यथा इनका उदय हो ही नहीं सकता । कारण के गुण या दोष से उसकी केवल अभिव्यक्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कारणव्यापार से मृत्तिकास्थ घट का आविर्भाव ।

(५) सांख्य कर्तव्यमीमांसा

सांख्य वैदिक कर्मकांड को दृष्ट उपाय के समान ही अकिञ्चित्कर स्वीकार करता है । परलोक में अदृष्ट फल साधन करनेवाले यज्ञों में क्षय तथा अतिशय रूप दो दोष विद्यमान है ही, परन्तु अविशुद्धि का दोष

१ न पौरुषेयत्व तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्—सां० सू० २।४६ ।

२ प्रमाणाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः—स० द० सं० पृ० १०६ ।

मुख्य है (सां० का० २)। पशुयाग श्रुतिसम्मत होने से कर्तव्य कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है। अतः यजमान तथा पशु दोनों की दृष्टि से यज्ञानुष्ठान उपादेय है। परन्तु सांख्य-योग की दृष्टि में इसमें पशु हिंसा अवश्य होती है; पशु को प्राणवियोग का असहनीय क्लेश भोगना पड़ता है; इसलिए इतने पापकर्म के लिये यथोचित पुण्यफल में से किञ्चित् पुण्य घट जाता है। इतनी हिंसा होने से पुण्य की समग्रता नहीं रहती। इसका नाम व्यासभाष्य (२।१३) में 'आवापगमन' दिया गया है[१]। भागवतधर्म के साथ सांख्य के सम्बन्ध का भी यही रहस्य है। सांख्य-योग की दृष्टि में समस्त यम नियमों में 'अहिंसा' ही मुख्य सार्वभौम धर्म है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सत्य तथा अहिंसा के पारस्परिक विरोध के अवसर पर 'अहिंसा' की मुख्यता मानी गई है। समस्त यम-नियम अहिंसामूलक हैं तथा उनका प्रतिपादन 'अहिंसा' की विशुद्धि—अवदातता—के अभिप्राय से किया गया है। व्यासभाष्य (यो० सू० २।३०) में 'सत्य' की विवेचना करते समय स्पष्टतः लिखा है—एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमपि अभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न सत्यं भवेत्; पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण। कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। महाभारत की सत्यमीमांसा का तात्पर्य भी यही है—यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम। तत्ववैशारदी में चोरों के प्रश्न के उत्तर में सार्थगमन के स्थान को बतलानेवाले 'सत्यतपाः' ऋषि की रोचक कहानी दृष्टान्तरूप से दी गई है। अतः सत्य से

---

१ भाष्य में पञ्चशिख का यह प्रसिद्ध सूत्र उद्धृत है – स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति।

बढ़कर 'अहिंसा' को महत्त्व देना सांख्यदार्शनिकों के कर्तव्यशास्त्र की आधारशिला है। इसलिए प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसामूलक होनी चाहिए। अतः अहिंसा के प्रचारक होने के कारण सांख्यदर्शन का सम्बन्ध भागवतधर्म से नितान्त घनिष्ठ है। (गुणरत्न-षड्दर्शनसमुच्चय-वृत्ति पृ० ९६)।

पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है, परन्तु अविवेकके कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोगसे प्रकृतिजन्य दुःखका पुरुषमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही है पुरुषके लिए दुःख-भोग संसार। अतः संसारका मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृतिका साधन विवेक है (सां० प्र० भा० ३।७४)। सांख्यसूत्र (३।६५) के अनुसार अपवर्गका स्वरूप है—द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यपवर्गः अर्थात् प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष की ही प्रकृति से अलग स्थिति (कैवल्य)। बन्धमोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। इसलिए ईश्वरकृष्ण (सां० का० ६२) का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि पुरुष न तो बन्धन का अनुभव करता है, न मुक्ति का और न संसार का। ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं। प्रकृति ही बन्धन, मोक्ष तथा संसार का अनुभव करती है। अतः पुरुष के जिस अपवर्ग की चर्चा की गई वह "प्रतिबिम्बरूप मिथ्यादुःख का वियोगमात्र" है [यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव (सां० प्र० भा० १।७२)] पुरुष की मुक्ति प्राप्त कर लेने का अभिप्राय यही है कि वह अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग, केवल की दशा को प्राप्त कर लेता है। पुरुष शरीर तथा मन के ऊपर है, प्राकृत बन्धनों से उन्मुक्त होनेवाला अमरणधर्मा अपरिवर्तनशील नित्य सत्य पदार्थ है, यह जान लेना ही पुरुष को कैवल्य है। अतः व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के तत्वज्ञान से विवेक सिद्धि होती है जिसका फल निःशेष दुःख-निवृत्ति है। इसी दशा में पुरुष की कृत-

कृत्यता है (सां० सू० ३।८४)। उस दशा में प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति स्वतः निष्पन्न हो जाती है। प्रत्येक पुरुष की अपवर्ग-सिद्धि के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यवहार है[1]। जब अपवर्ग की ही सिद्धि हो गई, तब प्रयोजन के अभाव में उसका विराम होना नितान्त स्वाभाविक है। पाचक की भोजन में तभी तक प्रवृत्ति रहती है, जबतक भोजन निष्पन्न नहीं हो जाता। भोजन की निष्पत्ति होने पर उसका व्यापार स्वतः बन्द हो जाता है[2]।

प्रकृति उस नर्तकी के समान है जो रङ्गस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कलाबाजी दिखाकर कृतकार्य होकर नर्तन-व्यापार से स्वतः निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर व्यक्ति कोई दूसरा है ही नहीं, वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने कभी उपस्थित ही नहीं होती (सां० का० ५९-६०)। अर्थात् विवेकी पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता। उसका विराम आपसे आप सिद्ध हो जाता है। तत्त्वाभ्यास के परिणाम से पुरुष में कैवल्य ज्ञान का उदय होता है जो संशय तथा विपर्यय से हीन होने के कारण नितान्त विशुद्ध होता है। उस दशा में पुरुष को यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है[3] कि 'नास्मि'=मुझमें किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं है, मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूँ। 'नाहम्'-क्रिया के निषेध होने से मुझ में किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है तथा 'न मे'-मैं असङ्ग हूँ, संगहीन होने से किसी के साथ मेरा स्वस्वामिभाव का

---

१ प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः। सां० का० ५६।

२ विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके।
सां० सू० ३।६३।

३ एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्। सां० का० ६४।

सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार क्रियाहीनता, संगहीनता तथा कर्तृत्वहीनता का अनुभव प्रकृति की निवृत्ति होने पर पुरुष में स्वतः होने लगता है। ऐसी मुक्तावस्था की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य इसी जन्म में कर सकता है।

मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। जीवन्मुक्त कर्म-व्यापार से विरत नहीं होता, प्रत्युत उसी अभिनिवेश तथा लगन से प्रारब्ध कर्मों के निष्पादन में जुटा रहता है, परन्तु अब कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करते। वाचस्पति मिश्र का का कथन बहुत ही सुन्दर है कि क्लेशरूपी सलिल से सिक्त बुद्धिभूमि में कर्मबीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान रूपी ग्रीष्म के कारण क्लेश-जलके सूख जाने पर ऊसर जमीन में क्या कभी कर्मबीज उत्पन्न हो सकते हैं[1] ? अतः कुलाल के व्यापार की निवृत्ति के अनन्तर जिस प्रकार चक्र कुछ काल तक पूर्वाभ्यास के अनुसार अवश्य चलता रहता है, ठीक उसी भाँति प्रकृति की निवृत्ति होने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता ही रहता है। (चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः का० ६७)। शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक—अवश्यम्भावी तथा आत्यन्तिक अविनाशी दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। इसी की शास्त्रीय संज्ञा 'विदेहमुक्ति' है[2]। विज्ञानभिक्षु (सा० प्र० भा० ५।११६) विदेहमुक्ति को ही वास्तव मुक्ति मानते हैं, क्योंकि जब तक पुरुष भोगायतन शरीर में निवास करता है, तब तक शरीरधर्म से उसका प्रभावित न होना अस-

जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति

---

१ क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यंकुरं प्रसुवते। तत्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतः कर्मबीजानामङ्कुर-प्रसवः—तत्वकौमुदी सां० का० ६७।

२ सां० का० ६८ तथा सांख्यसूत्र-वृत्ति ३। ७८-८४।

म्भव सा है। मुक्ति के प्रकार में मतभेद भले हो, पर मुक्तिस्वरूप के विषय में सांख्याचार्यों में ऐकमत्य है कि दुःखत्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है। वेदान्त के समान उस समय आनन्द का अनुभव नहीं होता। सांख्य का सिद्धान्त है कि सुख दुःख आपेक्षिक शब्द हैं। दुःख के अभाव होने पर सुख की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती।

सांख्य के माननीय आचार्यों की एकमात्र सम्मति है कि जगत् की रचना तथा कर्मफल-प्रदान आदि कार्यों के लिए ईश्वर की सत्ता मानने के लिए कोई आवश्यकता नहीं है। सांख्यसूत्रों ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि ईश्वर पञ्चावयव वाक्यों की सहायता से सिद्ध नहीं किया जा सकता[1]। ईश्वर तार्किक युक्तियों का विषय नहीं है। अतः सांख्यसूत्र प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की असिद्धि पर जोर देता है, परन्तु ईश्वरकृष्ण तथा कारिका के टीकाकारों ने स्पष्टतः ईश्वर का निषेध किया है[2]। (१) कार्यभूत जगत् का कर्ता मानना तो उचित है ही, पर ईश्वर में उसकी कर्तृता सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वर स्वयं निर्व्यापार—व्यापारहीन—है। अतः इस परिवर्तनशील जगत् का वह क्रियाशील कारण कभी नहीं हो सकता। (२) चेतन पुरुष की कार्य में प्रवृत्ति स्वार्थमूलक होती है। इस जगत् की रचना में ईश्वर का कोई भी स्वार्थ नहीं जान पड़ता, क्योंकि ईश्वर पूर्णकाम है। उसकी कोई भी इच्छा नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए वह इस व्यापार में प्रवृत्त होगा। (३) जगत् के व्यापार में ईश्वर की प्रवृत्ति को कारुण्यवश मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सृष्टि के पहले

ईश्वर की समस्या

---

१ ईश्वरासिद्धेः—सां० सू० १।९२; प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः—सां०सू० ५।१०, सम्बन्धाभावान्नानुमानम्—सां० सू० ५।११।

२ द्रष्टव्य कारिका और कौमुदी ५६–५७, सांख्यसूत्र और भाष्य १।९२–९५, ३।५६–५७, ५।२–१२।

विषय, शरीर तथा इन्द्रिय के उत्पन्न न होने से जीवों में दुःख का सम्पर्क ही नहीं है जिसके नाश की अभिलाषा ईश्वर में कारुण्य उत्पन्न करेगी। कारुण्य से जगत् की उत्पत्ति और उत्पत्ति होने पर दुःखी प्राणियों की दीन दशा को देखकर कारुण्य की उत्पत्ति यदि मानी जाय, तो यह तर्क अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होने के कारण नितान्त हेय ठहरता है। ऐसी दशा में ईश्वर में न तो कोई स्वार्थ दृष्टिगोचर होता है और न कारुण्य की उत्पत्ति के लिए कोई युक्ति मिलती है। अतः बाध्य होकर ईश्वर का निषेध करना ही पड़ता है। किन्तु विज्ञानभिक्षु इसे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सांख्य को निरीश्वर नहीं मानते। कर्तृत्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर की सिद्धि भले न हो, परन्तु ईश्वर जगत् का साक्षी है जिसके सन्निधिमात्र से प्रकृति जगत् के व्यापार में निरत होती है—परिणाम धारण कर जगत् की रचना में प्रवृत्त होती है, जिस प्रकार चुम्बक अपने सान्निध्यमात्र से लोहे में गति पैदा करता है[1]।

(६) समीक्षा

सांख्य की पदार्थमीमांसा वैशेषिकों की तत्त्वमीमांसा से कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वस्तुतः जगत्में चैतन्य, मन तथा भूत मानने से काम चल सकता है। सांख्य ने चैतन्य की सत्ता पुरुषरूप में स्वीकृत की है और मन तथा भूत का अन्तर्भाव प्रकृति के भीतर किया है जिससे मानसिक दशाओं और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः सांख्य ने पुरुष और प्रकृति को ही मौलिक तत्त्व माना है। वैशेषिक द्रव्यों का समावेश इन्हीं दोनोंमे किया गया है। विभु अनन्त 'आत्मा' विभु बहु 'पुरुष' रूप में अंगीकृत किया गया है, परन्तु दोनोंकी कल्पना मे अन्तर यह है कि आत्मा चैतन्य का आश्रय है; पर पुरुष चैतन्यरूप है। इतर आठ द्रव्य प्रकृति के अन्तर्गत माने गये हैं। मन का स्थान अन्तः—

१ तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्—सां० सू० १।९६।

करण ने और परमाणु-चतुष्टय तथा आकाश का पंचतन्मात्रा ने ग्रहण किया है। काल और दिक् को सांख्याचार्य स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते प्रत्युत सत्यभूत बाह्यार्थ का व्यावहारिक सम्बन्ध मानते हैं। ये सम्बन्ध सम्बद्ध वस्तुओं से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार सांख्य ने वैशेषिक नव-द्रव्यों की संख्या घटाकर दो मौलिक तत्वों ही में निविष्ट कर दिया है। सांख्ययोग को बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सर्वतोभावेन माननीय है। सूत्र-कार ने 'न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः' (सां० सू० १।४२) में बाह्यार्थ की सत्ता की यथार्थता प्रतिपादित की है। अनिरुद्ध ने इस सूत्र की वृत्ति में विज्ञानवाद का सप्रमाण खण्डन कर कपिल के मत को प्रमाणों से पुष्ट किया है। विज्ञान भिक्षु ने प्रत्यक्ष होने से बाह्यार्थ की सत्ता मानी है। योगसूत्रों (४।१४-१५) में भी पतंजलि ने बाह्यार्थ को चित्तमय न मानकर वास्तव सिद्ध किया है। इस प्रकार सांख्ययोग दोनों बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले वास्तववादी दर्शन हैं।

बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के अनेक स्थलों[1] पर सांख्यसम्मत तत्त्वों का प्रत्याख्यान किया है। शंकराचार्यने अपने शारीरक भाष्य में (१।४।२८) सांख्य को 'प्रधान मल्ल' बतलाया है जिसको बिना पछाड़े तत्त्वविचार के अखाड़े में वेदान्त की विजय हो नहीं सकती। सांख्य के सिद्धान्तों में सबसे आक्षेपयोग्य सिद्धान्त हैं—जड़ प्रकृति की कर्तृता तथा चेतन पुरुष की बहुलता। सांख्य जड़ प्रकृति को ही जगत् का कर्ता मानता है, परन्तु बादरायण की दृष्टि में प्रकृति की ही कल्पना श्रुतिसम्मत न होकर अनु-मान की दुर्बल भित्ति पर प्रतिष्ठित है। इसी विचार से सूत्रों में प्रकृति के लिए 'अनुमान'[2] तथा 'आनुमानिक'[3] शब्दों का प्रयोग किया गया है।

---

१ विशेष द्रष्टव्य ईक्षत्यधिकरण (१।१।५—११), अनुमानिकाधिकरण (१।४।१--७) तथा रचनानुपपत्त्यधिकरण (२।२।१-१०)।

२ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्—ब्र० सू २।२।१।

३ आनुमानिकमप्येकेषामिति—ब्र० सू० १।४।१।

सांख्य प्रकृति को सगुण मानकर भी स्वतन्त्र तथा नित्य मानता है; वेदान्त इस सिद्धान्त को मानने के लिए उद्यत नहीं है। जो वस्तु सगुण होती है, वह अवश्य नाशवान् होती है। अतः सत्त्व रज तथा तम-गुण-त्रयविशिष्ट प्रधान को पुरुषसे स्वतन्त्र तथा नित्य स्वीकार करना नितान्त अयुक्तिक है। परन्तु वैमत्य का विषय प्रकृति में बिना किसी चेतन की अध्यक्षता के स्वतः प्रवृत्ति का आविर्भाव है। गुणसाम्यरूप प्रकृति में विषमतासूचक क्षोभ का सर्वप्रथम उदय क्यों कर होता है? लौकिक दृष्टान्त के सहारे इस प्रश्न का उत्तर समीचीन नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार यह ऋतुपरिवर्तन (वसन्त के बाद ग्रीष्म, तदन्तर वर्षा आदि) स्वतः प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष की कैवल्यसिद्धि के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है[1]। गाय के स्तन से बछड़े के लिए आप से आप बहने वाले दूध का भी दृष्टान्त इस स्वतः प्रवृत्ति का पोषक बतलाया गया है[2]। परन्तु तर्कबुद्धि इन दृष्टान्तों की युक्तियुक्तता मानने के लिए उद्यत नहीं है। काल की क्रम-व्यवस्था चेतन सूर्य के कारण सुसम्पन्न है और बछड़े के पोषण के लिए दूध का निकलना चेतन धेनु की स्नेहेच्छा का परिणाम है। लोकोपकार के लिए अचेतन जल का स्वयं बहना भी संगत दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि जल के बहने में भी चेतन ईश्वर की शक्ति अदृश्य रूप से काम करती है। अतः चेतन की अध्यक्षता से हीन अचेतन प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति शास्त्र तथा तर्क दोनों के नितान्त प्रतिकूल है[3]।

पुरुष-बहुत्व का सिद्धान्त भी इसी प्रकार दोषयुक्त प्रतीत होता है।

---

१ कर्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः—सां० सू० ३।६०।

२ अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य—सां० सू० ३।५९

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य तथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। सां० कां० ५७

३ द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य २।२।१–१०।

जनन, मरण, अवस्था, मानसिक दशा आदि कारणों से सांख्य पुरुषों को एक मानने के लिए तैयार नहीं है। शारीरिक तथा मानसिक दशाओं में प्रतिपुरुष में इतने विभेद हैं कि पुरुष-बहुत्व को प्रमाण कोटि में मानना ही पड़ता है। परन्तु इन स्थलों पर भी सांख्य देहधर्म की भिन्नता के कारण चैतन्यस्वरूप पुरुष की भिन्नता मानने के लिए तैयार है। अन्धत्व, काणत्व आदि तो देह के धर्म हैं। इनके कारण शुद्ध आत्मा में भिन्नता कैसे आ सकती है? चैतन्यरूपेण सब पुरुष एक समान ही हैं। ऐसी दशा में पुरुष को चैतन्यरूप मानना तथा उसी क्षण में उसे विभिन्न बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है? यह एक विचार का विषय है कि इस पुरुष का प्रकृति के साथ प्रथम संयोग कैसे होता है? इस प्रश्न का भी सांख्यसम्मत उत्तर सन्तोषप्रद नहीं है। इन समस्त विप्रतिपत्तियों की सत्ता रहने पर भी सांख्य दर्शन को सूक्ष्म तर्कमूलक विवेचनपद्धति दार्शनिकों की विशेष प्रशंसा का भाजन है। सांख्य का तत्व-विश्लेषण बहुत ही दूरगामी तथा तलस्पर्शी है। इसने तत्त्वमीमांसा को उस स्थान तक पहुँचा दिया जहाँ से वेदान्त ने उसे ग्रहण किया तथा सर्वतोभावेन पूर्ण कर दिया। इस सांख्य ज्ञान के आविर्भावक महर्षि कपिल की सूक्ष्म शास्त्रग्राहिणी विवेकबुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी ही है।

कपिलाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधौ जगति मग्ने।
कारुण्यात् सांख्यमयी नौरिह विहिता प्रतरणाय॥

—माठरवृत्ति

दशम परिच्छेद

योगदर्शन

योग हिन्दू जाति की सबसे प्राचीन और सब से समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद विवाद को स्थान नहीं है। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवों को सर्वसन्तापहर भगवान् से मिलाने में योग भक्ति और ज्ञान का प्रधान सहायक है। प्राचीन ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान की, अन्तर्दृष्टि की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण था। धर्म-प्रचारकों और दार्शनिकों ने योग की प्रकृष्ट उपयोगिता मानी है तथा उसका विवेचन अपनी दृष्टियों से किया है। अतः योग के अनेक प्रकार हैं। बुद्ध धर्म के पाली त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। महावीर स्वयं योगी थे और जैन धर्म में योग का विवेचन पर्याप्तमात्रा में किया गया है। 'अंगों' के अतिरिक्त उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में और हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में स्वतन्त्र रूप से योग का विचार किया है। प्रस्थान भिन्न होने पर भी योग के ये विवेचन उपयोगी और उपादेय हैं। तन्त्रों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरक्षनाथ के नाथ सम्प्रदाय में योग का इतना आदर है कि उस सम्प्रदाय को 'योगी' सम्प्रदाय के नाम से पुकारते हैं। नाथपन्थी सिद्ध 'हठयोग' के परमाचार्य थे। मन्त्रयोग, लययोग आदि योग

प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु इस परिच्छेद में योग का दार्शनिक विवेचन अभीष्ट होने से 'राजयोग' के नाम से प्रसिद्ध पातञ्जल योग का ही वर्णन किया जायगा।

प्राणविद्या की महनीयता का प्रतिपादन संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में समभावेन उपस्थित किया गया है। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में ऋक् संहिता के मन्त्रों के उल्लेख तथा व्याख्यान-पुरःसर प्राणविद्या का उत्कृष्ट विवेचन है। दीर्घतमा ऋषि का कथन है[1] कि मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है जो सब इन्द्रियों का रक्षक है, कभी नष्ट नहीं होने वाला है और भिन्न-भिन्न मार्गों (नाड़ियों) के द्वारा बाहर-भीतर आता जाता है। यह प्राण अध्यात्म रूप में (शरीर में) वायु और अधिदैव रूप में आदित्य है (ऋ० वे० १।१६४।३१; १०।१७७।३)।

योग की प्राचीनता

प्राण ही अन्तरिक्ष तथा वायु का स्रष्टा और पिता है। प्राण की उपासना अनेक प्रकार से बतलाई गई है। प्राण ही देवतात्मक है। प्राण ही ऋषिरूप है। अतः देवताओं और ऋषियों की भावना प्राणों में करनी चाहिए। प्राण ही शयन के समय वागादि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और रात्रि के समय वीर्य के विसर्ग-जन्य मद उत्पन्न करने के कारण अपान ही 'मद' है। अतः प्राण-अपान के संयोग को 'गृत्समद' कहते हैं। विश्व को पापों से बचाने के कारण प्राण ही 'अत्रि' है। इस शरीर में इन्द्रियों का सब से बढ़ कर वास या निवास कारण होने से प्राण ही 'वसिष्ठ' है। समस्त वेद और श्रुतियाँ प्राणरूप हैं। अतः प्राण की इन विविध रूपों से उपासना करनी चाहिए (ऐत० आर० २।२।१०)।

---

१ अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

'योग' का प्रयोग संहिताओं में अपने विशिष्ट अर्थ में अनेक स्थलों पर मिलता है (ऋ० सं० १ । ५ । ३; १ । १८ । ७; १ । ३० । ७ आदि)। छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, मैत्री, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में तो योग की विशिष्ट प्रणाली का संकेत उपलब्ध होता है। कठ (१ । १ । १२; २ । ३ । १०–११) का कथन है कि जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी जब किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती, तब इस अवस्था को परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणा को योग कहते हैं (तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्)। श्वेताश्वतर (२ । ८–१५) ने क्रियात्मक योग का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। समाधि करते समय सिर गर्दन और रीढ़ को एक सीध में रखना, इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करना और श्वास प्रश्वास का नियमन करना; कंकड़, आग, बालू से रहित समतल, पवित्र, मनोनुकूल स्थान पर (विशेषतः गुफा में) योग का अभ्यास करना; योगसिद्धि के होने पर लघुता, आरोग्य, वर्णप्रसाद, स्वरमधुरता आदि का स्वतः उत्पन्न होना—प्रत्याहार, प्राणायाम और समाधि के साक्षात् परिचायक हैं। छान्दोग्य (८ । ६), बृहदारण्यक (४ । ३ । २०) और कौषीतकि (४ । १९) में हृदय से पुरीतत तक जाने वाली 'हिता' नामक नाड़ियों का निर्देश किया गया है। उपनिषत्-साहित्य में २१ उपनिषद् ऐसे हैं जिनमें योग का सर्वांगीण विवेचन है—(१) अद्वयतारक, (२) अमृतनाद, (३) अमृतबिन्दु, (४) क्षुरिका, (५) तेजोबिन्दु, (६) त्रिशिखि ब्राह्मण, (७) दर्शन (८) ध्यानबिन्दु, (९) नादबिन्दु, पाशुपत ब्रह्म, (११) ब्रह्मविद्या, (१२) मण्डलब्राह्मण, (१३) महावाक्य (१४ योगकुण्डली, (१५) योगचूड़ामणि, (१६) योगतत्त्व, (१७) योगशिखा, (१८) वराह, (१९) शाण्डिल्य, (२०) हंस, (२१) योगराज। इन उपनिषदों में योग के समस्त आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार, मुद्रा, नादानुसन्धान आदि विषयों का तात्त्विक विस्तृत विवेचन है। गोरक्षनाथ आदि सिद्धों के ग्रन्थों में यही योग हूबहू इन्हीं शब्दों में वर्णित है; अतः इन नाथपन्थी सिद्धों की योगप्रक्रिया उपनिषन्मूलक है, बौद्धतन्त्रमूलक नहीं; यह बात स्वतः सिद्ध है। पुराणों में योग का बहुत मसाला भरा पड़ा है जिनका अनुशीलन परमावश्यक है।

(१) योग के आचार्य

उपलब्ध योगसूत्रों के रचयिता का नाम महर्षि पतंजलि है। याज्ञवल्क्य स्मृति के (हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः) कथनानुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं। पतंजलिने योग का केवल अनुशासन (शिष्टस्य शासनमनुशासनं' त० वै० १।१) किया अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र दिया। अतः वे योग के प्रवर्तक न होकर प्रचारक या संशोधकमात्र हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार योगसूत्र-रचयिता तथा व्याकरण महाभाष्य-निर्माता पतंजलि एक अभिन्न व्यक्ति हैं[1]। स्फोटवाद का दोनों के द्वारा अंगीकार किया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तत्त्वमीमांसा के अनेक सिद्धान्तों में साम्य होने पर भी सांख्य और योग में एक महान् अन्तर है। सांख्य स्फोटवाद का खण्डन करता है परंतु योग मण्डन। अन्य प्रमाणों के आधार पर इनकी अभिन्नता मान्य है[2]। अतः योगसूत्र की रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में हुई। चतुर्थ पाद में विज्ञानवाद का खण्डन सूत्रों (४।१४,१५) में मिलने पर भी इस सिद्धान्त को धक्का नहीं लगता, क्योंकि विज्ञानवाद मैत्रेय और असंग से कहीं अधिक प्राचीन है।

---

१ योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

२ डा० दासगुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० २२९-२३५।

योगदर्शनमें चार पाद हैं जिनकी सूत्र संख्या (५१+ ५५+५५+३४) १९५ हैं। पहले (समाधि) पाद में समाधि के रूप तथा भेद, चित्त तथा उसकी वृत्तियों आदि का; द्वितीय (साधन) पाद में क्रियायोग क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशों को दूर करने से साधन, हेयहेतु हान तथा हानोपाय, योग के अष्टांग आदि बिषयों का, तृतीय (विभूति) पाद में धारणा ध्यान और समाधि के अनन्तर योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली विभूतियों का, चतुर्थ (कैवल्य) पादमें समाधिसिद्धि, निर्माणचित्त, विज्ञानवाद-निराकरण, केवल्य का निर्णय किया गया है। तृतीत पाद के अन्त में 'इति' शब्द के आने से तथा चतुर्थ पाद में मतान्तर के निरसन करने से अनेक विद्वानों का यह मत है कि पतंजलि ने प्रथम तीन पादों की ही रचना की थी। दार्शनिक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए किसी पीछे के ग्रन्थकार ने (सम्भवतः भाष्यकार व्यास ने ही) चतुर्थ पाद की रचना की है। पर अभी तक इस मत की युक्तियुक्तता सिद्ध नहीं हुई है।

पातंजल योगदर्शन के ऊपर 'व्यासभाष्य' अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। योगसूत्रों के निगूढ़ रहस्यों के उद्घाटन करने में यह भाष्य नितान्त कृतकार्य है। इसके रचयिता 'व्यास' कौन थे? इसका यथार्थ रूप से प्रतिपादन नहीं हो सकता। इतना तो निश्चित है कि ये पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास से अवश्य भिन्न हैं, क्योंकि वेदव्यास का समय बहुत प्राचीन है, परन्तु व्यासभाष्य के रचयिता विक्रम के तृतीय शतक से प्राचीन नहीं है। व्यासभाष्य स्वयं बहुत ही गूढ़ार्थ है। अतः उसके अर्थ को समझाने के लिए वाचस्पतिमिश्र ने 'तत्त्ववैशारदी' और विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्तिक' की रचना की है। वाचस्पति की सर्वतोगामिनी विद्वत्ता के अनुरूप ही यह टीका नितान्त प्रमेयबहुला तथा गूढ़ार्थप्रकाशिनी है। तत्त्ववैशारदी की भी टीका राघवानन्द सरस्वती का 'पातंजल रहस्य' है। ये राघवानन्द विश्वेश्वर-भगवत्पाद के शिष्य अद्वयभगवत्पाद के शिष्य थे। विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक' भाष्य के

विवेचन में ही कृतकार्य नहीं है, अपि तु 'तत्ववैशारदी' के व्याख्यानों की भी पर्याप्त समालोचना करता है। भिक्षु ने 'योगसारसंग्रह' में योग के सिद्धान्तों का सारांश उपस्थित किया है। आज कल के प्रसिद्ध सांख्य-योगाचार्य श्री हरिहरानन्द आरण्य ने भाष्य पर 'भास्वती' नामक टीका लिखी है।

योगसूत्रों की भी अनेक टीकाएँ लिखी गई जिनमें (१) भोजकृत 'राजमार्तण्ड' (प्रसिद्ध नाम भोजवृत्ति), (२) भावागणेश की 'वृत्ति' (३) रामनन्द यति की 'मणिप्रभा', (४) अनन्त पण्डित की 'योग चन्द्रिका' (५) सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योगसुधाकर', (६) नागोजी भट्ट की लघ्वी और बृहती वृत्तियाँ नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में राज-मार्तण्ड 'भोजवृत्ति' के नाम से अत्यन्त लोकप्रिय है। मणिप्रभा तथा योगसुधाकर योगनिष्ठ पुरुषों के द्वारा लिखी गई हैं। अतः सूत्र के अर्थ समझने में अत्यन्त उपादेय हैं। नागेश की बड़ी वृत्ति योगवार्तिक के आधार पर निर्मित हुई है। कहीं कहीं वार्तिक के अर्थ को इसने पल्लवित किया है और कहीं कहीं उसे संक्षिप्त कर प्रदर्शित किया है। इससे वार्तिक के अर्थ समझने में बड़ी सहायता मिलती है। पातञ्जल दर्शन के ऊपर इतना ही साहित्य प्रसिद्ध है।

(२) योग मनोविज्ञान

योग शब्द समाध्यर्थक 'युज्' धातु (युज् समाधौ) से निष्पन्न होता है। अतः योग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ समाधि है। पतञ्जलिकृत योग का

चित्त

लक्षण है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना। चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) से है। चित्त सत्त्वप्रधान प्रकृति-परिणाम है अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सबसे अधिक सत्त्व का उदय चित्त में होता है। चित्त प्राकृत होने से जड़ और प्रतिक्षण परिणामशाली है और सत्त्व, रज तथा तम के उद्रेकानुसार क्रमशः तीन प्रकार का होता है—

चित्त दो प्रकार के हैं :- कार्यचित्त और कारण चित्त।

प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील तथा स्थितिशील । प्रख्या (ज्ञान) रूप चित्त सत्त्व रज और तम से संसृष्ट होने पर ऐश्वर्य और शब्दादि विषयों का प्रेमी बनता है। तम से युक्त होने पर यही चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य से व्याप्त हो जाता है। तम के आवरणों के नितान्त क्षीण हो जाने पर रज के अंशमात्र से संसृष्ट चित्त सर्वत्र प्रद्योतमान होता है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है। प्रथम अवस्था में चित्त ऐश्वर्य और विषयों को केवल चाहता ही रहता है, परन्तु ये उसे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वह रज और तम से संपृक्त रहता है, परन्तु इस दशा में सात्त्विक गुण की अधिकता से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। परन्तु जब चित्त में रज का लेशमात्र भी मल नहीं रहता, तब सत्त्वप्रधान चित्त स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर प्रकृति-पुरुष की अन्यताख्याति या विवेक ज्ञान प्राप्त कर लेता है और धर्ममेघसमाधि से समन्वित हो जाता है। (व्यासभाष्य १ । २)। इस चित्त की ५ भूमि या अवस्थायें होती हैं—

चित्त की भूमि

(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध । क्षिप्त का अर्थ चञ्चल है। क्षिप्त दशा में चित्त रजोगुण के उद्रेक (अधिकता) के कारण अस्थिर, चचल, बना रहता है और बहिर्मुख होने से संसार के सुखदुःखादि विषयों की ओर स्वतः प्रवृत्त रहता है। मूढ़ चित्त तमोगुण की अधिकता के कारण विवेकशून्य रहता है, कृत्याकृत्य का विवेचन नहीं करता और क्रोधादि के द्वारा विरुद्ध कार्यों में ही प्रवृत्त रहता है। विक्षिप्त चित्त सत्त्व की अधिकता से दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधन शब्दादि विषयों में प्रवृत्त रहता है। राजस क्षिप्त चित्त की अपेक्षा यह सात्त्विक चित्त कभी कभी स्थिरता धारण करता है। अतः इस विशेषता के कारण इसे 'विक्षिप्त' कहते हैं[1] (क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम् । विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कादाचित्कः स्थेमा—त० वै० १।१) एकाग्र चित्त और निरुद्धचित्त सत्व की उत्कृष्टता के कारण समाधि के उपयोगी है।

जब बाहरी वृत्तियों के निरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकार वृत्ति धारण करता है, तब उसे 'एकाग्र' कहते हैं, परन्तु सब वृत्तियों और संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की संज्ञा 'निरुद्ध' है।[1] इन पाँच भूमियों में प्रथम तीन समाधि के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं; परन्तू अन्तिम दोनों भूमियों में योग का उदय होता है। इन भूमियों के अनुरूप चित्त के चार प्रकार के परिणाम होते हैं। क्षिप्त और मूढ़ भूमियों में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधिप्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता तथा निरुद्ध में निरोधलक्षण परिणाम होते हैं। अतः समाधि के लिए अन्तिम दो दशाओं की नितान्त उपयोगिता है।

पुरुष निसर्गतः शुद्ध चैतन्यरूप तथा शरीर मन के बन्धनों से स्वतन्त्र है, परन्तु अज्ञान दशा में चित्त से सम्बद्ध रहता है। चित्त वास्तव में प्रकृतिजन्य होने से अचेतन है, परन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने पर (चिच्छायापत्त्या) यह चेतन के समान प्रतीत होता है। पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त उस वस्तु के रूप को ग्रहण कर लेता है। पुरुष को पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान चित्त के इन परिवर्तनों के कारण होता है जिन्हें 'वृत्तियाँ' कहते हैं। जिस प्रकार नदी की लहरों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा स्थित होने पर भी चलायमान प्रतीत होता है, उसी प्रकार परिणामशील चित्त में प्रतिबिम्बित स्वतः अपरिणामशाली पुरुष परिवर्तनशील मालूम होता है।

चित्त की वृत्तियाँ प्रधानतया पाँच हैं:—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण (सत्य ज्ञान) सांख्यों के समान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रकार का होता है (योग० सू० १।७)। किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं जिसके अन्तर्गत संशय भी माना जाता है (यो० सू० १।८)।

चित्त की वृत्तियां

१ एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च, इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः—भोजवृत्ति १।२।

शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला परन्तु सत्य वस्तु से शून्य ज्ञान 'विकल्प' है। जैसे 'घोड़े की सींग' को सुन कर इन शब्दों के अर्थ को तो हम समझ जाते हैं, परन्तु वास्तविकता से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' इस वाक्य में षष्ठी के प्रयोग से दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में चैतन्यात्मक पुरुष चैतन्य से भिन्न नहीं है (यो० भा० १।९)। अतः इस वाक्य से उत्पन्न वृत्ति विकल्परूप है। तम के आधिक्य पर अवलम्बित होने वाली वृत्ति 'निद्रा' है जिसमें जाग्रत् और स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। निद्रा के वृत्तित्व के विषय में सन्देह करने का अवकाश नहीं है, क्योंकि जागने पर पुरुषों को यह भान होता है कि मैंने खूब अच्छी गहरी नींद ली जिससे मेरा मन खूब प्रसन्न है या मुझे अच्छी नींद नहीं आई जिससे मेरा मन घूम रहा है। यह भान (प्रत्यवमर्श) ज्ञान होने पर ही हो सकता है। अतः निद्रा वृत्तिरूप है। अनुभव किये गये विषयों का बिना परिवर्तन के ठीक ठीक याद आना 'स्मृति' कहलाता है। चित्त के समस्त व्यापारों या अवस्थाओं का अन्तर्भाव इन्हीं पाँचों के भीतर किया जा सकता है।

संस्कार

जब वृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित में लय प्राप्त कर लेती हैं तब ये नितान्त क्षीण नहीं हो जातीं; प्रत्युत उनका सूक्ष्म रूप 'संस्कार' के रूप में रहता है। ये संस्कार ही योग्य अवसर आने पर उद्बोधक हेतु के सद्भाव में पुनः स्थूल रूप प्राप्त करते हैं और वृत्तियों का रूप धारण करते हैं। अतः वृत्तियों से संस्कारों की उत्पत्ति और संस्कारों से वृत्तियों का उदय इस प्रकार यह चक्र सतत क्रियाशील रहता है[१]। वृत्ति संस्कार का परस्पर सम्बन्ध वृक्ष और जड़ों के उदाहरण से भली भाँति दर्शाया जा सकता है। जड़ें पृथ्वी के नीचे अदृश्य रूप से विद्यमान रहती हैं और वृक्ष के नाश हो जाने पर अनुकूल परिस्थिति में बढ़ कर पेड़ को पैदा कर सकती हैं। उसी प्रकार

१ संस्कारा वृत्तिभिः क्रियन्ते, संस्कारैश्च वृत्तयः, एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते।

संस्कार अनुकूल स्थिति में वृत्ति का स्थूल रूप ग्रहण कर सकता है। इस लिए प्रज्ञा के आलोक से वृत्तियों के निरोध के साथ साथ संस्कार का निरोध भी योग की समग्रता के लिए नितान्त आवश्यक है।

योग के संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात भेदों का रहस्य जानने के लिए एक लौकिक उदाहरण पर दृष्टिपात करना चाहिए। लकड़ी के टुकड़ों में जब आग लगा दी जाती है, तो वे टुकड़े जलने लगते हैं और सब टुकड़ों को जलानेवाली आग एक आकार में दिखलाई पड़ती है। टुकड़े पहले जलते हैं; अनन्तर आग स्वयं जलती रहती है, पर अन्त में दाह्य पदार्थ के अभाव में स्वयं बुत जाती है, उसका जलना समाप्त हो जाता है। योगप्रक्रिया में भी चित्तवृत्ति की ऐसी ही दशा होती है। चित्त में अनेक वृत्तियों का सद्भाव रहता है। जब किसी एक वस्तु के ध्यान में चित्त लगाया जाता है, तब अन्य वृत्तियाँ क्षीण होकर तद्वस्तुमयी वृत्ति को दृढ तथा प्रबल बनाती हैं। उस समय वही वृत्ति मुख्य रहती है तथा ध्यान के प्रकर्ष से 'प्रज्ञा' कहलाती है। समाधि दो वस्तुओं के घर्षण (रगड़) के समान है, और तज्जन्य प्रज्ञा घर्षण से (रगड़ने से) होनेवाली आग के समान है। यह प्रज्ञाग्नि अन्य वृत्तियों का नाश कर देती है, कुछ काल तक स्वयं प्रद्योतित रहती है, परन्तु अन्ततो गत्वा उपशान्त हो जाती है। जिस समय चित्त अन्यवृत्तियों के उपक्षीण होने पर एकाग्र भूमि में एक वस्तु के सन्ततध्यान में संलग्न रहता है, उस समय संप्रज्ञात (सं+प्रज्ञा+त) समाधि होती है। इसका फल है प्रज्ञा का उदय। यह प्रज्ञा सद्भूत (वास्तव, सत्य) अर्थ को प्रद्योतित करती है (सत्त्वदर्शन), समस्तक्लेशों का नाश करती है (अविद्याक्षय) कर्म बन्धनों को शिथिल बनाती है तथा निरोध को अभिमुख (आसन्न) करती है (यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते-योग-भाष्य (१।१)। इतर वृत्तियों के निरोध से उदित

द्विविध योग

प्रज्ञा का भी निरोध आवश्यक है, क्योंकि प्रज्ञा कितनी भी सात्त्विक क्यों न हो, आखिर है तो वृत्ति ही। अतः इसका निरोध होना सर्ववृत्तियों का निरोध होना है। इस निरोध के उदय होने पर असंप्रज्ञात समाधि होती है।

'एकाग्र' चित्त की वह अविचलित अक्षुब्ध अवस्था है जब ध्येय वस्तु के ऊपर चित्त चिरकाल तक स्थिर रहता है। इस योग का नाम संप्रज्ञात या सबीज समाधि है, क्योंकि इस अवस्था में चित्त के समाहित होने के लिए कोई न कोई बीज या आलम्बन बना रहता है। परन्तु निरुद्ध दशा में असंप्रज्ञात समाधि का उदय होता है जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध या बन्द हो जाती हैं। यहाँ किसी भी वस्तु का आलम्बन नहीं रहता। अतः इसे निर्बीज या असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं (यो० भा० १।१८)। ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहने के कारण पूर्व समाधि संप्रज्ञात कहलाती है और ध्येय, ध्यान तथा ध्याता के ऐकात्म्य हो जाने से ध्येयवस्तु से पृथक् ज्ञान के न होने से दूसरी समाधि का नाम 'असंप्रज्ञात' है।

समाधि के दो भेद

इन दोनों में सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है (यो० सू० १।१७)— वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ग्राह्य विषय दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल आलम्बन में जो चित्त का आभोग है उसे 'वितर्क' कहते हैं (वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, व्या० भा० १।१७) 'आभोग' शब्द का अर्थ है, एक वस्तु का दूसरे वस्तु के ऊपर आरोपित होने पर उसके साथ दैशिक तादात्म्य। चित्त पदार्थ के सान्निध्य में तदाकाराकारित होने से जो उसके स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है वह आभोग है। (वस्तुस्वरूपसाक्षात्कारिणी प्रज्ञा — त० वै० १।१७) (क) अतः किसी महाभूत आदि अवयवी स्थूल वस्तु में शब्दार्थोल्लेखपूर्वक जो भावना की जाती है उसे 'सवितर्क'

संप्रज्ञात के भेद

समाधि कहते हैं। 'यह गौ है' यहाँ शब्द, अर्थ (वस्तु) और ज्ञान तीनों एक साथ संवलित रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः वस्तु के जिस चिन्तन में तीनों उपस्थित रहते हैं वह सवितर्क समाधि होती है और जहाँ शब्दशून्य होने से केवल अर्थ की भावना की जाती है उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं। (ख) सूक्ष्म आलम्बन में चित्त के आभोग को 'विचार' कहते हैं। अतः जहाँ तन्मात्रा आदि सूक्ष्म आलम्बन को ग्रहण कर देशकालधर्मावच्छिन्न रूप से भावना की जाती है, वह होती है सविचार समाधि; परन्तु जहाँ देशकालधर्म के सम्बन्ध का परित्याग कर केवल सूक्ष्म धर्मी की भावना की जाती है वह निर्विचार समाधि कहलाती है। ग्राह्यविषयक होने से इनका नाम 'ग्राह्य-समापत्ति' है। (ग) सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ सुखात्मक है। अतः साक्षात्कार के साधनभूत इन्द्रियों की भावना करने पर सानन्द समाधि का उदय होता है। यह संप्रज्ञात 'ग्रहणसमापत्ति' होता है। (घ) इन्द्रियाँ अस्मिता से उत्पन्न होती हैं। अतः कारण होने से अस्मिता (बुद्धि) इन्द्रियों से नितान्त सूक्ष्म है। चित्-प्रति-बिम्बित बुद्धि 'अस्मिता' है। अतः इस बुद्धि की भावना करने पर 'सास्मित समाधि' का जन्म होता है। बुद्धि में ग्रहीता पुरुष के अन्तर्भाव होने से यह संप्रज्ञात समाधि 'ग्रहीतृविषयक' मानी जाती है (द्रष्टव्य तत्त्व वैशारदी १।१७)।

असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है—दोनों में स्व-स्वामि भाव सम्बन्ध है। व्युत्थान (चित्त की विक्षिप्त) दशा में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भुला कर वृत्तिसंकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार ग्रहण करता है। वृत्ति-निरोध होने पर वृत्तियों का आकार धारण नहीं करता। इस वृत्तिहीन

असम्प्रज्ञात के भेद

अवस्था में पुरुष की द्विविध गति की सम्भावना है (१) जब चित्त पूर्ण चैतन्य प्राप्त कर द्रष्टा या साक्षीरूप से अवस्थित रहता है अथवा (२) गम्भीर अज्ञान से आच्छन्न होकर जिस प्रकार एक ओर विषय-ज्ञान-शून्य हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर वह अपने चित्स्वरूप की उपलब्धि से वञ्चित रहता है। यह दूसरी दशा 'प्रकृति-लय' या जड़ समाधि है। वृत्ति-निरोध होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तर्गत है, परन्तु ज्ञान का उन्मेष न होने से यह समाधि दशा है ही नहीं। पतञ्जलि उसे ही 'भवप्रत्यय' समाधि कहते हैं जिसमें प्रकृतिलीन व्यक्तियों के समान विदेह देवता भी लीन रहते हैं (यो० सू० १। १९)। 'उपायप्रत्यय' समाधि ही वास्तव समाधि है। उपाय का अर्थ है प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान। इसके साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि हैं। अर्थात् सम्यक् ज्ञान के उदय होकर निरुद्ध होने पर जो असंप्रज्ञात समाधि होती है उसका नाम 'उपाय-प्रत्यय' है (यो० सू० १। २०)। 'भवप्रत्यय' समाधि में कुछ समय तक चित्त अवश्य निरुद्ध होता है, परन्तु उसमें 'व्युत्थान' की आशंका बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के उदय न होने से कर्मजन्य संस्कारों का क्षय अभी तक नहीं होता। परन्तु 'उपायप्रत्यय' में प्रज्ञा के उदय होने से क्रमशः संकारों के दाह होने से जो समाधि उत्पन्न होती है उसमें व्युत्थान की तनिक भी आशंका नहीं रहती। समस्त क्लेशों की जननी अविद्या है। अतः अविद्या को बिना दग्ध किये वृत्तिनिरोध होने पर भी क्लेशों का नाश नहीं होता। अविद्या का नाश शुद्ध ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है जिसकी प्राप्ति का पतञ्जलि-प्रदर्शित क्रम है— श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। भवप्रत्यय में क्षणिक निरोध होने पर भी अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं होती, परन्तु उपाय प्रत्यय में ज्ञानोन्मेष से पुरुष की चैतन्यरूप में प्रतिष्ठा होती है। अतः सच्चा समाधि उपायप्रत्यय ही है। बौद्ध धर्म में प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध का अन्तर ठीक इन्हीं दोनों समाधियों के अन्तर के

समान है। अतः योग का परिनिष्ठित लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के साथ साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' ही है।

चित्त अनेक क्लेशों का भाजन है जिन्हें दूर करने से ही वह योगमार्ग में अग्रसर हो सकता है। ये समग्र क्लेश विपर्यय-रूप हैं। अविद्या तो साक्षात् विपर्यय, मिथ्याज्ञान रूप ही है परन्तु अन्य क्लेश भी अविद्या-मूलक होने से मिथ्याज्ञानात्मक ही हैं। क्लेश ही गुणों के अधिकार को

क्लेश

दृढ़ बनाते हैं, महत्तत्त्व, अहंकारादि परम्परा से परिणाम को स्थापित करते हैं तथा आपस में अनुग्राहक बन कर कर्मों के फलों (जाति, आयु तथा भोग रूप) को निष्पन्न करते हैं (यो० भा० २।३)। कर्मों से क्लेश उत्पन्न होते हैं और क्लेशों से कर्मों का उदय होता है। अतः वे आपस में एक दूसरे के सहायक हैं (स० वै० २।३)।

क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश। (१) अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म बुद्धि रखना अविद्या कहलाता है। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग को नित्य मानना, परम बीभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःखदायी जगत् के पदार्थों में सुखबुद्धि रखना तथा शरीर, इन्द्रिय और मन को आत्मा मानना अविद्या के प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। यही चतुष्पदा अविद्या क्लेशसन्तान का बीज है तथा विपाक के साथ कर्माशय की उत्पादिका है (यो० भा० २.५)। (२) दृक्शक्ति पुरुष दर्शनशक्ति बुद्धि से नितान्त भिन्न है; परन्तु दोनों को एकात्मक मान बैठाना 'अस्मिता' है। भोक्ता और भोग्य के इस प्रकार एकत्व की भावना होने पर ही भोग की कल्पना होती है। (३) सुखोत्पादक वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे 'राग' कहते हैं। (४) इससे विपरीत दुःख को जानने वाले पुरुष का दुःख की स्मृति के साथ दुःख साधनों में जो क्रोध या जिघांसा होती है वह द्वेष

है। (५) पामर जीव से लेकर विद्वानों तक जो मृत्यु का भय लगा रहता है उसे 'अभिनिवेश' कहते हैं। यह स्वभाव से ही वासनारूपसे प्रवृत्त होता (स्वरसवाही) है, अतः यह स्वाभाविक होता है, आगन्तुक नहीं।

(३) योग कर्तव्यमीमांसा

विवेक की सिद्धि के लिए पातञ्जल दर्शन में योग के आठ अंग वर्णन किये गये हैं। वह तो निर्विवाद है कि जब तक आत्मा को शरीर और मन के ऊपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता, तब तक उसमें वह शान्ति या निश्चिन्तता नहीं आती जिससे वह प्रज्ञा की उपलब्धि कर सके। अतः शरीर, मन तथा इन्द्रियों की शुद्धि के लिए आठ प्रकार के साधनों का निर्देश किया गया है (यो० सू० २।२९) इन योगांगो के नाम हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

(१) यम–का अर्थ संयम होता है। इसके पाँच प्रकार होते हैं— (क) अहिंसा—सर्वदा तथा सर्वथा सब प्राणियों के ऊपर द्रोह न करना; (ख) सत्य—मन और वचन का यथार्थ होना अर्थात् जैसा देखा गया था, अनुमान किया हो उसी के समान मन तथा वचन का होना; (ग) अस्तेय—न चुराना अर्थात् दूसरों के द्रव्यों के लिए स्पृहा न रखना; (घ) ब्रह्मचर्य—गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम करना; (ङ) अप्रतिग्रह–विषयों के अर्जन, रक्षण आदि में दोष होने से उन्हें स्वीकार न करना।

(२) नियम भी पाँच प्रकार के हैं:-(क) शौच–आभ्यन्तर और बाह्य शुद्धि। आभ्यन्तर शौच चित्त के मलों का अच्छी तरह धो देना है। बाहरी शुद्धि मृत्तिका, जल से तथा पवित्र भोजन के करने से होती है। (ख) सन्तोष—सन्निहित साधनों से अधिक वस्तुओं के ग्रहण करने की इच्छा न होना; (ग) तप—सुखदुःख, आतपशीत, भूख-प्यास,

आदि द्वन्द्वों का सहना तथा चन्द्रायणादि कठिन व्रतों का पालन करना; (घ) स्वाध्याय—मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन वा प्रणव का जप; (ङ) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर में भक्तिपूर्वक सब कर्मों का समर्पण करना।

(३) आसन—स्थिरसुखमासनम् (यो० सू० २।४६)। स्थिर तथा सुख देनेवाले जो बैठनेके प्रकार हैं उन्हें आसन कहते हैं। ध्यान के लिए आवश्यक बात है कि साधक को ऐसा आसन ग्रहण करना चाहिये कि जिससे शरीर को सुख मिले, साथ ही साथ मन की शान्ति बनी रहे। कमलासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि अनेक उपयोगी आसनों का वर्णन 'हठयोग प्रदीपिका' आदि हठयोग के ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया गया है। इन आसनों के अभ्यास करने के चित्त स्वाभाविक चञ्चलता का परित्याग कर एकाग्रता प्राप्त करता है। आसनजय करने से द्वन्द्वजन्य पीड़ा नहीं होती।

(४) प्राणायाम—आसन जय होने पर श्वास प्रश्वास के गति-विच्छेद का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का लेना श्वास है और भीतरी वायु का बाहर निकाल देना प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास सदा ही चलता रहता है। बाहर से वायु नासिकारन्ध्र से भीतर जाता है और भीतरी वायु बाहर निकलता है। इन दोनों की गति को नष्ट कर देने को प्राणायाम कहते हैं। पतंजलि ने (यो० सू० २।५०-५१) चार प्रकार के प्राणायाम वर्णन किया है—(क)बाह्य—कोष्ठ्य वायु को बाहर निकाल कर बाहरी को रोक देना (रेचक प्राणायाम); (ख) आभ्यन्तर (भीतरी)—नासारन्ध्र से बाहरी वायु को ग्रहण कर उसे भीतर रोक देना (पूरक) (ग) स्तम्भवृत्ति—एक ही प्रयत्न से वहाँ श्वास प्रश्वास की गति रोक दी जाय (कुम्भक)। इसमें न पूरक होता है न रेचक। व्यासभाष्य में इसके स्वरूप को समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार गरम पत्थल के ऊपर रखा गया जल

चारो तरफ से सिकुड़ने लगता है, उसी प्रकार इस कुम्भक में दोनों प्राण-अपान की गति एक साथ रुक जाती है। (घ) चतुर्थ प्राणायाम या केवल कुम्भक। प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान को आवरण करने वाले कर्मों या दोषों का नाश हो जाता है तथा मन एकाग्र या स्थिर होने के योग्य बन जाता है (यो० सू० २।५२–५३)। जब तक श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती रहती है, तबतक चित्त एकाग्र नहीं रह सकता। परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से ज्यों-ज्यों प्राणापान की गति का निरोध होने लगता है, त्यों-त्यों चित्त में एकाग्रता आने लगती है।

(५) प्रत्याहार—जब विभिन्न इन्द्रियों अपने बाह्य विषयों से हट कर चित्त के समान निरुद्ध हो जाती हैं तब इसे 'प्रत्याहार' कहते हैं (प्रति=प्रतिकूल; आहार=वृत्ति) अर्थात् बहिर्मुखवृत्ति इन्द्रियाँ बाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी (भीतर वृत्ति वाली) हो जाती हैं, तब उनका प्रत्याहार निष्पन्न होता है। इसका फल होता है इन्द्रियों के ऊपर पूरी वश्यता (अधिकार)। साधारण स्थिति में इन्द्रियों की स्वेच्छाचारिता प्रबल रहती है; जहाँ चाहती हैं वहाँ वे मन को दौड़ाया करती है; परन्तु प्रत्याहार के अभ्यास से ये इन्द्रियाँ मन के कब्जे में आ जाती हैं। वह जैसा चाहता है वैसा इन्हें काम मे लगाता है। अबतक प्रतिपादित पाँचों अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—बहिरंग साधन कहे जाते हैं। अन्तिम तीन अन्तरंग साधन माने जाते हैं, क्योंकि अन्तिम तीन धारणा, ध्यान, समाधि—अंगों की विवेकख्याति के उत्पादन में जितनी उपयोगिता है उनकी प्रथम पाँचों की नहीं है।

(६) धारणा—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (यो० सू० ३।१)। किसी देश में (जैसे हृदय कमल में, नासिका के अग्रभाग पर, जिह्वा के अग्रभाग पर) या बाह्य पदार्थ में (जैसे इष्ट देवता की मूर्तियों आदि में) चित्त को लगाना या सम्बन्ध कर देना 'धारणा' कहलाता है। पूर्व अंगों

के जय से यह कार्य सुगमता से हो सकता है। प्राणायाम से पवन और प्रत्याहार से इन्द्रियों के वश में हो जाने पर चित्त में विक्षेप की सम्भावना नहीं रहती। अतः वह एक स्थानपर सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

(७) ध्यान—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो० सू० ३।२)। उस देशविशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूपसे प्रवाहित होता है और उसे दबाने के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता, तब इसे 'ध्यान' कहते हैं।

(८) समाधि—समाधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विक्षेपों को हटा कर चित्त का एकाग्र होना (सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः) जहाँ पर ध्यान ध्येयवस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है वह 'समाधि' कही जाती है। ध्यानावस्था में ध्यान, ध्येयवस्तु तथा ध्याता अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। ध्यान, ध्याता और ध्येय पदार्थ की एकता सी हो जाती है। धारणादि अन्तिम तीनों अंगों सामूहिक नाम 'संयम' है। संयम के जीतने का फल है—विवेक ख्याति का आलोक या प्रकाश (तज्जयात् प्रज्ञालोकः यो० सू० ३।५)। ज्ञान ज्योति का उदय ही इन अन्तरंग साधनों के जीतने का सद्यः परिणाम है। संयम की दृष्टि में यमादिपञ्चक बहिरंग है, परन्तु निर्बीज समाधि के लिए संयम भी बहिरंग ही है अर्थात् परम्परा उपकारक है, साक्षात् नहीं।

अब वर्णित विषयों के परस्पर सम्बन्ध पर दृष्टिपात करना चाहिए। प्रत्येक साधक को क्रियायोग तथा समाधियोग के अभ्यास करने से इष्ट सिद्धि होती है। क्रियायोग से आरम्भ किया जाता है। क्रियायोग से तप (चान्द्रायण व्रत आदि)

कैवल्य प्रकृति

स्वाध्याय (मोक्षशास्त्रों का अनुशीलन तथा प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप) तथा ईश्वर-प्रणिधान (भक्तिपूर्वक सब कर्मों के फलों का ईश्वर को समर्पण करना) समझे जाते हैं। क्रियायोग के अभ्यास का फल दो प्रकार का होता है—क्लेशतनूकरण और समाधिभावना (यो० सू० २।२)। पञ्चप्रकार के क्लेश क्रियायोग के कारण क्षीण हो जाते हैं। क्लेशों की क्षीणता का कारण क्रियायोग होता है, परन्तु उनके दाह (एकदम जला देने) का कारण प्रसंख्यान (ज्ञान) होता है। समाधि की भावना भी इससे उत्पन्न होती है। अब योगांगों का अनुष्ठान आवश्यक होता है। यम, नियमादि अंगों के अनुष्ठान करने से चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष पूर्ण चैतन्य रूप को लाभ करता है। निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है। जब चित्त वृत्तिरहित हो जाता है, तब उसे उस दशा में प्रतिष्ठित होने के लिए साधक को लगातार यत्न करना चाहिए। इसी का नाम 'अभ्यास' है। अभ्यास को दृढ़ करने के लिए बहुत दिनों तक आग्रहपूर्वक इस मार्ग का अवलम्बन करना होता है।

जब तक साधक के हृदय में विषयों के लिए अभिलाषा बनी रहती है, तब तक चित्त में चाञ्चल्य कम नहीं होता। अतः चित्त की वृत्तियों को समेटने के लिए वैराग्य की बड़ी उपयोगिता है। वैराग्य दो प्रकार का है—अपर वैराग्य (भोगवितृष्णा) और पर वैराग्य (गुणवितृष्णा)। जब लौकिक तथा वैदिक विषयों के लिए चित्त में लेशमात्र भी तृष्णा नहीं रह जाती, तब उन विषयों के ऊपर पुरुष का असाधारण अधिकार या प्रभुत्व उत्पन्न होता है। पुरुष समझता हैं कि ये विषय मेरे वश में हैं, मैं इनके वश में नहीं हूँ। इसी वशीकार का नाम 'वैराग्य' है। अभ्यास और अपर वैराग्य के सहयोग से पुरुष को 'सम्प्रज्ञात समाधि' का उदय होता है। अस्मितानुगत समाधि में पुरुष बुद्धि से समन्वित होकर 'अस्मि' का बोध करता है। अस्मि के दो अंश हैं 'अस्'=सत्ता

(सदंश) और 'मि'=उत्तम पुरुष या चैतन्य (चिदंश)। अस्मिता-समाधि से विवेकख्याति का उदय होता है अर्थात् सदंश से चिदंश का पृथक्करण करके पुरुष स्वकीय निसर्ग निर्मल स्वरूप—चैतन्य—में प्रतिष्ठित हो जाता है। 'पर वैराग्य' सबसे उत्कृष्ट वैराग्य है जिससे विवेकख्याति के उत्पन्न हो जाने से चित्त गुणों से भी तृष्णा हटा लेता है। पुरुषख्याति के होने पर ही पुरुष को गुणों से वितृष्णा उत्पन्न होती है। भोगवितृष्णा होने से भोग्य जगत् में उसे आना नहीं होता; अब गुणवितृष्णा के उदय होने से पुरुष गुणों के भी बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस परवैराग्य के उदय होने से विवेकख्याति के भी निरोध होने पर असंप्रज्ञात समाधि का जन्म होता है। किसी आलम्बन के न रहने से इसको ही निर्बीज समाधि कहते हैं। साधक की साधना में ऐसा एक अवसर आवश्यक आता है जब उसके सामने सिद्धियाँ अनायास आने लगती हैं। जिस समय चित्त में सत्त्व के साथ-साथ रज का तनिक अंश अवशेष रहता है, तभी विभूतियों का उदय होता है जिसे पतञ्जलि ने तृतीय पाद में बड़े विस्तार के साथ दिखलाया है। मधु-मती भूमि में साधकों को ये सिद्धियाँ प्रलोभित करने लगती हैं। इस समय आसक्ति और अभिमान तनिक न करना चाहिये। जब पुरुष इन सिद्धियों के प्रलोभन को भी पारकर जाता है, तब 'कैवल्य' का अनुभव करता है। 'कैवल्य' का अर्थ है केवल, अकेले, रहने की स्थिति। बुद्धि के साथ पुरुष के सम्बन्ध-विच्छेद होने पर पुरुष स्वरूप—चित्रूप में प्रति-ष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य है। इस समय पुरुषार्थशून्य होने से गुणों का अपने कारण में प्रविलय हो जाता है (पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति यो० सू० ४।३४)।

योगी चार प्रकार के होते हैं—(क) प्रथमकल्पिक (ख) मधु-भूमिक; (ग) प्रज्ञाज्योति और (घ) अतिक्रान्त-माननीय (यो० भा० ३।५१)। (क) प्रथमकल्पिक योगी वे लोग होते हैं जो अष्टांगयोग

से युक्त होने पर योगमार्ग में सद्यः प्रवेश करते हैं। वितर्कानुगत समाधि में अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण इनमें अन्तर्ज्योति का स्फुरण होने लगता है। (ख) मधुभूमिक योगि का चित्त अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है और देवता अप्सरा आदि उसके पास उपस्थित होकर उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं। योगियों के लिए यह अवस्था परीक्षा की दशा होती हैं। उसे आसक्ति और अहंकार को दूर कर देना चाहिए, नहीं तो ये प्रलोभन उसे पदच्युत कर डालने में समर्थ होते हैं। (ग) प्रज्ञाज्योति अवस्था में प्रज्ञाज्योतियों के द्वारा पञ्चभूतों की पाँच प्रकार की अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रिय की पाँच प्रकार की अवस्थाओं पर अधिकार पाकर योगीगण भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय करने से योगी को वज्र के समान सिद्धदेह और अणिमा महिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा इन्द्रियजय होने पर मनोजवित्व, विकरणभाव (आश्रयहीन इन्द्रियों का अपने विषयों का ग्रहण) तथा भूतप्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाता है। इन सिद्धियों का नाम 'मधुप्रतीक' (यो० भा० ३।४९) है। (घ) भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं और सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जिसे 'विशोका' सिद्धि कहते हैं (यो० भा० ३।४६)। इसके बाद परवैराग्य के साथ-साथ त्रिगुण का राज्य समाप्त हो जाता है और योगी दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थों की सीमा पार कर परमपद में स्थित हो जाता है। इस दशा का नाम 'अतिक्रान्त-भावनीय' है। योगी की यही सर्वश्रेष्ठ चरम अवस्था है।

ईश्वर

योगदर्शन में ईश्वर का स्थान अत्यन्त महत्त्वशाली है। योगी को भी सांख्य के २५ तत्त्व अभीष्ट हैं; केवल ईश्वरतत्त्व अधिक है। इसीलिए योग 'सेश्वर सांख्य' कहलाता है। योग के शब्दों में जो पुरुषविशेष क्लेश,

कर्म, विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाकानुरूप संस्कार के सम्पर्क) से शून्य रहता है वह ईश्वर कहलाता है (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—यो० सू० १।२४) मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है तथा प्रकृतिलीन के भविष्यकाल में बन्धन की सम्भावना रहती है। परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है। अतः वह प्रकृतिलीन तथा मुक्त पुरुषों से नितान्त भिन्न होता है[१]। ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। नित्य होने से वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से अनवच्छिन्न है। वह गुरुओं का भी गुरु है—वेदशास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा ईश्वर ही है।

इस ईश्वर की उपयोगिता योगसाधन में नितान्त मौलिक है। ईश्वर का वर्णन योगसूत्रों में तीन बार आता है। ईश्वरप्रणिधानाद्वा १।२३; तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः २।१; समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् २।४५। 'प्रणिधान' का अर्थ है—प्रकर्षेण चित्तस्य निधानम्। चित्त का अतिशयरूप से एकत्र लगाना अथवा कर्म के फलों का समर्पण करना। अतः अनुरागपूर्वक चित्त का ईश्वर में लगाना या प्रेमपूर्वक कर्मफलों का ईश्वर को अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है। इस प्रणिधान से क्लेश क्षीण हो जाते हैं तथा जो समाधि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा परिश्रम से साध्य होती है सुगमता से उसका सम्पादन इस प्रणिधान से हो जाता है। अतः समाधि की सिद्धि का सरल साधन ईश्वर-प्रणिधान है। भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्त लगाने से वह प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर विघ्नरूप क्लेशों का नाश कर समाधि की सिद्धि कर देते हैं (स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं संबोधयति—भोजवृत्ति २।४५)। इन सबसे बढ़कर

---

१ यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः। यो० भा० १।२४।

योग में ईश्वर की एक विशिष्ट उपादेयता है। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् अर्थात् ईश्वर ही पूर्वकाल में होनेवाले गुरुओं का भी गुरु माना गया है। अतः तारक ज्ञान का दाता साक्षात् ईश्वर ही है। सांख्य मुक्त पुरुषों की ही परम्परा को ही ज्ञान का उपदेष्टा मानता है, परन्तु योग सब के प्राचीन मुक्तपुरुषों के गुरुरूप में ईश्वर को ही मानता है। अतः तारक-ज्ञान प्रदाता होने के कारण ईश्वर का योगदर्शन में मौलिक उपयोग है।

उपसंहार

योग का विषय इतना विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है कि उसका यथार्थ परिचय थोड़े में नहीं दिया जा सकता। तथापि अत्यन्त संक्षेप में पातंजलयोग का विवेचन ऊपर किया गया है। योग की उपयोगिता में किसी भी दार्शनिक की विमति नहीं है। योग भारतीयों की अपनी खास सम्पत्ति है जिसका इन्होंने विज्ञान की भाँति अनुशीलन किया है तथा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। वैदिक साहित्य में योगविद्या के महत्त्व का निदर्शन हमने आरम्भ में किया है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में अनेक योगासनोपविष्ट मूर्तियाँ मिली हैं। अतः योग की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है। काय और चित्त को मलों से निर्मुक्त कर पुरुष की आध्यात्मिक उन्नति में उपयोग करना 'योग' ने ही हमें सिखलाया है। योग व्यावहारिक ही है। इसकी तत्त्वमीमांसा सांख्य के समान है। अतः 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (ब्र० सू० २।१।२) इस सूत्र द्वारा बादरायण ने योग के सांख्यानुरूप सिद्धान्तों का खण्डन किया है; योगप्रक्रिया उन्हें भी नितान्त माननीय और मननीय है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि योग की ओर इधर आकृष्ट हुई है जिससे इसका विपुल प्रचार पाश्चात्य जगत् में भी होने लगा है।

———

एकादश परिच्छेद

मीमांसा-दर्शन

'मीमांसा' शब्द पूजार्थक मान् धातु से जिज्ञासा अर्थ में 'मानेर्जिज्ञासायाम्' वार्तिक की सहायता से निष्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति सुदूर-प्राचीन काल में हुई, क्योंकि संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में इस शब्द का बहुल प्रयोग मिलता है। 'मीमांसते' इस धातु रूप से इसका प्रयोग बहुस्थलों पर पाया जाता है:—उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः तद्धाहुः उत्सृज्यामेवेति' (तैत्तिरीयसंहिता ७–२।७।१); 'ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसते', यस्तल्पे वा उदके वा विवाहे वा मीमांसेरन्, त एता उपेयुः (ताण्ड्य ब्राह्मण ६।५।९; २३।४।२)। "उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते"—(कौषितकि ब्राह्मण २।६) जिसमें मीमांसादर्शन में विचार्यमाण हवन-विषयक प्रश्न पर विचार किया गया है तथा ब्रह्मवादी गण के निर्णय का निर्देश है—तस्मात् अनुदिते होतव्यम् (सूर्योदय से पूर्व ही हवन करना चाहिए); प्राचीनशाला औपमन्यवः महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति" (छन्दोग्य ५।११।१)। तैत्तिरीय उपनिषद् (२–८–१) में क्रियापद का नहीं प्रत्युत तज्जन्य संज्ञा 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है—'सैषा आनन्दस्य

'मीमांसा' की प्राचीनता

मीमांसा भवति'। इन उद्धृतांशों की आलोचना करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि श्रुतिकाल में ही श्रौतविषयक कर्मों में उपलभ्यमान विरोध की ओर प्राचीन ऋषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था तथा उन लोगों ने इसके परिहार के लिए अनेक सिद्धान्तों की छानबीन की थी। मीमांसा का सब से प्राचीन नाम 'न्याय' है। इस दर्शन के न्यायकणिका, न्यायमालाविस्तर आदि ग्रन्थों में भी न्याय शब्द का उपयोग इसी कारण से किया गया है। मीमांसा वैदिक कर्मकाण्डविषयक श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करती है। इसने अनेक 'न्यायों' का खोज निकला है जिनके उपयोग से आभासमान विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता की जा सकती है। कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड से पहले है। अतः इसे पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसा कहते हैं। ज्ञानकाण्ड की मीमांसा—उत्तरमीमांसा—के लिए 'वेदान्त' शब्द के प्रयोग होने से केवल 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग इसी दर्शन के लिए किया जाता है।

(१) मीमांसा के मुख्य आचार्य

मीमांसा दर्शन का इतिहास बड़ा ही रोचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके तीन प्रधान विभाग किये जा सकते हैं। मीमांसा में कुमारिल भट्ट एक नवीन युग के उद्भावक माने जाते हैं। अतः इन्हीं को केन्द्र मानकर उनसे पहले समय को कुमारिल-पूर्व काल तथा पीछे के समय को कुमारिल-पश्चात् काल के नाम से पुकार सकते हैं।

जैमिनि (३०० वि० पू०)—महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार हैं, पर इसके प्रथम प्रवर्तक नहीं। उन्होंने प्राचीन तथा समसामयिक इन आठ मीमांसक आचार्यों के नाम उल्लिखित किये हैं:—आत्रेय, आश्मरथ्य, कार्ष्णाजिनि, बादरि, ऐतिशायन, कामुकायन, लाबुकायन, आलेखन। पर इन आचार्यों के सूत्रों की उपलब्धि अभी तक

नहीं हुई है[1]। जैमिनि ने १६ अध्यायों में मीमांसा दर्शन के मूलभूत सूत्रों की रचना की जिसमें पहले के १२ अध्याय 'द्वादशलक्षणी' के नाम से और अंतिम ४ अध्याय 'संकर्षणकांड' या 'देवताकांड के नाम से प्रसिद्ध हैं। बहुत से आलोचक देवताकाण्ड को जैमिनि की रचना नहीं मानते। मीमांसादर्शन के सूत्रों की संख्या २६४४ तथा अधिकरणों की ९०९ है। ये सूत्र अन्य दर्शनों के सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर हैं। इन द्वादश अध्यायों में धर्म के विषय में ही विस्तृत विचार किया गया है। पहले अध्याय का विषय है—धर्म-विषयक प्रमाण; दूसरे का भेद (एक धर्म से दूसरे धर्म का पार्थक्य); तीसरे का अङ्गत्व, चौथे का प्रयोज्यप्रयोजक भाव, पाँचवे का क्रम (अर्थात् कर्मों में आगे पीछे होने का निर्देश), छठे का अधिकार (यज्ञ करने वाले पुरुष की योग्यता), सातवें तथा आठवें का अतिदेश (एक कर्म की समानता पर अन्य कर्म का विनियोग) नौवें का ऊह, दसवें का बाध, ग्यारहवें का तन्त्र तथा अन्तिम अध्याय का विषय प्रसङ्ग है। इस दर्शन की मूल भित्ति इन्हीं १२ अध्यायों पर अवलम्बित है इनके ऊपर कालान्तर में अनेक वृत्ति, भाष्य तथा वार्तिकों की रचना की गई।

मीमांसा के सब से प्राचीन वृत्तिकार आचार्य उपवर्ष हैं जिनके सम्मान्य मत का उल्लेख शबर स्वामी ने मीमांसाभाष्य (१।१।५) में तथा शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य (३।३।५३) में किया है। कहा जाता है कि उन्होंने पूर्व तथा उत्तर दोनों मीमांसाओं के ऊपर वृत्तिग्रन्थ लिखा था। इनका समय १०० ई०—२०० ई० तक माना जाता है।

---

१ इन आचार्योंके अतिरिक्त 'काशकृत्स्नि' नामक एक अन्य मीमांसा मतके आचार्य थे जिनका निर्देश महाभाष्य में पतञ्जलिने किया है— काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी—४।१।१४ सूत्र पर महाभाष्य।

भवदास (लगभग १००—२००) की वृत्ति का उल्लेख कुमारिल के श्लोकवार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र श्लोक ६३) में मिलता है। प्रपञ्चहृदय (पृ० ३९) के कथनानुसार भवदास ने पूर्वमीमांसा के १६ अध्यायों पर वृत्ति लिखी थी। पर इन वृत्तिकारों की वृत्तियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।

शबर स्वामी (२०० ई०)—ने समग्र बारहों अध्यायों पर विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य की रचना की है। पाण्डित्य से ओत-प्रोत इस ग्रन्थ की तुलना विषय की पुंखानुपुंख व्याख्या की रोचक शैली के कारण पातञ्जल महाभाष्य तथा शाङ्करभाष्य से की जा सकती है। प्रसिद्धि है कि इनका नाम आदित्यसेन था, पर जैनों के उत्पीडन से बचने के लिए इन्होंने अरण्यचारी शबर का वेष धारण किया था। इनके अनन्तर भर्तृमित्र ने सूत्रों पर वृत्ति लिखी जिसका नाम उम्बेक की तात्पर्यटीका (पृ० ३) के प्रमाण पर 'तत्त्वशुद्धि' है। कुमारिल का कथन है कि इन्होंने आस्तिक मीमांसा को अपनी मनमानी व्याख्या से लोकायत (नास्तिक दर्शन) का रूप दे डाला था जिसे दूर करने के लिए उन्होंने वार्तिक की रचना की[1]। मीमांसा में तीन विशिष्ट मत उपलब्ध होते हैं—भाट्टमत, गुरुमत तथा मुरारिमत। इन तीनों के उद्भावक क्रमशः कुमारिल, प्रभाकर और मुरारि मिश्र थे।

भाट्टमत के आचार्य

मीमांसादर्शन के इतिहास में कुमारिल युग (६०० ई—९०० ई०) वास्तव में सुवर्ण-युग के नाम से अभिहित होने योग्य है। आचार्य

---

१ प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥ श्लोकवार्तिक श्लो० १०.
मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायतीकृता।
—न्यायरत्नाकर

कुमारिल तथा उनके शिष्यों ने प्रामाणिक व्याख्याग्रन्थों तथा निबन्धों की रचना से न केवल मीमांसा को बौद्धों के कर्कश तर्कों से बचाया, प्रस्तुत सिद्धान्तों की बोधगम्य विस्तृत व्याख्या कर के इसे लोकप्रिय तथा प्रतिष्ठित किया। कुमारिल भट्ट के समान प्रखर तथा प्रकाण्ड विद्वान् दूसरा नहीं हुआ। आचार्य शंकर के साथ कुमारिल ने बौद्धों को परास्त करके वैदिक धर्म की मर्यादा रक्षा की। इन्होंने समग्र शावर भाष्य पर तीन पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति-ग्रन्थ लिखे जो मीमांसा के आधारस्तम्भ हैं—(१) कारिकाबद्ध विपुलकाय 'श्लोकवार्तिक' प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद का व्याख्यान है। (२) 'तन्त्रवार्तिक' पहले अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय तक की गद्यमयी व्याख्या है तथा (३) 'टुपटीका' अन्तिम नौ अध्यायों की संक्षित टिप्पणी है। पाण्डित्य की दृष्टि से दोनों वार्तिक असाधारण हैं। बौद्धों के सिद्धान्तों का, विशेषतः दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के, सुन्दर पाडित्यपूर्ण समीक्षण कर मीमांसा दर्शन के मान्य सिद्धान्तों की यथार्थता प्रदर्शित की गई है। कुमारिल द्वारा 'बृहट्टीका' और 'मध्यटीका' नामक ग्रन्थों की रचना प्रसिद्ध है, परन्तु ये ग्रंथ अभी तक कहीं नहीं मिले हैं। इनका समय ७म शतक का अन्त तथा ८ म का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

कुमारिल के प्रधान शिष्य प्रतिभामण्डित मण्डन मिश्र थे। शंकर-दिग्विजय के आधार पर प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य के द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये उनके शिष्य बन गये तथा सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए। पर दोनों के सिद्धान्तगत भेद के कारण मण्डन तथा सुरेश्वर की एकता में विद्वानों को सन्देह है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) विधिविवेक (विध्यर्थ का विचार) (२) भावनाविवेक (आर्थी भावना की मीमांसा) (३) विभ्रमविवेक (पाँचों सुप्रसिद्ध ख्यातियों की व्याख्या) (२) मीमांसासूत्रानुक्रमणी (मीमांसासूत्रों का श्लोकबद्ध संक्षेप)। वाचस्पति ने प्रथम ग्रंथ की टीका 'न्यायकणिका' तथा शाब्दबोधविषयक

'तत्वबिन्दु' की रचना की है। उम्बेक कुमारिल के दूसरे शिष्य थे जो उत्तररामचरित आदि नाटकयत्री के रचयिता भवभूति से अभिन्न माने जाते हैं। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की है--(क) भावनाविवेक की टीका तथा (ख) 'तात्पर्यटीका'—'श्लोकवार्तिक' की इस सर्वप्रथम टीका में अल्पाक्षरों में वार्तिक का रहस्योद्घाटन किया गया है। यह ग्रन्थ 'स्फोटवाद' तक ही है। शेष टीका की पूर्ति 'जयमिश्र' ने की है जो कुमारिल के पुत्र बतलाये जाते हैं। उम्बेक श्लोकवार्तिक के मर्मज्ञ माने जाते हैं ('उम्बेकः कारिकां वेत्ति'–गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका पृ०२०)।

भाट्ट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये अनेक माननीय मीमांसकों ने जैमिनि के सूत्रों पर तथा कुमारिल के ग्रन्थों पर सुबोध टीकायें लिखीं। महाव्रत महोदधि के प्रतिस्पर्धी थे। कृष्णयतिमिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय (२।३) तथा भवनाथ ने नवविवेक में इनके मत का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थकारों में तीन आचार्य अपनी ग्रन्थसम्पत्ति तथा विवेचनपद्धति के कारण मीमांसकमूर्धन्य हैं—(१) पार्थसारथि मिश्र (१२ शतक); (२) माधवाचार्य (१४ शतक); (३) खण्डदेव (१७ शतक)।

(१) पार्थसारथि मिश्र ने भाट्टमत के सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए चार ग्रन्थों की रचना की जिनमें दो टीका-ग्रन्थ तथा दो प्रकरण ग्रन्थ हैं। (क) तर्करत्न—टुप्टीका की व्याख्या; (ख) न्यायरत्नाकर—श्लोकवार्तिक की टीका; (ग) न्यायरत्नमाला–जिसमें स्वतःप्रामाण्य, व्याप्ति, आदि सात विषयों की स्वतन्त्ररूपेण विशद समीक्षा है। इस ग्रन्थ पर रामानुजाचार्य (१७ शतक) का 'नायकरत्न' व्याख्यान बड़ोदा से अभी प्रकाशित हुआ है। (घ) शास्त्रदीपिका—इस प्रमेय-बहुल प्रख्यात ग्रन्थरत्न की दो टीकायें प्रसिद्ध हैं—रामकृष्ण भट्ट की तर्कपाद पर (१) युक्तिस्नेहप्रपूरणी और शेषांश पर सोमनाथ की (२)

'मयूखमालिका'। पार्थसारथि के पिता का नाम यज्ञात्मा था तथा ये मिथिला के निवासी माने जाते हैं। श्लोकवार्तिक पर 'काशिका' के कर्ता सुचरित मिश्र तथा तन्त्रवार्तिक की टीका 'न्यायसुधा' के निर्माता सोमेश्वर भट्ट इनके समकालीन थे।

(२) माधवाचार्य—विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक, वेदभाष्य-कर्ता श्री सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता, माधव एक विशिष्ट विद्वान् थे। मीमांसा के अधिकरणों को ग्रहण कर इन्होंने नितान्त लोकप्रिय तथा उपयोगी 'न्यायमालाविस्तर' लिखा है। इनके समकालीन विशिष्टाद्वैता-चार्य वेदान्तदेशिक ने 'मीमांसा पादुका' (तर्कपाद की पद्यात्मिका टीका) लिखी है। इनकी 'सेश्वरमीमांसा' अपूर्व पुस्तक है जिसमें पूर्व तथा उत्तर मीमांसाओं का सामञ्जस्य दिखला कर एक नवीन मार्ग की उद्भावना की गई है।

(३) खण्डदेव मिश्र— इनका नाम भाट्टमत के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। भाट्टमत में 'नव्यमत' के उद्भावक ये ही हैं जो 'नव्य न्याय' के समान दार्शनिक दृष्टि से नितान्त महत्त्व-शाली हैं। ये काशी के ही रहने वाले थे। अन्त समय में संन्यास लेने पर इनका नाम 'श्रीधरेन्द्र यतीन्द्र' था। १७१४ विक्रमी (१६५७ ई०) में देवर्षि ब्राह्मणों के विषय मे जो व्यवस्थापत्र दिया गया था उसमें इनके हस्ताक्षर हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट इन्हीं के शिष्य थे। इसके आठ वर्ष बाद १७२२ विक्रमी में (शिष्य शम्भुभट्ट के कथनानुसार) इनकी मृत्यु हुई। इनके उच्चकोटि के पाण्डित्यमण्डित तीन ग्रन्थ हैं—(क) भाट्टकौस्तुभ (सूत्रों की विस्तृत टीका); (ख) भाट्टदीपिका—अधिकरणप्रस्थान पर निर्मित यह ग्रन्थ खण्डदेव का सर्वस्व है। इसकी तीन टीकायें मिलती हैं—(i)प्रभावली—साक्षात् शिष्य शम्भुभट्ट रचित; (ii) भाट्टचन्द्रिका (भास्करराय रचित), (iii) भाट्ट-

चिन्तामणि [वाञ्छेश्वरयज्वा (१७८०–१८६० ई०) कृत]; (ग) भाट्टरहस्य—शाब्दबोधविषयक अपूर्व ग्रन्थ 'मञ्जूषा' तथा 'व्युत्पत्तिवाद' के समान है। खण्डदेव के विद्यागुरु विश्वेश्वर भट्ट (गागाभट्ट) ने भाट्ट-चिन्तामणि में जैमिनीय सूत्रों पर टीका लिखी है तथा इनके समकालिक सुप्रसिद्ध अप्पयदीक्षित ने सटीक विधिरसायन, उपक्रमपराक्रम, वाद-नक्षत्रवाली तथा चित्रकूट की रचना की है। लोकप्रिय मीमांसान्यायप्रकाश (आपोदेवी) के कर्ता आपदेव तथा उसकी विस्तृत टीका 'भाट्टालंकार' के रचयिता उनके पुत्र विख्यात अनन्तदेव खण्डदेव के समकालीन थे।

इनके अतिरिक्त नारायणभट्ट (१६ शतक) का 'मानमेयोदय', लौगाक्षि भास्कर का 'अर्थसंग्रह', शंकरभट्ट का 'मीमांसा बालप्रकाश' और विधिरसायनदूषण', अन्नंभट्ट को सुबोधिनी (तन्त्रवार्तिक को टीका) तथा राणकोज्जीवनी (न्यायसुधा की व्याख्या), रामेश्वरसूरि की द्वादशलक्षणी की सुबोध टीका 'सुबोधिनी', कृष्णयज्वा की 'मीमांसा परिभाषा' आदि उपयोगी और लोकप्रिय ग्रन्थ है।

गुरुमत के आचार्य

गुरुमत के संस्थापक प्रभाकर मिश्र थे। प्रसिद्धि है कि ये भट्ट कुमारिल के पट्टशिष्य थे जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पनाशक्ति से मुग्ध होकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि दी। तब से इनका उल्लेख 'गुरु' के नाम से किया जाता है। परन्तु इनके ग्रन्थों के अनुशीलन से ये कुमारिल से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं। अतः इनके समयनिरूपण में मतभेद है। भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रभाकर वह जाज्वल्यमान रत्न हैं जिनके व्याख्यानकौशल और बुद्धिवैभव की चमक ने विपश्चितों को चमत्कृत कर दिया है। अपने स्वतन्त्र मत की प्रतिष्ठा के लिए इन्होंने शाबरभाष्य पर दो टीकायें निर्मित की हैं—(१) बृहती या निबन्धन जो प्रकाशित हुई है, (२) लघ्वी या विवरण जो अभी तक

अप्रकाशित है। प्रभाकर की व्याख्यायें उदारतापूर्ण हैं जो किसी कारण सर्वसाधारण में मान्य न हो सकीं। अतः इस मत के ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त अल्प है। ग्रन्थ भी अप्रकाशित ही हैं। गुरुमत की प्रतिष्ठा आचार्य शालिकनाथ ने की। इन्होंने तीन पञ्चिकाओं की रचना की— (१) ऋजुविमला पञ्चिका—बृहती की टीका; (२) दीपशिखा पञ्चिका—लघ्वी पर; (३) प्रकरण पञ्चिका—नितान्त मौलिक प्रकरण ग्रन्थ। ये सम्भवतः मिथिला या बंगाल के निवासी थे और उदयनाचार्य के पूर्ववर्ती थे। अतः इनका समय नवम शताब्दी के लगभग है। शालिकनाथ के सहाध्यायी महोदधि भी गुरुमत के प्रसिद्ध आचार्य थे जिनका कृष्ण मिश्र तथा भावनाथ ने उल्लेख किया है। भवनाथ (या भवदेव) ने शालिकनाथ के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरणार्थ 'नयविवेक' की रचना की जो मीमांसा दर्शन के अधिकरणों की व्याख्या है। इन्होंने वाचस्पति मिश्र के मत का उल्लेख किया है (नयविवेक पृ० २७५) तथा इनके मत का निर्देश आनन्दबोधाचार्य (११ शतक) ने 'शब्द-निर्णयदीपिका' में किया है। अतः भवनाथ को दोनों के बीच में दशम शतक में मानना न्यायसंगत है। नयविवेक की चार टीकायें उपलब्ध हैं—(क) रन्तिदेव का विवेकतत्व; (ख) वरदराज—नयविवेक-दीपिका; (ग) शंकर मिश्र—पञ्चिका; (घ) दामोदर—नयविवेका-लंकार। नन्दीश्वर ने 'प्रभाकर विजय' नामक प्रमाणिक ग्रन्थ का निर्माण किया है। इन्होंने शालिकनाथ तथा भवनाथ का (नाथद्वयाच्च-सारे ऽस्मिन् शास्त्रे मम परिश्रमः, श्लोक ३) तथा पार्थसारथिका उल्लेख किया है और स्वयं श्रीभाष्य के वृत्तिकार सुदर्शनाचार्य द्वारा उल्लिखित है। अतः इनका समय १२००–१३०० के बीच में है। रामानुजाचार्य (१२ वीं शताब्दी) का 'तन्त्र रहस्य' लघुकाय होने पर भी बड़ा सुन्दर है। इसे प्रभाकर मत का प्राइमर (प्रवेशिका) कहना चाहिए। गुरुमत के ये हो सुप्रसिद्ध आचार्य और उनके प्रकाशित ग्रन्थ हैं।

मुरारि मिश्र--मीमांसा में तृतीत सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। उनका व्यक्तित्व और ग्रन्थ विस्मृतिगर्भ में अब तक लीन है। गंगेश उपाध्याय तथा उनके पुत्र वर्धमान उपाध्यय ने अपने ग्रन्थो में मुरारि मिश्र के मत का उल्लेख किया है। मुरारि ने भवनाथ के मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय १२ शतक प्रतीत होता है। ये ही 'त्रिपादीनीतिनयन' और 'एकादशाध्यायाधिकरण' इनके अधिकरण-विवेचनात्मक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं। इनके स्वतंत्र मत का उल्लेख आगे किया जायेगा। सम्भवतः इन्होंने समग्र द्वादशलक्षणी पर टीका लिखी थी।

(२) मीमांसा ज्ञानमीमांसा

अज्ञात तथा सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं (प्रमा चाज्ञाततत्वार्थज्ञानम्—मा० मे० १।२)। अज्ञात कहने से स्मृति और अनुवाद का व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि इनका विषय ज्ञात पदार्थ ही है। पदार्थ को सत्य, वास्तविक होना चाहिए। अतः भ्रम तथा संशय-ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं है। इस प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञातपूर्व वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो तथा दोषरहित हो, वही शास्त्रदीपिका के अनुसार प्रमाण है (कारणदोष-बाधक-ज्ञान-रहितमग्रहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्—शा० दी० १।१।५)। भाट्ट मत में प्रमाण छ प्रकार के हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान (४) शब्द (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि। अद्वैत वेदान्त को भी ये ही प्रमाण मान्य हैं (वेदान्तपरिभाषा पृ० १३) परन्तु प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना न्यायदर्शन के अनुसार ही है, परन्तु अवान्तर बातों में स्थल-स्थल पर पार्थक्य दीख पड़ता है। मीमांसा

प्रत्यक्ष और अनुमान वास्तववादी है। उसकी दृष्टि में यह जगत आभास मात्र न होकर वास्तविक है। मीमांसा को प्रत्यक्ष के

दोनों भेद मान्य हैं। निर्विकल्पक को वह 'आलोचन ज्ञान' कहती है। सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन विशिष्टताओं का पता चलता है, वे निर्विकल्पक दशा में भी विद्यमान रहती हैं। निर्विकल्पक ज्ञान को वैयाकरण, तथा सविकल्पक को बौद्ध नहीं मानते। न्यायसम्मत षड्विध सन्निकर्षों के स्थान में दो ही सन्निकर्ष होते हैं—संयोग और संयुक्ततादात्म्य। भाट्ट मत समवाय नहीं मानता। उसकी दृष्टि में जाति, गुण और कर्म का द्रव्यों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। अतः घटत्व, घटरूप तथा घटकर्म के अनुभव होने में संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष होता है। प्रभाकर संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय तीन ही सन्निकर्ष मानते हैं। भाट्टमत की अनुमान प्रक्रिया नैयायिकों से कतिपय अंश में भिन्न है (विशेषतः हेत्वाभास के विषय में)। पञ्चावयव वाक्य के स्थान पर मीमांसा तथा वेदान्त तीन ही वाक्य मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त, उपनय और निगमन (मानमेयोदय पृ० ६४; वेदान्तपरिभाषा पृ० ९२)।

उपमान दृश्यमान वस्तु के सादृश्य से इन्द्रिय-सन्निकृष्ट न होने पर भी, स्मरण की जाने वाली वस्तु के सादृश्य-ज्ञान को उपमिति कहते हैं। (मा० मे० पृ० १०८)। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य को धारण करने वाली वस्तु उस समय दृष्टिगोचर नहीं होती। स्मृति से भी यह भिन्न है। जिस समय किसी पदार्थ का ज्ञान होता है, उस समय अन्य वस्तु के साथ उसकी सदृशता का अनुभव हमें नहीं होता। अतः यह सादृश्य ज्ञान स्मरण के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता। व्याप्ति के दूषित होने के कारण इसे न अनुमान के, न शब्दप्रमाण के ही अन्तर्गत कर सकते हैं। इसी कारण इस ज्ञान को एक स्वतन्त्र प्रमाण का रूप दिया गया है। मीमांसक नैयायिक-उपमान के स्वरूप को सत्यभूत नहीं मानते।

ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के

अर्थ का ज्ञान होना 'शाब्दी' प्रमा कहलाता है। वाक्य दो प्रकार के होते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य की प्रमाणता तभी मानी जाती है, जब वह आप्त पुरुष के द्वारा व्यवहृत किया गया हो। अपौरुषेय शब्द स्वयं श्रुति है। वाक्य दो प्रकार का और माना जाता है-किसी पदार्थ की सत्ता के प्रदर्शित करने वाले वाक्य को 'सिद्धार्थक वाक्य' कहते हैं तथा किसी अनुष्ठान के प्रेरक वाक्य को 'विधायक वाक्य' कहते हैं जो उपदेशक तथा अतिदेशक होने से द्विविध माना जाता है (शास्त्रदीपिका पृ० २०४)।

शब्द

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन है। धर्म के लिए प्रमाणभूत वेद हैं। अतः मीमांसा ने वेद के स्वरूप तथा प्रमाणिकता को प्रदर्शित करने के लिए बड़ी सबल युक्तियाँ दी हैं। बौद्धों और नैयायिकों के मतों का खण्डन मीमांसा करती है। ईश्वर को न मानने के कारण वेदों का कोई भी कर्ता नहीं है। वेद नित्य हैं तथा पुरुषनिर्मित न होने से अपौरुषेय हैं (मीमांसा सूत्र १।१।२७—३२)।

वेदों की नित्यता का सर्वश्रेष्ठ साधक प्रमाण शब्दों की नित्यता है। कानों से सुनाई पड़ने वाली ध्वनि अनित्य है, वह केवल शब्द के स्वरूप की सूचिका है। शब्द स्वयं नित्य हैं। सबसे सबल तथा प्रसिद्ध युक्ति यह है कि उच्चरित ध्वनि ही यदि वास्तव में शब्द होती, तो एक ही शब्द के दस बार उच्चारण करने पर दस शब्दों का अनुभव होता, पर होता है एक ही शब्द का। अतः उच्चारण शब्द को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत उसके रूप का आविर्भाव करता है। अतः उच्चारण के ऊपर अवलम्बित न होने से शब्द नित्य है। शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी स्वाभाविक तथा नित्य[1] है। वेद नित्य शब्दसमूहात्मक हैं। अतः वे भी नित्य हैं[2]।

---

१ औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः—मीमांसा सूत्र १।१।५
२ श्लो० वा० पृ० ७२७—८६४, शा० दी० १।१।५।

अनित्य ध्वनि से अर्थ सिद्धि न होते देख वैयाकरणों ने वर्णक्रम-हीन निरवयव नित्य शब्द की कल्पना की है जिसे वे 'स्फुटत्यर्थोऽस्मात्' (जिससे अर्थ स्फुटित हो) इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट नाम से अभिहित करते हैं[1]। पर शब्द स्फोट से बढ कर वाक्य-स्फोट होता है जिसमें नित्य निरवयव अखण्ड वाक्य अखण्ड निरवयव वाक्यार्थ का बोध कराता है। यह वाक्यस्फोट ही नित्य है, तदंगभूत वर्ण तथा पद मृषा हैं। मीमांसा इस सिद्धान्त की युक्तियुक्तता स्वीकार नहीं करती। उसका कहना है कि वर्ण, पद तथा अवान्तर वाक्यों को मिथ्या मानने पर तत्प्रतिपाद्य प्रयाजादि अनुष्ठानविशेषों को भी मिथ्या ही मानना पड़ेगा जिससे मीमांसा के मूल के ही उच्छेदन की आशंका है। शब्दा-द्वैत मानने वाले वैयाकरण जगत् को कल्पनात्मक मानते हैं, वास्तव नहीं। केवल स्फोट ही नित्य है, पर जगत् का व्यवहार उसके अंगों को लेकर चलता है। अतः जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या हैं। भर्तृहरि का यह कथन सयुक्तिक है कि बालकों को शिक्षा देने के समान असत्य मार्ग में चल कर सत्य की उपलब्धि की जाती है[2]। अतः जगत् का मिथ्यात्व व्याकरण-सम्मत है। परन्तु वास्तव-वादी मीमांसक जगत् के पदार्थों की सत्ता वास्तविक मानते हैं। अतः स्फोटवाद का आश्रय उनके सिद्धान्त से विरुद्ध है। इस प्रकार मीमांसा की दृष्टि में वर्णात्मक शब्द ही नित्य होता है, न तु स्फोटात्मक। आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (श्लोक १३७) में स्फोटवाद-खण्डन का

---

१ न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः।
अर्थस्य वाचका वर्णाः किन्तु स्फोटः स च द्विधा॥
शेषकृष्ण—स्फोटतत्त्वनिरूपण, श्लो० २।

२ उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ —वाक्यपदीय

उपसंहार बड़े सुचारु रूप से इसी युक्ति से किया है[१]।

लौकिक ज्ञान के लिए आप्त पुरुष का कथन प्रमाण माना जा सकता है, पर धर्म का प्रतिपादन केवल अपौरुषेय वेद ही करते हैं। अतः धर्म के लिए वेदों की ही प्रामाणिकता सब से अधिक है। वेद के विषय-विभाग का विवेचन मीमांसकों ने बड़े विस्तार तथा छानबीन के साथ किया है[२]। वेद के ५ प्रकार के विषय हैं—(१) विधि, (२) मन्त्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। 'स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' इस प्रकार के प्रवर्तनागर्भित वाक्यों को 'विधि' कहते हैं। अनुष्ठान के अर्थ-स्मारकों को 'मन्त्र' के नाम से पुकारते हैं। यज्ञों के नाम को 'नामधेय' संज्ञा है। अनुचित कार्य से विरत होने को 'निषेध' कहते हैं तथा किसी पदार्थ के सच्चे गुणों के कथन को 'अर्थवाद' का नाम दिया गया है। इन पाँच विषयों के होने पर भी वेद का तात्पर्य विधिवाक्यों में ही है। अन्य चारों विषय उनके केवल अंगभूत हैं तथा पुरुषों को अनुष्ठान के लिए उत्सुक बनाकर विधिवाक्यों को ही सम्पन्न किया करते हैं। 'विधि' का विचार मीमांसा के लिए प्रधान विषय है। विधि चार प्रकार की होती है। कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली विधि 'उत्पत्ति विधि' है। अंग तथा प्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध-बोधक विधि को 'विनियोग विधि', कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व को कहनेवाली विधि को 'अधिकार विधि', तथा प्रयोग के प्राशुभाव (शीघ्रता) के बोधक विधि को 'प्रयोग विधि' कहते हैं। विध्यर्थ के निर्णय करने में सहायक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक षट्प्रमाणों को मीमांसा

वेद-विषय विभाग

---

१. वर्णातिरिक्तः प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दं फलमादधाति।
कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः॥

२. देखिए अर्थसंग्रह पृ० १० तथा मीमांसा-परिभाषा पृ० ३।

स्वीकार करती है। उसके द्वारा निर्णीत सिद्धान्तों का उपयोग हिन्दू स्मृतियों की व्याख्या करने में प्रधान रूप से किया जाता है।

अर्थापत्ति पंचम प्रमाण है। दृष्ट या श्रुत अर्थ की उपपत्ति जिस अर्थ के अभाव में न होती हो, तो उसे अर्थापत्ति कहते है। अर्थात्

अर्थापत्ति

किसी अर्थ की अर्थान्तर के बिना अनुपपत्ति देखकर उसकी उपपत्ति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है वह अर्थापत्ति कहलाती है[1]। उदाहरण के लिए उस व्यक्ति की दशा पर विचार कीजिए जो दिन में नित्य उपवास धारण किये हुए है, परन्तु फिर भी मोटा होता जा रहा है। यहाँ उपवास करना तथा मोटा होना—इन दोनों का परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। अतः इस विरोध के दूर करने के लिए 'यह रात में अवश्य भोजन करता होगा' इस अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति है; क्योंकि बिना इसका आक्षेप किये पूर्वोक्त वाक्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण बतलाने के लिए मीमांसकों ने बड़ी प्रबल युक्तियों को अवतारणा की है (शास्त्रदीपिका पृ० ४१४-४१२)। इसका विशेष उपयोग हमारे दैनिक जीवन के लिए तथा वाक्यों के अर्थ समझने के लिए है।

अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं—(१) दृष्टार्थापत्ति-जहाँ देखी गई किसी वस्तु की उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना की जाती है जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त। (२) श्रुतार्थापत्ति-जहाँ किसी वस्तु की उपपत्ति के लिए अन्य शब्द की कल्पना होती है जैसे 'पिधेहि' ('बन्द करो') पद को सुनते ही 'द्वारं' (द्वार को) पद की कल्पना की जाती है (मा० मे० पृ० १२९-१३०)।

ये पाँचों प्रमाण भावपदार्थों की उपलब्धि के साधक हैं, पर अभाव

---

१ अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना—शाबरभाष्य (१।१।५)।

की उपलब्धि के बोधक प्रमाण की भी आवश्यकता है। हमारी इन्द्रियाँ भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को बतला सकती हैं, अभाव को नहीं। अतः अनुपलब्धि की स्वतंत्र सत्ता है। यदि लेखनी होती तो अवश्य उपलब्ध होती, पर इस समय वह उपलब्ध नहीं हो रही है। अतः वस्तु की अनुपलब्धि उसके अभाव को सूचित कर रही है। साधारण अनुपलब्धि से किसी पदार्थ के अभाव का पता नहीं चलता, अन्यथा अन्धकार में अदृश्य तथा अनुपलभ्यमान वाटिका के वृक्षों का भी अभाव सिद्ध हो जायगा। अतः यहाँ 'योग्या-नुपलब्धि' का ग्रहण करना चाहिए। किसी पदार्थ की उपलब्धि के समग्र साधन उपस्थित हैं, पर फिर भी उस पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो रही है। इससे उसका अभाव सिद्ध होता है। अनुपलब्धि को भाट्ट-मीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त स्वतन्त्र प्रमाण मानता है। प्रभाकर अभाव को अधिकरणरूप मानकर इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। (तन्त्ररहस्य पृ० १६–१६)।

अनुपलब्धि या अभाव

इन ६ प्रमाणों के द्वारा लौकिक तथा शास्त्रीय प्रमेयों की सत्ता सप्रमाण सिद्ध की जा सकती है। रामायण में इन्हीं छ युक्तियों के द्वारा लोक-व्यवहार की साधना स्वीकृत की गई है:—

राम ! षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते।

प्रामाण्यवाद के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर मीमांसकों ने बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका संघर्ष परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकों के साथ बड़ा प्रबल है। संक्षेप में नैयायिक मत यह है कि विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर 'अयं घटः' इत्याकारक व्यवसायात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसके अनन्तर 'घटमहं जानामि' (मैं घड़े को जानता हूँ) इत्याकारक अनुव्यवसाय का जन्म होता है, अनन्तर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की स्मृति और

प्रामाण्यवाद

तदनन्तर उस प्रत्यक्षज्ञान के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है। पीछे प्रवृत्ति के चरितार्थ होने पर ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है। अतः अनुमान के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति होनेपर प्रामाण्य 'परतः' स्वीकृत किया जाता है। परन्तु मीमांसा 'स्वतः प्रामाण्यवाद' मानती है, परन्तु तीनों सम्प्रदायों के अनुसार इसमें भी विशिष्टता है—(क) प्रभाकर के मत से ज्ञान स्वतःप्रकाश है। ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है। जिस प्रकार प्रकाश दृश्यमान घटपटादि पदार्थ को, अनन्तर अपने आपको, पश्चात् आश्रयभूत दीपक की बत्ती को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान प्रथमतः इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को प्रकाशित करता है, अनन्तर अपने आप को और पीछे ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा को प्रकट करता है। अतः प्रत्येक प्रत्यक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। इसका नाम है—त्रिपुटीप्रत्यक्ष। 'स्वतः' का अर्थ है 'स्वज्ञानजनकसामग्रीतः'। अतः ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञान की जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उदित होता है[१]। (ख) कुमारिल का अनुभवविश्लेषण भिन्न प्रकार का है। घट के ज्ञान होने पर 'ज्ञातो घटः' (घड़ा मेरे द्वारा जाना गया है) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे पता चलता है कि प्रत्यक्षविषय घट में 'ज्ञातता' नामक धर्म का उदय होता है। कुमारिल की सम्मति से ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्युत ज्ञान के धर्मविशेष 'ज्ञातता' ही का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष से पूर्व अज्ञात घट प्रत्यक्ष के अनन्तर ज्ञात—परिचित—हो जाता है। अतः ज्ञान का फल अनुभवविषय में 'ज्ञातता' की उत्पत्ति है। इसी 'ज्ञातता' से ज्ञान का तथा प्रामाण्य का उदय होता है[२]। (ग मुरारिमिश्र के

१ न्यायकन्दली पृ० ६१, शास्त्रदीपिका पृ० २१३-२१४, तन्त्ररहस्य पृ० ५-८, प्रकरणपञ्चिका पृ० ३८-५३

२ न्यायरत्नमाला पृ. २१-२५, शा० दी० पृ. ९७-१०६ मा० मे० पृ. ४-६

मत पर न्याय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे ज्ञान का प्रत्यक्ष ही मानते हैं। प्रथमतः इन्द्रियसंयोग होने पर वस्तु का व्यवसायात्मक ज्ञान होता है। अनन्तर 'घटमहं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रामाण्य का उत्पादक होता है। यहाँ मुरारि का अपना विशिष्ट मत है[1] जो न्यायमत से कतिपय अंशों में समान होने पर भी भिन्न है। इन तीनों मीमांसकमतों की तारतम्य-परीक्षा करने पर मथुरानाथ तर्कवागीश[2] की सम्मान्य सम्मति है कि प्रभाकर का ही मत पक्का 'स्वतः प्रामाण्यवाद' है, अन्य मतों में न्यायमत के समान ही परतःप्रमाण्य का ही सिद्धान्त मान्य है।

भ्रमज्ञान

भ्रमज्ञान के विषय में मीमांसकों के विशिष्ट मत हैं। प्रभाकर के मत में समस्त ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। परन्तु शुक्ति में रजत का, रस्सी में सर्प का, भ्रम भी आबालवृद्ध-परिचित है। इस विषय की मीमांसा प्रभाकर ने इस प्रकार की है। 'इदं रजतम्' ऐसी भ्रान्ति की उपलब्धि में केवल 'इदमंश' प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। चक्षु 'इद' पदार्थ के अस्तित्व की ही सूचना देकर विरत हो जाती है। 'रजत' अंश प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, क्योंकि वहाँ वह पदार्थ अविद्यमान है। अन्यत्र देखे गये रजत का केवल स्मरणमात्र हो जाता है। दोनों अपने अपने स्थानों पर सत्यरूप हैं, पर स्मृतिप्रमोष होने के कारण उपलभ्यमान 'इदं पदार्थ'

---

१ मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्-प्रामाण्यग्रहः इति मुरारिमिश्राः। वर्धमान कुसुमाञ्जलि प्रकाश पृ० २१९।

२ स्वतः स्वाश्रयजनकसामग्रीतः। स्वं प्रमात्वम्। एतच्च गुरुमते। परतः तदन्यसामग्रीतः। एतच्च मिश्रमत-भट्टमत-न्यायमतेषु ॥
—चिन्तामणिरहस्य पृ० ११७।

तथा स्मर्यमाण 'रजत' पदार्थ के पारस्परिक भेदग्रहण न होने से ही यह भ्रम उत्पन्न होता है। तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के ही भांति इनके विषय—रजत तथा शुक्ति—में विवेक के ग्रहण न होने से भ्रमज्ञान के लिए अवकाश बना रहता है (ज्ञानयोः विषययोश्च विवेकाग्रहात् भ्रमः)। शुक्ति तथा रजत का ज्ञान दोनों अपने अपने विषयों में यथार्थ हैं[1]। परन्तु इस स्थान पर अनुभव होता है चमक का, और स्मरण होता है रजत का। इस गड़बड़ी के कारण ही यह भ्रान्ति है। प्रभाकर इसे 'विवेकाग्रह' कहते हैं। इसी का नाम 'अख्याति' भी है[2]।

कुमारिल तथा मुरारि मिश्र नैयायिकों के मत को मानते हैं। शुक्ति-विषयक ज्ञान शुक्तित्वप्रकारक होता है और रजत-विषयक ज्ञान रजतत्व-प्रकारक होता है। शुक्तित्व तथा रजतत्व धर्मविशेष हैं जो शुक्ति, रजत में समवायसम्बन्ध से रहते हैं और जिससे वे कथमपि पृथक् नहीं किये जा सकते। परन्तु शुक्ति में रजत ज्ञान होने के अवसर पर शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान होता है अर्थात् अन्य विषय (शुक्ति) में अन्य (रजतत्त्व) प्रकारक ज्ञान है। अतः अन्यथा, भिन्नरूप से, ज्ञान होने से यह ज्ञान 'अन्यथाख्याति' कहलाता है। भट्टमीमांसक इसे ही विपरीतख्याति के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि इसमें अकार्य का कार्य-रूप से भान होता है (अकार्यस्य कार्यतया मानम्)।

(३) मीमांसक तत्त्वसमीक्षा

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से मीमांसा प्रपंच की नित्यता स्वीकार करती है,

---

१ रजतमिदमिति नैकं ज्ञानं, किन्तु द्वे एते विज्ञाने। तत्र रजतमिति स्मरणं तस्यानुभवरूपत्वान्न प्रामाण्यप्रसंगः। इदमिति विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिष्यत एव। भ्रान्तिरूपता चात्र रजतज्ञानस्य स्मरणरूपस्यैव ग्रहण-व्यवहारप्रवर्तकतया व्यवहारकाले विसंवादकत्वात्—प्रकरणपञ्चिका पृ. ४३।

२ नयविवेक पृ० ८६–९३। तन्त्ररहस्य पृ० २–५।

पर पदार्थों की कल्पना में प्रभाकर, कुमारिल और मुरारि में मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्रभाकर ८ पदार्थों की सत्ता मानते हैं[1]—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें द्रव्य, गुण तथा कर्म के स्वरूप का वर्णन वैशेषिकों के समान ही है। सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् नहीं मानी जाती; वह व्यक्तियों में ही रहता है। 'परतन्त्रता' वैशेषिकों का समवाय है। यह जाति तथा व्यक्ति के बीच विद्यमान सम्बन्ध है। यह नित्य नहीं है, क्योंकि यह अनित्य पदार्थों में भी रहता है। केवल द्रव्य, गुण तथा कर्मों में कार्यजनकता नहीं है, प्रत्युत शक्ति से सम्पन्न होने पर ही इनसे कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः शक्ति नामक एक नवीन पदार्थ की कल्पना युक्तियुक्त मानी जाती है। न्यायदृष्टिमें शक्ति प्रतिबन्धकाभाव रूप है और सादृश्य तथा संख्या गुण के अन्तर्गत हैं।

(क) पदार्थ

कुमारिल के अनुसार पदार्थों की संख्या केवल पाँच है। पदार्थों के दो विभाग हैं—भावात्मक तथा अभावात्मक। अभाव के वैशेषिकों के समान चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। भाव पदार्थों के चार भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, तथा सामान्य। वैशेषिक मत में नव ही द्रव्य है, भाट्ट मत में अन्धकार और शब्द दो नये द्रव्य माने जाते हैं (मा० मे० पृ० १५९)। 'नीलं तमश्चलति' (नीलरंग का अन्धकार प्रकाश आने पर चलता है) इस व्यवहार के ऊपर अन्धकार में नील गुण तथा चलनात्मक कर्म को विद्यमान मानकर उसे द्रव्य का स्वरूप प्रदान किया गया है, पर प्रभाकर तथा वैशेषिक लोग इसे प्रकाश का अभाव मानते हैं तथा इसके गुण और कर्म को उपाधिजन्य मानते हैं, वास्तविक नहीं। गुण आदि के विभाग का वर्णन न्याय-वैशेषिक के ही समान सामान्य रूप से है।

---

१ द्रष्टव्य तन्त्ररहस्य पृ० २०–२४।

मुरारि मिश्र की पदार्थकल्पना दोनों से भिन्न है। ब्रह्म ही एक परमार्थभूत पदार्थ है, परन्तु लौकिक व्यवहार की उपपत्ति के लिए अन्य चार पदार्थ हैं—(क) धर्मिविशेष—नियत आश्रय, जैसे घटत्व का आश्रय घट; (ख) धर्मविशेष—नियत आधेय, जैसे घट का घटत्व; (ग) आधारविशेष—अनियत आधार, जैसे 'इदानीं (इस समय का) घटः' 'तदानीं घटः' में कालबोधक इदानीं तथा तदानीं पद घट के अनियत आधार हैं; (घ) प्रदेशविशेष - दैशिक आधार - 'गृहे घटः, 'भूतले घटः' में घट का गृह और भूतल देशसम्बन्धी अनियत आधार हैं (ब्रह्मैकं, व्यवहारे तु धर्मिधर्माधारप्रदेशविशेषाः पञ्च पदार्था इति वेदान्ता मुरारिमिश्राश्च—न्यायमाला)।

हमारी इन्द्रियाँ ही बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि के साधन हैं। उनके द्वारा जगत् की जिस रूप में उपलब्धि होती है, उसी रूप में जगत् की सत्यता है[1]। इस संसार में तीन प्रकार की वस्तु का ज्ञान हमें होता है—(१) शरीर, जिनमें रहकर आत्मा सुख दुःख का अनुमान करता है (भोगायतन); (२) इन्द्रियाँ, जिनके द्वारा आत्मा सुखदुःख का भोग किया करता है (भोगसाधन), (३) बाह्य पदार्थ, जिनका भोग आत्मा किया करता है (भोगविषय)।

(ख) जगत्

इन त्रिविध वस्तुओं से युक्त नानारूपात्मक यह प्रपञ्च अनादि तथा अनन्त है। मीमांसा जगत् को मूल सृष्टि तथा आत्यन्तिक प्रलय नहीं मानती। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त करते रहते हैं; जगत् की सृष्टि तथा नाश कभी नहीं होता। कुछ मीमांसक लोग अणुवाद को स्वीकार करते हैं[2]। जगत् के वस्तुजात

---

१ तस्माद्यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथ वेतरत् ॥—श्लो० वा० पृ० ४०४।

२ अणुवाद के समर्थन में द्रष्टव्य प्रभाकरविजय पृ० ४३-४६। कुमारिल अणुवाद को मीमांसा का सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं मानते।

अणु से उत्पन्न हुए हैं। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल की समाप्ति होने पर विच्छेद के कारण ये अवान्तर परिवर्तन प्राप्त हो जाते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन में भी जगत् की उत्पत्ति परिमाणुओं से मानकर परिमाणुवाद का स्वीकार किया गया है, पर दोनों दर्शनों के अभिप्रेत परिमाणुवाद में अनेक अंश में भेद दीख पड़ता है। न्याय परिमाणुओं को हमारे लिए प्रत्यक्ष-सिद्ध न मानकर अनुमानैकगम्य मानता है। सूर्य किरण में छिद्रगत होने पर जो सूक्ष्म द्रव्य दीख पड़ते हैं, वे त्रसरेणु कहलाते हैं और उनके षष्ठ भाग को परमाणु मानते हैं। पर मीमांसकों को यह मत अभीष्ट नहीं है। हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, इनसे भी सूक्ष्म कणों की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। न्याय उसे योगिप्रत्यक्ष का विषय मानता है, पर मीमांसा योगजप्रत्यक्ष को अस्मदादि प्रत्यक्ष से विलक्षण नहीं मानती। अतः हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, यही मीमांसा के मत का निष्कर्ष है (मानमेयोदय पृ० १६४)। जगत् का यही मीमांसा-सम्मत स्वरूप है:—

> जालरन्ध्रविसरद्रवितेजोजालभासुरपदार्थविशेषान् ।
> अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः ॥

आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता दोनों है। वह व्यापक और प्रतिशरीर में भिन्न है। ज्ञान, सुख, दुःख तथा इच्छादि गुण उसमें समवाय सम्बन्धेन रहते हैं। आत्मा ज्ञानसुखादिरूप नहीं है। न्याय वैशेषिक मत के विपरीत भाट्ट मीमांसक आत्मा में क्रिया के अस्तित्व को मानते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं स्पन्द

(ग) आत्मा

मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः ।
यद्बलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्वं कल्पयेद् भवान् ॥ श्लो० वा० पृ० ४०४।

तथा परिणाम। इनमें आत्मा में स्पन्द (स्थान-परिवर्तन) नहीं होता[1] पर परिणाम (रूप-परिवर्तन) होता है। कुमारिल परिणामी वस्तु की भी नित्यता मानते हैं। उनके मत से परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है। आत्मा में चित् तथा अचित् अंशद्वय होते हैं। इसमें चिदंश से आत्मा प्रत्येक ज्ञान का अनुभव करने वाला है, पर अचिदंश से वह परिणाम को प्राप्त करता है। सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्नादि, जिन्हें न्यायवैशेषिक आत्मा के विशेष गुण बतलाते हैं, भाट्टमत में आत्मा के अचिदंश के परिणाम स्वरूप हैं[2]। वेदान्तियों के मत से विपरीत, कुमारिल आत्मा को चैतन्य-स्वरूप नहीं मानते, प्रत्युत चैतन्यविशिष्ट मानते हैं। अनुकूल परिस्थिति में (शरीर तथा विषय से संयोग होने पर) आत्मा में चैतन्य का उदय होता है, पर स्वप्नावस्था में विषय-सम्पर्क से रहित होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। आत्मा इस प्रकार जड़ तथा बोधात्मक दोनों प्रकार का है। प्रभाकर आत्मा में क्रियावत्ता नहीं मानते। कुमारिल के अनुसार आत्मा मानस-प्रत्यक्ष से गम्य है। 'अहमात्मानं जानामि' (मैं अपने को जानता हूँ) इस अनुभव-वाक्य में कर्ता अपने अस्तित्व को जानने वाला बतलाया गया है। इस आत्म-प्रत्यय का विषय 'आत्मानं' कौन है? यही आत्मा। इस तरह कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता तथा विषय दोनों मानते हैं, पर प्रभाकर आत्मा को अहंप्रत्ययवेद्य ('अहं' पद के द्वारा जाना गया) मानते हैं। प्रत्येक ज्ञान के कर्ता-रूप में आत्मा की सत्ता है। 'घटमहं जानामि'

---

१ यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्द एवैकः क्रियां नः कणभोजिवत्॥ श्लो० वा० पृ० ७०७।

२ चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन। ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा अहंप्रत्ययेनैव वेद्यः॥
काश्मीरक सदानन्द—अद्वैतब्रह्मसिद्धि।

'मैं घड़े को जानता हूँ' इस अनुभव-वाक्य में घटज्ञान का कर्ता आत्मा है। अतः प्रत्येक ज्ञान के कर्तृत्वेन आत्मा का अस्तित्व मानना युक्ति-संगत है (मा० मे० पृ० १६२–१६४)।

(५) मीमांसक आचारमीमांसा

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है। जैमिनि ने धर्म का लक्षण किया है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२)। 'चोदना' के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। चोदना का अर्थ है क्रिया का प्रवर्तक वचन अर्थात् वेद का विधिवाक्य। चोदना भूत भविष्य वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को बतलाने में जितनी समर्थ है, उतना सामर्थ्य न तो इन्द्रियों में है न अन्य किसी पदार्थ में (चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यतं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्ट-मित्येवजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं, नान्यत् किञ्च, नेन्द्रियम्–शाबर-भाष्य १।१।२)। मीमांसकों की माननीय सम्मति मे भगवती श्रुति का तात्पर्य क्रियापरक ही है। 'विधि' का प्रतिपादन ही वेदवाक्यों का मुख्य तात्पर्य है (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् मी० सू० १।२।१)। अतः ज्ञान-प्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध प्रतिपादन करने के कारण परम्परया क्रियापरक हैं। उन्हें सामान्यतः 'अर्थवाद' कहते हैं। इसीलिए किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यागादि अर्थ 'धर्म' कहलाता है। इन अर्थों के विधिवत् अनुष्ठान करने से पुरुषों को निःश्रेयस की—दुःखों की निवृत्ति करने वाले स्वर्ग की—उपलब्धि होती है। यथा 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे) इस वाक्य मे 'यजेत' क्रियापद के द्वारा 'भावना' की उत्पत्ति मानी जाती है। 'भावना' का लक्षण आपदेव ने किया है—भवितुर्भवनानुकूलः भावकव्यापारविशेषः (मीमांसान्यायप्रकाश पृ० २) अर्थात् उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजकनिष्ठ व्यापार या प्रेरणा। वैदिक

वाक्यों को सुन कर उन क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए जो 'प्रेरणा' होती है, वही मीमांसा में 'भावना' कही जाती है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कैन्ट के सिद्धान्त में ऐसी प्रेरणा 'कैटेगारिकल इम्परेटिव' ('शुद्धप्रेरणा') के नाम से अभिहित की गई है। भावना दो प्रकार की होती है—शाब्दी भावना और आर्थी भावना। 'यजेत' इस क्रियापद में दो अंश हैं—धातु यज् तथा लिङ् लकार। लिङ् लकार-जन्य भावना शाब्दी और आख्यात-जन्य भावना आर्थी कहलाती है। संसार में 'सन्ध्यावन्दन करो' इस वाक्य में प्रवृत्ति के अनुकूल आचार्य आदि प्रेरक पुरुषों में रहने वाला अभिप्राय 'भावना' कहलाता है, परन्तु वेद के कर्ता न होने से यह अभिप्राय लिङ्-लकारनिष्ठ माना जाता है। अतः यह शाब्दी भावना है। स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले, याग के सम्पादनार्थ पुरुषविषयक प्रयत्न को आर्थी भावना कहते हैं जो धात्वंश से अभिव्यक्त की जाती है।

'भावना' का सिद्धान्त मीमांसादर्शन का सर्वस्व है। अतः इसकी समुचित व्याख्या करने के लिए आचार्यों के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं[1] जिनमें मण्डनमिश्र का 'भावनाविवेक' नितान्त प्रख्यात है। इस प्रकार धर्म की साक्षात् प्रतिपादिका श्रुति है। श्रुत्यर्थ के अनुगमन करने के लिए कारण स्मृति का भी प्रामाण्य है। सदाचार को धर्मनिर्णायक सिद्ध करने के लिए तन्त्रवार्तिक (१।३।७, पृ० २०३-२१५) में कुमारिल ने बड़ी मीमांसा की है और उसकी युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। आत्मतुष्टि धर्म में चतुर्थ तथा अन्तिम प्रमाण है[2]।

वेदविहित कर्मों के फलों के विषय में मीमांसकों में दो मत दृष्टि-गोचर होते हैं। यह तो प्रसिद्ध है कि दुःख की निवृत्ति और सुख की

---

१ द्रष्टव्य तन्त्रवार्तिक २।१।१, आपदेव—मीमांसान्यायप्रकाश पृ० २-५।

२ यथा रुमायां लवणाकरेषु मेरौ यथा वोज्ज्वलरत्नभूमौ।
यज्जायते तन्मयमेव तत् स्यात् तथा भवेद् वेदविदात्मतुष्टिः॥
—तन्त्रवार्तिक पृ० २०७।

प्राप्ति प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य होता है। प्राणियों की कर्मविशेष के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तभी होती है जब इससे किसी इष्ट, अभिलषित पदार्थ के सिद्ध होने का ज्ञान उन्हें होता है। अतः कुमारिल की दृष्टि में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में 'इष्टसाधनताज्ञान' कारण है, परन्तु प्रभाकर 'कार्यता ज्ञान' को कारण अंगीकार करते हैं। वेदविहित कृत्यों का अनुष्ठान कर्तव्यबुद्ध्या करना चाहिये, उनसे न सुख पाने की आशा रखे, न अन्य किसी फल पाने की चाह। कुमारिल का कथन है कि काम्य-कर्म कामना विशेष की सिद्धि के लिए किए जाते हैं, पर प्रभाकर का मत है कि काम्य कर्म में कामना का निर्देश सच्चे अधिकारी की परीक्षा करने के लिए है— वैसी कामना रखने वाला पुरुष उस कर्म का सच्चा अधिकारी सिद्ध होता है। पर 'नित्यकर्म' के विषय में मतपार्थक्य नितान्त स्फुट है। कुमारिल के मत में नित्यकर्म (यथा सन्ध्यावन्दन आदि) के अनुष्ठान से दुरितक्षय (पाप का नाश) होता है, और अनुष्ठान के अभाव में प्रत्यवाय उत्पन्न होता है। परन्तु प्रभाकर की सम्मति में नित्यकर्मों का अनुष्ठान वेदविहित होने के कारण ही कर्तव्य है। वेद की अनुल्लंघनीय आज्ञा है कि दिन प्रतिदिन सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए (अहरहः सन्ध्यामुपासीत)। बस, इसी उद्देश्य से, कर्तव्य कर्म होने की दृष्टि से इन कृत्यों का सम्पादन करणीय है। अतः निष्काम-कर्मयोग की दृष्टि से कार्यों का निष्पादन प्रभाकर को माननीय है। इस सिद्धान्त पर श्रीभगवद्गीता के 'कर्मयोग' का विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वेदप्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के होते हैं: (क) काम्य—किसी कामनाविशेष के लिए करणीय कार्य; जैसे 'स्वर्गकामो यजेत', (ख) प्रतिषिद्ध—अनर्थ उत्पादक होने से निषिद्ध जैसे 'कलञ्जं न भक्षयेत्' (विषदिग्ध शस्त्र से मारे गये पशु का मांस न खाना चाहिए); (ग) नित्य नैमित्तिक—अहेतुक करणीय कर्म; जैसे सन्ध्यावन्दन नित्य कर्म है और

अवसर-विशेष पर अनुष्ठेय श्राद्धादि कर्म नैमित्तिक। अनुष्ठान करते ही फलकी निष्पत्ति सद्यः नहीं होती, प्रत्युत कालान्तर में होती है। अब प्रश्न यह है कि फलकाल में कर्म के अभाव में वह फलोत्पादक किस प्रकार होता है? मीमांसकों का कहना है कि 'अपूर्व' के द्वारा। प्रत्येक कर्म में 'अपूर्व' (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है[1]। कर्म से होता है अपूर्व और अपूर्व से होता है फल। अतः 'अपूर्व' कर्म तथा फल के बीच की दशा का द्योतक है। शंकराचार्य ने इसीसे अपूर्व को कर्म की सूक्ष्मा उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है[2]। 'अपूर्व' को कल्पना मीमांसकों की कर्मविषयक एक मौलिक कल्पना मानी जाती है।

ईश्वर

हमारे अचेतन कर्मों के फल का दाता कौन है? बिना किसी चेतन पुरुष की अधिष्ठातृता के कर्म स्वकीय फल उत्पन्न करने में नितरां असमर्थ है। अतः ब्रह्मसूत्र में तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तिम फलाधिकरण में आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं। पर जैमिनि[3] के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत्फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं। ब्रह्मसूत्र तथा प्राचीन मीमांसाग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध मानी नहीं जाती, पर पीछे के मीमांसकों को यह त्रुटि बेतरह खटकी और इसके मार्जनार्थ उन लोगों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में स्वीकार

---

१ यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते॥
—तन्त्रवार्तिक पृ० ३९५।

२ न चाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्वं, कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फल दातुं शक्नोति, अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था, फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते—शा० भा० ३।२।४०।

३ धर्मं जैमिनिरत एव—ब्र० सू० ३।२।४०।

किया। आपदेव तथा लौगाक्षिभास्कर ने गीता के ईश्वरसमर्पण सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कार्यों के फल को ईश्वर को समर्पण कर देने की बात लिखी है[1]। वेदान्तदेशिक ने इसी उद्देश्य से 'सेश्वरमीमांसा' नामक ग्रन्थ की रचना की है। 'प्रभाकर विजय' में सुचारु युक्तियों के प्रयोग से ईश्वरविषयक अनुमान का खण्डन किया गया है और ईश्वरसिद्धि को स्पष्टतः अंगीकार किया गया है[2]। शब्द-प्रमाणवेद्य श्रुतिमूलक ईश्वर की सत्ता प्रभाकर को स्वीकृत है। जो कुछ कारण हो, प्राचीन मीमांसा निरीश्वरवादी ही प्रतीत होती है। देवताओं की भी पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। देवता मन्त्रात्मक हैं, यही मीमांसकों का परिनिष्ठित सिद्धान्त है।

मोक्ष

मोक्ष के महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन मीमांसकों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि के साथ किया है। मोक्ष की परिभाषा थोड़े शब्दों में है--प्रपंच-सम्बन्धविलयो मोक्षः (शास्त्रदीपिका पृ० ३२७)। इस जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा को जगत्-कारागार में डाल रखा है। आत्मा शरीरावच्छिन्न बन कर इन्द्रियों के साहाय्य से बाह्य विषयों का अनुभव करता है। अतः इन बन्धनों ने संसारश्रृंखला में जीव को जकड़ रखा है--भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रिय, भोगविषय पदार्थ। इस त्रिविध बन्ध के

१ ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः। 'यत्करोषि यदश्नासीति भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्। अर्थसंग्रह पृ० १९६, मीमांसान्यायप्रकाश पृ० १९०।

२ एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वरस्य निराकृतम्। नेश्वरोऽपि निराकृतः। अत एव न प्रभाकरगुरुभिरीश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियत इत्यभिप्रेतम्--प्रभाकरविजय पृ० ८२।

आत्यन्तिक नाश की संज्ञा 'मोक्ष' है (त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति—भोगायतनं शरीरं, भोगसाधनादि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते। तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः—शा० दी० पृ० ३५८)। 'आत्यन्तिक' का अभिप्राय यह है कि पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय और विषयों का नाश हो जाता है, परन्तु बन्ध के उत्पादक धर्माधर्म के एकदम निःशेष हो जाने के कारण भविष्य में इनकी उत्पत्ति भी नहीं होती। अतः आत्मा को इस भौतिक जगत् में आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। मोक्ष-विषय में वेदान्त और मीमांसा का अन्तर नितान्त सुस्पष्ट है। मीमांसा 'प्रपंचसम्बन्ध विलय' को, परन्तु वेदान्त 'प्रपञ्चविलय' को ही मोक्ष स्वीकार करता है। स्वप्नप्रपञ्च के समान यह संसार-प्रपञ्च अविद्यानिर्मित है। अतः ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नहीं रहती। प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है (अविद्यानिर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्, प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते – शा० दी० पृ० ३५९) परन्तु वास्तववादी मीमांसा की दृष्टि इससे बिल्कुल भिन्न है। मुक्तावस्था में संसार की सत्ता उसी प्रकार वस्तुतः विद्यमान रहती है, जिस प्रकार अविद्यादशा में। केवल बन्ध का विलय निष्पन्न हो जाता है। यही दोनों दशाओं का पार्थक्य है। प्रभाकरमत में मोक्ष भाट्टमत से भिन्न है। प्रभाकर के मत में 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः'। बिना किसी बाहरी फल की कामना किये कर्तव्यबुद्ध्या नित्य कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। अतः मुक्ति अनवरत कार्य की दशा है जिसमें क्रिया को छोड़ कर अन्य फल की आकांक्षा रहती नहीं (प्रकरणपञ्चिका पृ० १८०–१९०)।

मोक्षावस्था के स्वरूपनिर्णय में भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद है। गुरुमत में आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान से धर्माधर्म के विनाश हो जाने पर जो देहेन्द्रियादि सम्बन्ध का आत्यन्तिक विच्छेद हो जाता है

वह मोक्ष है[1]। भाट्टों में दो मत हैं। एक पक्ष के अनुसार मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है[2]। बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध-बिलय होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था में अवश्य नहीं होती, परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है, परन्तु 'पार्थसारथि' दूसरे मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं जिसके अनुसार मुक्तात्मा में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' अर्थात् शरीर से हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक, स्पर्श नहीं करते। यदि यह वचन विषयसुख के विषय में माना जाय तो 'आनन्दं ब्रह्म' में आनन्द का अर्थ दुःखाभावरूप मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है (शा० दी० ३२९)। इन दोनों मतों का उल्लेख मधुसूदन ने 'वेदान्त कल्प-लतिका' (पृ० ४) में किया है।

अब इस मोक्ष के साधन का विचार करना चाहिये। काम्य और निषिद्ध कर्म बन्धनात्मक होते है, परन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म इस दोष से निर्मुक्त हैं। किसी कामना की सिद्धि के किए गये कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, तथा प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण अशुभ फल उत्पन्न करेगा ही। अतः इनसे निवृत्ति बाञ्छनीय है, परन्तु नित्य-नैमित्तिक का अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। अतः काम्य-निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति परन्तु नित्य कर्मों में प्रवृत्ति मोक्ष की साधिका है। कर्म के साथ आत्म-ज्ञान उपेक्षणीय विषय नहीं है। कर्म प्रधान कारण है, परन्तु आत्मज्ञान सहकारी कारण। अतः कर्तव्यशास्त्र की दृष्टि से मीमांसा ज्ञानकर्मसमुच्चय को मानती है (मा० मे० पृ० २१३)। कुमारिल ने इसीलिए वेदान्त अनुशीलन को उपादेय बतलाया है (श्लो० वा० पृ० ७२८)—

१ द्रष्टव्य मधुसूदन सरस्वती -- वेदान्त कल्पलतिका पृ० ४।

२ दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥ मा० मे० पृ० २१२।

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

पार्थसारथि का कहना है—'नित्यात्मसत्तामात्रेणैव वेद-प्रामाण्य-सिद्धेः तन्मात्रमिह प्रतिपादितम् । दार्ढ्यार्थिभिस्तु वेदान्तविहितेष्वेव श्रवणमनन-निदिध्यासनादिषु यतितव्यम् ।' इस कथन से मीमांसकों को वेदान्तसम्मत उपायों के मान्य होने में सन्देह नहीं रह जाता ।

उपसंहार

इस दार्शनिक विवेचन के अनुशीलन से मीमांसा की दार्शनिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता । मीमांसा का मुख्य अभिप्राय यज्ञयागादि वैदिक अनुष्ठानों की तात्त्विक विवेचना है, परंतु इस विवेचन की उपपत्ति के लिये उसने जिन सिद्धान्तों को खोज निकाला है वे अत्यन्त महत्वपूर्ण है । 'शब्द' विषयक मीमांसा के सिद्धान्त भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी कम महत्त्वशाली नहीं है । कुमारिल का 'अभि-हितान्वयवाद' और प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शाब्दबोध के यथार्थ निरूपण के लिए नितान्त मननीय हैं । 'बालमनोविज्ञान' के समझने के लिए मीमांसाग्रन्थों में मसाला भरा हुआ है । विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता करने की प्रक्रिया मीमांसा के ही द्वारा बतलाई गई है । अतः जिस प्रकार पद का ज्ञान व्याकरण से और प्रमाण का न्याय से होता है, उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान मीमांसा से होता है । इस विषय में मीमांसा ने अनेक मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिनका उपयोग स्मृतिग्रन्थों के अर्थनिर्णय करने में किया गया है । अतः मीमांसा का अनुशीलन निःसन्देह वैदिक धर्म की जानकारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है:--

'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम् '

श्लोकवार्तिक श्लो० ११ ।

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-वेदान्तदर्शन

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। अब तक वर्णित दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का चूड़ान्त उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। वेदान्त का मूल उपनिषद् है, जिसका वर्णन पहिले किया गया है। श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है—वेदान्ते परमं गुह्यम् (श्वेता० ६।२२), वेदान्तविज्ञान–सुनिश्चितार्थाः (मुण्डक ३।२।६), यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः (महानारायण १०.८)। उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए 'वेदान्त' (वेद का अन्त=सिद्धान्त) शब्द का प्रयोग नितरां न्याय्य है। परन्तु कालान्तर में औपनिषद सिद्धान्तो में आपाततः विरोधों के परिहार करने की तथा एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिए बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' का निर्माण किया। यह साढ़े पाँच सौ सूत्रों का स्वल्पकलेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त सिद्धान्तो का आकर-ग्रन्थ है जिसकी अपनी दृष्टि से विस्तृत व्याख्या कर पीछे के आचार्यों ने अपने धार्मिक मतों की भव्य प्रतिष्ठा की है तथा विपुल यश अर्जन किया है। इन सूत्रों का उदयकाल नितान्त प्राचीन है। भिक्षुओं अर्थात् संन्या-

भिक्षुओं के लिए उपादेय होने के कारण इन सूत्रों को 'भिक्षुसूत्र' भी कहते हैं। पाणिनि ने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।११०) सूत्र में जिन पाराशर्य (पराशरपुत्रनिर्मित) भिक्षुसूत्रों का नाम निर्देश किया है वे पराशर के पुत्र महर्षि बादरायण व्यास के द्वारा विरचित प्रकृत ब्रह्मसूत्रों से भिन्न प्रतीत नहीं होते। श्रीधरस्वामी की सम्मति में गीता भी 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (१३।४) पद्यांश में ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का निर्माणकाल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से उतर कर नहीं है। तर्कपाद (२।२) में सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद के खण्डन उपलब्ध होने पर भी इस सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि भारतीय विचारधारा के इतिहास में ये मत बुद्ध से भी अधिक प्राचीन हैं। असंग आदि ने नवीन ग्रन्थों का निर्माण कर इनका व्यवस्थापनमात्र किया है।

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार

संख्या	नाम	भाष्यनाम	मत
१	शंकर (७८८-८२०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२	भास्कर (१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३	रामानुज (११४०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४	आनन्दतीर्थ=मध्व (१२३८)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५	निम्बार्क (१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६	श्रीकण्ठ (१२७०)	शैवभाष्य	शैव विशिष्टाद्वैत
७	श्रीपति (१४००)	श्रीकरभाष्य	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
८	वल्लभ (१४७९-१५४४)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९	विज्ञानभिक्षु (१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०	बलदेव (१७२५)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

इन भाष्यों में सिद्धान्तों का ही फर्क नहीं है, बल्कि सूत्रों और अधिकरणों की संख्या में भी बड़ा अन्तर है। शंकर के अनुसार सूत्रों और अधिकरणों की संख्या क्रमशः ५५५ और १९१ है, रामानुजमत में ५४५ और १६०; माध्वमत में ५६४ और २२३; निम्बार्कमत में ५४९ और १६१; श्रीकण्ठ के अनुसार ५४४ और १८२; तथा वल्लभमत में ५५४ और १७१ है।

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है जिसमें समग्र वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परम्परया प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखलाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गयुक्त वाक्यों का विचार किया गया है। इस पाद के प्रथम चार सूत्र विषयदृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं। इन्हें 'चतुः सूत्री' कहते हैं। द्वितीय पाद में अस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त उपास्य ब्रह्म-विषयक वाक्यों का तथा तृतीय पाद में स्पष्ट-ब्रह्मलिंग प्रायशः ज्ञेय-ब्रह्म-विषयक वाक्यों का, चतुर्थ पाद में अज, अव्यक्तादि उपनिषद्गत पदों के अर्थ का विचार किया गया है। द्वितीय अध्यायका नाम अविरोधाध्याय है जिसमें स्मृति, तर्कादि के सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म में अविरोध प्रदर्शित किया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद (स्मृति पाद) में सांख्यादि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। द्वितीय पाद (तर्क पाद) में सांख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, पाशुपत और पाञ्चरात्र मतों का प्रबल युक्तियों से क्रमशः खण्डन कर वेदान्तमत की प्रतिष्ठा की गई है। दोनों पादों में बादरायण ने अपनी तर्क युक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के बल पर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों की जैसी मार्मिक समीक्षा की है वह विद्वानों के विस्मय तथा आदर का विषय है। तृतीय तथा चतुर्थ पादों में महाभूतसृष्टि, जीव तथा इन्द्रिय-विषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार

ब्रह्मसूत्र

किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है जो वेदान्त-सम्मत साधनोंका विधान करता है। परलोकगमन, तत्त्वंपदार्थपरिशोधन, सगुणविद्या-निरूपण तथा निर्गुण-ब्रह्म-विद्या के बहिरङ्गसाधन (आश्रम-धर्म यज्ञ, दानादि) तथा अन्तरङ्गसाधन (शम, दम, निदिध्यासन आदि) का निरूपण प्रत्येक पाद में क्रमशः किया गया है। चतुर्थ अध्यायका नाम फलाध्याय है जिसमें सगुण निर्गुण विद्याओं के फलों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

ब्रह्मसूत्र के विषयों का यही संक्षिप्त प्रतिपादन है। ब्रह्मसूत्र के आध्यात्मिक सिद्धान्त कौन-कौन से थे ? इसका यथार्थ उत्तर देना कठिन कार्य है। सूत्र इतने स्वल्पाक्षर हैं कि बिना किसी भाष्य की सहायता से उनका अर्थ लगाना दुष्कर है और साम्प्रदायिक भाष्यों में अर्थ की खैंचातानी भी कम नहीं हैं। ऐसी स्थिति में बादरायण के मन्तव्यों का प्रकाशन एक विषम समस्या है इस समस्या के हल करने का श्लाघनीय उद्योग डाक्टर घाटे ने 'वेदान्त' नामक अंग्रेजी पुस्तक में किया है जिसमें उन्होंने शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ के व्याख्याओं का तारतम्य अनुशीलन कर मूल सूत्रों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को खोज निकाला है। उनकी सम्मति में शंकराचार्य के अनेक सिद्धान्तों की पुष्टि सूत्रों से नहीं की जा सकती। सूत्रकार के सिद्धान्त सम्भवतः इस प्रकार थे[1]—विभु ब्रह्म की अपेक्षा आत्मा अणु है ; जीव चैतन्यरूप है तथा ज्ञान इसका विशेषण या गुण भी है। ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण उभयात्मक है। कार्यकारण के सम्बन्ध में सूत्रकार परिणामवाद के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, विवर्तवाद के नहीं। आत्म-कृतेः परिणामात् (ब्र० सू० १।४।२६) में सूत्रकार ने परिणाम शब्द का स्पष्ट निर्देश किया है। सूत्रकार के ये मन्तव्य रामानुजादि

१ द्रष्टव्य डा० घाटे—दी वेदान्त पृ० १६९—१८४।

चारों वैष्णव भाष्यकारों के सामान्य, समभावेन माननीय सिद्धान्त हैं। यदि किसी विशिष्ट सिद्धान्त की झलक सूत्रों में दीख पड़ती है, तो वह 'भेदाभेद' सिद्धान्त है। बादरायण के मत मध्यम कोटि के हैं।

वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन अगले परिच्छेदों में किया जायगा। इस परिच्छेद में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। समग्र वेदान्त-साहित्य का इतिहास लिखना एक कठिन कार्य है, क्योंकि वेदान्त की ग्रन्थसम्पत्ति दार्शनिक जगत् में सब से अधिक है। अतः नितान्त प्रसिद्ध आचार्यों का ही वर्णन यहाँ दिया जा रहा है।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य

ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बादरायण से भी पूर्व काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त-तत्त्व की मीमांसा की थी; परन्तु इन आचार्यों की कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं। इनके नाम अकारादिक्रम से नीचे दिये जाते हैं:—

(१) आत्रेय—इनका नाम केवल एक बार ही (ब्र० सू० ३।४।४४) निर्दिष्ट है। यज्ञ में अङ्गाश्रित उपासना यजमान के द्वारा तथा ऋत्विन् के द्वारा दोनों प्रकार से हो सकती है। यहां फल के विषय में सन्देह बना हुआ है। आत्रेय के मतानुसार कर्म का फल यजमान (यज्ञ स्वामी) को ही प्राप्त होता है, ऋत्विन् को नहीं।

(२) आश्मरथ्य—इनका निर्देश दो बार (ब्र० सू० १।२।२९, १।४।२०) मिलता है। उपनिषदों में कहीं-कहीं सर्व व्यापक ईश्वर को प्रादेश-मात्र (एक प्रदेश में टिकनेवाला) कहा गया है जिसकी उपपत्ति ये इस प्रकार बतलाते हैं—परमेश्वर वस्तुतः अनन्त है, तथापि भक्तों पर अनुग्रह करनेके लिए प्रादेशमात्र में आविर्भूत होता है। क्योंकि कोई भी सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। हृदयादि उप-

लब्धि-स्थानों (प्रदेशों) में उसकी उपलब्धि विशेष रूप से होती है। इस कारण भी वह प्रादेशमात्र कहा गया है। इनके मत में विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध हैं। ये भेदाभेदवादी थे; श्रुति-प्रकाशिका के कर्ता सुदर्शनाचार्य का कथन है कि इन्हीं के मत को परवर्तीकाल में यादव प्रकाश ने पुष्ट किया है। मीमांसा में (६।५।१६) भी इनके नाम का निर्देश एकत्र है।

(३) औडुलोमि—तीन बार निर्दिष्ट हैं (१।४।२१, ३।४।४५, तथा ४।४।६) इनके मत में अवस्था की भिन्नता के कारण भेदाभेद होता है अर्थात् संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, पर मुक्तावस्था में दोनों में अभेद हैं। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इनके मत का उपपादन बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

(४) काष्र्णाजिनि—ब्र० सू० (३।१।९) में एक बार तथा मीमांसा सूत्र में अनेक बार इनका उल्लेख मिलता है। ब्रह्मसूत्र में 'रमणीय चरणाः' (छा० ५।१०।७) के ऊपर इनका विशिष्ट मत निर्दिष्ट हुआ है।

(५) काशकृत्स्न—इनके मत में (ब्र० सू० १।४।२२) परमेश्वर ही इस संसार में जीव रूप से अवस्थित है। जीव परमात्मा का विकार नहीं है। आचार्य शंकर के शब्दों में इनका सिद्धान्त यह है—काशकृत्स्नस्य आचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। आचार्य को यह मत श्रुत्यनुसारी होने से मान्य है।

(६) जैमिनि—इनका नाम ब्र० सू० में सब से अधिक आता है—पूरा ११ बार। ये बादरायण साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। कर्म मीमांसा दर्शन की रचना इन्होंने ही की है। प्रत्येक विषय में इनका मीमांसक मत स्पष्टतया प्रतीत होता है।

(८) बादरि—इनका उल्लेख चार बार आता है (ब्र० सू०

१।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०)। उधर मीमांसा सूत्रों में भी इनका निर्देश उपलब्ध है। अनुमान किया जाता है कि इन्होंने इन दोनों मीमांसाओं पर सूत्र ग्रन्थ लिखे थे। इनके मत ये हैं:—

(क) कर्मानुष्ठान के विषय में इनका विलक्षण मत यह था कि वैदिक कर्म में सबका अधिकार है। जैमिनि ने इसका खण्डन कर शूद्र के अनुष्ठान का निषेध किया है।

(ख) ईश्वर को प्रादेशमात्र कहने की इनकी व्याख्या विचित्र है। हृदय में रहने के कारण मन प्रादेशमात्र कहा जाता है। ईश्वर का स्मरण ऐसा ही प्रादेशमात्र मन करता है। अतः ईश्वर के लिए यह शब्द व्यवहृत हुआ है।

(ग) 'रमणीयचरणाः' में चरण का अर्थ कर्म ही है। अनुष्ठान वाचक चरण का प्रयोग कर्म के लिए होता है। (घ) 'य एनान् ब्रह्म गमयति (छा० ४।१५।५) में ब्रह्म शब्द कार्य-ब्रह्म का वाचक है। जैमिनि के मत में यह परब्रह्म का वाचक है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्व व्यापक होने से वह गन्तव्य नहीं हो सकता। (ङ) ईश्वर-भावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता के विषय में बादरि कहते हैं कि सत्ता नहीं रहती, तभी तो मन से कामों को देखने का वर्णन छान्दोग्य करता है (८।१२।१५)।

(८) आचार्य काश्यप—इनका भी कोई सूत्र ग्रन्थ था। ब्र० सू० में उल्लेख नहीं है, पर शाण्डिल्य ने भक्ति सूत्र में (तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्—सूत्र २९) किया है। इनका मत भेदवाद था।

शङ्करपूर्व वेदान्तचार्य

शंकर—पूर्व के आचार्यों का उल्लेख स्वयं शंकराचार्य के ग्रन्थों में किया गया है। इनमें 'भर्तृप्रपञ्च' ने कठ तथा बृहदारण्यक पर भाष्य की रचना की थी। सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि के समय में भी इनका ग्रन्थ उपलब्ध था। भर्तृप्रपञ्च

का सिद्धान्त ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद कहलाता है। शंकराचार्यने बृहदारण्यकभाष्य में कहीं-कहीं 'औपनिषदम्मन्य' कहकर इनका परिहास किया है। दार्शनिकदृष्टि में इनका मत द्वैताद्वैत नामसे प्रसिद्ध है। 'भर्तृमित्र' का प्रसंग न्याय-मञ्जरी में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में आता है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्त के आचार्य रहे होंगे। इनके मीमांसा ग्रन्थ का उल्लेख किया जा चुका है। 'भर्तृहरि' का नाम यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित है। भर्तृहरि वाक्यप्रदीपकार ही हैं। परन्तु इनका कोई वेदान्तग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। शब्दाद्वैत ही इनका प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। 'उपवर्ष' का नाम आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में (३।३।५३) निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर उभय मीमांसाओं पर वृत्ति-ग्रन्थ लिखे थे। ब्रह्मसूत्र पर 'बोधायन' की एक वृत्ति थी जिसका उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में किया है। प्रतीत होता है कि बोधायन-निर्मित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था। 'ब्रह्मनन्दी', 'टंक' और 'भारुचि' के नाम वेदान्ताचार्य रूप से श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलते हैं। 'द्रविड़ाचार्य' एक प्राचीन वेदान्ती थे जिन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अति बृहत् भाष्य लिखा था। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने इनका 'आगमवित्' कहकर उल्लेख किया है। शंकर के पहले 'सुन्दरपाण्ड्य' नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिक की रचना की थी। शंकराचार्य ने इनके वार्तिक-ग्रन्थ से तीन श्लोक उद्धृत किया है (१।१।४ ब्र० भा०) ये शैव वेदान्ती थे। तन्त्रवार्तिक में इनके श्लोकों के उद्धृत होने से प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर-मीमांसा पर वार्तिक की रचना की थी। 'ब्रह्मदत्त' शंकराचार्य के पूर्व काल में एक अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे। सम्भव है ये सूत्र के भाष्यकार रहे हो। ब्रह्मदत्तके मत से जीव अनित्य है। एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। ये कहते हैं कि जीव तथा जगत्

दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं हैं, किन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोग-वाक्यों में है। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इनके मत से किसी अवस्था में भी साधक के कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। आश्मरथ्य के मत से इनका भेद इतना ही है कि वे भेदाभेदवादी है तथा ये अद्वैतवादी।

शङ्कराचार्य—अलौकिक मेधासम्पन्न पुरुष थे। इनकी अलौकिक विद्वत्ता, सर्वातिशायिनी शेमुषी, असाधारण तर्कपटुता देख कर किसी भी आलोचक का मस्तक गौरव से इनके सामने नत हुए बिना नहीं रहता। इनका जन्म ७८८ ई० (संवत् ८४५) तथा निर्वाणकाल ८२० ई० माना जाता है। ३२ वर्षों की स्वल्प आयु में आचार्य ने वैदिक धर्म के उद्धार तथा प्रतिष्ठा का जो महनीय कार्य सम्पादन किया वह अद्वितीय है। इसीलिए ये भगवान शङ्कर के अवतार माने जाते हैं। मालाबार प्रान्त के एक नम्बूद्री ब्राह्मण के घर जन्म लेकर इन्होंने काशी को अपना कर्मक्षेत्र बनाया था। आचार्य गौडपाद के शिष्य गोविन्द भगवत्पाद के ये शिष्य थे। इनके विषय में प्रसिद्धि है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

प्रस्थानत्रयी के आद्य उपलब्ध भाष्यकार आप ही हैं। इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं–उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, माण्डूक्यकारिका-भाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेश-साहस्री आदि। इनकी रचनाशैली इतनी रोचक है, गम्भीर विषयों को

सरल शब्दों में अभिव्यक्त करने में इनकी कला इतनी मनोरम है कि इनके 'प्रसन्नगम्भीर' भाष्य साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम हैं। इनके परमगुरु 'गौडपादाचार्य' अद्वैत के प्रथम आचार्य हैं जिनकी माण्डूक्य-कारिका' अद्वैततत्व की आधार शिला के समान महनीय मानी जाती है। शंकरोत्तर युग के विख्यात आचार्यों के नाम ये हैं:—

(१) 'मंडनमिश्र' शंकराचार्य के समकालीन अद्वैत-प्रतिपादक आचार्य थे। इनके मीमांसाग्रन्थों का निर्देश पहले किया है। इनकी 'स्फोटसिद्धि' स्फोटविषयक ग्रन्थ है। इनकी 'ब्रह्मसिद्धि' 'शंखपाणि' की टीका के साथ मद्रास से अभी प्रकाशित हुई है। अन्य व्याख्यायें 'ब्रह्म-तत्वसमीक्षा' वाचस्पति की, 'अभिप्रायप्रकाशिका' चित्सुख की तथा 'भावशुद्धि' आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) की हैं। वाचस्पति की सबसे प्राचीन यह व्याख्या अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है। मण्डन भर्तृहरि के 'शब्दाद्वयवाद' के समर्थक हैं। आचार्य के दो शिष्यों ने उनके ग्रन्थों पर व्याख्यानें लिखी हैं—(२) 'सुरेश्वराचार्य' आचार्य के उप-निषद्-भाष्य पर वार्तिकों की रचना करने के कारण 'वार्तिककार' के नाम से विख्यात हैं। इनका बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक विपुलकाय, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थरत्न है। इसके अतिरिक्त इनके तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक अथवा मानसोल्लास, पञ्चीकरण-वार्तिक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। आचार्य के दूसरे शिष्य (३) 'पद्मपादा-चार्य' ने शारीरक भाष्य की प्रथम वृत्ति 'पञ्चपादिका' नाम से लिखी जिसमें चतुःसूत्री का ही विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त प्रपञ्च-सारटीका और विज्ञानदीपिका पद्मपाद के ग्रन्थ माने जाते हैं। 'पञ्च-पादिका' के ऊपर अवान्तर शताब्दियों में अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थ रचे गये। 'प्रकाशात्मयति' ने इसकी टीका 'विवरण' नाम से लिखी। यह टीका इतनी विशिष्ट है कि इसी के नाम पर 'विवरण-प्रस्थान' का नामकरण हुआ है। विवरण की दो टीकायें हैं—(क) अखण्डानन्द-

मुनि कृत 'तत्त्वदीपन', (ख) विद्यारण्य कृत 'विवरणप्रमेयसंग्रह'। पञ्चपादिका की अन्य अनेक वृत्तियाँ भी हैं।

'सुरेश्वराचार्य' के शिष्य (४) 'सर्वज्ञात्ममुनि' ने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर 'संक्षेप शारीरक' नामक एक प्रख्यात पद्यबद्ध व्याख्या-ग्रन्थ लिखा है जिस पर नृसिंहाश्रम की तत्वबोधिनी, तथा मधुसूदन सरस्वती का 'सार-संग्रह' प्रसिद्ध है। (५) वाचस्पति की 'भामती' भाष्य पर एक भव्य टीका है जो उनकी सर्वतोगामिनी वैदुषी के नितान्त अनुरूप है। 'ब्रह्म-तत्त्वसमीक्षा' अभी तक उपलब्ध नहीं है। भामती की अपनी विशेषता है जिसके कारण उसकी पद्धति के अन्तर्भुक्त ग्रन्थ 'भामतीप्रस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वाचस्पति मिश्र के वेदान्त सिद्धान्तों पर मण्डन-मिश्रके विचारों का प्रभाव' विशेष रूप से पड़ा था, यह इन दोनों के ग्रन्थों की तुलना से प्रतीत होता है। अव्यक्तात्मा के शिष्य (६) 'विमुक्तात्मा' (दशम शतक) की 'इष्टसिद्धि' बड़ोदा से हाल में प्रकाशित हुई है। वेदान्त के इस गौरवमय ग्रन्थ में 'अविद्या' के स्वरूप का विवेचन बड़े ऊहापोह के साथ किया गया है। नैषध-चरित के रच-यिता (७) महाकवि 'श्रीहर्ष' एक असाधारण वेदान्ती थे जिनका 'खण्डनखण्डखाद्य' आज भी पाण्डित्य का निकषग्रावा बना हुआ है। नैयायिक पद्धति का अवलम्बन कर द्वैतवाद का इतना विद्वत्तापूर्ण खण्डन मिलना दुष्कर है। शंकरमिश्र जैसे नैयायिक का इस पर टीका लिखना इसके गौरव का परिचायक है। (८) 'अद्वैतानन्द' (१२ शतक) का 'ब्रह्मविद्याभरण' भाष्य का आभरण ही है। (९) 'आनन्दबोध' (१२ शतक) का 'न्यायमकरन्द' वेदान्त का एक माननीय ग्रन्थ है।

(१०) 'चित्सुखाचार्य' (१३ शतक) अपनी एक ही कृति तत्त्व-दीपिका (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) से विख्यात हो गये है। पर इनकी अन्य रचनायें—(१) शारीरकभाष्य पर भावप्रकाशिका, (२) ब्रह्म-सिद्धि पर अभिप्रायप्रकाशिका, (३) नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्व प्रका-

शिका—कम महत्वशालिनी नहीं है। भामती पर 'कल्पतरु' तथा शास्त्रदर्पण के रचयिता (११) 'अमलानन्द' (१३ शतक) चित्सुख के समकालीन थे। माधवाचार्य संन्यास लेकर शृंगेरी मठ पर अधिष्ठित होने पर (११) 'विद्यारण्य' के नाम से प्रसिद्ध हुये। इनकी 'पंचदशी' की लोकप्रियता का परिचय देना व्यर्थ है। यह वेदान्त तत्वजिज्ञासुओं के गले का हार है। इसके अतिरिक्त विवरण-प्रमेयसंग्रह, अनुभूतिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक, बृहदारण्यक-वार्तिक-सार आदि ग्रन्थ वेदान्त के सिद्धान्तों के लिए विशेष उपादेय हैं। गीता पर वेदान्ततत्त्वप्रतिपादक शंकरानन्दी टीका के रचयिता (१३) 'शंकरानन्द' और वैयासिक-न्यायमाला के निर्माता 'भारतीतीर्थ' विद्यारण्य के गुरु थे। पंचदशशतक में (१४) 'आनन्दगिरि' ने शंकराचार्य के भाष्यों को सुबोध बनाने के लिए उनपर टीकायें लिखीं। शारीरक-भाष्य पर इनका 'न्यायनिर्णय' भाष्यार्थ को भलीभाँति समझाने में कृत-कार्य है। इनके समकालीन (१५) 'प्रकाशानन्दयति' ने 'वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली' नामक 'एक-जीववाद' के प्रतिपादक उत्तम ग्रन्थ की रचना की है और (१६) 'अखण्डानन्द' ने 'तत्त्वदीपन' में विवरण के गूढार्थ को भलीभाँति प्रकट किया है।

(१७) 'मधुसूदन सरस्वती' (१६ शतक) काशीपुरी के संन्यासियों में अग्रगण्य थे। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न 'अद्वैतसिद्धि' है जिसके द्वारा द्वैतवादियों की युक्तियों का मार्मिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है। यह वेदान्त-ग्रन्थों में खण्डन का समकक्ष माना जाता है। वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु, गीता टीका (मधु-सूदनी) आज भी नितान्त लोकप्रिय हैं। अद्वैतसिद्धि पर अद्वैत चन्द्रिका (लघु तथा गुरु) के रचयिता (१८) 'ब्रह्मानन्द सरस्वती' बंगाल के रहने वाले थे। अतः इनकी टीका 'गौड़ ब्रह्मानन्दी' के नाम से विख्यात है। (१९) 'नृसिंहाश्रम सरस्वती' मधुसूदन के समकालीन काशीस्थ

संन्यासियों में विशेष विख्यात हैं। वेदान्त-तत्त्वविवेक, अद्वैतदीपिका, भेदधिक्कार, विवरणटीका आदि उद्भट ग्रन्थ इनकी कीर्ति को स्थायी रखने के लिए पर्याप्त हैं। इनके समकालीन (२०) 'अप्पय दीक्षित' वेदान्त के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे, प्रत्युत एक उत्कट कोटि के साधक थे। श्रीकण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्यपर 'शिवार्कमणिदीपिका' इनकी एक उच्चकोटि की कृति है। शांकरमत में 'कल्पतरु परिमल' (अमलानन्दकृत 'कल्पतरु' व्याख्या की टीका) तथा 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' प्रख्यात ग्रंथ हैं। 'सिद्धान्तलेश' अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल सारभूत संग्रह है प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। (२१) 'धर्मराजाध्वरीन्द्र' (नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य और वेंकट नाथ के शिष्य) की 'वेदान्त परिभाषा' वेदान्त प्रमाणशास्त्र पर एक अनुपम ग्रंथ है। तत्त्वचिन्तामणि की दशटीकाविभञ्जनी अभिनवा टीका के निर्माता होने से इस ग्रंथकार की तार्किक विद्वत्ता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इनके पुत्र (२२) 'रामकृष्ण' ने परिभाषा को 'वेदान्त-शिखामणि' टीका से विभूषित किया है। (२३) 'सदानन्द' (१६ श०) के 'वेदान्तसार' को सरल विवेचन के कारण वेदान्त का प्राइमर कह सकते हैं और यह इसी कारण नितान्त लोकप्रिय है। (२४) 'गोविन्दानन्द' (१७ श०) की रत्नप्रभा शारीरकभाष्य की सरल टीका है जो काशी में लिखी गई। (२५) 'नारायणतीर्थ' तथा 'ब्रह्मानन्द' ने मधुसूदन के 'सिद्धान्तबिन्दु' पर क्रमशः 'लघुव्याख्या' तथा 'न्यायरत्नावली' नामक उपयोगी टीकायें लिखी हैं। काश्मीरके (२६) 'सदानन्द यति' इन्हीं ब्रह्मानन्द तथा नारायण के शिष्य थे। उनकी 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' विषय की व्यापकता तथा सुबोध शैली के कारण वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के आदरणीय आचार्यों का यही संक्षिप्त विवरण है[१]।

---

१ द्रष्टव्य म० म० पं० गोपीनाथ कविराज—ब्रह्मसूत्र के भाष्यानुवाद की भूमिका तथा स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती—वेदान्तेर इतिहास (२ भाग-बंगला)।

गौडपाद

गौडपादाचार्य का नाम अद्वैत वेदान्त के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। 'मायावाद' का आरम्भ गौडपाद से माना जाता है। इनका कीर्तिस्तम्भ माण्डूक्यकारिका है जो अद्वैत वेदान्त का उपनिषदों के अनन्तर अत्यन्त गौरवमय ग्रन्थ माना जाता है। उत्तर गीता का भाष्य भी आप ही की कृति है। कारिकाओं की रचना बड़ी ही उदात्त तथा मर्मस्पर्शिनी है। इसमें चार प्रकरण हैं जिनमें कुल मिलाकर (२६+३८+४८+१००१) = २१५ कारिकायें हैं। इन प्रकरणों के नाम —(१) आगम प्रकरण, (२) वैतथ्य प्रकरण, (३) अद्वैत प्रकरण तथा (४) अलातशान्ति प्रकरण।

आगमप्रकरण में मूल माण्डूक्य उपनिषद की विस्तृत व्याख्या है जिसमें परमात्मतत्व अ, उ, म के द्वारा प्रतिपाद्य वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर से तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से पृथक, परन्तु इनमें अनुगत, अनुष्ठान तथा साक्षीरूप से तथा ओंकार के चतुर्थपाद अमात्र 'तुरीय' नाम से वर्णित किया गया है। वैतथ्य (मिथ्यात्व) प्रकरण में प्रपञ्च का मायामयत्व युक्तियों के सहारे बड़ी कुशलता से सिद्ध किया गया है (का० २।१-३)। तत्समानता के कारण जाग्रत् जगत् भी स्वप्न के अनुरूप ही एकदम मिथ्या है। आत्मा ही एक नित्य पदार्थ है, परन्तु उसीमें तरह तरह के भावों की कल्पना होकर इस प्रपञ्च का उदय होता है। इस विकल्प की मूल 'माया' है (२।१९)। यह समस्त मायाकल्पित जगत् स्वप्न तथा गन्धर्व नगर के समान असत्य है। तब परमार्थ का लक्षण क्या है? आचार्य का कहना है—

> न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
> न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ (२।३२)

उस एक अखण्ड चिद्घन वस्तु को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता

नहीं है। अद्वैत प्रकरण में अद्वैततत्त्व की सिद्धि अनेक दृढ़ युक्तियों के आधार पर आचार्य ने की है। आत्मा में सुखःदुख की भावना करना नितान्त असंगत है। बालक लोग धूलि तथा धूम के संसर्ग से आकाश को मलिन बतलाते हैं, परन्तु आकाश वास्तव में कभी मलिन नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा को भी सुखदुःखादि भावों के संसर्ग से मलिन तथा दुःखी सुखी मानना बालकों की दुर्बुद्धि का विलास है (३।८)। आत्मा तो स्वतः असङ्ग ठहरा। द्वैत की कल्पना का आधार माया है। न अमृत पदार्थ मर्त्य होता है, न मरणशील वस्तु अमृत बनती है। अतः अमृत आत्मा की उत्पत्ति मानने से उसमें मर्त्यत्वधर्म का दोष आने लगेगा। अतः आत्माकी उत्पत्ति—जाति—नहीं होती। यही है गौडपाद का विख्यात 'अजातिवाद' का सिद्धान्त।

चतुर्थ प्रकरण का नाम 'अलात शान्ति' है। 'अलात' का अर्थ होता है 'मसाल'। मसाल के घुमाये जाने पर वह गोलाकार प्रतीत होता है। गोल आकृति की उत्पत्ति भ्रमणजन्य व्यापार से होती है। उसी प्रकार जगत् का यह रूप मायाकल्पित है। मन के व्यापार होने से ही उनकी सत्ता है तथा मन के निरोध होते ही उनका अभाव निष्पन्न हो जाता है। अतः मन के अमनीभाव होते ही प्रपञ्च का विलय हो जाता है। प्रपञ्च की उत्पत्ति तथा लय-प्रतीति तथा अप्रतीति दोनों भ्रान्ति-जनित है। वस्तुतः एक ही परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक सत्ता है। इस प्रकरण की भाषा, पारिभाषिक शब्द (विज्ञप्ति आदि) तथा सिद्धान्त के अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि गौडपाद ने बुद्धधर्म के तत्त्वों का ही प्रतिपादन वेदान्तरूपमें किया है। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है। बहुत सम्भव है कि ये पारिभाषिक शब्द अध्यात्मशास्त्र के सर्वजनमान्य साधारण शब्द थे जिनका प्रयोग करना बौद्ध दार्शनिकों के समान गौडपाद के लिए भी न्याय्य था। केवल शब्दसाम्य के आधार पर महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की उद्भावना करना

उतना उचित नहीं है। बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों से गौडपाद के परिचित होने का हम निषेध नहीं करते, परन्तु वेदान्त के छल से बौद्धधर्म के तत्त्वों का प्रचार करने का दोष उनके ऊपर लगाने के भी हम पक्षपाती नहीं हैं[1]।

(२) वेदान्त तत्त्वमीमांसा

अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र है परमार्थ सत्ता रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिए कतिपय मौलिक सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अद्वैत

आत्मा की स्वयं सिद्धता वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसे भली-भांति समझ लेने पर ही अन्य तत्वों का अनुशीलन किया जा सकता है। वह तत्त्व है--आत्मप्रत्यय की स्वयंसिद्धता। जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है। अनुभव के आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं। इस अनुभूति के स्तर में आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्धरूपेण अवस्थित रहता है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि आत्मा की ज्ञातारूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान नितरां दुरुपपाद है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ने बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण शब्दों में किया है (२।३।७, शां० भा०):—

"आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।

---

१ दासगुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग १ पृष्ठ ४२३–४२९ तथा उसके उत्तर के लिए देखिये, स्वामी निखिलानन्द कृत माण्डूक्यकारिका का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका पृ० १९–३०)।

इस उद्धरण का तात्पर्य है कि आत्मा प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय है; अतः इन व्यवहारों से पहले ही आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता। निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आनेवाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है ? अन्यथाभाव (परिवर्तन) ज्ञातव्य में सम्भव है, ज्ञाता में नहीं। 'वर्तमान को इस समय जानता हूँ' 'अतीत वस्तु को मैंने जाना' तथा 'अनागत वस्तु को मैं जानूँगा'—इस अनुभव-परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप से वर्तमान रहता है। अन्यत्र आचार्य ने इसी तत्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है; ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि 'मैं नहीं हूँ'। यदि आत्मा की अस्तित्व-प्रसिद्धि न होती, तो सब किसी को अपने अनस्तित्व में विश्वास होता; परंतु ऐसा न होने से आत्मा की स्वतः सिद्धि स्पष्टतः प्रमाणित होती है—

"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मस्व-प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्तीति प्रतीयात्" (ब्र० सू० १।१।१ पर शाङ्करभाष्य)।

अतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत पहले ही कहा था कि 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० २।४।१४) अर्थात् जो सब किसी का जाननेवाला है, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं ? सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है ? इसी कारण प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा किसी प्रमाण के बल पर कैसे सिद्ध किया जाय ? अतः आत्मा की सत्ता स्वयं-सिद्ध होती है।

यतो राद्धिः प्रमाणानां स कं तैः प्रसिध्यति ।
—सुरेश्वराचार्य

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं है। ज्ञेय पदार्थ के आविर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञातारूप से प्रकट हो जाता है; परन्तु ज्ञेय के न रहने पर 'ज्ञाता' की कल्पना ही नहीं उठती। जगत् की ज्ञेयरूपेण जब उपस्थित रहती है, तभी आत्मा के ज्ञातारूप का उदय होता है। परन्तु उसके अभाव में आत्मा की ज्ञानरूपेण सर्वदा स्थिति रहती है। एक ही ज्ञान कर्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होनेपर भिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वास्तव में एक ही अभिन्न पदार्थ है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है) इस वाक्य में कर्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही वस्तु हैं। रामानुज ने भी धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मान कर इसी सिद्धान्त को अपनाया है। नित्य आत्मा को ज्ञानस्वरूप होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि ज्ञान भी नित्यानित्यभेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न वृत्तिमात्र है जो विषय-सान्निध्य होने पर उत्पन्न होता है। परन्तु तदभाव में अविद्यमान रहता है। दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है। वह सर्वथा तथा सर्वदा विद्यमान रहता है। आचार्य ने ऐतरेय-उपनिषद् (२।१) के भाष्य में इस विषय का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। दृष्टि दो प्रकार की होती है–नेत्र की दृष्टि अनित्य है, क्योंकि तिमिर रोग के होने से वह नष्ट हो जाती है—पर रोग के अपनयन होने पर उत्पन्न हो जाती है। परन्तु आत्मा की दृष्टि नित्य होती है। इसीलिए श्रुति आत्मा की दृष्टि को द्रष्टा बतलाती है। लोक में भी आत्मदृष्टि को नित्यता प्रमाणगम्य है, क्योंकि जिसका नेत्र निकाल लिया गया हो, वह भी कहता है कि स्वप्न में मैंने अपने भाई को या किसी प्रिय को देखा।

(हाशिया: आत्मा की ज्ञानरूपता)

बधिर पुरुष भी स्वप्न में मन्त्र सुनने की बात कहता। अतः आत्मा की दृष्टि तथा ज्ञान नित्यभूत है। नित्य आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने में संशय के उठने की गुञ्जाइश नहीं है (द्वे दृष्टि चक्षुषोऽनित्या दृष्टि-र्नित्या चात्मनः। × × आत्मदृष्टयादीनां नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके। वदति हि उद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति—ऐत० भाष्य २।१)।

प्रत्येक विषयानुभूति में दो अंश होते हैं–अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभव का विषयभूत ज्ञेय पदार्थ। वास्तववादी की दृष्टि में जीव और जगत् दो पृथक्भूत स्वतन्त्र सत्तायें हैं, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होता है, जगत् की सत्ता केवल व्यवहारिकी है—व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकृत की गई है। आचार्य जगत् की व्यावहारिकता प्रदर्शन के अवसर पर कहते हैं—'ज्ञप्ति आत्मा का स्वरूप है। तथा नित्य है। चक्षुरादि द्वारों से परिणत होने वाली बुद्धि की जो शब्द स्पर्शादि प्रतीतियाँ हैं, वे आत्मविज्ञान के विषयभूत ही होकर उत्पन्न होती है। इस प्रकार वे आत्मज्ञान के द्वारा व्याप्त होती है।' (विषया-कारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारावभासाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते–तैत्ति० भा०, २।१) अतः जगत् की समस्त वस्तुयें आत्मविज्ञान के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होती है। नामरूप से विकार प्राप्त होने वाले पदार्थ अन्तर्निविष्ट कारणशक्ति के साथ ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नामरूप की जिन जिन अवस्थाओंमें विकृति होती है, उन सब अवस्थाओंमें यह विकृति आत्मस्वरूपको परित्याग नहीं करती अर्थात् कार्यसत्ताओं में कारणसत्ता सर्वथा और सर्वदा अनुस्यूत रहती है। क्या कार्यरूप घट स्वकीय कारण मृत्तिका का परित्याग कर एक क्षण के लिए भी टिक सकता है? इस विषय में भाष्यकारकी उक्तियाँ नितान्त स्पष्ट है। वे कहते हैं कि जगत्के समस्त

आत्मा की अद्वैतता

उत्पन्न पदार्थ केवल सन्मूलक ही नहीं हैं, अपि तु स्थितिकाल में भी वे सत् ब्रह्म के अधिष्ठान पर ही आश्रित हैं (प्रजा: न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रया एव—छा० भाष्य ६।४)। जगत् की कलायें उत्पत्ति, स्थिति तथा लय दशाओं में सर्वदा चैतन्य से अव्यतिरिक्त—अपृथग्भूत ही रहती हैं। चैतन्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतः अपने जीवन की सब अवस्थाओं में पदार्थ ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप से स्थित रहते हैं[1]। इस विशाल विश्व के भीतर देश काल से प्रविभक्त, भूत वर्तमान या भविष्यत् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक्—भिन्न हो (नहि आत्मनोऽन्यत्...तत्प्रविभक्तदेश-कालं भूतं भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते—शारी० भा० २।१।६)। नामरूपात्मक विकारों के भीतर एक ही आत्मस्वरूप चैतन्यरूप में झलक रहा है[2]। अत: प्रत्येक अनुभूति में हम आत्मा की ही-विषयी या विषय-रूपसे, कर्ता या कर्मरूप से—एक अखण्डाकार उपलब्धि पाते हैं। एक ही अद्वैत सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है; विषयी-विषय का पार्थक्य परमार्थतः न होकर व्यवहारमूलक ही है।

देश काल की उपाधि द्वैतसत्ता को सिद्ध करती है। 'यहां'–'वहां' का भेद देशजन्य है। भूत वर्तमान की कल्पना काल के ऊपर आश्रित है। देशकाल की कल्पना अद्वैत की कल्पना को उन्मूलित सी करती है, परन्तु आपाततः ही। शंकराचार्य ने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र (श्लोक २) में स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि देशकाल की कल्पना मायाजनित है (मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्)। थोड़ा भी विचार

---

१ चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते—प्रश्न भाष्य ६।२

२ यदा नामरूपे व्याक्रियेते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वासु अवस्थासु व्याक्रियेते।

करने से प्रतीत होता है कि देश-काल अद्वैतसिद्धान्त के व्याघातक नहीं है। घर की दीवाल उसे बाह्य वस्तुओं से पृथक् करती सी प्रतीत होती है, परन्तु यह प्रतीति काल्पनिक है; क्योंकि ज्ञानरूप से आत्मा के अवभासित किये जाने के कारण दीवाल भी आत्मा से भिन्न नहीं है; तब वस्तुओं का व्यवच्छेद क्योंकर हो सकता है? विषयात्मक होने से दिक् भी आत्मा से अनन्य है, तब आत्मास्वरूप दिक् आत्मचैतन्य से अवभासित तथा व्याप्त पदार्थों को पृथक् कैसे कर सकता है? प्राची प्रतीची आदि उपाधियों से विभक्त दिक् की एकता में किसी प्रकार व्याघात नहीं होता। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों की सत्ता रहने पर भी आत्मा की एकता या अद्वैतता का व्याघात-साधन नहीं होता। कठोपनिषद् ने अद्वैततत्त्व की प्रतिष्ठा कर इसी कारण भेददृष्टि की निन्दा की है—

> यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
> मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ २।१।१०।

ब्रह्म

इसी निर्विकल्पक निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। श्रौत दर्शन के परिच्छेद में हमने देखा है कि उपनिषदों ने निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म दोनों का प्रतिपादन किया है, परन्तु आचार्य शंकर की सम्मति में निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। श्रुति का पर्यवसान निर्गुण की व्याख्या में है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ही पारमार्थिक है। सगुण ब्रह्म तो जगत् के समान मायाविशिष्ट होने से मायिक सत्ता को धारण करता है। आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप के निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है —(१) स्वरूप लक्षण तथा (२) तटस्थ लक्षण। 'स्वरूप लक्षण' पदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु 'तटस्थ लक्षण' कतिपय-कालावस्थायी आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। लौकिक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय नरेश

की भूमिका ग्रहण कर रंग-मंच पर अवतीर्ण होता है, जहाँ वह शत्रुओं को परास्त कर अपनी विजयवैजयन्ती फहराता है और अनेक शोभन कृत्यों का सम्पादन कर प्रजा का अनुरञ्जन करता है। परन्तु इस ब्राह्मण के सत्य स्वरूप के निर्णय करने के लिए उसे राजा बतलाना क्या उचित है? राजा है वह अवश्य, परन्तु कबतक? जबतक नाटक-व्यापार चलता रहता है। नाटक की समाप्ति होते ही वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है। अतः उस पुरुष को क्षत्रिय राजा मानना 'तटस्थ' लक्षण हुआ तथा ब्राह्मण बतलाना 'स्वरूप' लक्षण हुआ[1]।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका 'तटस्थ' लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० उप० २।१।१ तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उप० ३।९।२८) ब्रह्म के स्वरुप प्रतिपादक लक्षण हैं। आचार्य ने सत्यादि शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। 'सत्य' ज्ञान' तथा 'अनन्त' शब्द एकविभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत हो रहे हैं; ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण हैं। परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब एकजातीय अनेक-विशेषण-योगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो। परन्तु ब्रह्म के एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये विशेषण लक्षणार्थ-प्रधान हैं। विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है। विशेषण विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करने वाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म को एक होने के कारण 'सत्यं' 'ज्ञान' ब्रह्म के लक्षण हैं, विशेषण नहीं।

---

१ स्वरूपं सद् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्। कदाचित्कत्वे सति व्यावर्त्तकं तटस्थलक्षणम्।

२ समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य। लक्षणं तु सर्वत एव। यथाऽवकाशप्रदातृ आकाशमिति (तैत्ति० भाष्य २।१)।

'सत्य' का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होने-वाला पदार्थ (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरित तत् सत्यम्) अर्थात् कारण सत्ता ब्रह्म में कारणत्व होने पर मृत्तिका के समान अचिद्रूपता प्राप्त न हो जाय, अतः ब्रह्म 'ज्ञान' कहा गया है। ज्ञान का अर्थ है अवबोध। जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके, वही 'अनन्त' है। (यदि न कुतश्चित् प्रविभज्यते तद् अनन्तम्)। यदि ब्रह्म को ज्ञान का कर्त्ता माना जायगा, तो उसे ज्ञेय तथा ज्ञान से विभाग करना पड़ेगा। ज्ञान-प्रकिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अतः अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है, ज्ञान का कर्त्ता नहीं। अतः ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञान स्वरुप और पदार्थान्तर से अविभक्त है। वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्दरूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होनेपर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है। शंकर तथा रामानुज की ब्रह्ममीमांसा में अन्तर पड़ता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत--इन तीनों भेदों से रहित है, परन्तु रामानुज की सम्मति में ब्रह्म प्रथम दो भेदों से रहित होने पर भी स्वगत-भेद-शून्य नहीं है, क्योंकि चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म में चिदंश अचिदंश से नितान्त भिन्न है। अतः अपने में इन भिन्न विरोधी अंशों के सद्भाव के कारण रामानुज-दर्शन में ब्रह्म स्वगत-भेद-सम्पन्न स्वीकृत किया गया।

माया

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों कर हुई ? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? इस प्रश्नके यथार्थ उत्तर के लिए 'माया'के स्वरूपको जानना आवश्यक है। शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है (शारी० भा० १।४।३); परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद की कल्पना की है।

परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है। मायारहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीजशक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है, यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुप्तिरूपिणी है जिसमें अपने स्वरूप को न जाननेवाले संसारी जीव शयन किया करते हैं[1]। अग्नि की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है। त्रिगुणात्मिक माया ज्ञानविरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरुप कहने से अभिप्राय है कि वह अभावरुपा नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्; इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। माया को 'सत्' कह नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्मबोध से उसका बोध होता है। 'सत्' तो त्रिकालाबाधित होता है। अतः यदि वह सत् होती, तो कभी बाधित नहीं होती अथ च उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे 'असत्' कहना भी न्यायसंगत नहीं, क्योंकि असद्वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती (सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेत् न प्रतीयेत्)। इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणों के सद्भाव रहने से माया को 'अनिर्वचनीय' ही कहना पड़ती है। प्रमाणसहिष्णुत्व ही अविद्या का अविद्यात्व है,[2] तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सुर्यो-

---

१ अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरुप-प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः १।४।३ शारी० भाष्य)

२ अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥ बृह० भाष्य वार्तिक १८१।

दयकाल में अन्धकार के भाँति ज्ञानोदयकाल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि[१] का कहना है कि "यह भ्रान्ति आलम्बनहीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। जिसप्रकार अन्धकार सूर्य को नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती।" इस प्रकार प्रमाणसहिष्णु और विचारासहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है। इसीलिए शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं चलता; वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है--

अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते[२]॥

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभय रूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभय रूप है। न अंग सहित है न अंग रहित है और न उभयात्मिका ही है, किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है--वह ऐसी है जो कही न जा सके--

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा[३]॥

---

१ सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरम्॥ नैष्कर्म्यसिद्धि २।६६।

२ विवेक चूडामणि, श्लोक ११०

३ वही, ,, १११

द्रष्टव्य प्रबोध सुधाकर श्लोक ८५-१०९

माया की दो शक्तियां होती हैं[1]—आवरण तथा विक्षेप। इन्हीं के सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तवरूप को आवृत कर उसमें अवस्तुरूप जगत् की प्रतीति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों की निःसन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए बिना रह नहीं सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जब तक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उस पर नहीं की जाती, तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नहीं सकती। भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्तिस्वरूपा माया में इन दो शक्तियों की उपलब्धि पाई जाती है। आवरणशक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती है और विक्षेपशक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्यमण्डल को आच्छादित सा कर देता है, उसी प्रकार परिच्छित अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान अज्ञानावृत रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में

माया की शक्तियाँ

---

१ शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥
—दृग्दृश्यविवेक (श्लो० १३, १५)

इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान 'विक्षेप' है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त-कारण है और उपाधि-पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादानकरण है। अतः ब्रह्म की जगत्कर्तृता में माया को ही सर्वप्रधानतया कारण मानना उचित है।

ईश्वर

यही निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा अवच्छिन्न होने पर सविशेष या सगुणभाव को धारण करता है। तब उसे ईश्वर कहते हैं। विश्वकी सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण यही ईश्वर है। परन्तु ईश्वर का जगत्-सृष्टि करने में कौन सा उद्देश्य सिद्ध होता है? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। बुद्धिपूर्वकारी चेतन पुरुष की मन्दोपक्रम भी प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजन के सिद्ध नहीं होती, तो इस गुरुतर-संरम्भवाली प्रवृत्ति का प्रयोजन खोज निकालना आवश्यक है। श्रुति ईश्वर को 'सर्वकामः' कहकर पुकारती है अर्थात् उसकी सब इच्छायें परिपूर्ण हैं। यदि ईश्वर का इस सृष्टि-व्यापार से कोई आत्मप्रयोजन सिद्ध होता है, तो परमात्मा का श्रुतिप्रतिपादित परितृप्तत्व बाधित होता है। अथ च यदि निरुद्देश्य प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाय, तो ईश्वर की सर्वज्ञता को गहरा धक्का लगता है। जो सब वस्तुओं का ज्ञाता है वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है? अतः परमेश्वर का यह व्यापार लीला-मात्र है। जैसे लोक में सकल मनोरथ की सिद्धि होनेवाले पुरुष के व्यापार, बिना किसी प्रयोजन के, लीला के लिए होते हैं, उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टिव्यापार लीलाविलास है (२।१।३२-३३ पर शां० भा०)।

ईश्वरकर्तृत्व के विषय में वेदान्त तथा न्याय-वैशेषिक के मत पृथक

पृथक् हैं। न्याय ईश्वर को जगत् का केवल निमित्तकारण मानता है, परन्तु वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि इच्छापूर्वक है–स ईक्षांचक्रे। स प्राणमसृजत (प्रश्न ६।३-४)। ईच्छा पूर्वक सृष्टिव्यापार के कर्ता होने के कारण ईश्वर निमित्तकारण निःसन्देह है, पर उसके उपादानत्व के प्रमाणों की भी कमी नहीं है। उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं ब्रह्म ही उपदिष्ट है। जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के जानने से समग्र मृण्मय (मिट्टी के बने) पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूपात्मक हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं (छान्दोग्य ६।१।२)। ब्रह्म की मृत्तिका के साथ दृष्टान्त उपस्थित किये जाने से ब्रह्म का उपादानत्व नितान्त स्पष्ट है (ब्र० सू० १।४।२३)। मुण्डक (३।१।३) ब्रह्म को 'योनि' शब्द से अभिहित करता है (कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्)। अतः ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण अथ च उपादान कारण है।

ईश्वर-उपादान कारण

वेदान्त चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने में विरोधियों के अनेक तर्कों का भी समुचित खण्डन करता है। जो लोग सुखदुःखात्मक तथा अचेतन जगत् से विलक्षण होने के कारण ईश्वर को कारण मानने के लिए तैयार नहीं हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि अचेतन गोमयपिण्ड से चेतन वृश्चिक का जन्म होता है और चेतन पुरुष से अचेतन नख-केश उत्पन्न होते हैं। अतः विलक्षणत्व हेतु से ब्रह्म की जगत्कारणता का परिहार नहीं किया जा सकता (२।१।३ शां० भा०)। जगत् भोग्य है, आत्मा भोक्ता है। परन्तु उपादानकारणत्वेन दोनों की एकता सिद्ध है, तो भोक्ताभोग्य का विभाग न्यायसंगत कैसे प्रतीत होगा? परन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी तथा घड़ों में वास्तव एकता होनेपर भी व्यावहारिक भेद

अवश्य है उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी वास्तव अभेद होनेपर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है (२।१।१४ शां० भा०)।

उपासना के लिए भी निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है। ब्रह्म वस्तुतः प्रदेशहीन है, तथापि उपाधिविशेष से सम्बन्ध होने से वही ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्वीकृत किया जाता है। इसीलिए उपनिषदों में, सूर्य में, नेत्र में, हृदय में ब्रह्म की उपासना कही गई है।

उपास्य ब्रह्म

इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि उभयविध ब्रह्म के ज्ञान तथा उपासना का फल भी वस्तुतः भिन्न होता है। जहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म आत्मरूप बतलाया गया है वहाँ फल एकस्वरूप मोक्ष ही होता है, परन्तु जहाँ प्रतीक उपासना का प्रसंग आता है अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध किसी प्रतीक (सूर्य, आकाश आदि) विशेष से बतलाया गया है, वहाँ संसारगोचर ही फल भिन्न-भिन्न होते हैं[1]। उपास्यउपासक की भेददृष्टि से ही यह कल्पना है। अतः ईश्वर और जीव की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं—उपाधि के काल्पनिक विलास के सिवाय और कुछ नहीं है। इसीलिए पञ्चदशीकार कहते हैं—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि ॥ पंचदशी ६।२३६।

जीव

अन्त-करणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। आचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को

---

[1] (यत्र हि निरस्त सर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तत्रैकरुपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीक-विशेष-सम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येव उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते——१।१।२४ भाष्य)।

ही जीव कहते हैं[1] द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद के उत्तरार्ध में आत्मा के विषय में सूत्रकार ने अनेक ज्ञातव्य विषयों का उल्लेख किया है। पहला प्रश्न है कि उपनिषदों में आत्मा के उत्पत्तिविषयक वाक्योंका क्या रहस्य है? यदि आत्मा नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त स्वभाव माना जाता है, तो उसकी उत्पत्ति को उपपत्ति कैसी अंगीकृत हो सकती है? इसके उत्तर में सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि शरीरादि उपाधियोंकी ही उत्पत्ति होती है, नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता (२।३।१७ शां० भा०)। आत्म-स्वरुप के विषय में भी दार्शनिकों की विभिन्न कल्पनायें हैं। सुप्त, मूर्छित तथा ग्रहाविष्ट पुरुषों में कतिपय काल तक चैतन्याभाव को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव का पक्षपाती वैशेषिकदर्शन चैतन्य को आत्मा का कादाचित्क गुण मानता है। परन्तु वेदान्त की सम्मति में आत्मा चैतन्यरुप ही है, क्योंकि परब्रह्म ही उपाधिसम्पर्कसे जीवभाव से विद्यमान रहता है। अतः आत्मा में ब्रह्म के साथ स्वभावगत ऐक्य होने पर नित्य चैतन्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता (शां० भा० २।३।१८)। सूत्रभाष्य में आत्मा के परिमाण का भी विशेष विचार किया गया है। अनेक श्रुतिवाक्योंके आधार पर पूर्वपक्षका कहना है कि आत्मा अणु है, भाष्यकार का उत्तर है— नहीं। परब्रह्म के विभु होने से तद्व्यपदेश आत्मा का भी विभुपरिमाण ही युक्तियुक्त है। आचार्यने अणुत्वकल्पना की उपपत्ति यह कह कर दिखलाई है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने कारण ही आत्मा अणु स्वीकार किया गया है (२।३।४३ शां० भा०)। आत्मचैतन्य जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति— त्रिविध अवस्थाओं[2] में तथा अन्नमय, मनोमय प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—इन पाँच कोशों में उपलब्ध होता है परन्तु आत्मा

---

१ अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफल सम्बन्धी शां० भा० २।३।१७

२ द्रष्टव्य ब्र० सू० ३।२ १--१० तथा तैत्ति० उप० २। १ का शाङ्करभाष्य।

का शुद्ध चैतन्य इन कोशपञ्चक से नितान्त परे की वस्तु है। इसी तरह स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव की विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ संज्ञायें और इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर की वैश्वानर (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर संज्ञायें दी गई हैं। व्यष्टि तथा समष्टि के अभिमानी पुरुष परस्पर में अभिन्न हैं। परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतन्त्र सत्ता है। निम्नलिखित कोष्ठक में यह विषय संगृहीत किया जाता है--

शरीर	अभिमानी	कोश	अवस्था
स्थूल	समष्टि—वैश्वानर (विराट्) व्यष्टि--विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	समष्टि--सूत्रात्मा व्यष्टि—तैजस	मनोमय प्राणमय विज्ञानमय	स्वप्न
कारण	समष्टि—ईश्वर व्यष्टि—प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं, तो विषयों को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं, वे तो 'अहं' कर्ता को अभिव्यक्त करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशालास्थित दीपक से बड़ी सुन्दर रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रंगस्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है, और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रद्योतित होता है[1]। बुद्धि में चाञ्चाल्य होता है और बुद्धि से युक्त होने से जीव चञ्चल सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह शान्त है।

---

१ अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः॥ पञ्चदशी १०। १४०।

जीव और ईश्वर

इस दोनों तत्वों के स्वरूप का निरूपण आचार्यों ने भिन्न भिन्न रीति से किया है। एक आचार्य की सम्मति में जीव और ईश्वर के सामान्य रूप से रहनेवाला चैतन्य बिम्ब स्थानीय है। उसी का प्रतिबिम्ब भिन्न भिन्न उपाधियों में पड़ने से भिन्न नाम ग्रहण करता है। चैतन्य का वह प्रतिबिम्ब जो माया या अविद्या में पड़ता है 'ईश्वर चैतन्य' कहलाता है और जो अन्तःकरण में पड़ता है वह 'जीव चेतन्य' नाम से अभिहित होता है। इस मत में जीव और ईश्वर में वही अन्तर और भिन्नता है जो घट तथा जलाशय के जल में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब में होता है।

परन्तु इस मत से परमेश्वर में अविद्या से उत्पन्न दोषों की सम्भावना बनी रहती है। उपाधि प्रतिबिम्ब को प्रभावित करतीं हैं। अतः अविद्या अपने में प्रतिबिम्बित चैतन्य को अवश्य ही अपने दोषों से दूषित करेगी, इसीलिए इस मत के मानने में आपत्ति है।

दूसरे मत में ईश्वर चैतन्य ही बिम्ब के स्थान में माना जाता है जिसके प्रतिबिम्ब को हम लोग जीव के नाम से पुकारते हैं। दोनों में चैतन्य एक ही प्रकार का है। अन्तर इतना ही है कि जब वह बिम्बाकार धारण करता है तब 'ईश्वर' कहलाता है और प्रतिबिम्ब से आच्छादित रहता है, तो 'जीव' नाम से अभिहित होता है। सच तो यह है कि चेतन्य एक ही अविच्छिन्न वस्तु है, उसमें बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब की कल्पना उपाधिजन्य है। 'एक जीव' मानने वालों के मत में यह उपाधि अविद्या है; नाना जीववाद में यह उपाधि अन्तःकरण है। इन्हीं उपाधियों के कारण ही तो जीव और ईश्वर में भेद है। इस मत में बिम्बभूत चैतन्यरूप ईश्वर में उपाधियों का दूषण कथमपि स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार अकाशस्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है और इन प्रतिबिम्बों में पार्थक्य है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अन्तर है।

वेदान्त में जड़तत्त्व

श्री शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने जड़तत्त्व के विषय में उद्भावित उन सिद्धान्तों का खण्डन किया है जिनके द्वारा यह जगत् (१) या तो अचेतन परमाणुओं के संघात का परिणाम है अथवा (२) बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं परिणामशालिनी अचेतना प्रकृति का विकारमात्र है अथवा (३) दो स्वतन्त्र पदार्थ—प्रकृति तथा ईश्वर—के द्वारा निर्मित है जिन में एक तो उपादान कारण है और दूसरा निमित्त कारण है। परन्तु ये सिद्धान्त उक्त दार्शनिकों को कथमपि मान्य नहीं हैं। दोनों का यह परिनिष्ठित मत है कि अचेतन वस्तु इस जगत् को पैदा करने में नितान्त असमर्थ है तथा चेतन और अचेतन पदार्थद्वय के परस्पर संयोग से जगदुत्पत्ति को सिद्ध मानना भी नितान्त अयुक्तियुक्त है, वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के औपनिषद तथ्य का अवलम्बन कर प्रकृति तथा मन दोनों को स्वतन्त्र सत्ता मानने के लिए उद्यत नहीं है, प्रत्युत यह समस्त जगत् के ब्रह्ममय होने से प्रकृति तथा मन दोनों ही अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। इस प्रकार ये दोनों आचार्य ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता स्वीकृत करने के कारण अद्वैतवादी हैं। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय (तर्क) पाद में जगदुत्पत्ति विषयक पूर्वोक्त सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सुन्दर तथा अकाट्य युक्तियों से किया है। यह सिद्धान्त वेदान्त के प्रायः समस्त विभिन्न सम्प्रदायों से समभावेन माननीय है। अतः इन युक्तियों का प्रदर्शन संक्षेप में यहाँ किया जाता है :—

सांख्य मत का निरास

सांख्य दर्शन के मतानुसार सत्त्व, रज तथा तमरूप गुणत्रयात्मिका प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होकर इस जगत् की उत्पत्ति करती है और इस कार्य में उसे किसी चेतन अध्यक्ष की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत

नहीं होता। प्रकृति के जगद्रूप से परिणत होने में एक महान् उद्देश्य है—पुरुषों के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि। प्रकृति के परिणाम का ही यह फल है कि पुरुष अपने पूर्व कर्मानुसार सुख-दुःखरूप भोगों को प्राप्त कर लेता है तथा प्रकृति से अपने को विविक्त (पृथक्) जान लेने पर वह इस संसार से विमुक्तिलाभ कर लेता है। क्या इस प्रकार के उद्देश्य की कल्पना कोई अचेतन पदार्थ कर सकता है? लोकानुभव इसका नितान्त विरोधी है। दूसरी बात यह है कि बिना किसी चेतन अध्यक्ष के अचेतन में क्रिया की उत्पत्ति नितान्त असिद्ध है। चेतन पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होने पर हाथ की लेखनी लेखन-व्यापार में प्रवृत्त होती है। सारथि की अध्यक्षता में रथ में गति का आविर्भाव होता है। तब अचेतन प्रकृति में प्राथमिक प्रवृत्ति का उदय क्योंकर हुआ? इसके उत्तर में सांख्य का कथन है कि जिस प्रकार बछड़े के लिए गाय के स्तन से दूध आप से आप बहने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रवृत्ति बिना किसी बाह्य कारण के स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है। वत्स की विवृद्धि के लिए गो-स्तन से स्वयं प्रवृत्त होने वाले दूध का यह उदाहरण उचित नहीं है, क्योंकि गाय चेतन पदार्थ है जिस के हृदय में अपने बछड़े की पुष्टि की कामना विद्यमान है। पुरुष की सहायता भी प्रकृति को इस महत्त्व के कार्य में नहीं मिल सकती, क्योंकि सांख्य ने पुरुष को क्रियाहीन तथा उदासीन मान कर उसे नितान्त पंगु बना डाला है। प्रकृति की कल्पना भी केवल आनुमानिक है। बादरायण सूत्रों में सर्वत्र प्रकृति के लिए 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रुति में इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इतनी विप्रतिपत्तियों के होने पर जगत् को प्रकृति का परिणाम मानना युक्तियुक्त नहीं है।

सूक्ष्म परमाणुओं के संघात से इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है—यह वैशेषिक सिद्धान्त है जो तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं

वैशेषिक मत का तिरस्कार

उत्तरा[1]। परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि के क्रम से यह संसार उत्पन्न बतलाया जाता है परन्तु अचेतन परमाणु इस नियमबद्ध जगत् की उत्पत्ति में क्या कभी समर्थ हो सकता है? वैशेषिक अदृष्ट को इस जगत् का नियामक बतलाते हैं, परन्तु अदृष्ट भी तो अन्ततोगत्वा अचेतन ही ठहरा। परमाणु में प्रथम संयोग की उत्पत्ति किसी भी युक्ति के बल पर समझाई नहीं जा सकती। यदि परमाणुओं में स्वभाव से ही गतिशीलता का सिद्धान्त मानें, तो उनमें कभी विराम न होगा, सदा गति ही विद्यमान रहेगी। तब प्रलय की कल्पना ही उच्छिन्न हो जायेगी। जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उत्पन्न करने के लिए परमाणुओं में इन गुणों का सद्भाव माना जाता है। तब परमाणु सगुण हुए और ऐसी दशा में सगुण पदार्थ न तो नित्य हो सकता है और न सूक्ष्म। गुणान्वय उसे स्थूल, अतएव अनित्य ही बनाता है। ऐसी दशा में वैशेषिकाभिमत परमाणुओं की स्वरूपहानि होती है। अतः परमाणु को भी जगत् का उपादान मानना युक्तियुक्त नहीं है।

वास्तववादी बौद्ध—सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक—दार्शनिकों की सम्मति में यह जगत् समूहात्मक है। आन्तर जगत् पञ्चस्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—का संघातमात्र तथा बाह्य जगत् विभिन्न स्वरूपात्मक परमाणुचतुष्टय का पुञ्जमात्र है। जगत् के समस्त पदार्थ क्षणस्थायी हैं; परन्तु क्षणिक पदार्थों में कारणता सिद्ध हो नहीं सकती। कारण मानने के लिए किसी भी पदार्थ को उत्पन्न होना चाहिए तथा स्थित होना चाहिए। ऐसी दशा में पदार्थ क्षणद्वयस्थायी होगा। एक क्षण में उत्पन्न होगा और दूसरे क्षण में स्थित होगा। इस प्रकार क्षणिकवाद का स्वतः खण्डन

बौद्धमत का सिद्धान्त

---

[1] ब्रह्मसूत्र २।२।१२–१७।

हो जाता है। चेतन की अध्यक्षता मानने पर भी यह मत सुसम्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि यदि चेतन स्थायी है, तो क्षणवाद का निरास होता है। यदि वह क्षणिक है, तो वह कार्य उत्पन्न ही नहीं कर सकता। एक क्षण उत्पन्न होने के लिए तथा दूसरा क्षण परमाणुओं को संयोग करने के लिए मानने से क्षणिकवाद का खण्डन हो जाता है। अचेतन कारण का दोष अभी बतलाया गया है। ऐसी दशा में जगत् को संघातात्मक तथा क्षणिक मानना नितान्त निराश्रय सिद्धान्त है। विज्ञानवादी बौद्धों का भी सिद्धान्त इतना ही हेय तथा अप्रामाणिक है। शंकराचार्य ने इस मत के विरुद्ध बड़ी प्रौढ़ युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। सबसे प्रधान युक्ति यह है कि जगत् को असत्य मानकर विज्ञानमात्र को सत्य मानना प्रतिदिन के लोकानुभव के नितान्त विरुद्ध है[1]। अनुभव के विषय होने पर भी घटपटादि की सत्ता का तिरस्कार करना उसी प्रकार उपहास्यास्पद है जिस प्रकार रसभरी मिठाइयों के स्वाद का अनुभव करते हुए भी उन्हें मिथ्या ठहराना है। जगत् के असत्य होने पर घटपटादि का पारस्परिक विभेद किस कारण पर ठहरेगा? विज्ञानरूपेण तो ये दोनों अभिन्न ही ठहरे। ऐसी दशा में घट माँगने पर यदि पट लाकर उपस्थित कर दिया जाय तो लोक का व्यवहार कैसे सिद्ध होगा? अतः जगत् को विज्ञान का ही विकृत रूप बतलाना नितान्त अनुचित है। जब विज्ञानवाद की ऐसी विषम दशा है तो समस्त पदार्थों के अभाव माननेवाले शून्यवादियों का सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाण-प्रतिपन्न माना जाय? अतः सौगतमत की जगदुत्पत्ति-कल्पना नितान्त तर्कशून्य, अप्रामाणिक, अतः अविश्वसनीय है।

द्वैतवादियों—पाशुपत, शैव तथा नैयायिक आदि दार्शनिकों—के मतानुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारणमात्र है, उपादान कारण नहीं।

---

१ ब्रह्मसूत्र २।२।१८—३२

द्वैतवाद का निरास

यह मत भी सन्तोषप्रद नहीं है। यदि ईश्वर जगदुत्पत्ति में केवल निमित्त-मात्र है, तो वह पक्षपात के दोष से बिना लाञ्छित हुए रह नहीं सकता। जगत् में कोई जीव सुखी है, और कोई नितान्त दुःखी। इस वैषम्य का क्या कारण है? यदि कर्मानुसार विषम सृष्टि की घटना मानी जाय, तो श्रुतिमूलक होने से ईश्वर का उपादान कारण होना भी अनिवार्य है। जो श्रुति ईश्वर को कर्मानुसार जगत् का स्रष्टा बतलाती है, वही उसे उपादान कारण भी बतलाती है। कोई भी पुरुष शरीर के द्वारा ही जड़ पदार्थों में क्रिया-कलाप का आविर्भाव किया करता है, परन्तु द्वैतवादीसम्मत ईश्वर न तो शरीरी है और न रागद्वेषादि भावों से मण्डित है। ऐसी दशा में केवल निमित्तकारण मानने पर ईश्वर में जगत्कर्तृत्व का सिद्धान्त ठीक नहीं होता। अतः वेदान्त बाध्य होकर एक ही चेतन पदार्थ को उपादान तथा निमित्त कारण दोनों बतलाता है। श्रुति युक्ति दोनों इस सिद्धान्त के पोषक हैं। इस विषय में उपनिषद् उर्णनाभि (मकड़े) का उदाहरण प्रस्तुत करता है[१]—मकड़ी बिना किसी उपकरण के अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को स्वयं रचती है (अर्थात् उन्हें अपने शरीर के बाहर फैलाती है) और फिर उन्हें ग्रहण कर लेती है (अर्थात् अपने शरीर में मिलाकर अभिन्न बना देती है)। उसी प्रकार यह विश्व उस परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म उपादानकारण है तथा निमित्तकारण भी। वेदान्त का यही परिनिष्ठित मत है। अतः जगत् की उत्पत्ति चेतन पदार्थ से ही होती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

जगत्

जिस प्रकार इन्द्रजालिक अपनी मायाशक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि

---

१ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् (मुण्डक उप० १।१।७)

कराने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी है। (मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया-दक्षिणामूर्तिस्तोत्र श्लोक० २)। जादू उन्हीं लोगों को व्यामोह में डाल सकता है जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं, परन्तु उसके रहस्यवेत्ता पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल व्यामोह का विषय नहीं होता। ठीक इसी प्रकार यह जगत् अद्वैतसत्ता से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए ही अपनी सत्ता बनाये रहता है, परन्तु अद्वैत-तत्त्व के ज्ञानियों के लिए उसकी सत्ता निराधार तथा निर्मूल है। इस विषय में एक विशेष समस्या का हल करना नितान्त आवश्यक है। समस्या यह है--जगत् सत्य है या असत्य? 'जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त ने सर्वसाधारण में कौन कहे शिक्षित पुरुषों में भी यह धारणा फैला रक्खी है कि अद्वैतमतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य-परिवर्तनशील या परिणामस्वभाव ही जगद् है। परिणाम, प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है—जगत् का अव्यभिचारी धर्म है। एक क्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्तिशून्य नहीं रहता।

सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्य ने दी है उसके अनुसार जगत् सत्य नहीं माना जा सकता। आचार्य के शब्दों में "यद् रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्" अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सन्तत, समभाव से, विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं। इस प्रतिक्षण-परिणामी, सतत चंचल, नियत-परिवर्तनशील संसार की कोई भी वस्तु इस परिभाषा के अनुसार सत्य कोटि में नहीं आ सकती। तो क्या जगत् नितान्त असत्य है? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान-वादियों के मत खण्डन करते हुए आचार्य ने स्वयं दिया है। विज्ञानवादियों का मत है कि इन्द्रियार्थ-प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रियसंनिकर्ष सब बुद्धि में हैं। जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्याभूत हैं। जिस प्रकार स्वप्न, मायामरीचिका आदि प्रत्यय ग्राह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्यग्राहक आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जाग-

रित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी बाह्यार्थशून्य हैं। परन्तु आचार्य का कहना है कि बाह्यार्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप से हमें हो रही है। प्रतिक्षण अनुभूयमान पदार्थों की सत्ता उनके बोध के बाहर न मानना उसी प्रकार उपहास्यास्पद है, जिस प्रकार स्वादु भोजन कर तृप्त होनेवाला पुरुष, जो न तो अपनी तृप्ति को ही माने, न भोजन की बात स्वीकार करे (२।२।२८ शां० भा०)। बौद्धों का यह कथन कि बाह्यपदार्थ बाहर के समान प्रतीत होता है बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध कर रहा है। जगत् स्वप्नवत् अलीक है, इस मत का खण्डन (२।२।२९) भाष्य में आचार्य ने नितान्त स्पष्ट शब्दों में किया है। वे कहते हैं:[1]—स्वप्न और जगरित अवस्था में स्वरूपगत भेद है। स्वप्न दशा का बाध होता है, परन्तु जागरित दशा का कभी भी बाध नहीं होता। स्वप्न में देखे गये पदार्थों का जागने पर अनुपलब्धि होने से बाधित होना प्रत्यक्ष ही है परन्तु जाग्रत अवस्था में अनुभूत स्तम्भादि पदार्थों का किसी भी दशा में बाध नहीं होता। एक और भी महान् अन्तर है। स्वप्न-ज्ञान स्मृतिमात्र है परन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है—साक्षात् अनुभवरूप है। अतः दोनों की भिन्नता एकदम स्पष्ट है।

ऐसे स्पष्ट प्रतिपादन के होते हुए भी जगत् को असत्य कहना कहाँ तक यथार्थ है? व्यवहार में इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। परन्तु ब्रह्मात्म के ऐक्य ज्ञान होने पर ज्ञानी पुरुषों के लिए यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मात्मानुभव के द्वारा बाधित होता है। अतः उस जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् की बाधितानुवृत्ति रहती है पर व्यवहारदशा में यह जगत् उतना ही ठोस तथा वास्तव है जितना

१ वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। ब्र० भा० २।२।२९

अन्य कोई पदार्थ। अतः जगत् की पारमार्थिकी स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता मान्य है।

तमः प्रधान, विक्षेपशक्ति के युक्त, अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्रारूप आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले (पञ्च कर्मेंद्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, वायुपञ्चक और बुद्धि-मन) सूक्ष्म शरीरों की और स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूल भूत पञ्चीकृत होते हैं अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना अंश आधा होता है और अन्य चारों भूतों के अष्टम अंशों को मिलाकर आधा होता है जैसे आकाश=$\frac{1}{2}$ आकाश+$\frac{1}{8}$ पृथ्वी+$\frac{1}{8}$ जल+$\frac{1}{8}$ तेज+$\frac{1}{8}$ वायु। प्रत्येक स्थूल भूत पञ्चभूतात्मक होता है (पञ्चदशी १।२७)

सृष्टि

'सत्' वही है जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न हो, और 'असत्' वही है जो उत्तरकालीन उपलब्धि के द्वारा बाधित हो। सत्यत्व अबाध्यत्व है और असत्यत्व बाध्यत्व है। घन-घोर अन्धकारमयी रजनी में रास्ते में पड़ी रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान होता है। संयोगवश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर दीपक की सहायता से रस्सी देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है। यहाँ पूर्वकालीन सर्पज्ञान उत्तरकालीन रज्जुज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अतः रज्जु में सर्पज्ञान बाधित होने से मिथ्या है। परन्तु यदि मेढकों की आवाज सुनकर हमें उनके खानेवाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो और उसी समय बिजुली के चमकने से घासों में भागने वाला साँप दीख पड़े, तो कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान अबाधित होने से सत्य है। सत्य के इस सामान्य परिचय को प्रमाणिक बनाने की दृष्टि से वेदान्तियों ने 'अबाध्य' से प्रथम 'त्रिकाल' शब्द की योजना की है। अतः सत्य की शास्त्रीय परिभाषा 'त्रिकाला-

त्रिविध सत्ता

बाध्यं सत्यं' है—भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन तीनों कालों में तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो अर्थात् एक रूपेण अवस्थित रहे वही सत्य है। शंकराचार्य के शब्दों में 'एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः'। ब्रह्म ऐसा एकही तत्त्व है—जो तीनों कालमें समभाव से उपस्थित है, सर्वदा सर्वत्र निर्बाध है। वह एक है तथा अद्वितीय है। ब्रह्म से पृथक् समस्त नानात्मक जगत् मिथ्या है।

सत्ता तीन प्रकार की वेदान्तमत में मानी जाती है—(क) प्रातिभासिक या प्रातीतिक, (ख) व्यावहारिक, (ग) पारमार्थिक। (क) प्रातिभासिक सत्ता से अभिप्राय उस सत्ता है जो प्रतीतिकाल में सत्यतया प्रतिभासित हो, परन्तु उत्तरकाल में बाधित हो जाय। जैसे रज्जु-सर्प, शुक्ति रजत आदि। मृगतृष्णिकादि पदार्थ आधारहीन (निरास्पद) नहीं है (नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति —शा० भा०)। प्रतीति से पूर्वकाल में रज्जु सर्पज्ञान को उत्पन्न करती है, वर्तमान में उसी के आधार पर सर्पज्ञान की अवस्थिति है और भविष्य में इसी आधार में रज्जुज्ञानके उदय होने पर सर्पज्ञान अन्तर्हित हो जायगा।[1] अतः रज्जु-सर्प का ज्ञान आकाशकुसुम के समान निराधार नहीं है। (ख) व्यावहारिक सत्ता इस जगत् के समस्त व्यवहारगोचर पदार्थों में रहती है। जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं[2]—अस्ति, भाति, प्रिय रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई

१ रज्ज्वात्मनाऽवबोधात् प्राक् सर्पः सन्नेव भवति। सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवत् जन्म युज्यते—माण्डूक्यकारिका ३।२७ भाष्य।

२ अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ दृग्दृश्यविवेक श्लो० २०।

नाम है और कोई न कोई रूप। इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता व्यवहार के लिये नितान्त आवश्यक है। परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है; अतः एकान्त सत्य नहीं है। व्यवहारकाल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है[1]। इन समस्त पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है जो त्रिकाल में अबाध्य होने से ऐकान्तिक सत्य है वही है ब्रह्म। अतः ब्रह्म की सत्ता को (ग) 'पारमार्थिक' सत्ता कहते हैं। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी वह असत्य प्रतीत होता है। इसलिए जगत् हमारी इन्द्रियों के लिए अवश्य सत्य है, परन्तु वास्तविक रूपेण वह सत्य नहीं है। इन तीनों से भिन्न भी कतिपय पदार्थ हैं, जैसे वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि। ये निराधार या निराश्रय पदार्थ 'तुच्छ' या 'अलीक' कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती[2]।

शुक्ति में रजत के भान की विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख भिन्न-भिन्न दर्शनों के वर्णन के अवसर पर हमने यथास्थान किया है। अद्वैतवेदान्त का भी अपना एक विशिष्ट सिद्धान्त है। रस्सी में सर्प का ज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि दीपक के लाने और रज्जुज्ञान के उदय होने पर सर्पज्ञान बाधित हो जाता है, परन्तु उसे 'असत्' भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस रज्जु से ही भय-जन्य कम्पादि की उत्पत्ति होती है। अतः यह ज्ञान सत् तथा असद् उभयविलक्षण होने

अनिर्वचनीयताख्याति

---

१ सर्व-व्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। प्राग् ब्रह्मात्मता-प्रतिबोधात् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः— २।१।१४ शां० भा०।

२ असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥ माण्डूक्यकारिका ३।२८

से 'अनिर्वचनीय' या 'मिथ्या' कहलाता है। यह ज्ञान अविद्या से उत्पन्न होता है। अतः वेदान्त में 'मिथ्या' का अर्थ असत् नहीं है, प्रत्युत अनिर्वचनीय है (पञ्चपादिका पृ० ४)।

कार्य-कारण भाव के विचार करने पर भी जगत् की कल्पना अनिर्वचनीय ही ठहरती है। अद्वैतवादियों के मत में आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों भ्रान्ति के ऊपर प्रतिष्ठित हैं।

विवर्तवाद

परिणामवादी कार्य-द्रव्य को कारण से अभिन्न और साथ ही साथ भिन्न स्वीकार करते हैं। परन्तु ये युक्ति-युक्त नहीं हैं। घट और मृत्पात्र मृत्तिका के कार्य हैं। अतः मृत्तिका से अभिन्न हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि अभिन्न होते हुए भी इनमें पारस्परिक भेद कहाँ से आया? यदि इसमें पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्ष है तो मृत्तिका भी परस्पर भिन्न हुए बिना नहीं रह सकती। इस प्रकार कार्य-कारण में एक साथ ही भेद तथा अभेद कैसे माने जा सकते हैं? एक ही सत्य होगा और दूसरा कल्पित। अभेद (या एक) का परमार्थ सत् होना उचित है और भेद (या नाना) को कल्पित मानना ठीक है। ऐसा न करने पर असंख्य परमार्थ वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण-सत्ता अविनाशी तथा निर्विकार है तथा उसमें कल्पित होने वाला नानात्मक प्रपंच केवल कल्पना-मूलक है—अनिर्वचनीय है। इस तरह एकमात्र स्व-प्रकाश अखण्ड चैतन्य-सत्ताके अतिरिक्त कार्यभूत जगत् प्रातिभासिक है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य है तथा कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त है। कार्य के अनिर्वचनीय-वाद की पारिभाषिकी संज्ञा 'विवर्त' है। सिद्धान्तलेश में अप्पय दीक्षित ने दोनों का पार्थक्य भली भाँति बतलाया है। कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्तः। उपादान कारण का समानधर्मी अन्यथाभाव परिणाम और उपादान से विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त है (प्रथम परिच्छेद पृ० ५८)। परि-

णाम तथा विवर्त का भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है:—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ॥
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥

तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है परन्तु सर्प रज्जु का विवर्त है क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। परन्तु रज्जु और सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है, परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है (२ । १ । ७ शां० भा०)। इस प्रकार पञ्चदशी-कारकी सम्मति में भी कार्यदशा की कल्पना अज्ञानमूलक है—

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥–पञ्चदशी ६।४२ ।

अब विचारणीय प्रश्न है कि जब आत्मा स्वभाव से ही नित्य-मुक्त है, तब वह संसार में बद्ध क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है? निरतिशय आनन्द रूप आत्मा इस प्रपञ्च के पचड़े में पड़कर विषम दुःखों के झेलने का उद्योग क्यों करता है?

अध्यास

इसका एकमात्र उत्तर है—'अध्यास' के कारण। अध्यास कौनसी वस्तु है? शारीरक भाष्य के उपोद्घात में आचार्य ने अध्यास के स्वरूप का निर्णय बड़ी ही सरल सुबोध भाषा में किया है। आचार्य के शब्दों में 'अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः'। तत्पदार्थ में अतद् (तद्भिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना 'अध्यास' कहलाता है। जैसे पुत्र दारादिकों के सत्कृत या तिरस्कृत होनेपर अपने को मनुष्य का सत्कृत या तिरस्कृत मानना—यह हुआ बाह्य धर्मों का आरोप। इसी प्रकार अपने को स्थूल या कृश, चलनेवाला या खड़ा होनेवाला, अन्ध या बधिर मानना इन्द्रियादिकों के धर्मों के आरोप के कारण ही अभ्यन्तर धर्मों का आरोप है। यह सब अविद्या-विजृम्भित अध्यास ही है। आत्मा के विषय में यह अध्यास क्यों चला तथा कबसे चला? इसका

भी वर्णन आचार्य ने किया है। जगत् में द्विविध पदार्थों की सत्ता अनुभूयमान है—विषयी (अस्मत्प्रत्यय) तथा विषय (युष्मत्प्रत्यय)। सामने दृष्टिगोचर विषय में अन्य विषय का आरोप 'अध्यास' है, परन्तु आत्मा तो विषयी ठहरा, अतः विषयी आत्मा में अध्यास बनता ही नहीं। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि आत्मा का विषयी होना तो ठीक है, परन्तु आत्मा भी अस्मत्प्रत्यय ('मैं हूं' ऐसा ज्ञान) का विषय होता ही है। अतः उसमें भी कादाचित्क विषय की कल्पना दुरुपपाद नहीं है। पुरोऽवस्थित विषय के अतिरिक्त भी अप्रत्यक्ष आकाश में तलमलिनत्व का आरोप बालकों के द्वारा किया ही जाता है। अध्यास कबसे चला? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं[1]—कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक यह अध्यास स्वाभाविक है, अनादि है तथा अनन्त है। जगत् के समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की मूल भित्ति यही अध्यास है। यह अध्यास पशु आदि प्राणियों में भी मनुष्य के समान ही पाया जाता है। अध्यास का ही दूसरा नाम 'अध्यारोप' है (वस्तुनि अवस्त्वारोपः अध्यारोपः—सदानन्द, वे० सा० पृ० ७)। इसी अध्यारोप के निवारणार्थ आत्मविद्या का प्रतिपादन करना वेदान्त का प्रधान लक्ष्य है।

(३) वेदान्त आचार-मीमांसा

जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवन यापन करता है। वह अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भूला हुआ है। वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप ही है। आत्मा तथा ब्रह्म में नितान्त ऐक्य है। नानात्व ज्ञान से ही संसार है तथा एकत्व ज्ञान से ही मुक्ति है। आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोकनिवृत्ति मोक्ष कहलाता

---

१ एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।

है (आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च—वे० प० पृ० १९७)। अब इस मोक्ष के साधनमार्ग की रूपरेखा निरूपण करना नितान्त आवश्यक है।

भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से दार्शनिकों ने केवल कर्म, कर्मज्ञानसमुच्चय तथा केवल ज्ञान को साधनमार्ग बतलाया है। शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में पूर्व दोनों मार्गों का सप्रमाण, सयुक्तिक विस्तृत खण्डन कर अन्तिम साधन को ही प्रमाण कोटि में अंगीकार किया है। उनका कहना है कि स्वतन्त्र अथच भिन्न भिन्न फलों के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली दो निष्ठायें हैं—'कर्मनिष्ठा' तथा 'ज्ञाननिष्ठा'। इन दोनों का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। मानव जीवन से दो उद्देश्य हैं—सांसारिक सुख की प्राप्ति, जिसके लिए कर्मों का विधान किया गया है और आत्मा की परमात्मरूपेण अवगति, जिस उद्देश्य की सिद्धि काम्यकर्मों से विरक्ति और ज्ञान के अनुष्ठान से होती है। ज्ञान-कर्म का गहरा विरोध है। आचार्य का कहना है कि क्या पूर्वसमुद्र जाने वाले पुरुष का तथा तत्प्रतिकूल पश्चिम समुद्र जाने वाले पुरुष का मार्ग एक हो सकता है? प्रत्यगात्मविषयक प्रतीति के निरन्तर बनाये रखने के आग्रह को 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। वह पश्चिम समुद्र के गमन के समान है और उसका कर्म के साथ रहने में वैसा ही महान् विरोध है जैसा पहाड़ तथा सरसों में रहता है। अतः ऐकान्तिक विरोध के विद्यमान होने से ज्ञानकर्म का समुच्चय कथमपि सुसम्पन्न नहीं हो सकता[1]।

कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरूपापत्ति कथमपि सिद्ध हो सकती है? आचार्य ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्भावना की है।

---

१ न हि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्रत्यक् समुद्रं जिगमिषुणा समानमार्गत्वं सम्भवति। प्रत्यगात्मविषयप्रत्यय-सन्तान-करणाभिनिवेशश्च ज्ञाननिष्ठा। सा च प्रत्यक् समुद्रगमनवत् कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते। पर्वतसर्षपोरिव अन्तरवान् विरोधः—गीता भाष्य १८।५५।

अविद्यमान किसी वस्तु के उत्पादनने के लिए कर्म का उपयोग किया जाता है (उत्पाद्य); परन्तु क्या नित्य सिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मों के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है ? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं (आप्य) परन्तु आत्मा तो सदा हमारे पास है, तब कर्म का उपयोग क्या होगा ? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने की इच्छा से (विकार्य) तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की लालसा से (संस्कार्य) कर्म किये जाते हैं, परन्तु आत्मा के अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के निमित्त कर्मों की निष्पत्ति का प्रयास अकिञ्चित्कर ही है । अतः आत्मा के अनुत्पाद्य, अनाप्य, अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के कारण कर्म द्वारा उसकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती[1] । अतः प्रयोजनाभावात् कर्म व्यर्थ हैं[2] । साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्त्व का बोध नहीं कर सकता, परन्तु काम्यवर्जित नित्य कर्म के अनुष्ठन से चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी प्रतिबन्ध के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है[3] । आत्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्यकर्म मोक्षसाधक हैं । अतः कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड के साथ एकवाक्यता का विघात नहीं होता । सकाम कर्मों का अनुष्ठान

---

१ द्रष्टव्य ब्र० १।१।४ तथा बृह० उप० ३।३।१ का शाङ्करभाष्य ।

२ उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम् ।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम् ॥ नैष्कर्म्यसिद्धि १।५३ ।

३ यो नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणम् । नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति । विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति—गीताभाष्य १८।१०

कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मनः शक्नुवन्ति आत्मानं प्रतिबन्धेन वेदितुम् । एवं काम्यवर्जितं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते—बृह० उप० भाष्य ।

असुरत्व (पशुत्व) की प्राप्ति कराता है। देव तथा असुर का अन्तर भी यही है। स्वाभाविक रागद्वेष-मूलक प्रवृत्तियों का दास होनेवाला अधर्म-परायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है, परन्तु रागद्वेष को अभिभव कर शुभवासना की प्रबलता से धर्माचरण करनेवाला पुरुष 'देव' कहलाता है[1]।

पद्मपादाचार्य ने 'विज्ञान दीपिका' में वेदान्त-सम्मत आचारपद्धति का विवेचन किया है। कर्म की प्रबलता सर्वतोभावेन माननीय है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। अतः संसार के उच्छेद के लिए कर्म 'निर्हरण' (विनाश) करना नितान्त आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के हैं—संचित (प्राचीन), संचीयमान (भविष्य में उत्पन्न होनेवाला) तथा प्रारब्ध (वर्तमान)। संचित कर्म घर में रखे गये अन्न, सञ्चीयमान कर्म क्षेत्र में बीजरूप अन्न, प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान हैं। जिस प्रकार गृहस्थित तथा क्षेत्रस्थित अन्न का विविध रूप से नाश किया जा सकता है, परन्तु भुक्त अन्न का विनाश पाचन के ही द्वारा होता है, उसी प्रकार सञ्चित तथा संचीयमान कर्म का नाश ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है परन्तु प्रारब्ध का क्षय भोग के द्वारा ही हो सकता है। कर्म का निर्हरण कर्म, योग, ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिपाक के अवलोकन से उत्पन्न होता है[2]। फलानुसंधान-रहित निष्काम कर्म का अनुष्ठान पुण्यपापादि कार्य तथा सूक्ष्म-स्थूल-शरीर रूपी कारण का सर्वथा विलोपक होता है। अतः यही वास्तव कर्मनिर्हार है (विज्ञानदीपिका श्लो० ३०)।

---

१ स्वाभाविकौ रागद्वेषौ अभिभूय यदा शुभवासनाप्राबल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः। यदा स्वभावसिद्धरागद्वेषप्राबल्येन अधर्मपरायणो भवति तदा असुरः—गीताव्याख्यायां मधुसूदनः।

२ कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्संगाज्जापतोऽर्थतः।
परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः॥ विज्ञानदीपिका श्लो०२२।

इस विवेचन से यही परिणाम निकलता है कि सत्त्वशुद्धि या अन्तः-करण के शोधन के लिए कर्म व्यर्थ न होकर मुमुक्षु के लिये उपादेय हैं। परन्तु ज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक साधन है। आचार्य की माननीय सम्मति में न तो कर्म से, न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से, प्रत्युत केवल ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है[1]।

ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया शंकराचार्य ने 'विवेक चूड़ामणि' और 'उपदेश साहस्री' में बड़ी रोचक भाषा में वर्णित की है। शिष्य को वेदान्त ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधनचतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। ब्रह्म ही केवल सत्य है तथा तदितर समस्त संसार अनित्य-असत्य है, इस विवेक का उदय प्रथम साधन है (नित्यानित्यवस्तुविवेक)। सांसारिक और पारलौकिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियों का वश में करना), उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता-शोक से रहित अप्रतीकार पूर्वक दुःखों को सहना), समाधान (श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता) श्रद्धा (गुरु और वेदान्त वाक्यों में अटूट विश्वास) तथा मुमुक्षुत्व (मोक्ष पाने की इच्छा)—इन समग्र गुणों के उदय होने पर मनुष्य वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है। तदनन्तर शिष्य शान्त दान्त अहैतुकदयासिन्धु, ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरण में जाकर आत्मविषयक प्रश्न करता है। गुरु को निष्प्रपंच ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराना उद्देश्य है, इसीलिए वह 'अध्यारोप और अपवाद' विधि से ब्रह्म का उपदेश कराता है (अध्यारोपवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपञ्च्यते)। 'अध्यारोप' निष्प्रपंच ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देना है और 'अपवाद' विधि से आरोपित वस्तु का एक-एक निराकरण करना होता है। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप कर दिया जाता है, तदनन्तर युक्तिबल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय

---

१ द्रष्टव्य गीता भाष्य और ऐतरेय उप० भाष्य के उपोद्घात।

पंचकोशों से व्यतिरिक्त तथा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध कर उसके स्वरूप का बोध गुरु कराता है। वेदान्त की व्याख्या-पद्धति बड़ी प्रमाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है[1]।

ब्रह्मवेत्ता गुरु अधिकारी और प्रपन्न शिष्य को 'तत् त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश देता है कि तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो। इस महावाक्य का शाब्दबोध आगे बतलाया जायगा। यहाँ इसके फल का विचार करना है। फलोदय में दो मत हैं। वाचस्पतिमिश्र मण्डनमिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' (पृ० १३४–१३५) का अनुसरण कर[2] शब्द से परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति बतलाते हैं जो मनन, निदिध्यासन आदि योगप्रक्रिया के द्वारा अपरोक्षरूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः गुरूपदेश के अनन्तर वाक्यार्थ का मनन तथा ध्यानधारणा का अनुष्ठान करना नितान्त आवश्यक होता है। तब अपरोक्षानुभूति की उत्पत्ति होती है[3]। परन्तु

---

१ इसी पद्धति का प्रयोग बीजगणित में किया जाता है। यदि '$क^2 + २क = २४$' इस समीकरण में अज्ञात 'क' का मूल्य जानना होगा तो प्रथमतः दोनों ओर १ संख्या जोड़ देते हैं। और अन्त में दी गई संख्या को निकाल देते हैं। तब 'क' का मूल्य ४ निकल आता है। समीकरण का पूरा रूप यह होगा—

$$क^2 + २क + १ = २४ + १$$
$$\therefore (क + १)^2 = ५^2$$
$$\therefore (क + १) = ५$$
$$\therefore (क + १) - १ = ५ - १$$
$$\therefore क = ४$$

२ निर्विचिकित्सादाम्नायात् अवगतात्मतत्त्वस्य अनादिमिथ्यादर्शनाभ्यासोपचितबलवत्संस्कारसामर्थ्यात् मिथ्यावभासानुवृत्तिः तन्निवृत्तयेऽस्ति अन्यदपेक्ष्यम्। तस्मात् तन्निवृत्तये विनिश्चितब्रह्मात्मभावेनापि साधनान्यपेक्ष्याणि —ब्रह्मसिद्धि पृ० ३५

३ श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते। तस्मात् निर्विचिकित्सशाब्दज्ञान—संततिरूपोपासना कर्मसहकारिणथविद्योच्छेदहेतुः। —भामती जिज्ञासाधिकरणे।

सुरेश्वराचार्य की सम्मति में शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। आवरणों की सत्ता होने से यदि सद्यः ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, तो उन्हे दूर करने के लिए मनन निदिध्यासन करना चाहिए। शब्द की महिमा इसी में है कि शब्दश्रवणानन्तर हो सद्यः अपरोक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है। 'दशमस्त्वमसि (तुम ही दसवाँ हो) इस लौकिक वाक्य से इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का रहस्य समझा जा सकता है। नदी पार कर लेने के बाद दसों मूर्ख गिनती से नव ही आदमियों को पाकर शोक से उद्विग्न हो रहे थे। गिनने वाला गिनती करते समय अपने ही को भूल जाता था। परन्तु जब एक दूसरे व्यक्ति ने आकर उपदेश दिया कि दसवाँ तुम ही हो, तब वाक्यश्रवण करते ही उनका शोक विलीन हो गया। इसी प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य सुनते ही आत्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होकर आनन्द का उदय सद्यः होता है[1]। आचार्य का अपना मत यही जान पड़ता है। शब्द की इस महिमा का उल्लेख तन्त्र तथा व्याकरणागम में विशिष्टरूपेण किया गया है। भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान का मूलभेद यहीं से आरम्भ होता है।

आत्मा तथा ब्रह्म की एकता

अद्वैतियों के सामने प्रश्न था कि उपाधिविशिष्ट क्लेशकर्मादिकों में बद्ध जीव की निरुपाधि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म से एकता क्योंकर सिद्ध की जा सकती है? तत्त्वमसि' (छा० उप० ६।८।७) इसी तत्त्व का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु तत् (ब्रह्म) तथा त्वं (जीव) के विरुद्ध धर्मों के आधार होने के कारण इस अभेदप्रतिपादक वाक्य का स्वारस्य क्या है? इसके उत्तर में वेदान्तियों का कथन है कि अभिधा वृत्ति के द्वारा इस वाक्य का यथार्थ बोध हो नहीं सकता, अतः अगत्या

---

१ सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्।
अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं नास्त्यतोऽनयोः॥——नैष्कर्म्यसिद्धि १।६७

तात्पर्य को अनुपपत्ति होने से 'लक्षणा' स्वीकृत करनी पड़ती हैं (वे० प० पृ० १२०–१२४)।

लक्षणा तीन प्रकार की मानी जाती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा (या भागवृत्ति-लक्षणा)। 'गङ्गायां घोषः' (गंगा में आभीरपल्ली है) इस वाक्य में जलप्रवाहार्थक गंगारूप अधिकरण में घोष की स्थिति उपपन्न नहीं हो सकती, अतः 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर (जहत्) सामीप्यसम्बन्ध से 'तीर' अर्थ का बोधक होता है। यह 'जहत्-लक्षणा' का दृष्टान्त हुआ। परन्तु महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वं पद अपने अर्थ चैतन्य का परित्याग नहीं करते, अतः 'जहती' के द्वारा अभेद कल्पना की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है) इस वाक्य में अन्वय की उपपत्ति के लिए मुख्यार्थ का परित्याग किये बिना ही 'अश्व' अर्थ लक्षित होता है। यह है 'अजहल्लक्षणा'। इसका उपयोग भी प्रस्तुत वाक्य के लिए नहीं हो सकता। अतः अगत्या तृतीय प्रकार की लक्षणा से ही अर्थनिर्वाह होता है। 'तत्' (ब्रह्म) पद का अर्थ है—परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य तथा त्वं (जीव) का अर्थ है अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य। यहाँ चैतन्यांश में विरोध नहीं है, प्रत्युत परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशों में ही परस्पर विरोध है। अतः इन विरुद्धांशों के परित्याग (जहत्) तथा अखण्ड चैतन्यांश के परिग्रह (अजहत्) के कारण, इस लक्षण का नाम 'जहत् अजहत् लक्षणा' या एक ही भाग के ग्रहण करने के कारण 'भागवृत्ति' है। इसका लौकिक उदाहरण "सोऽयं देवदत्तः" है, कल देखा गया देवदत्त यही है। इसका अभिप्राय कालिक विरोध को छोड़कर देवदत्त की एकता स्थापित करने में है। सुरेश्वर के मत में तीन सम्बन्धों की सहायता से यह महावाक्य अखण्डार्थ का बोध कराता है—(१) पदों का समानाधिकरण्य (२) पदार्थों का विशेषण-विशेष्य (३) आत्म-ब्रह्म का लक्ष्यलक्षणभावः–

समानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ।। नैष्कर्म्यसिद्धि ३।२

पंचदशी (७ ७५) का कहना है कि इस महावाक्य का अर्थ न तो संसर्ग है न विशेष, प्रत्युत अखण्ड एकरस चैतन्य ही इसका प्रधान लक्ष्य है। आचार्य ने ४।१।२ ब्र० सू० के भाष्य में इस महावाक्य पर विशेष विचार किया है अतः 'तत्त्वमसि' का अर्थ है कि चैतन्यरूप से जीव ब्रह्मरूप ही है। महावाक्यों की संख्या चार है—प्रत्येक वेद का एक वाक्य। महावाक्यों का स्वरूप यह है[1]—प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० उप० ५।१), तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७), अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उप० १।४।१०); अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उप० २)।

शाङ्कर मत की मौलिकता

शंकर के अद्वैत सिद्धान्त में मौलिकता की खोज आलोचकोंने की है। आचार्य शंकर से पहले अनेक अद्वैतवाद का प्रचार इस भारतभूमि में था। माध्यमिकों का शून्याद्वैत, योगाचारों का विज्ञानाद्वैत, शाक्तों का शक्त्यद्वैत तथा भर्तृहरि और तदनुयायी मण्डनमिश्र का शब्दाद्वैत शंकर से प्राचीन हैं। प्रथम दो मतों का विशेष वर्णन बौद्धदर्शन के प्रसंग में किया गया है तथा शक्त्यद्वैत का विवेचन आगे किया जायगा। भर्तृहरि का सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्यपदीय है जिसमें स्फोटरूप शब्द की ही अद्वैत कल्पना स्वीकृत की गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी—इन चतुर्विध वाणी-विभेद में 'परा वाक्' साक्षात् ब्रह्मरूपा है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम सम्पन्न होता है। मण्डनमिश्र भी भर्तृहरि के मतानुयायी प्रतीत होते हैं। अभी प्रकाशित ब्रह्मसिद्धि के अनुशीलन से ज्ञान होता है कि मण्डन स्फोट को मानते थे, श्रवणसे परोक्ष ज्ञान का उदय मानकर

शंकर से प्राचीन अद्वैत मत

१ उनके अर्थ लिए देखिए पञ्चदशी पञ्चम प्रकरण।

'उपासना' को ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रधान कारण मानते थे तथा वे 'ज्ञान-कर्म समुच्चय' के पक्षपाती थे जिसके अनुसार अग्निहोत्रादि वैदिक कृत्यों का भी उपयोग मोक्षोत्पादन में अवश्यमेव है। उनकी राय में कर्मनिष्ठ गृहस्थ कर्मत्यागी संन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का विशेष अधिकारी है। शंकर शाक्ताद्वैत से परिचित थे। 'सौन्दर्यलहरी' इसका उज्ज्वल उदाहरण है। स्फोटवाद तथा बौद्ध सिद्धान्तों का उन्होंने खण्डन किया है। अतः शंकर अपने मत के लिए किसी के ऋणी नहीं हैं; परन्तु कतिपय आधुनिक आलोचक भाव तथा शब्दसाम्य के बल पर ब्रह्मवाद को शून्यवाद का औपनिषद संस्करण मानते हैं तथा प्राचीन आलोचकों ने भी 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत्' कहकर शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। परन्तु बौद्धदर्शन तथा शांकर दर्शन के तारतम्य परीक्षण से निश्चित हो जाता है कि दोनों का पार्थक्य दृढ़ आधारों पर है। 'शान्तरक्षित' ने तत्त्वसंग्रह (कारिका ३२८-३३१) में 'अद्वैतदर्शनावलम्बी' औपनिषद मत का खण्डन किया है। यदि अद्वैत में बौद्धमत की तनिक भी झलक होती, तो शान्तरक्षित तथा कमलशील जैसा बौद्ध दार्शनिक इसका बिना उल्लेख किये कैसे रहता? बौद्धों का विज्ञान अनित्य और नाना है, शाङ्करमत में विज्ञान नित्य तथा एक है। विज्ञानवाद में जगत् स्वप्नावभास है, शाङ्करमत में ऐसा नहीं। चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य 'सत्' रूप नहीं है, पर शाङ्करमत में 'ब्रह्म' सद्रूप है—ये अनेक मौलिक धारणायें भिन्न भिन्न हैं। अतः शङ्करको अद्वैतकल्पना के लिए बौद्धों का ऋणी ठहराना असंगत प्रतीत होता है।

शंकरपरवर्ती आचार्यों के मत

शंकरपरवर्ती वेदान्ताचार्यों ने अपने ग्रन्थों में वेदात के प्रधान सिद्धान्तों के उपर अपने विशिष्ट मतों की उद्भावना की है। इनका सुबोध संग्रह अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में किया है।

अविद्या और माया का पार्थक्य, जीव-ईश्वर-स्वरूप, जगत् का उपादान-कारणत्व, आदि विषयों पर इन नव्यवेदान्तियों की युक्तिबहुल कल्पनायें मननीय हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बतलाया है। संक्षेपशारीरककार की सम्मति में शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान है, परन्तु विवरणकार माया शवलित ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) को उपादान मानते हैं। तत्त्वनिर्णयकार ब्रह्म और माया दोनों को, पर सिद्धान्तमुक्तावलीकार केवल मायाशक्ति को, जगत् का उपादान बतलाते हैं। पञ्चदशी के मत से माया शुद्धसत्वमयी है, परन्तु अविद्या रजस्तमोध्वस्ता अर्थात् रजोगुण और तमोगुण के प्राधान्य होने पर होती है। माया के विषय में भिन्न भिन्न मत मिलते हैं। जिस प्रकार मृत्तिका की श्लक्ष्णता (चिकनाहट) घट के उत्पादन के प्रति द्वारकारण होती है, उसी प्रकार शुद्धब्रह्म के उपादान होने में माया द्वारकारण है (संक्षेप शारीरक), परन्तु वाचस्पतिमिश्र की सम्मति में जीवाश्रित माया से विषयीकृत ब्रह्म प्रपञ्चरूप से परिणत होता है। अतः ब्रह्म ही उपादान है, माया तो सहकारी कारण है[1]।

जीव-ईश्वर की स्वरूपकल्पना वैमत्य का प्रधान विषय है। इस विषय में (१) आभासवाद, (२) प्रतिबिम्बवाद; (३) अवेच्छदवाद, (४) जीवैक्यवाद आदि अनेक विशिष्ट मत हैं। (१) अद्वैत मत में एक

---

१ शङ्कर तथा भामतीकार के मतभेद का उल्लेख अमलानन्द ने इस प्रकार किया है—

स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत् ।
जीवभ्रान्तिनिमित्तं तद् बभाषे भामतीपतिः ॥
अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत् ।
जीवाज्ञानं जगद्बीजं जगौ वाचस्पतिस्तथा ॥

—कल्पतरु पृ० ४७१ ।

आत्मा ही सत्य है; आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है; अतः आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्-कारण है। तथापि अज्ञान-रूप उपाधि से युक्त आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के अविवेक के कारण अन्तर्यामी, साक्षी और ईश्वर कहलाता है। बुद्धि-उपहित तादात्म्य को प्राप्त कर बुद्धिगत स्वकीय चिदाभास को न जानकर जीव कर्ता, भोक्ता तथा प्रमाता कहा जाता है। इस मत की संज्ञा आभासवाद है। इसके अनुसार जीव नाना और ईश्वर एक है। (२) अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य का ईश्वर तथा बुद्धि-प्रतिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं, परन्तु अज्ञान की उपाधि से रहित बिम्ब—चैतन्य शुद्ध है (संक्षेप शारीरक); स्वतन्त्रतादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर बिम्बस्थानापन्न हैं और परतन्त्रता के कारण अविद्या में चिदाभास जीव है (विवरण) अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्ब रूप है। यही प्रतिबिम्बवाद है। परन्तु इस सिद्धान्त में अनेक वेदान्तियों को अरुचि है। समस्त प्रतिबिम्बस्थलों में प्रायः रूपवान् पदार्थ का रूपवान् आधार में ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। जैसे रूपवान् चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रूपवान् जल में ही पड़ता है। परन्तु ब्रह्म के रूपहीन होने से न तो उसका प्रतिबिम्ब सम्भव है और न रूपहीन अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब उत्पादन की शक्ति है। (३) अतः वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद को युक्तियुक्त मानते हैं। इस पक्ष में एक ही चैतन्य अज्ञान के आश्रय और विषय के भेद से दो प्रकार का है। अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य जीव है। अथवा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है और अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर कहलाता है। अज्ञान के नाना होने से इस मत में जीव भी नाना है। इस पक्ष में स्वाज्ञान से उपहित होने से जीव जगत् का उपादान कारण है, ईश्वर उपचारमात्र से कारण माना जाता है (सिद्धान्तबिन्दु पृ० ८०)। (४) वेदान्त का

मुख्य सिद्धान्त 'एक-जीव-वाद' है। इस मत में अज्ञानरूपी उपाधि से विरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर और अज्ञान से उपहित चैतन्य जीव है। जीव ही अपने अज्ञानवश से जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। देहभेद से जीवभेद की प्रतीति भ्रान्तिमयी है, क्योंकि वस्तुतः जीव एक ही है। एक ही आत्मा का गुरु की कृपा तथा शास्त्रविहित श्रवणादि उपायों से मोक्ष होता है, शुक वामदेवादिकों की मोक्षवार्ता अर्थवादमात्र है। इसी मत का दूसरा नाम 'दृष्टिसृष्टिवाद' है :—

आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम्।
उद्भूय स्थियिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः॥
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली श्लोक २१।

(४) कुछ वेदान्तियों की सम्मति में जिस प्रकार कौन्तेय (कुन्तीपुत्र कर्ण) की ही अविद्या के कारण राधेय (राधापुत्र) रूप से प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविकृत ब्रह्म ही अविद्या से जीवभाव को प्राप्त करता है। व्याधकुलवर्धित राजपुत्र के समान जीव अविद्या के वशीभूत होकर अपने शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव को भुलाये हुए है। आचार्योपदेश से शुद्ध सच्चिदानन्द रूप को जानते ही वह मुक्त हो जाता है।

समीक्षा

अद्वैत वेदान्त का यह संक्षिप्त वर्णन है। इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्मविषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्कविषक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। आचार्य ने अपने सिद्धन्तों के प्रतिपादन के लिए भगवती श्रुति का आश्रय तो लिया ही है, परन्तु उन्हें पुष्ट करने के लिए तथा अन्य मतों के निराकरण के वास्ते उन्होंने आगमरहित, पुरुषोत्प्रेक्षामात्र-मूलक तर्क से विपरीत वेदशास्त्राविरोधी तर्क का विशेष उपयोग किया है। आचार्यप्रतिपादित साधनमार्ग भी नितान्त मनोरम है। वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते,

प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए फलकामनाहीन निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। इन्हीं कारणों से आज कल जनसाधारण में भी इसकी इतनी लोकप्रियता है। बौद्धों को परास्त कर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में कुमारिलभट्ट के साथ शंकराचार्य का भी बहुत बड़ा हाथ है। आचार्य श्रीविद्या के उपासक, परम सिद्ध पुरुष थे। इसी कारण आप भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। वैष्णव आचार्यों ने मायवाद को भक्ति से नितान्त विरोधी मान कर उसका खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है। इतना होने पर भी आचार्य का अद्वैत वेदान्त इस विश्व की पहेली को समझाने में जितना सफल हुआ, उतना दूसरा मत नहीं। इसी लिए अद्वैत वेदान्त का इतना गौरव है।

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावत् वेदान्तकेसरी ॥

अद्वैत वेदान्त के मूल स्रोत का हमें पता उपनिषदों में तो लगता ही है। परन्तु उससे भी प्राचीन वैदिक संहिताओं में भी यही सिद्धान्त सर्वत्र व्यापक रूप से जागरूक दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी विद्वानों का यह आग्रह है कि संहिताओं में कर्मकाण्ड पर ही जोर दिया है। ज्ञानकाण्ड का उदय तो कर्मकाण्ड के विरोध रूप में उपनिषदों में ही सर्व प्रथम हुआ। परन्तु यह मत सर्वथा भ्रान्त है। उपनिषदों ने अपने सिद्धान्तों के लिये भी संहितायों को ही अपना उद्गम स्वीकार किया है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन तथा व्यावहारिक धर्म होने के कारण वेदान्त की भूयसी प्रतिष्ठा सर्वतोभावेन उचित तथा श्लाघनीय है।

त्रयोदश परिच्छेद

वैष्णव दर्शन

नारायण ही भक्ति-ज्ञान के मूल स्रोत हैं। ज्ञान और भक्ति की धारायें नारायण से आरम्भ होकर जगन्मांगल्य के लिए प्रवृत्त होती हैं। भगवान् ही अद्वैत दर्शन तथा वैष्णवदर्शनों के उद्गम स्थान है। शुकदेव के द्वारा अद्वैत ज्ञानधारा प्रवृत्त हुई। शुक—गौड़पाद—गोविन्द भगवत्पाद— शंकराचार्य यह अद्वैतमार्ग की मुख्य आचार्य-परम्परा है। वैष्णवधर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय तथा सनक सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का उदय भगवान से ही लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। नारायण से लेकर गुरु परम्परा का क्रम प्रत्येक सम्प्रदाय में मिलता है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज 'विशिष्टाद्वैत' के, 'ब्रह्मसम्प्रदाय' के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) 'द्वैत' के, 'रुद्र-सम्प्रदाय' के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ 'शुद्धाद्वैत, के, 'सनक सम्प्रदाय' के आचार्य निम्बार्क 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चैतन्यसम्प्रदाय माध्वमत की ही एक शाखा है, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैतवाद से पृथक् 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त को अपनाया है। पांचरात्र का प्रामाण्य सबको माननीय है, परन्तु श्री

वैष्णवमत पर पांचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णवपुराणों में विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ तथा चैतन्य ने अपनाया है। इस परिच्छेद में इन्हीं निगमागममूलक पाँचों वैष्णव दर्शनों का परिचय संक्षेप में क्रमशः दिया जायेगा।

(१) रामानुज दर्शन

दक्षिण भारत के तामिल प्रान्त को अपने भक्तिमय पद्यों तथा गायनों से आनन्दविभोर बनाने वाले वैष्णव सन्तों का नाम 'आलवार' है। 'आलवार' शब्द तमिल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ अध्यात्मज्ञानरूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला पुरुष होता है। ये सन्त भगवान नारायण के सच्चे भक्त थे। इन्होंने अपनी मातृभाषा तमिल में भक्तिरस से आप्लावित सहस्रों पद्यों की रचना कर साधारण जनता में भगवद्भक्ति का प्रचुर प्रचार किया। प्रसिद्ध 'आलवारों' में अनेक नीच जाति के पुरुष थे। सुनते हैं सबसे प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अछूत जाति के थे, 'तिरुमंगै' आलवार जाति से नीच, और कर्म से बड़े भारी डाकू थे। गोदा या आण्डाल स्त्री थी। भगवान् के दरबार में जातिपाँति का आदर नहीं होता, वहाँ पहुँचने में केवल भक्तिमय हृदय की आवश्यकता होती है। 'आलवारों' ने अपने जीवन से इस सत्य को यथार्थ प्रमाणित कर दिया। 'आलवार' संख्या में १२ माने जाते हैं। इनकी स्तुतियों का संग्रह 'नालायिर प्रबन्ध' (चतुः सहस्र पद्यात्मक) कहा जाता है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द से ओतप्रोत अध्यात्मज्ञान का एक अनमोल खजाना है। इनका आविर्भाव काल सप्तम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी तक माना जाता है।

आलवार

आलवारों के नाम दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो तमिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। इनके जीवन की घटनायें बड़े विस्तार के साथ

लिखी गई है। इन भक्तों का आदर इतना अधिक है कि इनकी मूर्तियों की स्थापना वैष्णव मन्दिरों में की गई है जहाँ इनके मधुर पद्य आज भी गाये जाते हैं तथा इनकी प्रभावशालिनी जीवनघटनायें नाटक के रूप से सर्वसाधारण के उपदेश के लिए दिखाई जाती हैं। इनके पद्य वेदमन्त्रों के समान पवित्र तथा मुक्तिरूपी गंगा के बहाने वाले हैं। पवित्रता और आध्यात्मिकता के कारण इन पद्यों का पूर्वोक्त संग्रह 'तमिलवेद' के महनीय नाम से पुकारा जाता है। इनके नाम पराशर-भट्ट ने एक सुन्दर श्लोक में दिया है—

भूतं सरश्च महदाह्वयभट्टनाथ-
श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान्।
भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्
श्रीमत्परांकुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

आरम्भ के तीन अलवारों के नाम 'पोयगै' आलवार (सरोयोगी)' 'भूतत्तालवार' (भूतयोगी) 'पेयालवार' (महत्योगी) है। ये प्रायः सम-कालीन तथा सबसे प्राचीन माने जाते हैं। चौथे भक्त का नाम 'तिरु-मड़िसै' आलवार (भक्तिसार) है जो उनकी जन्मभूमि तिरुमड़िसै के कारण है। पञ्चम आलवार इन भक्तों की श्रेणी के मुकुटमणि माने जाते हैं। इसका नाम 'नम्मालवार' या परांकुशमुनि या शठकोपाचार्य है। इन्होंने चार सुप्रसिद्ध भक्तिज्ञानप्रपूरित ग्रन्थरत्नों की रचना की है—(क) तिरुविरुत्तम्, (ख) तिरुवाशिरियम्, (ग) पेरियतिरुवन्दादि, (घ) तिरुवॉयमोलि। साहित्यिक सौन्दर्य से समन्वित ये ग्रन्थ आध्या-त्मिकतत्त्वों के प्रदर्शक होने के कारण श्रीवैष्णव ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये चारों ग्रन्थ चारों वेदों के समकक्ष स्वीकृत किये गये हैं। वेदान्तदेशिक ने अन्तिम ग्रन्थ को 'द्रविडोपनिषद्' कहा है तथा उसका संस्कृत भाषा में अनुवाद किया है। श्रीवैष्णवों के मौलिक सिद्धान्त—

मूलमन्त्र, द्वय तथा चरम श्लोक—का प्रतिपादन होनेसे ये वैष्णव समाज में समधिक आदर के भाजन हैं। योगी शठकोपाचार्य के शिष्य (६) 'मधुरकवि' ने अपने गुरुदेवका पवित्र चरित्र लिखकर गुरुभक्ति को ईश्वर-भक्ति के समान ही आदरणीय बतलाया है। (७) 'कुलशेखर' आलवार मालाबार प्रान्त के प्रजारञ्जक राजा थे। राज्यवैभव को लात मारकर ये श्रीरंगम् में एक साधारण निर्धन भक्त के समान जीवनयापन करते थे। इन्होंने 'पेरुमाल तिरोमोलि' की रचना तमिलभाषा में और 'मुकुन्द-माला' की रचना संस्कृत में की है जो भाषा और भाव के सौन्दर्य के कारण रसिक समाज में नितान्त प्रख्यात है। (८) 'पेरिय आलवार' का दूसरा नाम 'विष्णुचित्त' है जिन्होंने दक्षिण के एक बड़े राजा को वैष्णव बनाया था। (९) 'गोदा' या आण्डाल को विष्णुचित्त अपनी पुत्री के समान मानते थे। आण्डाल कृष्ण के प्रेम में सदा मस्त रहती थी। वह श्रीरंगम् के रंगनाथजी को अपना पति मानती थी। गोपीप्रेम की झलक आण्डाल के जीवन तथा काव्य में भरपूर मिलती है। इनके 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरोमोलि' नामक काव्यग्रन्थ भक्तिरस से विभोर भक्तजन के हृदयोद्गार हैं। (१०) 'तोण्डरडिप्पोलि' (विप्र-नारायण) की उपाधि 'भक्तपदरेणु' है, क्योंकि वे श्रीरंगम् के मन्दिर में आने वाले समस्त भक्तजनों का चरणामृत लिया करते थे। (११) 'तिरुप्पन' (मुनिवाहन, योगवाहन) जाति से अछूत थे, पर भक्ति में पहुंचे हुए भक्त थे। (१२) 'तिरुमंगैआ' आलवार (नीलन्, परकाल) अछूत जाति के एक बड़े भयानक डाकू थे और लूट से मिले द्रव्य से भगवान् के मन्दिरों को बनवाते थे। इन्होंने ६ पद्यग्रन्थों का निर्माण किया है जो तमिलभाषा के 'वेदांग' माने जाते हैं। ग्रन्थरचना की दृष्टि से नीलन् का स्थान शठकोपाचार्य से कुछ ही घटकर है। इन्हीं आलवारों के उद्योग का फल था कि परवर्तीकाल में रामानुज को श्री वैष्णव मत के प्रचार करने में इतनी सफलता प्राप्त हुई।

(क) विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य

दशम शताब्दी में तमिलप्रान्त में वैष्णवधर्म की विशेष उन्नति हुई। इस समय से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने तमिल जनता में विष्णुभक्ति के प्रचार करने का श्लाघनीय उद्योग किया। ये 'आचार्य' कहलाते हैं। इन आचार्यों ने आलवारों की भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का सुन्दर समन्वय किया; तमिल वेद तथा संस्कृत वेद का गहरा अध्ययन कर इन लोगों ने तमिलवेद के सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्तों से पूरा सामञ्जस्य दर्शाया। इस कारण ये 'उभयवेदान्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की और 'प्रपत्ति' मार्ग की प्रतिष्ठा कर एक नवीन वैष्णव मत को चलाया जो 'श्री' या 'लक्ष्मी' के आद्य प्रवर्तक होने के कारण 'श्रीवैष्णव' के नाम से विख्यात है। इन आचार्यों के आद्य आचार्य (१) रंगनाथ मुनि (८२४-९२४ ई०) 'नाथ मुनि' के नाम से वैष्णव जगत् में विख्यात है। ये शठकोपाचार्य की शिष्यपरम्परा में थे। इन्होंने लुप्तप्राय 'तामिलवेद' का पुनरुद्धार किया, श्रीरंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की तथा वैदिक ग्रन्थों के ही समान इन-ग्रंथों का भी अध्यापन प्रारम्भ किया। इनके 'योगरहस्य' का उल्लेख वेदान्तदेशिक ने किया है। इनका 'न्यायतत्त्व' विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें न्याय के तत्त्वों का विवेचन है। (२) यामुनाचार्य का विख्यात नाम 'आलवन्दार' है। ये नाथमुनि के पौत्र थे। ९७३ ई० के लगभग ये आचार्य की गद्दी पर श्रीरंगम् में प्रतिष्ठित हुए। नाथमुनि के बाद 'पुण्डरीकाक्ष' और 'राममिश्र' आचार्य पद पर आरूढ़ थे। राममिश्र के उद्योग करने पर यामुन ने राजसी वैभव का तिरस्कार कर वैष्णवमत के प्रचार में अपना शेष जीवन बिताया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(क) गीतार्थ संग्रह, (ख) श्री चतुःश्लोकी (लक्ष्मी की स्तुति), (ग) सिद्धित्रय (आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, मायाखण्डन तथा आत्म-विषयसम्बन्ध प्रति

पादक संवित्-सिद्धि) (घ) महापुरुषनिर्णय (विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन), (ङ) आगमप्रामाण्य (पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता का विवेचन) (च) आलवन्दारस्तोत्र (स्तोत्ररत्न) यामुन के ग्रन्थों में सब से अधिक लोकप्रिय इस स्तोत्र के ७० पद्यों में 'आत्मसमर्पण' के सिद्धान्त का मनोरम वर्णन है। कविहृदय की भक्ति-भावना इन सरस पद्यों में फूट कर बह रही है।

(३) रामानुजाचार्य—(१०३७–११३७ ई०)-ये यामुनाचार्य के पौत्र श्रीशैलपूर्ण के भागिनेय थे। आचार्य यादवप्रकाश से पहले वेदान्त पढ़ते थे, परन्तु गुरु के अद्वैतमत में विपुल दोष देखकर इन्होंने पढ़ना छोड़ दिया तथा अन्य आचार्यों से वैष्णवशास्त्र का अध्ययन किया। ये यामुनाचार्य के अनन्तर प्रधान आचार्य बने। पत्नी से मतभेद, संन्यासग्रहण, शैवमतानुयायी चोल नरेश के अत्याचारों से तंग आकर मैसूर में भाग आना, मेलकोट में लगभग १२ वर्ष तक निवास तथा बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) को वैष्णव मत में दीक्षित करना—आदि इनकी जीवनघटनायें नितान्त प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मसूत्र के ऊपर विशिष्टाद्वैतमतानुयायी 'श्रीभाष्य' (रचनाकाल ११०० के आसपास) की स्वयं रचना कर, अपने शिष्य कुरेश के पुत्र पराशर भट्ट के द्वारा विष्णुसहस्रनाम पर पाण्डित्यपूर्ण 'भगवद्गुणदर्पण' भाष्य और अपने मातुलपुत्र कुरुकेश के द्वारा नम्मालवार के 'तिरुवायमोळि' पर तमिल भाष्य का निर्माण कराकर रामानुज ने यामुन के तीनों मनोरथों को पूर्ति कर दी। आपके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) वेदार्थसंग्रह (शांकर मत, भास्कर मत का खण्डनात्मक मौलिक ग्रन्थ—सुदर्शनसूरि की 'तात्पर्यटीका' विख्यात व्याख्या है); (२) वेदान्तसार—ब्रह्मसूत्र की लघुतर टीका, (३) वेदान्तदीप—यह भी ब्रह्मसूत्र की टीका है, पर सार से विस्तृत है; (४) गद्यत्रय—(ईश्वर तथा प्रपत्ति विषयक सुन्दर ग्रन्थ) (५) गीताभाष्य (वेदान्तदेशिक कृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका); (६) श्रीभाष्य—रामानुज के पाण्डित्य का उत्कृष्ट

उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का विस्तृत, प्रामाणिक विवेचन है। इन्होंने बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के व्याख्यानों पर इस विशिष्टाद्वैत मार्ग का अवलम्बित होना बतलाया है (वेदार्थसंग्रह पृ० १४८)।

परवर्ती आचार्यों ने श्रीभाष्य के गूढ़ार्थ को प्रकट करने के लिए अनेक वृत्तिग्रन्थों की रचना की है—(१) 'सुदर्शनसूरि' (१३ श०) की 'श्रुतप्रकाशिका' भाष्यवृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। (२) इनके पहले भी 'राममिश्र देशिक' ने 'श्रीभाष्यविवृत्ति' लिखी थी, (३) 'वात्स्य-वरद' कृत 'तत्त्वसार', (४) वेदान्तदेशिक' कृत 'तत्त्वटीका' (५) 'वीर-राघवदास' (१४ श०) की 'तात्पर्यदीपिका', (६) 'मेघनादारि' कृत 'नयप्रकाशिका', (७) 'परकालयति' की 'मितप्रकाशिका'—आदि टीकायें श्रीभाष्य के गौरव को बढ़ाने वाली हैं।

आचार्य रामानुज की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही श्रीवैष्णवों में दो बड़े स्वतन्त्र मत उठ खड़े हुए। एक पक्ष तमिल वेद की ही

दो मत

प्रामाणिकता अक्षुण्णभावेन स्वीकार करता था तथा संस्कृत के निबन्ध ग्रन्थों में आस्था न रखता था। तमिल के पक्षपाती इस मत का नाम 'टेंकलै' है। दूसरा पक्ष दोनों को प्रमाण कोटि में मानता था पर संस्कृताभिमानी था। इस मत का नाम 'वड्कलै' है। दोनों में भाषाभेद के साथ अठारह सिद्धान्तगत पार्थक्य भी हैं, जिनमें प्रपत्ति' के विषय में पार्थक्य विशेष है। टेंकलै मत के अनुसार प्रपत्ति के लिए जीव को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। शरणापन्न होते ही भगवान् स्वयं जीव का उद्धार करते हैं। परन्तु 'वडकलै' मत में जीव को प्रपत्ति के लिए भी कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। मार्जार किशोर (बिल्ली का बच्चा) और कपिकिशोर (बन्दर का बच्चा) के दृष्टान्त इन मतों के भेद को समझाने के लिए ग्रन्थों में क्रमशः दिये जाते हैं।

मार्जार किशोर स्वयं निश्चेष्ट रहता है। उसने अपने को अपनी माता के आश्रय में डाल दिया है। फलतः बिल्ली अपने शरणागत बच्चे की सदा रक्षा करती है, यद्यपि वह स्वयं क्रियाहीन रहता है। कपिकिशोर की दशा इसके विपरीत है। वह शरणागत होने पर भी अपनी माता के शरीर को जोर से पकड़े रहता है। भक्त को भी भगवान् के शरण में जाने पर भी अपने कर्तव्य-कर्मों का परित्याग कभी न करना चाहिए। रामानुज के इन मतों में यही प्रपत्ति विषयक मतभेद है। 'टेंकलई' मत के प्रतिष्ठापक श्रीलोकाचार्य (१३ शतक) थे जिन्होंने 'श्रीवचन-भूषण' ग्रंथ में इस प्रपत्तिपन्थ का विशद शास्त्रीय विवेचन किया है। 'बडकलै' मत के प्रतिष्ठापक विख्यात 'वेदान्तदेशिक' थे जो लोकाचार्य के समकालीन थे। लोकभाषा पर पक्षपात दिखलाने के कारण आजकल टेङ्कलैं मत का प्रचार, प्रसार तथा प्रभाव दक्षिण भारत में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

विशिष्टद्वैत-साहित्य

रामानुज सम्प्रदाय की ग्रन्थसम्पति शाङ्करमत से कम नहीं है, परन्तु प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या बहुत नहीं है। विख्यात ग्रन्थकारों का ही यहाँ निर्देश करना पर्याप्त होगा:—

(१) सुदर्शनसूरि—ये वरदाचार्य (१२००—१२७५ ई०) के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के व्याख्यानों के आधार पर श्रीभाष्य की प्रसिद्ध व्याख्या 'श्रुत-प्रकाशिका' लिखी है। इसके अतिरिक्त श्रुतदीपिका, उपनिषद्-व्याख्या, वेदार्थसंग्रह पर तात्पर्यदीपिका, भागवत पर शुक-पक्षीय टीका प्रसिद्ध हैं।

(२) वेंकटनाथ (१२६९-१३६९ ई०)—वेदान्ताचार्य के नाम से विख्यात हैं। इनकी कोटि का विद्वान् श्रीवैष्णवपन्थ में दूसरा कोई नहीं हुआ। इनकी 'कवितार्किकसिंह' तथा 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' उपाधि यथार्थ हैं। ये कवि, तार्किक, विचारक, शास्त्रार्थवावदूक रूप में सम-भावेन आदरणीय हैं। इनके काव्यग्रन्थों में संकल्पसूर्योदय, हंसदूत,

रामाभ्युदय, यादवाभ्युदय, पादुकासहस्र काव्यदृष्टि से अनुपम हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में श्रेष्ठ रचनायें ये हैं—तत्त्वटीका (श्रीभाष्य पर विस्तृत व्याख्या), अधिकरणसारावली (ब्र० सू० के अधिकरणों का पद्यमय विवेचन); तत्त्वमुक्ताकलाप (सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ), न्यायपरिशुद्धि और न्यायसिद्धाञ्जन में विशिष्टाद्वैत मत की प्रमाण-मीमांसा वर्णित है; गीतार्थतात्पर्यचन्द्रिका (रामानुज के गीताभाष्य की टीका) ईशावास्यभाष्य, द्रविडोपनिषद्तात्पर्यरत्नावली, शतदूषणी (रामानुजदास कृत 'चण्डमारुत; टीका; अद्वैत का विविध प्रकार से प्रचण्ड खण्डन)। 'सेश्वरमीमांसा' का परिचय पहले दिया गया है। पाञ्चरात्ररक्षा, सच्चरित्ररक्षा, निक्षेपरक्षा, न्यासविंशति आदि निबन्ध 'प्रपत्ति' और धर्म विषयक महत्त्वशाली ग्रन्थ हैं। इनके मामा आत्रेय रामानुज का 'नयकुलिश' तर्कविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। (३) लोकाचार्य—१३२७ ई० में श्रीरंगम् की यवनों के द्वारा लूटे जाने पर मन्दिर की रक्षा में इन्होंने प्राण गँवाया। 'श्रीवचनभूषण' के अतिरिक्त १६ रहस्यों की रचना की थी जिनमें 'तत्त्वत्रय' तथा तत्त्वशेखर' प्रकाशित हैं। (४) वरवरमुनि(१५ श०) टेंकलै मत के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं जिन्होंने लोकाचार्य के ग्रन्थों पर टीकायें लिखीं तथा 'तामिलवेद' के भाष्यों का प्रचुर प्रचार किया। (५) श्रीनिवास (१६ श०) की 'यतीन्द्रमतदीपिका' रामानुजमत का लोकप्रिय ग्रन्थ है। (६) रङ्गरामानुज (१६ श०) ने ब्रह्मसूत्र पर, श्रीभाष्य पर, न्याय-सिद्धाञ्जन पर टीकायें लिखीं। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य पर विशिष्टाद्वैती भाष्य तथा रामानुजसिद्धान्तसार नामक प्रकरणग्रन्थ की रचना की है।

(ख) रामानुज की पदार्थमीमांसा

रामानुजमत में पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् और ईश्वर। चित से अभिप्राय भोक्ता जीव से, अचित् का तात्पर्य भोग्य जगत् से तथा

ईश्वर से अभिप्राय सर्वान्तर्यामी से है। रामानुज की यह पदार्थत्रैविध्य कल्पना श्वेताश्वतर के भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित है (भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्—श्वेता० १।१२)। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के अधीन रहते हैं, क्योंकि अन्तर्यामी रूप से वह ईश्वर दोनों के भीतर विराजमान रहता है[1] (परमेश्वरस्यैव भोक्तृ भोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम्–स० प० सं०पृ० ४०)। इसलिए चित् तथा अचित् ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। ईश्वर प्राकृत-गुण-रहित, निखिलहेयप्रत्यनीक, कल्याणगुण-गुणाकर, अनन्त ज्ञानानन्दस्वरूप, ज्ञानशक्त्यादि-कल्याणगुणविभूषित तथा सकल-जगत्-सृष्टिस्थितिसंहारकर्ता है। अतः रामानुज के मत में सगुण या सविशेष ब्रह्म ही उपनिषत्प्रतिपाद्य है, क्योंकि जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना ही असम्भव है। संसार के समस्त पदार्थ गुणविशिष्ट ही होते हैं, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी सविशेष वस्तु की ही प्रतीति होती है[2]।

यह ईश्वर सजातीय-विजातीय भेद शून्य होने पर भी स्वागत-भेदसम्पन्न है। ईश्वर के समान सजातीय तथा विजातीय पदार्थ की सत्ता नहीं है, अतः वह द्विविधभेद शून्य है, परन्तु चिदचिद् ईश्वर के शरीर हैं जिसमें चिदंश अचिदंश से सर्वथा भिन्न रहता है। अतः ईश्वर स्वगतभेद से शून्य नहीं है।

ईश्वर—ईश्वर के साथ चिद् अचिद् का सम्बन्ध किस प्रकार का

---

१ ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनः ॥

२ सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते—स० द० सं० पृ० ४३।

हैं? इस प्रश्न की मीमांसा के लिए आचार्य श्रीरामानुज ने द्रव्य तथा गुण अथवा द्रव्य तथा अन्य द्रव्य में विद्यमान रहने वाला 'अपृथक् सिद्धि' नामक सम्बन्ध स्वीकृत किया है। यह सम्बन्ध न्याय-वैशेषिकसम्मत समवाय के अनुरूप होने पर भी उससे भिन्न है। समवाय बाह्य सम्बन्ध है, परन्तु अपृथक्सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है। चिदचिद् का सम्बन्ध ईश्वर के साथ शरीर तथा आत्मा के परस्परसम्बन्ध के नितरां अनुरूप है। शरीर वही है जिसमें आत्मा के लिए नियमेन आधेयत्व, नियमेन विधेयत्व तथा नियमेन शेषत्व हो अर्थात् जिसे आत्मा धारण करता है, नियमन करता है तथा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर चिदचिद् को आश्रित करता है तथा कार्य में प्रवृत्त करता है[१]। इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा 'विशेष्य' कहलाता है। जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा वह 'विशेषण' कहलाता है। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है। नियम्य तथा अप्रधान होने से जीव तथा जगत् विशेषण हैं। आत्मभूत ईश्वर के चिदचिद् शरीर हैं। विशेष्य-भूत ईश्वर के चिदचिद् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न हो कर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना युक्तियुक्त है। ब्रह्म अद्वैतरूप है, क्योंकि अंगभूत चिदचिद् को अंगी से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। 'विशिष्टाद्वैत' नामकरण का यही रहस्य है।

यही ईश्वर सकल जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है। यह कारण-व्यापार न तो अविद्याकर्मनिबन्धन है और न परनियोगमूलक है, अपि तु स्वेच्छाजन्य है। रचना का प्रयोजन केवल लीला है, अन्य

---

१ सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतना चेतनं तस्य शरीरम्—२।१।६ श्रीभाष्य।

कुछ नहीं। बालक जिस प्रकार खिलौनों से खेलता है, उसी प्रकार वह लीलाधाम भगवान् जगत् उत्पन्न कर खेल किया करता है। संहारदशा में लीला की विरति नहीं होती क्योंकि संहार भी उसकी एक लीला ही है। जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूलरूप और सूक्ष्मरूप धारण करने से हैं। प्रलयकाल[1] में जीवजगत् के सूक्ष्मरूपापन्न होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है, और सृष्टिकाल में स्थूलरूप धारण करने पर स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। वह निर्विशेष किसी भी अवस्था में नहीं रह सकता। अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य इसी कारणावस्थ ब्रह्म से है। ब्रह्म समस्त हेयगुणों से शून्य है। इस लिए वह 'निर्गुण' कहलाता है (निर्गुणवादश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते—श्रीभाष्य पृ० ८३)। 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि वाक्यों का विषय वही अव्याकृत ब्रह्म है जिसमें प्रलयकाल में जीव तथा जगत् सूक्ष्मरूप धारण कर लेते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों का यही कथन है[2]। इसी कारण इस मत का 'विशिष्टाद्वैत' नामकरण नितान्त सार्थक है। भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करनेके पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार—रूपों को धारण करता है (तत्त्वत्रय पृ० १२२–१४१)। ईश्वर के इस

---

१ स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचितोः सर्वावस्थावस्थितयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतया पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः। श्रीभाष्य पृ० ८२।

२ वस्त्वन्तरविशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं श्रुत्यभिप्रायः। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः तदानीं सिद्धत्वात् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं सिद्धम् (वेदान्ततत्त्वसार)।

पञ्चविधरूप की कल्पनो रामानुज ने प्राचीन भागवत सम्प्रदाय से ग्रहण की है।

अद्वैत मत से पार्थक्य

इस प्रकार रामानुज की ईश्वर-कल्पना शांकरमत की कल्पना से भिन्न है। शांकरमत में (१) एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च कुछ नहीं है, (२) ब्रह्म सजातीय-विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य है,(३) ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है, परन्तु रामानुज मत में (१) चिदचिद्-रूप शरीर विशिष्ट ब्रह्म सत्य है, इसके तथा उसके शरीर (जीव और जगत्) से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। (२) सजातीय-विजातीय भेद से शून्य होने पर भी वह स्वगत भेद से शून्य नहीं है (३) ब्रह्म सविशेष ही है, स्वभाव से ही उसमें अपहतपाप्मत्वादि कल्याण गुणों की सत्ता है, प्राकृतहेय गुणों से वह सर्वथा हीन है। शांकर मत में (४) ब्रह्म ही मायोपाधि से ईश्वर और अविद्योपाधि से जीव कहलाता है, परन्तु जड़ जगत् प्रतिभासिक (मिथ्या) ही है। अतः तत्त्व एक ही है। रामानुज के अनुसार (४) ब्रह्म ही ईश्वर है, उसके शरीरभूत जीव और जगत् उससे भिन्न हैं तथा नित्य हैं। अतः पदार्थ तीन हैं, एक नहीं।

चित्

अब 'चित्' के स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए। वह देहेन्द्रिय-मनः प्राणबुद्धि से विलक्षण, अजड, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय है (तत्त्वत्रय पृ० ५)। ज्ञान के बिना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड है। सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर सुखपूर्वक निद्रित होने का लौकिक अनुभव जीव को आनन्दरूप सिद्ध करता है। हृदयदेश में निवास करने के कारण वह अणु है। मुण्डक (३।१।९) और श्वेताश्वर के आधार पर[१] समग्र

---

१ बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ श्वेता० ५।९।

वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते हैं। जीव ईश्वर के द्वारा नियामित किया जाता है। जीव में एक विशेष गुण 'शेषत्व' विद्यमान है अर्थात् वह अपने कार्यकलापों के लिए ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलम्बित है। ईश्वरानुग्रह के बिना वह अपने कर्तव्यों का सुचारु सम्पादन नहीं कर सकता। जीव की विशिष्टाद्वैतवादी कल्पनायें अद्वैतवादियों से अनेक बातों में नितान्त भिन्न ठहरती हैं। जहाँ अद्वैती आत्मा को विभु बतलाते हैं, वहाँ विशिष्टाद्वैती उसे अणु मानते हैं। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। पर रामानुज मत में जीव अनन्त है, वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं।

देह तथा देही के समान जीव भी ब्रह्म से कथमपि अभिन्न नहीं है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है। जीव आध्यात्मिकादिदुःखत्रय से नितरां पीड़ित है ऐसी दशामें उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता

ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध

कैसी मानी जा सकती है? "ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव) का अधिपति है" (स कारणं करणाधिपाधिपः—श्वेता० उप० ६।९); "जो आत्मा के भीतर संचरण करता है वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है" (य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः—बृह० उप० ३।६।३)। दोनों अज हैं—एक ईश है, दूसरा अनीश। एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ (ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ श्वेता० १।९)—आदि भेदमूलक श्रुतियाँ जीव को ब्रह्म से नितान्त पृथक्, स्वतन्त्र बतलाती हैं। अतः दोनों का अभेद बतलाना वास्तव नहीं है। ब्रह्म अखण्ड वस्तु है, तब जीव को उसका खण्ड बतलाना कहाँ तक उचित है? रामानुज का कहना है कि चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। अभेदश्रुतियों का भी यही तात्पर्य है कि जीव ब्रह्मव्याप्य तथा ब्रह्म का शरीर है। अतः जीव-ब्रह्म में अंशांशीभाव या विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है।

इस प्रसंग में 'तत् त्वमसि' महावाक्य की रामानुजीय व्याख्या भी ध्यान देने योग्य है। 'त्वं' पदार्थ साधारणतया जीव का प्रतीक माना जाता है, पर विशिष्टाद्वैत मत में 'त्वं' का अर्थ है, अचिद्विशिष्ट जीवशरीरवाला ब्रह्म। 'तत' पद से अभिप्राय सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, जगत्कारण ईश्वर से है। इस प्रकार इस महावाक्य का अभिप्राय है कि अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्वप्रपञ्च का निर्माता ईश्वर दोनों की तात्त्विक एकता है अर्थात् एक विशेषण से विशिष्ट ईश्वर तदन्यविशेषण से विशिष्ट ईश्वर के साथ नितान्त अभिन्न है—अतः एकता विशिष्ट ईश्वर की है (विशिष्टयोरैक्यम्)। इसी कारण रामानुजसिद्धान्त की 'विशिष्टाद्वैत' संज्ञा दी गई है[1]।

'तत्त्वमसि' का अर्थ

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को 'अचित्' कहते हैं। लोकाचार्य ने (तत्त्वत्रय पृ० ४१) अचित् तत्त्व के तीन भेद माना है:—शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्वशून्य। शुद्धसत्त्व का दूसरा नाम नित्यविभूति है। इस सत्त्व की कल्पना रामानुज दर्शन की विशेषता है। मिश्रसत्त्व तमोगुण तथा रजोगुण से मिश्रित होने के कारण प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है। इसी का दूसरा नाम माया अविद्या या 'प्रकृति' है। सत्त्वशून्य तत्त्व 'काल' कहलाता है। शुद्धसत्त्व को शुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं रहता। यह नित्य, ज्ञानानन्द का जनक निरवधिकतेजोरूप द्रव्यविशेष है। इससे ईश्वर, नित्यपुरुषों तथा मुक्त-

अचिद् तत्त्व

---

१ तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति। तदैक्षत बहुस्याम् (छा० ६।२।३) इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत्समानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति। प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य—श्रीभाष्य (पृ० ८०)।

पुरुषों के शरीर, भोगसाधन चन्दनकुसुमादि तथा भोगस्थान स्वर्गादिकों की उत्पत्ति ईश्वर के संकल्पमात्र से होती है। ईश्वर तथा नित्यपुरुषों के शरीर भगवान् की नित्येच्छा से सिद्ध है, मुक्त पुरुषों का शरीर भगवान् के संकल्प से उत्पन्न होता है। भगवान् के व्यूहविभवादिरूप इसी शुद्ध-सत्त्व के उपादान से निर्मित होते हैं। वे प्रकृतिजन्य न होने से अप्राकृत हैं। रामानुज का यह मुख्य सिद्धान्त है कि आत्मा बिना शरीर के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता, अतः मुक्तावस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है। परन्तु शुद्धसत्व का बना हुआ वह शरीर अप्राकृत होता है और भगवान् की सेवा करने के निमित्त धारण किया जाता है। इसी नित्यविभूति का नाम त्रिपाद्विभूति, परमपद, परमव्योम, अमृत, वैकुण्ठ, अयोध्या आदि है।

शुद्धसत्त्व के विषयमें विशिष्टाद्वैती विद्वानों में दो मत दीख पड़ते हैं। लोकाचार्य उसे जड़ मानते हैं, परन्तु वेंकटनाथ, श्रीनिवास आदि अन्य मान्य आचार्य उसे चित्तत्व ही मानते हैं। श्री निवास ने यतीन्द्रमत दीपिका (पृ० ३२) में इसे स्वयंप्रकाश तथा अजड़ तत्व स्वीकार किया है। वेंकटनाथ ने तत्त्वमुक्ताकलाप में भी यही माना है। इन वचनों से स्पष्ट है—नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरम् (१।६)

ज्ञानत्वाजाड्यकण्ठोक्तानुगुणमवदन् मुख्यतामात्मनीव (१।६२)

श्री वैष्णवों के एक प्रातःस्मरणीय पद्य से भी यही मत प्रतीत होता है :—

श्री वैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः।
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान्॥

(वरद गुरु-रचना)

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि टेंकलै मत में शुद्ध सत्व जड़ है, पर बडकलै मतमें यह अजड़ है।

(ग) साधन-मार्ग

सकल-कल्याणगुणनिधान भगवान् नारायण के अनुग्रह से ही जीव इस विषम संसार से मुक्तिलाभ करता है। मुक्ति के लिए कर्म भी उपादेय हैं। वेदविहित कर्म के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है। अतः वर्णाश्रमविहित कर्मों का विधान मानवमात्र का कर्तव्य है। चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः कर्ममीमांसा का अध्ययन ज्ञान-मीमांसा के लिए आवश्यक तथा पूर्ववर्ती है। ज्ञान कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में सहकारी कारण है। यामुनाचार्य ने इसीलिये कहा है—उभयपरिकर्मित स्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग से विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष एकान्तिक भक्तियोग से भगवान् को प्राप्त करता है। मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण है[1] और भक्ति में भी परा प्रपत्ति—शरणागति। जबतक जीव भगवान् के शरण में नहीं जाता, तबतक उसका परम कल्याण हो नहीं सकता। परन्तु शरणागति के लिए कर्मों का अनुष्ठान उचित है या अनुचित? इस पर श्रीवैष्णव आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। 'टेंकलई' मत के संस्थापक श्रीलोकाचार्य प्रपत्ति के वास्ते कर्मानुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते। मार्जारकिशोर की ओर दृष्टिपात कीजिए। बिल्ली का बच्चा निःसहायभाव से माता के शरण में उपस्थित होता है, तब बिल्ली उसे अपने मुँह में रखकर एक स्थान से लेकर दूसरे स्थान पर पहुँचा देती है। भक्त के प्रति भगवान् की कृपा भी इस प्रकार 'अहैतुकी' होती है। नारायण की अनुग्रहशक्ति का उदय भक्तों की दीनदशा के निरीक्षण से

---

[1] द्रष्टव्य रामानुज—वेदार्थसंग्रह पृ० १४५-१४७।

आपसे आप होता है। अहिर्बुध्न्य संहिता के इस कथन[1] को शठकोपाचार्य ने भी 'अकाण्डमेव कृपां करोति' कह कर स्वीकृत किया है[2]। 'वड्कलै' मत के आचार्य वेदान्तदेशिक कपिकिशोर के दृष्टान्त से प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान करने पर जोर देते हैं। जो कुछ भी हो, प्रपत्ति से ही भगवान् गम्य हैं, उन्हें पाने का दूसरा उपाय है ही नहीं। 'मामेकं शरणं व्रज'—यह गीता का उपदेश नितान्त माननीय है। अकिञ्चन, दीनभाव से भगवान् के शरण में प्राप्त होनेवाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यामुनाचार्य ने आलबन्दार स्तोत्र (पद्य २५) में बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस शरणागति-तत्त्व का प्रतिपादन किया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

प्रपत्ति के वशीभूत भगवान् जीव को पूर्णज्ञान की प्राप्ति करा देते हैं जिसका फल ईश्वर का अपरोक्षज्ञान होता है। मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षादनुभव ही अन्तिम साधन है, परन्तु उस अवस्था तक समस्त वर्णाश्रमविहित कर्मों का सम्पादन होना ही चाहिये। अद्वैतियों के कल्पनानुसार कर्म का संन्यास न्याय्य नहीं है। अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को दूर कर विद्या (भक्तिरूपापन्न ध्यान) के द्वारा अमृत (ब्रह्म) पाने का सिद्धान्त ईशोपनिषद् (श्लो० ११) में वर्णित (वेदार्थ संग्रह पृ० १४५)।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार वह ईश्वर के 'समान' होता है। ईश्वर के साथ उसका 'ऐकात्म्य' सम्पन्न नहीं हो

---

१ एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते॥ अहि० सं० १४।२६।

२ द्रष्टव्य—श्रीवचनभूषण पृ० ६२७।

जाता। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है, परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नहीं हो जाता। मुक्तजीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्यसंकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं, परन्तु सर्वकर्तृत्वगुण ईश्वर के ही साथ रहता है[१]। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है। अतः जीव का परमात्मा के साथ ऐक्य सम्पन्न नहीं होता[२]। मुक्तजीव स्वराट्, अनन्याधिपति तथा संकल्पसिद्ध हो जाता है, परन्तु उसे जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय में तनिक भी अधिकार नहीं रहता (जगद्व्यापारवर्जम् ४।४।१७ पर श्रीभाष्य)। सकलबन्धननिवृत्तिरूपा मुक्ति जीवित दशा में नहीं हो सकती; अतः अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों के अनुकूल रामानुज के मत में भी 'जीवन्मुक्ति' मान्य नहीं है। केवल 'विदेहमुक्ति' ही सम्भव है। वैकुण्ठ में भगवान् का किंकर बनना ही—कैंकर्य ही—परमा मुक्ति है।

श्रीकण्ठाचार्य (१३ श० का उत्तरार्ध) का सिद्धान्त रामानुज के सिद्धान्त के नितान्त अनुकूल है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ ईश्वर शिवरूप में माने गये हैं। श्रीकण्ठ ने इस 'शैव-विशिष्टाद्वैत' का समर्थन ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर किया है जिसपर अप्पयदीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। अतः आपके मत में सगुण ब्रह्म ही परमार्थभूत है (निरस्तसमस्तोपप्लवकलंकनिरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम्—श्रीकण्ठभाष्य १।१।१) तथा चित् अचिद् उसके प्रकार है। परब्रह्म की ही शिव, महादेव, उग्र आदि संज्ञायें हैं।

---

१ एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते ॥ स० द० सं० पृ० ४७

२ नापि साधनानुष्ठानेन निरस्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भवः अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनन्यत्वासम्भवात्। —श्रीभाष्य (१।१।१)

२

माध्वमत

माध्वमत का दूसरा नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' है। वायु से यह मत हनुमान् को प्राप्त हुआ, हनुमान् से भीम को तथा अन्त में आनन्दतीर्थ को

आनन्दतीर्थ का ही प्रसिद्ध नाम मध्व, पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ है। दक्षिण में 'उडुपी' नामक प्रसिद्ध स्थान के पास इनका जन्म ११९९ ई० में हुआ था तथा मृत्यु १३०३ ई० में मानी जाती है।

आचार्य

भारत के प्रमुख तीर्थों में पर्यटन कर आपने अपने द्वैतमत का प्रचुर प्रचार किया। आपके ३७ ग्रन्थों में से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं; (१) ब्रह्मसूत्र भाष्य; (२) अनुव्याख्यान (सूत्र की अल्पाक्षरा वृत्ति; जिसपर 'न्यायविवरण' स्वयं आचार्य ने, 'न्यायसुधा' जयतीर्थ ने तथा न्यायसुधा की परिमलनाम्नी टीका राघवेन्द्रयति ने लिखी है); (३–७) ऐत०, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य; (८) गीताभाष्य, (९) भागवत-तात्पर्यनिर्णय (टीका—यदुपति की); (१०) महाभारत-तात्पर्यनिर्णय (११) विष्णुतत्त्वनिर्णय (१२) प्रपंचमिथ्यात्व निर्णय, (१३) गीता तात्पर्यनिर्णय, (१४) तन्त्रसारसंग्रह आदि। नारायण पण्डित ने 'मध्वविजय' तथा 'मणिमञ्जरी' में मध्व का प्रामाणिक जीवन-चरित लिखा है। जयतीर्थ (१४ श०) प्रकाण्ड पांडित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मध्व के भाष्यों पर विद्वत्तापूर्ण वृत्ति-ग्रन्थों की रचना कर द्वैतसिद्धान्त को परिपुष्ट किया। माध्वमत में जयतीर्थ के समान आलौकिकशेमुषीसम्पन्न विद्वान् विरला ही हुआ। इसलिए इनकी यह प्रशंसा सर्वथा सत्य है—

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक्॥

जयतीर्थ ने मध्व के सूत्रभाष्य पर 'तत्त्वप्रकाशिका' और तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान, प्रमाणलक्षण तथा गीताभाष्य (टीका न्याय-दीपिका) के ऊपर अन्य सुबोध टीकायें ही न लिखीं, प्रत्युत 'प्रमाण-पद्धति' और 'वादावली' जैसे मौलिक ग्रंथों की रचना से अद्वैत का खण्डन कर द्वैतमत की स्थापना पर्याप्तमात्रा में की। 'प्रमाणपद्धति' की अष्ट टीकायें इसके महत्त्व को स्पष्टतः प्रदर्शित करती हैं। व्यासतीर्थ (१५ श०) –माध्वमत के उद्भट विद्वान् थे। इनका सर्वश्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थ 'न्यायमृत' है जिसका खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में किया है। इसी न्यायामृत ने द्वैत-अद्वैत सम्प्रदाय में घनघोर वाक्युद्ध की अवतारणा की जो आज भी खण्डन-मण्डनरूप से बन्द नहीं हुआ है। इनके अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ तर्कताण्डव, तात्पर्यचन्द्रिका (जयतीर्थ की तत्त्वप्रकाशिका की टीका), मन्दार-मञ्जरी, भेदोज्जीवन, मायावाद-खण्डनटीका आदि हैं। इनके 'न्यायामृत' के ऊपर कम से कम १० विख्यात टीकायें हैं जिनमें रामाचार्य की 'तरंगिणी' तथा विजयीन्द्रतीर्थ का 'कण्टकोद्धार' अद्वैतसिद्धि के खण्डन होने से विशेष प्रसिद्ध हैं। रघूत्तमतीर्थ (१५५७–१५९६)—माध्वग्रन्थकारों में भावबोधाचार्य या भावबोधकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विष्णु तत्त्वनिर्णय तथा जयतीर्थ के तत्त्वप्रकाशिका पर 'भावबोध' नामक व्याख्यायें लिखी हैं, पर इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मध्वाचार्य के बृहदारण्यकभाष्य की टीका 'परब्रह्मप्रकाशिका' है। इनके शिष्यों में तरंगिणीकार रामाचार्य तथा वेदेश भिक्षु मुख्य हैं। वेदेश माध्वमत के विद्वान् व्याख्याकारों में माने जाते हैं, जिन्होंने 'तत्त्वोद्योतपञ्जिका', ऐतरेय, छान्दोग्य, केन पर माध्व-भाष्य की टीका तथा 'प्रमाणपद्धति' पर सुन्दर व्याख्या निर्माण कर विपुलकीर्ति प्राप्त की है। न्यायामृत पर 'आमोद' और 'तात्पर्यचन्द्रिका' टीका के लेखक विजयीन्द्र ने गीता की मधुसूदनी टीका की आलोचना 'गूढार्थदीपिकायुक्तिमल्लिका' में किया है। वे रामाचार्य के समकालीन

थे। वनमाली मिश्र (१७ श०) मथुरा के आसपास के निवासी एतद्देशीय ब्राह्मण थे। द्वैतसाहित्य में इनका नाम गौरव के साथ लिया जाता है। इनके विपुल ग्रन्थों में से 'माध्वमुखालंकार' अप्पयदीक्षित के 'माध्वमतमुखमर्दन' का तथा 'न्यायामृतसौगन्ध्य' और 'तरंगिणीसौरभ' अद्वैतसिद्धि और गौड़ ब्रह्मानन्दी के पाडित्यपूर्ण खण्डन हैं। 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' ब्रह्मसूत्र की टीका है। अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ के खण्डन में 'अभिनवगदा' 'अभिनवतर्कताण्डव', तथा तात्पर्यदीपिका की टीका 'अभिनवचद्रिका' के निर्माता सत्यनाथ यति (१६५० ई०) वनमाली मिश्र के समकालीन थे। वेणीदत्त की 'भेदजयश्री' तथा 'वेदान्तसिद्धान्तकण्टक' इसी काल की रचनायें हैं। बंगाल के पूर्णानन्द-चक्रवर्ती की तत्त्वमुक्तावली (या मायावादशतदूषणी) ने अद्वैतमत के खण्डन में एक नई दिशा खोज निकाली है। अद्वैतवेदान्त के समान द्वैतमत की साहित्यिक सम्पत्ति भी बहुत है, परन्तु अधिकांश ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

माध्वपदार्थमीमांसा

माध्वमत में दस पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इन पदार्थों का विशेष वर्णन पद्मनाभ ने अपने 'मध्वसिद्धान्तसार' में विशदरूपेण किया है। इनमें कतिपय पदार्थों के वर्णन में न्याय-वैशेषिक के साथ साम्य होने पर भी अधिकांश में माध्वमत की विशेषता है। 'द्रव्य' बीस प्रकार का माना जाता है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। 'गुण के अनेक प्रकार हैं जिसमें वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा, सौन्दर्य

पदार्थभेद

आदि की भी गणना है। 'कर्म' तीन प्रकार का है:-विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। उदासीन कर्म परिस्पन्दात्मक है जिसके भीतर उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि नानाविध कर्मों का अन्तर्भाव होता है। नित्यानित्य भेद, तथा जाति-उपाधि भेद से 'सामान्य' दो प्रकार का होता है। भेद के अभाव होने पर भी भेद-व्यवहार के निर्वाहक पदार्थ को 'विशेष' कहते हैं (भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः म० सि० सा० पृ० ७) परमात्मा में भी विशेष को स्वीकार करना पड़ता है। विज्ञानानन्द रूप परमात्मा में इस विशेष के कारण भेद दृष्टिगोचर होता है। यह विशेष जगत् के समस्त पदार्थों में रहता है, अतएव अनन्त है। विशेषण से संयुक्त पदार्थ को 'विशिष्ट' कहते है। हस्त, पादादि से व्यतिरिक्त समग्रावयवविशिष्ट पदार्थ 'अंशी' है। 'सादृश्य' तथा 'अभाव' की कल्पना में कोई नवीनता नहीं है। 'शक्ति' चार प्रकार की है-(१) अचिन्त्यशक्ति; (२) आधेयशक्ति, (३) सहजशक्ति; (४) पदशक्ति। 'अचिन्त्यशक्ति' अघटित-घटना-पटीयसी होती है और भगवान् विष्णु में ही निवास करती है। भगवान् में ही विचित्र-कार्य-सम्पादन का अलौकिक सामर्थ्य रहता है। विषमगुणों की परमात्मा में सार्वकालिक स्थिति इसी शक्ति के कारण है। लक्ष्मी, वायु आदि की शक्तियाँ परमात्मा की अपेक्षा कोटिगुण न्यून होती हैं। (२) दूसरे के द्वारा स्थापित शक्ति को 'आधेयशक्ति' कहते हैं (अन्याहितशक्तिराधेयशक्तिः) विधिवत् प्रतिष्ठा करने से प्रतिमा में जो देवता का सान्निध्य उत्पन्न होता है वही आधेयशक्ति है। कामिनी-चरणाघात से अशोक का पुष्पित होना और औषध लेप से कांस्यपात्र का स्वच्छ हो जाना इसी शक्ति से सम्पन्न होता है। (३) कार्यमात्र के अनुकूल स्वभावरूपाशक्ति 'सहजशक्ति' है। यह सर्व पदार्थनिष्ठ होती है। पदार्थभेद से यह नित्य भी होती है तथा अनित्य भी। (४) पद-पदार्थ में वाचकवाच्य सम्बन्ध 'पदशक्ति' कहलाता है। मुख्या और

परममुख्या भेद से दो प्रकार की है। 'इन्द्र' शब्द का 'पुरन्दर' अर्थ मुख्या वृत्ति से और 'परमेश्वर' अर्थ परममुख्य वृत्ति से होता।

परमात्मा—साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्तगुण-परिपूर्ण है अर्थात् भगवान् के गुण अनन्त हैं तथा उनमें प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। उनमें सजातीय और विजातीय उभयविध आनन्त्य है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष—इन आठों के कर्ता भगवान् ही हैं। वे सर्वज्ञ हैं तथा परममुख्या वृत्ति से समस्तपद-वाच्य हैं। वे जीव, जड़ और प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है। ज्ञान आनन्द आदि कल्याणगुण ही भगवान् के शरीर हैं। अतः शरीरी होने पर भी नित्य तथा सर्वस्वतन्त्र हैं। वे एक होकर भी नानारूप धारण करते हैं। इनके समस्तरूप स्वयं परिपूर्ण हैं अर्थात् उनके मत्स्यादि अवतार स्वयं परिपूर्ण हैं[1]। मत्स्यकूर्मादि स्वरूपों से, कर-चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न हैं। अतएव भगवान् तथा भगवान् के अवतारों में भेददृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।

लक्ष्मी—परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा के ही केवल अधीन रहती है; अतः उससे भिन्न है (परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः म० सि० सा० पृ० २६)। इस प्रकार माध्वमत में तन्त्रमत के विपरीत शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। लक्ष्मी भगवान् से गुणादिकों में कुछ न्यून रहती ही है। परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्यमुक्ता है, नानारूपधारिणी भगवान की भार्या है। जिस प्रकार परमात्मा अप्राकृत दिव्य-शरीर-सम्पन्न है, लक्ष्मी भी उसी

---

१ अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः।
पूर्णं च तत् परं पूर्णं पूर्णात् पूर्णाः समुद्गताः॥
न देशकालसामर्थ्यैः पारावर्यं कथञ्चन॥ माध्वबृहद्भाष्ये।

प्रकार अप्राकृत-देह-धारिणी है। ब्रह्मा, रुद्रादि अन्य देवतागण शरीर के क्षरण (नाश) होने से 'क्षर' हैं, परन्तु लक्ष्मी दिव्यविग्रहवती होने से 'अक्षरा' है (लक्ष्मीरक्षरदेहत्वात् अक्षरा तत्परो हरिः—मध्वकृत ऐतरेय-भाष्य)। परमात्मा देश, काल, तथा गुण इन तीनों वस्तुओं के द्वारा अपरिच्छिन्न है, परन्तु लक्ष्मी गुण में परमात्मा से न्यून है पर देश और काल की दृष्टि से उनके समान व्यापक है[1]।

जीव—अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संसारशील होते हैं। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तममनुष्यरूप से पाँच प्रकार के होते हैं। नित्यसंसारी जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊँच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं (मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैव हि—भागवततात्पर्यनिर्णय) और वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना है। इस प्रकार मनुष्य गुणों के तारतम्य के कारण तीनों श्रेणियों में अन्तर्भुक्त किया गया है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवों से भिन्न है तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो सुतरां भिन्न है। संसार दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तावस्था में भी वह भिन्नता विद्यमान रहती है (मानुषादि विरिञ्चान्तं तारतम्यं विमुक्तिगम्—ईशावास्य-भाष्य)। मुक्तपुरुष आनन्द का अनुभव अवश्य करता है, परन्तु माध्व-

---

१ द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ॥ भागवततात्पर्यनिर्णय।

मत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य होता है[1]। मुक्तजीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्वमत की विशेषता है। 'मुक्तावस्था में जीव परमसाम्य को प्राप्त कर लेता है' ('निरंजनः परमं साम्यमुपैति' मुण्डक ३।१।३) इस श्रुति का तात्पर्य प्राचुर्यविषयक है, अभेदविषयक नहीं है। भगवान् के साथ चैतन्यांश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की जाती है, परन्तु समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने से दोनों का पृथक्त्व ही प्रमाणसिद्ध है। इसीलिए मध्वाचार्यने 'अनुव्याख्यान' में लिखा है (म० सि० सा० पृ० ३१)—

जीवस्य तादृशत्वं च चित्त्वमात्रं न चापरम्।
तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेषां चिदात्मनाम्॥

'अव्याकृत आकाश' न्याय वैशेषिकका 'दिक्' है जो सृष्टि और प्रलय में भी विकारशून्य रहता है। यह भूताकाश से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उत्पन्न होने से भूताकाश अनित्य है, परन्तु अव्याकृत आकाश नित्य, एक तथा व्यापक हैं। इसके अभाव में समस्त जगत् एक निबिड़ पिण्ड बन जाता। लक्ष्मी इसकी अभिमानिनी देवता है। 'प्रकृति' साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है। यह जड़रूपा, नित्या, व्याप्ता, सर्वजीवलिंगशरीर-रूपा है। रमा इसकी अभिमानिनी देवता है। इस प्रकार द्वैतवादी माध्वों के मत में इस जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण। 'गुणत्रय' प्रसिद्ध हैं। अन्य वैष्णवमतों के अनुरूप माध्व मत भी शुद्ध सत्त्व की सत्ता स्वीकार है जिससे मुक्त जीवों के लीलामय विग्रह निर्मित होते हैं।

---

१ मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः॥ गीतामध्वभाष्ये।
दुःखाभावः परानन्दो लिङ्गभेदः समा मताः।
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते॥
म० सि० सार० पृ० ३२

सत्त्वाभिमानी श्री, रजोऽभिमानी भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा होती हैं। महत्तत्त्वादि अन्य द्रव्यों की कल्पना सांख्य तथा पुराणों के अनुरूप हैं।

साधनमार्ग—श्रवण, मनन, ध्यान के साथ तारतम्य-परिज्ञान तथा पञ्चभेद ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। जगत् के समस्त पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं। ज्ञान सुखादि का अवसान भगवान् में ही होता है। यही तारतम्य-ज्ञान है। भेद पाँच प्रकार का होता है—(१) ईश्वर का जीव से भेद, (२) ईश्वर का जड़ से भेद, (३) जीव का जड़ से भेद (४) जीव का दूसरे जीव से भेद तथा (५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़पदार्थ से भेद। इन पञ्चविधभेदों का परिज्ञान माध्वमत में मुक्ति-साधक है। उपासना दो प्रकार की होती है—सन्तत-शास्त्राभ्यासरूपा और ध्यानरूपा। अधिकारी भेद से उपासना का उपयोग होता है। 'ध्यान' से तात्पर्य इतर विषयों के तिरस्कारपूर्वक भगवद्विषया अखण्डस्मृति से है (ध्यानं च इतर-तिरस्कार-पूर्वक-भगवद्विषयकाखण्डस्मृतिः - म० सि० सा० पृ० १३९)। जीव मोक्ष के लिए भी परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के बिना नैसर्गिक अनुग्रह हुए परतन्त्र जीव साधारण कार्यों का भी सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी। अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर परमभक्ति उत्पन्न होती और उसके बाद परम अनुग्रह का उदय होता है। तब मोक्षका जन्म होता है। मोक्ष चार प्रकार का है—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादिमार्ग और भोग। भोग सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से चार प्रकार का है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द भोग करना 'सायुज्य' है (सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः) जो समग्र भोगों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन मुक्त जीवों में भी आनन्द का तारतम्य मानना माध्वमत की एक विशिष्ट कल्पना है।

हनुमान् और भीम के अनन्तर वायु के तृतीय अवतारभूत मध्वा-

चार्य के मत का संक्षिप्त परिचय इस पद्य में बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत्, तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा, नीचोच्चभावं गताः ।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन-
मक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

३

निम्बार्कमत

'हरिगुरुस्तव माला' में उल्लिखित गुरुपरम्परा के अनुसार निम्बार्क मत के आद्य आचार्य हंस नारायण हैं जो राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक हैं। उन्होंने इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को दी जो सनन्दनादि रूप से चतुर्व्यूहात्मक हैं। सनत्कुमार के शिष्य त्रेता युग में प्रेमाभक्ति के सर्वश्रेष्ठ उपदेशक नारदजी थे जिन्होंने इस तत्त्व को सुदर्शन चक्र के अवतारभूत निम्बार्क को बतलाया।

आचार्य

निम्बार्क—तैलङ्ग ब्राह्मण थे। 'सिद्धान्तजान्हवी' (प्रथम श्लोक) के अनुसार इनका असली नाम नियमानन्द था; निम्ब के वृक्षपर अर्क (सूर्य) को रात के समय साक्षात् दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा। इनके प्रधान ग्रन्थ हैं:—(१) वेदान्त-पारिजात सौरभ (ब्रह्मसूत्र का नितान्त स्वल्पकाय भाष्य) (२) 'दशश्लोकी' (सिद्धान्त प्रतिपादक दस श्लोकों का संग्रह, जिस पर हरिव्यास आचार्य की टीका प्राचीन तथा महत्त्वशालिनी मानी जाती है। (३) 'श्रीकृष्णस्तवराज' निम्बार्कतत्त्वप्रकाशक पचीस श्लोकों का है जिसकी श्रुत्यन्तसुरद्रुम, श्रुतिसिद्धान्तमञ्जरी तथा श्रुत्यन्तकल्पवल्ली नामक

विस्तृत व्याख्यायें प्रकाशित हुई हैं। अप्रकाशित ग्रन्थोंमें मध्वमुख-मर्दन, वेदान्त तत्त्वबोध, वेदान्त सिद्धान्तप्रदीप, श्रीकृष्णस्तव मुख्य हैं। श्रीनिवासाचार्य—निम्बार्क के साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने पारिजातसौरभ के ऊपर 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखकर भाष्य के संक्षिप्त तथा गूढ़ अर्थों का रहस्य भली भांति समझाया है। केशवभट्ट काश्मीरी (१५ श०)—इस दर्शन के विशिष्ट ग्रन्थकार हैं। (१) इनकी 'कौस्तुभप्रभा'—वेदान्तकौस्तुभ की पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत व्याख्या (२) 'तत्त्वप्रकाशिका'—गीता की निम्बार्क मतानुसारिणी व्याख्या; (३) 'तत्त्वप्रकाशिकावेदस्तुति'—टीका दशम स्कन्ध भागवत की टीका; (४) 'क्रमदीपिका'—पूजा पद्धति का विवरणात्मक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। प्रभा के अवलोकन से इनकी गाढ़ विद्वत्ता तथा अगाध पाण्डित्य का परिचय स्फुटरीति से उपलब्ध होता है। चैतन्य के साथ जिस केशवभट्ट के शास्त्रार्थ करने का वर्णन 'चैतन्य-चरितामृत' में दिया गया है, वे ये ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

श्रीपुरुषोत्तमाचार्य—निम्बार्कमत के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य हैं। ये हरिव्यासदेवाचार्य के शिष्य थे। इनकी रचनाओं में दो ग्रन्थों की समधिक प्रसिद्धि है—(१) वेदान्तरत्नमञ्जूषा—(दशश्लोकी की विस्तृत सिद्धान्त-प्रतिपादक व्याख्या) तथा (२) श्रुत्यन्तसुरद्रुम—(आचार्य के श्रीकृष्णस्तवराज के श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण टीका)। देवाचार्य के 'सिद्धान्तजाह्नवी' (पृं० ५६) में वेदान्तरत्नमञ्जूषा के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अतः इनका समय देवाचार्य से पहले होना चाहिए। कृपाचार्य के शिष्य श्रीदेवाचार्य की सर्वश्रेष्ठ रचना का नाम है 'सिद्धान्तजाह्नवी' (सुन्दर भट्ट की 'सिद्धान्तसेतु' टीका युक्त) जो ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री का विस्तृत समीक्षात्मक भाष्य है। अनन्तराम कृत वेदान्ततत्त्वबोध तथा पुरुषोत्तम प्रसाद वैष्णवकृत 'श्रीकृष्णस्तवराज' की श्रुत्यन्तकल्पवल्ली टीका इस मत के तत्त्वों की परीक्षा के लिए नितान्त

उपयोगी हैं। माधवमुकुन्द ने, जो बंगाल के अरुणवटी नामक ग्राम के निवासी बतलाये जाते हैं, 'परपक्षगिरिवज्र' (हार्दसंचय) नामक नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है जिसमें वेदान्त के अद्वैतमत का खण्डन प्रबल-युक्तियों के बल पर विस्तार के साथ किया गया है।

(क) भेदाभेद का ऐतिहासिक परिचय

आचार्य निम्बार्क ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं। उनकी मान्य सम्मति में जीव अवस्थाभेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। भारतीय दार्शनिक जगत् में यह भेदाभेद सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। शंकराचार्य के पहले ही नहीं, अपि तु बादरायण के पूर्व भी इस मत के पोषक आचार्य विद्यमान थे। बादरायण से पूर्व आचार्य औडुलोमि तथा आचार्य आश्मरथ्य भेदाभेद-वादी थे। औडुलोमि के मत में अवस्थाविशेष से ब्रह्म-जीव में भिन्नत्व तथा अभिन्नत्व की उभयविध कल्पना संघटित होती है। संसारदशा में नानात्मक जीव तथा एकात्मक ब्रह्म में नितान्त भेद है, परन्तु मुक्तिदशा में चैतन्यात्मक होने से जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं (ब्र० सू० १।४।२१)। आचार्य आश्मरथ्य का सिद्धान्त है कि कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है, परन्तु कार्यात्मना दोनों की अनेकता है, जिस प्रकार कारणरूपी सुवर्ण की एकता बनी रहने पर भी कार्यरूप कटक, कुण्डलादिरूप में दोनों में भिन्नता रहती है (ब्र० सू० १।४।२०)। 'श्रुतिप्रकाशिका' के रचयिता के कथन से प्रतीत होता है कि आश्मरथ्य के भेदाभेद को परवर्ती काल में यादवप्रकाश ने ग्रहण कर पुष्ट किया। निम्बार्क के साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने अपने 'वेदान्तकौस्तुभ' में काशकृत्स्न को भी भेदाभेदी बतलाया है (तदेवं मुनित्रयमतद्वारा प्रसंगात् भेदाभेद-प्रकारो भगवता दर्शितः १।४।२२) पर शंकराचार्य के कथनानुसार ये

अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं (तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते १।४।२२ शा० भा०)।

भर्तृप्रपञ्च–आचार्य शंकर से पूर्व वेदान्ताचार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धान्त के पक्षपाती थे। आचार्य ने इनके मत का उल्लेख तथा खण्डन बृहदारण्यक के (२।३।६, २।५।१, ३।४।२, ४।३।३०) भाष्य में किया है। इनका मत है कि परमार्थ एक भी है तथा नाना भी है—ब्रह्मरूप में एक है और जगद्रूप में नाना है। जीव नाना तथा परमात्मा का एकदेशमात्र है। काम, वासनादि जीव के धर्म हैं। अतः धर्म तथा दृष्टि के भेद से जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, अपि तु वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र–तरङ्ग–न्याय से द्वैताद्वैत है। जिस प्रकार समुद्ररूप से समुद्र की एकता है, परन्तु विकाररूप तरंग, बुद्बुद् आदि की दृष्टि से वही समुद्र अनेक है—नानात्मक है[1]। आचार्य ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। यह परिणाम तीन प्रकार से निष्पन्न होता है (१) अन्तर्यामी—जीवरूप में, (२) अव्याकृत—सूत्र, विराट तथा देवतारूप में (३) जाति तथा पिण्डरूप में। जीव और जगत् की सत्ता भी काल्पनिक न होकर वास्तविक है। साधनपक्ष में ये ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं। कर्मजन्य फल अनित्य है, परन्तु ज्ञान के द्वारा विमलीकृत कर्म से आत्यन्तिक श्रेय की उपलब्धि अवश्य होती है। फलस्वरूप मोक्ष भी दो प्रकार का माना गया है—(१) इसी शरीर के ब्रह्म-सक्षात्कार होने पर उत्पन्न मुक्ति को अपर मोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं जो 'जीवन्मुक्ति के समान है। (२) ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर देहपात होने पर जीव की ब्रह्मभावापत्ति को पर मोक्ष (श्रेष्ठमुक्ति) कहते हैं जिसमें जीव अविद्यानिवृत्ति के सम्पन्न होने पर ब्रह्म में लय प्राप्त कर लेता है। जान पड़ता है कि भर्तृप्रपञ्च के मत से ब्रह्म साक्षात्कार होने पर भी अविद्या

---

१ द्रष्टव्य 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः। १।२।१४ शां० भा०।

की पूर्णनिवृत्ति नहीं होती, क्योंकि जीव जबतक देह के साथ सम्बन्ध रखता है। परन्तु परामुक्ति की दशा में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होने पर वह ब्रह्म में सर्वतोभावेन लीन हो जाता है। इनके मत से परमात्मा तथा जीव में अंशांशिभाव अथवा एकदेश एकदेशिभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण-पूर्व आचार्यों की भेदाभेद परम्परा का अनुसरण भर्तृप्रपञ्च ने अपने ग्रन्थों में किया है।

भास्कर—शंकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्यों में भास्कर का नाम प्रमुख है। रामानुज ने वेदार्थसंग्रह (पृ० १४–१५) में, उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने न्यायकुसुमाञ्जलि में और वाचस्पति ने भामती में इनके मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय अष्टमशतक मानना चाहिये। इनके मत में ब्रह्म सगुण, सल्लक्षण, बोधलक्षण, और सत्य-ज्ञानानन्त लक्षण है। चैतन्य तथा रूपान्तररहित अद्वितीय है। प्रलयावस्था में समस्तविकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म कारणरूप में निराकार तथा कार्यरूप में जीवरूप और प्रपञ्चमय है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ भोग्यशक्ति तथा भोक्तृशक्ति होती हैं (२।१।२७ भास्कर-भाष्य)। भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतन जगत्‌रूप में परिणत होती है। भोक्तृशक्ति चेतन जीवरूप में विद्यमान रहती है। ब्रह्म की शक्तियाँ पारमार्थिक हैं, वह सर्वज्ञ तथा समग्रशक्तियों से सम्पन्न है[1]।

भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियों का विक्षेप करता है[2]। ब्रह्म के स्वाभाविक परिणाम से ही यह

---

१ ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्। यथा क्षीरं दधिभावाय अम्भो हिमभावाय न तु तथाप्यातञ्चनमाधारभूतं च द्रव्यमपेक्ष्यते।
—२।१।२४ भा० भा०।

२ अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवद् ॥—भा० भा० पृ० १६।

जगत् है। भास्कर का स्पष्ट मत है कि निरवयव पदार्थ का ही परिणाम होता है, सावयव का नहीं। अच्युतस्वभाव तन्तु का परिणाम पट है तथा अच्युतस्वभाव आकाश से वायु उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अच्युतस्वभाव ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य परिणामो व्यवस्थाप्यते। स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति—२।१।१४ भा० भा०)। जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निविस्फुलिंगवत् अंश है। यह जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी। इन दोनों में अभेदरूप स्वाभाविक है, भेद उपाधिजन्य है (स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः अभिन्नरूपं स्वाभाविकम्, औपाधिकं तु भिन्नरूपम्—२।३।४३ भा० भा०)। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है—यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्मरूप में स्थिति है। कार्यकारणों में भी यह भेदाभेद सम्बन्ध रहता है। समुद्ररूपेण एकत्व है, तरङ्गरूपेण नानात्व है। भास्कर ने १।१।४ सू० के अपने भाष्य में इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

> कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
> हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥

भास्कर मुक्ति के लिए ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद मानते हैं। शुष्क ज्ञान से मोक्ष का उदय नहीं होता, परन्तु कर्म-संवलित ज्ञान से। उपासना या योगाभ्यास के बिना अपरोक्ष ज्ञान का लाभ नहीं होता। इन्हें 'सद्योमुक्ति' और 'क्रममुक्ति' दोनों अभीष्ट हैं।

यादव—ये भी भेदाभेदवादी हैं। यदि ये रामानुज के गुरु यादव प्रकाश से अभिन्न हों, तो इनका समय ११ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग होगा। रामानुज ने 'वेदार्थ-संग्रह' (पृ० १९) में, वेदान्तदेशिक ने 'परमतभङ्ग' में और व्यासतीर्थ ने 'तात्पर्यचन्द्रिका' में इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र और गीता पर भेदाभेदसम्मत भाष्य

का निर्माण किया था। ये निर्गुणब्रह्म तथा मायावाद नहीं मानते। इनके मत में ज्ञानकर्मसमुच्चय मोक्ष का साधन है। ब्रह्म भिन्नाभिन्न है। भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, पर यादव उपाधिवाद नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं तथा जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनन्तर निम्बार्क का जन्म हुआ और इन्होंने भेदाभेद के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के सिद्धान्त लुप्त प्राय से हो गये हैं, परन्तु निम्बार्क का कृष्णोपासक सम्प्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों के विपुल समादर का भाजन बना हुआ है।

(ख) निम्बार्क पदार्थमीमांसा

निम्बार्क-सम्मत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप है। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है। इन्द्रियों की सहायता बिना, इन्द्रियनिरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और 'प्रज्ञानघनः' 'स्वयं ज्योतिः तथा 'ज्ञानमयः' आदि शब्दों का जीव के विषय में प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रय—ज्ञाता भी हैं। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में उसी प्रकार है[1], जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूत ज्ञान यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही हैं, तथापि इन दोनों में धर्मधर्मिभाव से भिन्नता है।

जीव

जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव में कर्तृत्व का सद्भाव है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परन्तु मुक्त हो जानेपर भी कर्तृत्व की सत्ता जीव में श्रुतिप्रतिपादित है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि

---

१ ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः। दशश्लोकी १.

जिजीवेच्छतं समाः' 'स्वर्गकामो यजेत्'—आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत्', 'शान्त उपासीत' आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना की प्रतिपादिका होने से मुक्त आत्मा को कर्ता बतलाती हैं[1]।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। अतः चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष व्यावर्तक गुण रहता है—नियम्यत्व। ईश्वर नियन्ता है; जीव नियम्य है। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी यह ईश्वर के आश्रित रहता है।

जीव परिणाम में अणु तथा नाना है। वह हरि का अंशरूप है। अंश शब्द का अर्थ अवयव—विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है (अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः—२।३।४२ पर कौस्तुभ)। ईश्वर सर्वशक्तिमान है अतः वह अंशी है। जीव उसका शक्तिरूप है। अतः वह अंशरूप है। अघटनघटनापटीयसी, गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है[2] (वेदान्तरत्नमञ्जूषा पृ० २०–२३)। बद्ध जीव मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुभुक्षु (विषयानन्द का इच्छुक) भेद से दो प्रकार का है। मुक्त जीव भी नित्यमुक्त (अनन्तादि भगवत्पार्षद) तथा मुक्तरूप से दो प्रकार का होता है।

अचित् चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता

---

१ कर्ता शास्त्रार्थत्वात्। ब्र० सू० २।३।३२ पर 'पारिजातसौरभ'।

२ अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्—दशश्लोकी २

है[1] (१।१।१ पर वेदान्तकौस्तुभ)—(१) 'प्राकृत'—महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। (२) 'अप्राकृत'—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जिसमें प्रकृति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से नहीं है जैसे भगवान् लोक जिसकी श्रुतियों में "परम व्योमन्' 'विष्णुपद' 'परमपद' आदि भिन्न भिन्न संज्ञायें हैं। (३) 'काल'—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। जगत् के समस्त पारिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है। काल जगत् का नियामक होने पर भी परमेश्वर के लिए नियम्य ही है। काल अखण्डरूप है। स्वरूप से वह नित्य है, परन्तु कार्यरूप से अनित्य हैं। काल का कार्य औपाधिक है। इसके लिए सूर्य की परिभ्रमणरूप क्रिया उपाधि है।

ईश्वर—निम्बार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुणरूप से की गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याणगुणों का निधान है[2]। इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है[3]। नियम्य तथा परतन्त्र सत्त्वाश्रय चिद्चिद्रूप विश्व ईश्वर के ऊपर अवलम्बित होनेवाला है। परमात्मा की ही परब्रह्म, नारायण, भगवान, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि

---

१ अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र॥

दशश्लोकी ३।

२ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।

—दशश्लोकी ४।

३ यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

—सिद्धान्तजाह्नवी पृ० ५१ में उद्धृत।

संज्ञायें हैं। जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक और प्रत्येक दशा में नियत है। बद्धावस्था में व्यापक, अप्रच्युतस्वभाव तथा सर्वज्ञ ब्रह्म से अणुपरिणाम, अल्पज्ञ जीव के भिन्न होने पर भी वृक्ष से पत्र, प्रदीप से प्रभा, गुणों से गुण तथा प्राण से इन्द्रिय के समान पृथक् स्थिति और पृथक प्रवृत्ति न होने के कारण वह उससे अभिन्न भी है। मोक्ष-दशा में भी इसी प्रकार ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी जीव स्वरूप की प्राप्ति करता है (स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते छा० ८।३।४) और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता (१।४।२१ पर वेदान्तकौस्तुभ)।

प्रपत्ति के द्वारा भगवदनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह से भगवान् के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्साक्षात्कार को उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवद्भावापन्न होकर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है। शरीर सम्बन्ध रहने पर भगवद्भावापत्ति असम्भव है। इसीलिए निम्बार्कमत में भी जीवन्मुक्ति की कल्पना मान्य नहीं है ('दशश्लोकी' के ९ पद्य पर वेदान्तरत्न-मञ्जूषा)।

४

वल्लभमत

पद्मपुराण के वर्णनानुसार रुद्रसम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे[1]। नाभादासजी के भक्तमाल[2] से पता चलता है कि विष्णुस्वामी के

---

१ रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः॥ पद्मपुराणे।

२ नाम तिलोचन सिष्य सूर ससि सदस उजागर।
गिरा गंग उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर॥
आचरज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पधित पराइन॥

सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्धद्वैतमूलक पुष्टिमार्ग चलाया। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वशाली यह कथन बतलाता है कि विष्णुस्वामी का समय ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ ई०) से पहले है। रसेश्वरदर्शन में माधवाचार्य ने इसके एक श्लोक को उद्धृत किया है। 'सकलाचार्यमत संग्रह' में श्रीनिवास के कथनानुसार ये शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक थे।

वल्लभ (जन्म १४७९ ई०) की जीवन-घटनायें काशी, अरैल (प्रयाग) तथा वृन्दावन से सम्बद्ध हैं। विजयनगराधीश श्रीकृष्णराय (१५००—१५२५ ई०) के दरबार में द्वैतमत के आचार्य व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में इन्होंने अद्वैतवादियों को परास्त कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया था। निम्बार्कमत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चैतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्य की घनिष्ठता की बात कही जाती है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—(१) ब्रह्मसूत्रभाष्य (अणुभाष्य) (२) तत्त्वदीप-निबन्ध (भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ), (३) सुबोधिनी (श्रीमद्भागवत के १, २, ३, १० स्कन्धों पर उपलब्ध विख्यात टीका), (४) भागवत सूक्ष्मटीका, (५) पूर्वमीमांसा भाष्य (त्रुटित) तथा सिद्धान्तमुक्तावली आदि १६ लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ। विट्ठलनाथ (१५१६-१५८६) आचार्य के द्वितीयपुत्र थे। इन्होंने पिता के ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी लिखकर पुष्टिमार्ग की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में निबन्धप्रकाश, विद्वन्मण्डन, शृंगार रसमण्डन, सुबोधिनीटिप्पणी है। अन्तिम डेढ़ अध्यायों पर भाष्य लिखकर इन्होंने वल्लभकृत अणुभाष्य की पूर्ति की। इनके सातपुत्रों ने अलग अलग गद्दियों की स्थापना कर इस मत का विपुल प्रचार किया।

नवधा प्रधानसेवा सुहृद मन वच क्रम हरिचरणरति।
विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति ॥ ४८ छ०

कृष्णचन्द्र ने ब्रह्मसूत्र पर 'भावप्रकाशिका' नाम्नी टीका लिखी है। इनके शिष्य पुरुषोत्तमजी वल्लभसम्प्रदाय के एक विशेष विद्वान् टीकाकार हैं। इन्होंने 'भाष्य प्रकाश' नामक टीका लिखकर अणुभाष्य के गूढ़ार्थ को खूब अभिव्यक्ति किया है। अन्य भाष्यों का तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थरत्न की विशिष्टता है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—(१) सुबोधिनीप्रकाश, (२) उपनिषद्दीपिका, (३) आवरणभंग, (४) प्रस्थानरत्नाकर, (५) सुवर्णसुत्र (विद्वन्मण्डल की पाण्डित्यपूर्ण विवृत्ति) (६) गीता की अमृततरंगिणी टीका तथा (७) षोडशग्रन्थ-विवृति। इस भाष्यप्रकाश पर विस्तृत 'रश्मि' नामक व्याख्या गोपेश्वरजी (१८ शतक) ने लिखी है।

गिरिधर महाराज गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' वल्लभमत का विवेचक प्रख्यात ग्रन्थ है। हरिराय (हरिदास) ने अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें ब्रह्मवाद, भक्तिरसवाद आदि विख्यात हैं। व्रजनाथभट्ट का 'मरीचिका' ब्रह्मसूत्रों की अणुभाष्यानुसारिणी वृत्ति है और 'लालूभट्ट' के नाम से प्रसिद्ध और पुरुषोत्तम तथा अप्पयदीक्षित के समकालीन बालकृष्णभट्ट का 'प्रमेयरत्नार्णव' नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। अधिकांश वल्लभसाहित्य का प्रकाशन बंबई तथा काशी (चौखम्बा कार्यालय) से हुआ है।

सिद्धान्त

श्रीवल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से विख्यात है। इनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त, अतः नितान्त शुद्ध है। यह मायासम्बन्धरहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही है[1]।

---

१ शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ॥२७॥

ब्रह्म—इस मत में ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है। अद्वैतवादियों के मतानुसार निर्धर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण के समान प्रतीत होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहि-कुण्डल के लौकिक दृष्टान्त से ब्रह्म में उभयरूपता का होना श्रुतिसिद्ध है (उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ब्र० सू० ३।२।२७ पर अणु भाष्य)। यह विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक है। भगवान् की महिमा अनवगाह्य है। अतः जो अणोरणीयान् हैं, वे ही महतो महीयान् हैं। वे अनेक रूप होकर भी एक हैं, स्वतन्त्र होने पर भी भक्तपराधीन हैं। यह संसार लीलानिकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विलासमात्र है। यह जगत्कर्तृत्व वास्तव है, माया-कल्पित नहीं। अखिलरसामृतमूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही यह परमब्रह्म हैं। आचार्यवल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—(१) आधिदैविक=परब्रह्म; (२) आध्यात्मिक=अक्षरब्रह्म; (३) आधिभौतिक=जगत्। अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है। कार्यकारण में भेद न होने से कार्यरूप जगत् कारण रूप ब्रह्म ही है। जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वही रहता है, उसी प्रकार आविर्भावदशा में जगत् तथा तिरोभावरूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत् का आविर्भाव कार्य केवल लीलामात्र है। अतः अनवगाह्य-महिमामण्डित भगवान् की लीला का पसारा यह जगत् ब्रह्मरूप है और नित्य है।

अक्षरब्रह्म क्षरपुरुष (प्रकृति) से श्रेष्ठ है, परन्तु परब्रह्म उससे भी श्रेष्ठ है (गीता ८।२१)। अक्षरब्रह्म में आनन्दांश का किञ्चिन्मात्र में तिरोधान रहता है, पर पुरुषोत्तम आनन्द से परिपूर्ण रहता है। क्षर से अतीत तथा

मायासम्बन्धरहित शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥२८॥ शुद्धाद्वैतमार्तण्ड।

अक्षर से उत्तम होने के कारण परब्रह्म को गीता 'पुरुषोत्तम' नाम से पुकारती है। अक्षरब्रह्म विशुद्ध-ज्ञानैकगम्य है परन्तु 'पुरुषोत्तम' की प्राप्ति तो केवल 'अनन्यभक्ति' के द्वारा ही हो सकती है। 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता ८।२२) इस गीतावाक्य के आधार पर आचार्य का यह सिद्धान्त है (तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तम-प्राप्तिरिति सिद्धम्। यत्रान्तःस्थानीत्यनेन परस्य लक्षणमुक्तम्। तच्च मृत्स्नादिप्रसङ्गे श्रीगोकुलेश्वरे स्पष्टमुच्यते ब्र० सू० ३।३।३३ अणुभाष्य)।

जीव

भगवान् को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादिगुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद होता है; ज्ञान के तिरोधान से अनात्मरूपदेहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख प्राप्त करता है ('पराभिध्यानात्तु' ब्र० सू० ३। २।५ पर अणुभाष्य)। ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्निस्फुलिंगवत् नित्य है। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं है। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता के ह्रास नहीं होता। वल्लभमत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञान-स्वरूप तथा अणुरूप है। भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन-काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है, परन्तु जीव के निर्गमनकाल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है (प्रमेयरत्नार्णव पृ० ७–६)।

जीव अनेक प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) मुक्त, (३) संसारी। स्फुलिंगवत् व्युच्चरण के समय आनन्दांश का तिरोधान होने

पर अविद्या से सम्बन्ध होने से पूर्व जीव 'शुद्ध' कहलाता है। अविद्या के साथ सम्बन्ध होने वाला जीव 'संसारी' कहलाता है। ये भी दो प्रकार के होते हैं—दैव और आसुर। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टि-मार्गीय भेद से भिन्न-भिन्न होता है। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है, तब उनमें तिरोहित आनन्द के अंशों का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। 'तत् त्वमसि' महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता को प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार सुवर्ण के कटक कुण्डलादि अंश सुवर्ण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार चिदंश जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० १५-१६)।

जगत्–जगत् के विषय में आचार्य 'अविकृत परिणामवाद' स्वीकार करते हैं। कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि के समान निर्गुण सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगद्रूपेण परिणत होता है। जिस प्रकार कुण्डलादि-रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में इसी तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है:—

यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥

आचार्य जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं मानते, प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। अनुभवयोग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव

होता है (अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः। तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः— विद्वन्मण्डन पृ० ७)। वल्लभमत में जगत् और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है। ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत्, कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' है। अविद्या के पाँच पर्व होते हैं—स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है। अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता है, परन्तु ब्रह्मरूप होने से 'जगत्' का कभी विनाश सम्भव नहीं है। यह तो ब्रह्म तथा जीव के समान ही नित्य पदार्थ है।

पुष्टिमार्ग—भगवान् की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। भगवान् के त्रिविधरूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं। आधिभौतिक कर्ममार्ग है; ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक है। ज्ञान के बल पर ज्ञानी जन अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु भक्ति के ही द्वारा परब्रह्म, सच्चिदानन्द की उपलब्धि होती है। आचार्य का आचारमार्ग 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' है (पोषणं तदनुग्रहः—भाग० २।१०)। अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने से यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। यह मार्ग मर्यादामार्ग से नितान्त विलक्षण है। मर्यादामार्ग वैदिक है, जो अक्षरब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम के शरीर से निकला है। मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवणादि साधनों के द्वारा सायुज्यमुक्ति ही ध्येय होती है, परन्तु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान् का साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है। हरिरायजी ने पुष्टिमार्ग की विशेषता सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त की है (प्रमेयरत्नार्णव पृ० १६):—

अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

आचार्य ने अणुभाष्य में ठीक ही कहा है—पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं, मर्यादायामंगीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं च युक्तमेव (अणुभाष्य ३।३।२९); पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक—साध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः (अणुभाष्य ४।४।९)।

भक्ति भी दो प्रकार की होती है—'मर्यादाभक्ति' तथा 'पुष्टि-भक्ति'। इन दोनों का पार्थक्य भी वल्लभमत में सूक्ष्मरीति से किया गया है। भगवान् के चरणारविन्द की भक्ति मर्यादाभक्ति है, परन्तु भगवान् के मुखारविन्द की भक्ति पुष्टिभक्ति है। मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है, परन्तु पुष्टिभक्ति में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं रहती। मर्यादाभक्ति से सायुज्य की प्राप्ति होती है, परन्तु पुष्टिभक्ति से अभेदबोधन की प्रधानतया सिद्धि होती है। इस प्रकार इस क्लेशविपुल संसार से उद्धार पाने का एक ही सुगम उपाय है पुष्टिमार्ग का अवलम्बन, जो वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदभाव के बिना सब प्राणियों के लिए उपादेय है। यह 'पुष्टि' श्रीमद्भागवत का प्रधान रहस्य है। वल्लभाचार्य ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही इस पुष्टितत्व को पुष्ट किया है। इस मत के 'प्रस्थान-चतुष्टयी' में उपनिषत्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के साथ श्रीमद्भागवत ('समाधिभाषा व्यासस्य') की भी गणना है। भागवत का इस सम्प्रदाय में इतना अधिक आदर है कि आचार्य के ग्रन्थों में अणुभाष्य की अपेक्षा 'सुबोधिनी' की ख्याति कहीं अधिक है। हरिराय का यह कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ५५):—

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥

विज्ञानभिक्षु वल्लभ के समकालीन प्रतीत होते हैं। 'विज्ञानामृत' भाष्य में इन्होंने "अविभागाद्वैत" का प्रतिपादन किया है। इनके मत में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है।

५
चैतन्यमत

बंगदेश को अपने रसमय कीर्तनों से भक्ति-विभोर बना देने वाले निखिलरसामृतमूर्ति श्री महाप्रभु चैतन्यदेव (१४८५ ई०—१५३३ ई०) वल्लभाचार्य जी के समसामयिक थे। नवद्वीप में जन्म ग्रहण कर आपने वैष्णवधर्म के उत्थान के लिए जो प्रयत्न किया वह सर्वसाधारण से अविदित नहीं है। आपके युगल शिष्य श्रीरूपगोस्वामी तथा श्रीसनातन गोस्वामी ने प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण कर गौडीय वैष्णवमत की प्रकृष्ट प्रतिष्ठा की है। श्रीरूपगोस्वामी ने दानकेलिकौमुदी, ललितमाधव तथा विदग्धमाधव नाटकों में श्रीकृष्ण की ललित वृन्दावन-लीलाओं का रसमय वर्णन ही नहीं किया है, प्रत्युत 'लघुभागवतामृत', 'उज्ज्वलनीलमणि', 'भक्तिरसामृत सिन्धु' में भक्तिरस की सांगोपांग विवेचना की है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—पद्यावली, हंसदूत, उद्धवसन्देश। रूप के ज्येष्ठ भ्राता सनातन ने 'बृहद्भागवतामृत', भागवत दशमस्कन्ध की 'वैष्णवतोषिणी' नाम्नी टीका तथा 'हरिभक्तिविलास' में चैतन्यमत के सिद्धान्त तथा आचार का सविस्तर वर्णन किया है। सनातन के छोटे भाई वल्लभ के पुत्र श्रीजीवगोस्वामी का नाम चैतन्यमत के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्होंने भक्तिरसामृतसिन्धु पर 'दुर्गमसंगमनी' तथा भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' व्याख्या लिखने के अतिरिक्त 'भागवतसन्दर्भ' या षट्सन्दर्भ में भागवत-सम्मत भक्ति तथा भगवान् का स्वरूप विस्तृतरूप से दिखलाया है। भागवतका समीक्षात्मक

यह ग्रन्थरत्न जीवगोस्वामी की भक्ति-भावना तथा प्रचुर पाण्डित्य को सर्वदा विद्योतित करता रहेगा। 'सर्वसंवादिनी' टीका से मण्डित यह षट्सन्दर्भ अचिन्त्यभेदाभेद का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। विश्वनाथ चक्रवर्ती का समय १७ वें शतक का अन्त तथा १८ वें का आदिम काल है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत की 'सारार्थदर्शिनी' टीका (रचना काल १७०४ ई०) है। इनकी उज्ज्वलनीलमणि की 'आनन्दचन्द्रिका' टीका तथा कविकर्णपूर के 'अलंकार कौस्तुभ' की व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत' (बंगला) में चैतन्य की प्रामाणिक जीवनी के साथ-साथ इनके भक्तिसिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है। बलदेव विद्याभूषण (१८ शतक का उत्तरार्ध) की सर्वोत्तम कृति ब्रह्मसूत्र का चैतन्यमतसम्मत 'गोविन्द भाष्य' है। इसका उपोद्घात रूप सिद्धान्तरत्न (या भाष्यपीठक), प्रमेयरत्नावली, गीताभूषण (गीता-व्याख्या), रूप गोस्वामी की स्तवमाला तथा लघुभागवतामृत की टीका आदि ग्रन्थ नितान्त विख्यात हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से चैतन्यमत माध्वमत से सम्बद्ध हैं तथा इसके अनेक सिद्धान्त उस मत से गृहीत भी हैं, परन्तु इसकी दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। गौडीय वैष्णवमत 'अचिन्त्यभेदाभेद' का समर्थक है।

सिद्धान्त

भगवान् विज्ञानानन्दविग्रह हैं। ये अनन्त गुणों के निवासस्थान हैं। सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वविद्त्व, आदि अनन्त अपरिमित गुण श्रीभगवान् में सदा निवास करते हैं। गुण और गुणी का वास्तव में अभेद रहता है। इसीलिए सत्यकामत्वादि अनन्तगुण भगवत्स्वरूप से पृथक् नहीं हैं। इस अभेद-दृष्टि को ध्यान में रख कर विष्णुपुराण ज्ञान बलादि गुणों को भगवत्-शब्दवाच्य बतलाता है (भगवच्छब्दवाच्यानि विना

भगवान्

हेयगुणादिभिः) तथा श्रीमद्भागवत भगवान् को गुणात्मा मानता है (गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्—भाग० १०।१४।७)। भगवान् का विग्रह उनके स्वरूप से एकाकार ही है। अतः भगवद्विग्रह नित्य तथा अप्राकृत है। इस प्रकार भगवान् के स्वरूप, विग्रह तथा गुणों में किसी प्रकार का भेद या पार्थक्य नहीं है, तथापि पार्थक्य का वर्णन (जैसे भगवान् के गुण, भगवान् का स्वरूप) भाषा की दृष्टि से ही किया जाता है। चैतन्यमत में भेद का समर्थन जलकल्लोल न्याय से किया जाता है।

शंकराचार्य के मत के अनुकूल चैतन्यमत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य है। वह अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक पदार्थ है। नारद पांचरात्र का स्पष्ट कथन है—सर्वत्र च स्वगतभेदविव-र्जितात्मा। भगवान् में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति रहती है जिसके कारण नानात्मक प्रतीत होने पर भी वह एकात्मक ही बना रहता है। भक्तों ने इसीलिए भगवान् को वैदूर्य मणि के समान बतलाया है। इस शक्ति की परिभाषिकी संज्ञा 'विशेष' है जिसकी कल्पना माध्वमत से ग्रहण की गई है। जहाँ पर भेदाभाव होकर भी भेदकार्य की प्रतीति होती है, वहाँ 'विशेष' माना जाता है (यत्र भेदभावो भेदकार्यं च प्रमिते तत्रैव भेद-प्रतिनिधिर्विशेषः कल्प्यते—सिद्धान्तरत्न पृ० २३)। 'विशेष' भेदव्यव-हार का निर्वाहकमात्र होता है, पर 'भेद' वास्तव होता है। भगवान् का जीव तथा प्रकृति से पृथक् होना भेद-साध्य है, परन्तु भगवान् का अपने गुणों तथा विग्रहों से पृथक् होना 'विशेषजन्य' है, क्योंकि वस्तुतः उनके गुण तथा विग्रह भगवान् से एकाकार ही हैं (विशेषनिर्भेदेऽपि तत्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात्—सिद्धान्तरत्न पृ० २३)। इसी अचिन्त्य-शक्ति के कारण भगवान् मूर्त होकर भी विभु हैं। इस परिच्छिन्नत्व तथा विभुत्व की भगवान् में युगपद्स्थिति का वर्णन ब्रह्मसंहिता (५।४२) में स्पष्ट शब्दों में किया गया है—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो
वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम् ।
सोऽप्यस्ति यत् प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भगवान् अचिन्त्याकार अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, परन्तु उनकी तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं—स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और मायाशक्ति[1]। स्वरूपशक्ति को चित्शक्ति तथा अन्तरंगा शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यह भगवद्रूपिणी ही है। सत्, चित् तथा आनन्द के कारण भगवान् की यह स्वरूपशक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होती है[2]—(१) 'सन्धिनी'—इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं और समस्त देशकाल तथा द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं (सदात्मापि यथा सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्व-देशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी) (२) 'संवित्'—चिदात्मा भी भगवान् इसी से स्वयं जानते हैं तथा दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। (३) 'ह्लादिनी'—इससे भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरों को आनंद प्रदान करते हैं (सिद्धांतरत्न पृ० ३९–४०)। जो शक्ति परि-च्छिन्न-स्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है वह 'तटस्था' या जीवशक्ति कहलाती है। मायाशक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव साधन होता है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को 'पराशक्ति' कहते हैं। भगवान् 'स्वरूप शक्ति' से जगत् के निमित्त कारण और माया-जीव-शक्तियों से उपादान कारण हैं। इसी प्रकार

---

१ विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥ वि० पु० ६।७।६१ ।

२ ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥ विष्णुपुराणे

माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। जगत् में धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म के विनाश के लिए, भक्तों की रुचि के अनुसार ये ही भगवान् भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं, अवतार नहीं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—श्रीभाग० १।३।२८)।

जगत्—चैतन्यमत में जगत्प्रपञ्च नितरां सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्वविद् हरि की बहिरङ्गा शक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रतिपादित करती हैं। 'याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (ईशावास्य श्लो० ८) श्रुति सांसारिक पदार्थों को यथार्थ तथा विष्णुपुराण (१।२२।५८) इन्हे 'अक्षय' 'नित्य' कहता है। प्रलयकाल में भी भगवान् के साथ जगत् की सूक्ष्मरूपेण अवस्थिति उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार रात के समय वन में लीन विहङ्गम की स्थिति (वनलीनविहङ्गवत्-प्रमेयरत्नावली ३।२)। अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् के साथ न तो यह प्रपञ्च एकान्ततया भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। अतः चैतन्यमत की आध्यात्मिकदृष्टि 'अचिन्त्यभेदाभेद' के नाम से प्रसिद्ध है[1]।

साधनमार्ग—भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। कर्म का उपयोग चित्त की शुद्धि कर उसे ज्ञान तथा भक्ति के उपयुक्त आधार बनाने में है। ज्ञान की प्रकाररूपा भक्ति 'केवल ज्ञान' से नितान्त विलक्षण है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—केवलज्ञान तथा विज्ञान। त्वं पदार्थ के ज्ञान से कैवल्य ज्ञान का उदय होता है, तत्पदार्थ के चिन्तन से भगवत्प्रसाद का लाभ होता है और

---

१ स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदावङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्।
— भगवत्सन्दर्भस्य सर्वसंवादिन्यां जीवगोस्वामी।

सायुज्यादि मुक्ति की ही उपलब्धि होती है; परन्तु विज्ञान अर्थात् भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत्प्रसाद को ही प्राप्त कर लेता है, अपितु भगवान् को अपने वश में कर लेता है (भगवद्वशीकार)। अतः भगवद्वशीकार को उत्पन्न करने के कारण भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है (सिद्धान्तरत्न पृ० २९–३१)। संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण भक्ति का सार है। ये दोनों शक्तियाँ भगवान् के ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का अपृथग्विशेषण है, परन्तु भक्तों का पृथग्विशेषण है। भगवान् के दो रूप होते हैं–(१) ऐश्वर्य, जिसमें उनके परमैश्वर्य का विकास होता है तथा (२) माधुर्य, जिसमें नरतनुधारी भगवान् मनुष्य के समान ही चेष्टा किया करते हैं। ऐश्वर्य का ज्ञान माधुर्य के ज्ञान से भिन्न है। ऐश्वर्यज्ञान से सम्पन्न जीव भगवत्सानिध्य में स्वकीय भाव को भूल कर सम्भ्रम तथा आदर के भाव से अभिभूत हो जाता है, परन्तु माधुर्य ज्ञान से सम्पन्न होने पर वह वात्सल्य, सख्य आदि स्वीय भावों को खो नहीं बैठता। भक्ति भी दो प्रकार की होती है —'विधिभक्ति' और 'रुचिभक्ति' या राग। विधिभक्ति में भक्तिशास्त्र-निर्दिष्ट उपायों का अवलम्बन नितान्त उपादेय है। इस भक्त अपने प्रयत्न से 'देवयान' का आश्रय कर सिद्धि लाभ करते हैं, परन्तु आर्तभक्तों पर भगवान् की अहैतुकी कृपा होती है। वह स्वयं उन्हें अपने वाहन के द्वारा स्वेच्छा से परमधाम की प्राप्ति करा देते हैं। विधिभक्ति से रागात्मिका नितान्त श्रेयस्कर है। इसमें भक्त भगवान को अपने प्रियतमरूप से ग्रहण करता है तथा अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ भगवत् धाम को प्राप्त करता है। व्रज-गोपिकाओं में प्रत्यक्ष दृष्ट इसी उत्तमा भक्ति का सुन्दर वर्णन नारद-पाञ्चरात्र ने किया है:—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भगवत्प्रीति भगवान् की आनन्दरूपा ह्लादिनी शक्ति ही है (भगवत् प्रीतिरूपा वृत्तिर्मायादिमयी न भवति, किन्तर्हि स्वरूपशक्त्यानन्दरूपा, यदाऽऽनन्दपराधीनः श्रीभगवानपीति—प्रीतिसन्दर्भ पृ० ७२४)। यह भक्ति अन्य दर्शनों के समान उपायभूता न होकर उपेयभूता है। मुक्तात्माओं के लिए यही भक्ति 'सेवानन्द' का रूप धारण कर प्रकट होती है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की सेवा करते हुए आनन्दलाभ ही मोक्ष से भी बढ़कर होने से 'पञ्चम' पुरुषार्थरूप से गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में ग्रहण किया गया है। इस भक्तिरस की सांगोपांग कल्पना चैतन्यमत की विशिष्टता है जिसका पण्डित्यपूर्ण विवेचन रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में किया है।

चैतन्यमत का संक्षिप्त वर्णन भक्तवर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है:—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

उपसंहार

प्रसिद्ध वैष्णव दर्शनों का यही संक्षिप्त परिचय है। इसके अनुशीलन से पता चलता है कि इनमें कतिपय सिद्धान्त सामान्य रूप से मान्य हैं। वैष्णव दर्शनों में ज्ञान की अपेक्षा मोक्षसाधन में भक्ति की ही प्रधानता है। भगवान् का साकार, सगुण, सविशेष भाव ही मान्य है। भगवान् अनन्तकल्याणगुणनिकेतन, समस्त प्राकृतगुण-विहीन, हेयप्रत्यनीक हैं तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर विग्रह धारण करने वाले हैं। जीव का अणुत्व सर्वत्र समभावेन सिद्ध है। भक्तिमार्ग में जीव की विभुत्वकल्पना कथमपि सुसंगत नहीं हो सकती। 'विदेह मुक्ति' की कल्पना ही सर्वत्र आदरणीय है; 'जीवन्मुक्ति' की नहीं। देहधारण के समय जीव

के दुःख क्षय होने पर भी सर्वदा के लिए क्षीण नहीं हो जाते। विदेह-मुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के संनिधान में उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताता है। मुक्त आत्माओं को भी देहप्राप्ति भजन के लिए अवश्यमेव होती है, परन्तु यह देह शुद्धसत्त्व के उपादान से निर्मित होने के कारण अप्राकृत होता है। नित्य देह के आश्रय से ही जीव भगवान् के साथ नित्यलीलायें कर सकता है। सामीप्यादि चतुर्विध मुक्ति की कल्पना में भगवान् तथा भक्त का किञ्चिदंश में भेद बना ही रहता है। सायुज्यमुक्ति में दोनों की एकरूपता होने पर भी किञ्चित्मात्र भेद उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार दो वृक्षों में एक दूसरे के ऊपर रखने से एकाकार होने पर भी उनमें परस्पर भेद किञ्चिन्मात्र में अवश्यमेव रहता है।

इस प्रकार जीव, ईश्वर तथा मुक्ति की कल्पना में साम्य होने पर भी जीवेश्वरसम्बन्ध विषय में इन विभिन्न वैष्णवसम्प्रदायों में पार्थक्य है। चैतन्यमत भगवान् में अचिन्त्यशक्ति के कारण 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त का पोषक है, तो वल्लभमत मायासम्बन्धरहित शुद्ध ब्रह्म की एकता में विश्वास करता है। माध्वमत स्पष्टतः जीवेश्वर में द्वैतभाव का समर्थक है। रामानुजमत तथा निम्बार्क में परस्पर सिद्धान्तगत विपुल साम्य है। रामानुज चित् अचित् को भगवान् के गुण या प्रकार मान-कर उभयविशिष्ट ब्रह्म की अद्वैतता मानते हैं, परन्तु निम्बार्क चिदचित् को ईश्वर से भिन्न तथा अभिन्न मानकर 'भेदाभेद' का समर्थन करते हैं। ईश्वर के लिए किसी व्यावर्त्य पदार्थ की सत्ता न होने से चिद्‌चिद् को विशेषण मानना निम्बार्क को न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता[1]। माया वाद का खण्डन भक्ति—विरोधी होने से सर्वत्र समभावेन किया गया है।

---

[1] व्यावर्त्याभावात् व्यावर्तकत्वविशेषण-लक्षणत्वाभावः तदभावे च ब्रह्मणो विशिष्टत्वाभावः सुतरां सिद्धः।— वेदान्ततत्त्वबोध पृ० २७, सिद्धान्तजाह्नवी पृ० ४३—४५।

चतुर्थ खण्ड

तन्त्र

चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णव तन्त्र

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित जन-साधारण की तो बात न्यारी है, शिक्षित लोगों में भी तन्त्र के विषय में अनेक भ्रान्त धारणायें दृष्टिगोचर होती हैं। तन्त्र के नाम सुनते ही कितने लोग नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनायें और विशुद्ध आचारपद्धति के न जानने का विषम परिणाम है। तन्त्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्राञ्जल है जितने षड्दर्शनों के। तथा उनकी साधनपद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है जितनी वेदों की। इन्हीं तन्त्रमूलक दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस चतुर्थ खण्ड का मुख्य विषय है।

'तन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'काशिकावृत्ति' में विस्तारार्थक तन् धातु से औणादिक ष्ट्रन् (सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्, उणादि सूत्र ६०८) के योग से बतलाई गई है। अतः 'तन्त्र' का अर्थ वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तंत्रम्) और जो साधकों का त्राण (रक्षा करता

तन्त्र

है)। इसलिए शैवसिद्धान्त के 'कामिक-आगम' में तन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

अतः 'तन्त्र' का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञानवि यक ग्रन्थ आदि है। इस शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ में बहुशः उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने 'सांख्य' को तन्त्र नाम से अभिहित किया है (स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता—२।१।१ शां० भा०)। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिए 'तन्त्र' के प्रयोग उपलब्ध होते हैं[1]। परन्तु यहाँ तन्त्रों से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो यन्त्रमन्त्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधनमार्ग का उपदेश देते हैं। तन्त्रों का दूसरा नाम 'आगम' है। वाचस्पतिमिश्र ने तत्ववैशारदी (१।७) में इसकी व्याख्या यों की है—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः। आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं। यह व्युत्पत्ति आगम और निगम के भेद को बतला रही है। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बतलाता है तथा इनके साधनभूत उपायों को आगम सिखलाता है। दृष्टान्त के लिए शाक्तागम को लीजिये। अद्वैत वेदान्त में जिस अद्वैततत्व की उपपत्ति प्रबल युक्तियों के सहारे सिद्ध की गई है, उसकी व्यावहारिक योजना शाक्तागमों में की गई है। निगम तथा आगम का पारस्परिक सम्बन्ध एक बड़े झमेले का विषय है परन्तु साधारण तौर से कहा जा सकता है कि अधिकांश आगमों की मूलभित्ति निगम ही है।

---

१ 'न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः',
'यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः'।

इस कलियुग के लिए आगम की उपयोगिता विशेषरूप से मानी गई है। चारों युगों में चार प्रकार की पूजा का विधान मिलता है। सत्ययुग में, वेद तथा वैदिक उपासना का, त्रेता में स्मृति तथा स्मार्त पूजा का, द्वापर में पुराण तथा पुराणसम्मत पद्धति का तथा कलि में तन्त्र तथा तान्त्रिकी उपासना का विशेष महत्त्व है[1]। महानिर्वाण तन्त्र के अनुसार कलि में मेध्यामेध्य के विचार से हीन मानवजनों के कल्याणार्थ शंकर ने तन्त्रों का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया है। अतः कलियुग में इन्हीं आगमों के अनुसार पूजाविधान से मानवों को सिद्धि प्राप्त होती है (बिना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये—महानिर्वाण)। तन्त्रों का स्वरूप भली भांति पहचाना जा सकता है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का जिनमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रों को यन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पांचों अंग—पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र—व्यवस्थितरूप से दिखलाये गये हों, उन ग्रन्थों को 'तन्त्र' कहते हैं। वाराहीतन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) साधन, तथा ध्यानयोग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को आगम कहते हैं—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः॥

तन्त्रों की विशेषता 'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का

---

१ कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः॥ —कुलार्णवतन्त्रे।

क्रियात्मकरूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है। भारतीय धर्म निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगम-वेद-पर अवलम्बित है, उसी प्रकार वह आगम-तन्त्र पर भी आश्रित है। आगम तथा निगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम समस्या है। तन्त्र ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कतिपय तन्त्रों के सिद्धान्त तथा आचार का मूल स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। पाञ्चरात्र यथा शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदबाह्य ही माना गया है। शाक्त आगम की वेदमूलकता के विषय में जनसाधारण को विशेष सन्देह है। शाक्तों के सप्तविध आचारों में से केवल एक ही आचार—वामाचार—की घृणित पूजापद्धति के बल पर पूरे शाक्त आगम को लोग अवैदिक ठहराते हैं, परन्तु शाक्तों के सिद्धान्त और आचार के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उनमें भी महती संख्या वेदानुकूल तन्त्रों की है। वेदबाह्य तन्त्रों की भी कमी नहीं है जिनके आचार और पूजा-प्रकार वैदिक पद्धति से एकदम विपरीत ठहरते हैं।

शाक्तधर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद-सिद्धि है। तांत्रिक उपासना का प्रथम सिद्धांत है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे (देवो भूत्वा यजेद् देवम्)। शाक्तधर्म अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। शाक्तों की प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है—

आगम-निगम

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानंदरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयं-ज्योतिः, आद्यन्त-विरहित, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप

है (कुलार्णव १।६–१०)। जीव अग्नि-विस्फुलिंगवत् ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है— तंत्रों के ये सिद्धान्त निःसंशय उपनिषन्मूलक हैं। तंत्रों में परमतत्त्व मातृरूप से स्वीकृत किया जाता है। तंत्रों में शक्तिकी कल्पना वैदिक सिद्धान्तोंके ही आधारपर है। ऋग्वेदके वागाम्भृणीसूक्त (१०।१२५) में जिस शक्तितत्त्व का प्रतिपादन है, 'शाक्ततंत्र' उसीके भाष्यभूत माने जा सकते हैं। अतः आगमों के सिद्धान्तों में निगमों के सिद्धान्तों से किसी प्रकार का मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। शाक्त आचारका भी विचार आगे किया जा रहा हैं। सिद्धान्ततः अनेक शाक्ताचार भी नितांत वैदिक हैं। निगम तथा आगम में यही पार्थक्य दृष्टिगत होता है कि जहाँ निगम अपने सिद्धान्तों तथा क्रियाकलापों का ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य— त्रिवर्ण से लिए सीमित करता है, वहाँ आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्रीजनों के लिए भी, उन्मुक्त कर रखा है। निगम जहाँ विशेषतः ज्ञानप्रधान है, वहाँ आगम मुख्यतः क्रियाप्रधान है।

तांत्रिक आचार एक नितान्त रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरु के द्वारा दीक्षाग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। वैदिकी तथा तान्त्रिकी पूजा में अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक पूजापद्धति सर्वसाधारण के उपयोग के लिए है, वहाँ तान्त्रिकी पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रखी जाती है। वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ तान्त्रिक पद्धति का प्रचार कम न था। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधारभित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है। बृहदारण्यक (६।२) तथा छान्दोग्य (५।८) में वर्णित पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में 'योषा वाव गौतमाग्निः' आदि रूपक का क्या स्वारस्य है? छान्दोग्य (३।१–१०) में उल्लिखित मधुविद्या का रहस्य क्या है? सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाड़ियाँ हैं, गुह्य

प्राचीनता

आदेश मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है, उससे निकलनेवाले अमृत को 'साध्य' नामक देवता उपभोग करते हैं'; इस पञ्चम अमृत के वर्णन में जिन गुह्य आदेशों को मधुकर बतलाया गया है वे गोपनीय तान्त्रिक आदेशों के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं ? अतः वैदिकी पूजा के संग में गुह्य तान्त्रिक पद्धति की कल्पना करना निराधार नहीं है।

भाव और आचार

शाक्तमत में तीन भाव तथा सात आचार होते हैं। पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव—ये तीन भाव हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार—ये सात आचार पूर्वोक्त तीनों भावों से सम्बद्ध हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्य आचरण। जिन जीवों में अविद्या के आवरण के न हटने से अद्वैत-ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ है, इनको मानसिक अवस्था 'पशुभाव' कहलाती है। पशु के समान ये भी अज्ञानरज्जु के द्वारा संसार से दृढ़रूप में बँधे रहते हैं। संसारमोह में पड़नेवाला जीव 'अधम' पशु और सत्कर्मपरायण भगवद्भक्त 'उत्तम' पशु कहलाता है। जो मानव अद्वैतज्ञानरूपी अमृतहृद की कणिकामात्र का भी आस्वादन कर अज्ञानरज्जु के काटने में कुछ मात्रा में भी कृतकार्य होते हैं, वे 'वीर' कहलाते हैं। जो साधक वीरभाव की पुष्टि से द्वैतभाव के दूरीकरण में सर्वथा समर्थ होते हैं तथा उपास्य देवता की सत्ता में स्वीय सत्ता को डुबा कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं वे 'दिव्य' हैं तथा उनकी मानसिक दशा 'दिव्यभाव' कहलाती है। पूर्वोक्त आचारों में प्रथम चार आचार—वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण—पशुभाव के लिए, वाम तथा सिद्धान्त वीरभाव के लिए तथा आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार पूर्ण-अद्वैत-भावनाभावित दिव्य साधक के लिए है। कौलाचार का रहस्य नितान्त निगूढ़ है। भास्करराय ने 'कुल' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं। 'कुलामृतैकरसिका'

शब्द के 'सौभाग्य-भास्कर' भाष्य में भास्करराय ने लिखा है[1]—इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्। अर्थात् जिस साधक को अद्वैतभावना पूर्ण तथा विशुद्ध है वही वास्तविक कौलपद वाच्य है। तभी तो उसे कर्दम तथा चन्दन में, शत्रु तथा प्रिय में, श्मशान तथा भवन में, काञ्चन तथा तृण में, तनिक भी भेद-बुद्धि नहीं रहती[2]। यह कौलसाधना वेदागममहोदधि का सार बतलाई गई है। इस नितान्त दुष्कर साधना के रहस्य न जानने से लोगों में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई है। कौल कभी अपने स्वरूप को प्रकट होने नहीं देता। निम्नलिखित कथन वस्तुतः यथार्थ है, निन्दात्मक नहीं है[3] :—

अन्तः शाक्ता बहिः शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

कौलसम्प्रदाय—कौलमार्ग के विभिन्न सम्प्रदाय भी प्राचीनकाल में थे जो 'कौलज्ञाननिर्णय' तन्त्र के १४ व पटल में रोमकूपादि कौल, वृष्णोत्थ कौल, वह्नि कौल, कौल सद्भाव, पदोत्थित कौल के नाम से उद्दिष्ट हैं। इसी प्रकार १७ वें पटल में महाकौल, सिद्धकौल, ज्ञाननिर्णीतिकौल, सिद्धामृतकौल, योगिनीकौल, नाम से जिन कौलों का वर्णन उपलब्ध होता है वे कौलों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय प्रतीत होते हैं। इससे कौलों की व्यापकता तथा महत्ता का स्पष्टतः परिचय मिलता है। कौलज्ञान-

---

१ कुलं सजातीयसमूहः। स च एकविज्ञानविषयत्वरूप—साजात्यापन्न-ज्ञातृज्ञेयज्ञानरूपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्।

२ कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि ! तथैव काञ्चने तृणे।
न भेदो यस्य देवेशि ! स कौलः परिकीर्तितः॥ भावचूड़ामणि-तन्त्रे।

३ द्रष्टव्य सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण-कौलमार्गरहस्य (बं०) पृ० १०-२०।

निर्णय की पुष्पिका से प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध 'योगिनीकौल' से जान पड़ता है जिसकी उत्पत्ति 'कामरूप' में हुई थी (कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे-गृहे—पृ० ७८)। इस प्रकार 'नाथसम्प्रदाय' का सम्बन्ध कौलमत से निःसन्दिग्ध रूप से सिद्ध होता है। अतः गोरक्षनाथ आदि हठयोग के आचार्यों का भी सम्बन्ध कौल मार्ग से ही है। इस सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों में 'कौलज्ञान-निर्णय', 'अकुलवीरतन्त्र' कुलानन्दतन्त्र', 'ज्ञानकारिका' का प्रकाशन कलकत्ता संस्कृत सीरीज (नं० ३) में तथा 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' और सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' का काशी से हुआ है।

समयाचार—कौलाचार के अतिरिक्त 'श्रीविद्या' के उपासकों का एक अन्य ही आचार है, जो 'समयाचार' के नाम से विख्यात है। आचार्य शंकर इसी आचार के अनुयायी थे। 'लक्ष्मीधर' ने सौन्दर्यलहरी (४१ श्लोक) की टीका में और 'भास्करराय' ने 'समयान्तस्था' और 'समयाचारतत्परा' आदि शब्दों के भाष्य में (ललितासहस्रनाम पृ० ५४) इस मत के अनेक रहस्यमय तत्त्वों का वर्णन किया है। समयमार्ग में अन्तर्याग का ही प्राधान्य है। 'समय' का अर्थ है हृदयाकाश में चक्र की भावना कर पूजाविधान (दहराकाशावकाशे चक्रं विभाव्य तत्र पूजादिकं समय इति रुढ्या उच्यते) या शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूपभेद से पञ्च प्रकारके साम्यधारण करनेवाले शिव (शिवशक्ति की सामरस्य)। समयाचार में मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर स्वाधिष्ठानादि चक्रों से होकर सहस्रार चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है। समयाचार का तत्त्व नितरां गूढ़ तथा गुरुमुखैकवेद्य है। समयमार्गी लक्ष्मीधर ने कौलमार्ग की बड़ी निन्दा की है, परन्तु साधना के रहस्य-वेत्ता विद्वज्जनों की सम्मति में आरम्भ में दोनों मार्ग में अन्तर होने पर

भी अन्ततः दोनों में नितान्त घनिष्ठता है। जो परम कौल है, वही सच्चा समयमार्गी है। यही मन्त्रशास्त्र का यथार्थ तात्त्विक सिद्धान्त है।

तान्त्रिक आचार के रहस्यों से अनभिज्ञ पठित समाज का विश्वास है कि उसमें अनेक घृणित और कुत्सित विधि-विधानों को आश्रय दिया गया है। इस आक्षेप की मीमांसा भी आवश्यक है। तन्त्रों की भाषा को सांकेतिक होने के कारण तत्प्रतिपाद्य पूजा-प्रकार का यथार्थ निरूपण करना एक दुरूह व्यापार है। तान्त्रिक आचार-मार्ग भी अनेक हैं जिनमें समयाचार तथा कौलाचार दो प्रधान तथा स्वतन्त्र मार्ग हैं। भास्करराय ने ललितासहस्रनाम भाष्य के आरम्भ में ही 'कुल' शब्द का अर्थ दिया है मूलाधारचक्र (कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यस्मिन् तदाधारचक्रं कुलम्) जिसकी त्रिकोण या योनि भी अन्यतम संज्ञा है। लक्ष्मीधर के कथनानुसार आधारचक्र या योनि की प्रत्यक्षरूपेण पूजा करनेवाले तान्त्रिक 'कौल' तथा उसकी भावना करनेवाले उपासक 'समयमार्गी' कहे जाते हैं। इन तान्त्रिकों की पूजा में 'पञ्चतत्त्व-साधन' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। इन पञ्चतत्त्वों में मकारादि पञ्च वस्तुओं की गणना है—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, और मैथुन। समयमार्ग में अन्तर्याग (आन्तरिक उपासना) को महत्त्व दिया जाता है। अतः इन पाँचों के 'अनुकल्प' का प्रयोग किया जाता है अर्थात् इन पदार्थों का प्रत्यक्ष उपयोग न करके इनके स्थान पर तत्प्रतिनिधिभूत अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है[1]। परन्तु कौल मत में ऐसा नहीं होता। लक्ष्मीधर ने 'तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया' (सौन्दर्यलहरी श्लोक ४१) के भाष्य में कौलों के दो मतों का उल्लेख किया है—पूर्वकौल तथा उत्तरकौल। पूर्वकौल

---

१ समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेव यावत् सर्वमनुष्ठेयम्।
लक्ष्मीधर—सौन्दर्य लहरी टीका (श्लोक० ४१)।

'श्रीचक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं, परन्तु उत्तरकौल सुन्दरी तरुणी के प्रत्यक्ष योनि के पूजक हैं तथा अन्य मकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। सर्वसाधारण में तान्त्रिक विधिविधानों को कुत्सापूर्ण बतलाने की कल्पना का मूल यही उत्तरकौलों का वामाचार है। तन्त्र के अनुशीलनकर्ता कतिपय विद्वानों की यह सम्मति है कि शाक्तमार्ग इन पञ्चतत्त्वों के लिए भी वैदिक अनुष्ठानों का ऋणी है, क्योंकि वाम-देव्यादि अनेक विधानों में परयोषा आदि का प्रयोग मान्य था[1]। बहुत सम्भव है इन कौलों के आचार पर बाहरी अनार्य, विशेषतः तिब्बती, तन्त्रों का प्रभाव पड़ा हो। क्योंकि कौलों के प्रधान तन्त्र 'कुलार्णव' में मद्य-मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की बड़ी कड़ी निन्दा है (२ उल्लास, श्लो० ११७-१३६)। कौलाचार का मुख्य केन्द्र कामाख्या है जो भारतवर्ष के बिलकुल पूरबी प्रान्त आसाम में स्थित है। सम्भवतः यहीं तिब्बती तन्त्रों का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। गान्धर्वतन्त्र, तारातन्त्र (१।२) रुद्रयामल (१७ पटल) विष्णुयामल (१—२) पटल के आधार पर महाचीन (तिब्बत) से पञ्चमकार विशिष्ट पूजा का प्रचार वशिष्ठ के द्वारा किया गया माना जा सकता है। इस उल्लेख से पूर्वोक्त मत को कुछ आधार मिल सकता है।

कुलाचार

कौलाचार के विषय में बड़ी भ्रान्त धारणायें फैली हुई हैं। तन्त्रों के प्रति लोगों के हृदय में जो एक अवहेलना तथा तिरस्कार का भाव बना हुआ है उसका प्रधान कारण इस आचार का अपर्याप्त ज्ञान है। 'कौल' शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। कौल वही है जो शक्ति को शिव के साथ मिलन करने में समर्थ होता है। 'कुल' का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और 'अकल' का अर्थ है शिव। जो यौगक्रिया से कुण्डलिनी

---

२ द्रष्टव्य उडरफ—शक्ति ऐण्ड शाक्त (अं०) पृ० ४४०— ४४८ ;

का अभ्युत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ सम्मेलन कराता है वही कौल है। स्वच्छन्दतन्त्र का कहना है—कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते। कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥ कुल या कुण्डलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल अवलम्ब है। कुलाचार ही कौलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह आचार मद्य, मांस मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पञ्च 'म' कार, या पञ्चतत्त्व या पञ्चमुद्रा के सहयोग से अनुष्ठित होता है—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

इन पञ्च मकारों का रहस्य नितान्त गूढ़ है। वास्तव बात यह है कि ये अभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक हैं। जो कोई इन्हें बाह्य तथा भौतिक अर्थ में प्रयोग करता है वह यथार्थ बात से बहुत ही दूर है।

मद्य का अर्थ यह बाहरी शराब नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरन्ध्र में स्थित जो सहस्रदल कमल है उससे जो सुधा क्षरित होती है, उसे ही मद्य कहते हैं। उसी को पीनेवाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। यह खेचरी मुद्रा के द्वारा सिद्ध होता है। इसीलिए तन्त्रों का कथन है—

व्योमपंकज - निस्यन्दसुधापानरतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपायिनः॥
जिह्वया गलसंयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा।
योगिभिः पीयते तत्तु न मद्यं गौड़पैष्टकम्॥

इनमें पहला 'कुलार्णव' का और दूसरा 'गन्धर्वतन्त्र' का वचन है।

मांस—जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है और अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है वही मांसाहारी है। कुलार्णव का कथन है—

पुण्यापुण्ये पशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन योगवित्
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते॥

मत्स्य—शरीरस्थ ईडा तथा पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा तथा यमुना है। इनमें प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर संचालन करता है वही यथार्थ मत्स्य-साधक है। 'आगमसार' कहता है—

गंगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः॥

मुद्रा—सत्संग के प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत् संग के प्रभाव से बन्धन प्राप्त होता है। इसी असत् संग के त्याग का ही नाम मुद्रा है। 'विजयतन्त्र' का यही मत है—

सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता॥

मैथुन का अर्थ है मिलाना। किसका? सहस्रार में स्थित शिव का तथा कुण्डलिनी का अथवा सुषुम्ना तथा प्राण का। स्त्री-सहवास से वीर्यपात के समय जो सुख मिलता है उससे शतकोटिगुणित अधिक सुख सुषुम्ना में प्राणवायु के स्थित होने से होता है। यही वास्तव मैथुन है—

ईडापिंगलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥

इन अर्थों से स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध अन्तर्याग से है। इसका अधिकारी भी साधारण व्यक्ति नहीं होता, प्रत्युत उच्च कोटि का साधक ही इसका उपयुक्त पात्र है जो परद्रव्य के विषय में अन्धतुल्य, परस्त्री के विषय में नपंसकतुल्य, परनिन्दा में मूकतुल्य तथा जितेन्द्रिय है—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सदा विजितेन्द्रियः॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता।

इतनी उच्च साधनाको निन्दनीय मानना कथमपि उचित नहीं है।

तन्त्रों भी प्रामाणिकता के विषय में दो मत हैं। भास्करराय तथा राघवभट्ट की सम्मति में श्रुत्यनुगत होने से तन्त्रों का परतः प्रामाण्य है,

तन्त्र की प्रामाणिकता

परन्तु श्रीकण्ठाचार्य तन्त्रों को श्रुति के समान स्वतः प्रमाण मानते हैं। कुलार्णव तन्त्र का स्पष्ट कथन है (२।१४०) तस्माद् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये। कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति (२।१) की टीका में हारीत ऋषि का एक वाक्य उद्धृत किया है—श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च—जिसके अनुसार तन्त्र की प्रामाणिकता श्रुति के समकक्ष मानी गई है। परन्तु प्रसिद्ध शाक्त-दार्शनिक भास्करराय ने तन्त्र शास्त्र को स्मृति शास्त्र के अन्तर्भूत मानकर उसका प्रामाण्य अंगीकार किया है[1]। मन्वादि स्मृतियों से तन्त्रों की विशेषता यही है कि स्मृतियाँ कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं और तन्त्र ज्ञानकाण्ड के। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृतिशास्त्र मानकर उन्हें वेद के तृतीयकाण्ड उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है। श्रीकण्ठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने शैवभाष्य (२।२।३८) में तन्त्रों का वेदवत् प्रामाण्य माना है, क्योंकि वेद तथा तंत्र शिवजी के द्वारा निर्मित होने के कारण समभावेन प्रामाणिक हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वेद केवल त्रैवर्णिक है—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विज वर्णों के लिए है परन्तु तंत्र सबके लिए माननीय है, परन्तु हैं दोनो आदरणीय और प्रामाणिक[2]। इस भाष्य की 'शिवार्कमणि-

---

१ तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्य-प्रकाश); परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात् (सौभाग्यभास्कर का उपक्रम)।

२ वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति। उभयोरेकः शिवः कर्ता। उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ—श्रीकण्ठभाष्य २।२।३८।

दीपिका' व्याख्या में अप्पयदीक्षित ने आगम दो प्रकार का माना है — वैदिक और अवैदिक। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए और अवैदिक तंत्र वेद के अनधिकारियों के वास्ते हैं। अतः अधिकारीभेद से व्यवस्था होने से आगम का प्रामाण्य सर्वथा सुव्यवस्थित है।

तन्त्र भेद—तंत्रों के तीन प्रधान विभाग हैं—ब्राह्मण तन्त्र, बौद्धतंत्र[1] और जैन तंत्र। ब्राह्मण तंत्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण तीन प्रकार के होते हैं—(१) वैष्णवागम पाञ्चरात्र या भागवत, (२) शैवागम, (३) शाक्तागम जिनमें क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परा देवतारूप से उपासना विहित है। दार्शनिक सिद्धान्तों के विभेद से भी आगम द्वैतप्रधान, अद्वैतप्रधान तथा द्वैताद्वैत प्रधान है। रामानुज की व्याख्या के अनुसार पाञ्चरात्र विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक है; शैव आगम में तीनों मतों की उपलब्धि होती है, परन्तु शाक्तागम सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इन्हीं तन्त्रों का क्रमशः वर्णन यह प्रस्तुत किया जायगा।

तन्त्रभेद

पाञ्चरात्र की प्राचीनता

आजकल 'पाञ्चरात्र' ही वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु वैखानस आगम भी वैष्णवागमों के ही अन्तर्भुक्त है। पाञ्चरात्र का प्रचुर साहित्य भी उपलब्ध होता है, परन्तु वैखानस आगम आजकल लुप्तप्राय सा हो गया है। परन्तु किसी समय में वैखानसों का भी बोल-बाला था। पाञ्चरात्र तन्त्र कितना प्राचीन है? आवश्यक साधनों के अभाव में इस प्रश्न का यथार्थ निर्धारण करना असम्भव-सा है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व अध्याय ३३५—अध्याय ३४६) में पहले पहल इस तन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जब

१ द्रष्टव्य, लेखक रचित बौद्ध दर्शन पृ० ४ ३५-४६०।

महर्षि नारद को इसके तत्वों की जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप में जाकर नारायण ऋषि से इसके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया तथा लौटकर इस देश में उनका प्रथम प्रचार किया। इस प्रकार नारायण ऋषि इसके प्रवर्तक हैं। पांचरात्र ग्रन्थों का स्पष्ट कथन है कि पाञ्चरात्र वेद का ही एक अंश है। पाञ्चरात्र का सम्बन्ध वेद की 'एकायन' शाखा से है[१]। छान्दोग्य उपनिषद् में 'एकायन' विद्या का नामोल्लेख है, पर इसके विवेच्य विषयों की ओर संकेत नहीं है। पर यहाँ भी 'एकायन' का सम्बन्ध नारद से है[२], जिन्होंने समस्त-वेदों के साथ-साथ 'एकायन' का भी अध्ययन किया था। नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थकार का कहना है कि शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा का ही दूसरा नाम 'एकायन शाखा' है[३]। जयाख्य संहिता (पृ० १५) पांचरात्र के प्रचारक शाण्डिल्य, भारद्वाज, मौञ्जायन, औपगायन और कौशिक ऋषि को काण्वशाखानुयायी बतलाती है, पर अभी तक इस शाखा के ग्रन्थों का पता नहीं चलता।

उत्पल (१० म शताब्दी) ने अपने 'स्पन्दकारिका' में पाञ्चरात्र श्रुति[४] तथा पाञ्चरात्र उपनिषद् से अनेक उद्धरण दिये हैं। सम्भवतः ये उद्धरण इसी शाखा के हैं। उत्पलकृत निर्देशों से पता चलता है कि दशम शताब्दी तक 'पाञ्चरात्र श्रुति' 'पाञ्चरात्र उपनिषद्' तथा 'पांच-

---

१ (क) एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि। ईश्वरसंहिता (१।४३)

(ख) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।

तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥ श्रीप्रश्न संहिता

२ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि वाकोवाक्यमेकायनम्—(छान्दोग्य ७।१।२)।

३ द्रष्टव्य काण्वशाखामहिमासंग्रह (मद्रास हस्तलिखित पुस्तक सूची भाग ३)।

४ पाञ्चरात्रश्रुतावपि-यद्वत् सोपानेन प्रासादमावहेत्, प्लवनेन वा नदीं तरेत्। तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्य। स्पन्दकारिका पृ० २।

रात्र संहिता[1]—इस प्रकार इस तन्त्र के ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त थे। यामुनाचार्य (११ वीं शताब्दी) ने अपने 'आगमप्रमाण्य' में पाञ्चरात्र संहिताओं का नामोल्लेख किया है।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि यह तन्त्र उपनिषत्काल में विद्यमान था। कम से कम महाभारत से प्राचीन तो अवश्यमेव है। भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वे ही उपाय (प्राप्तिसाधन) हैं। बिना भगवान् के अनुग्रह हुए जीव भगवन् को नहीं पा सकता। भगवान् को 'शरणागति' ही केवलमात्र उपाय है। इस शरणागति-तत्त्व पर आग्रह दिखलाने के कारण इस तन्त्र का 'एकायन' नाम अन्वर्थ सिद्ध होता है।[2] पाञ्चरात्र का ही दूसरा नाम 'भागवतधर्म' और 'सात्वतधर्म' था। भागवत धर्म का उल्लेख विक्रम-पूर्व के शिलालेखों में मिलता है। विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी मे बेसनगर के शिलालेख में यूनानी हेलिओडोरस को भागवत उपाधि धारण करने तथा गरुडस्तम्भ की स्थापना का वर्णन मिलता है[3]। महाभारत में 'सात्त्वत विधि' का उल्लेख किया गया है[4]। इतना ही नहीं, 'सत्त्वत्' शब्द ऐतेरयब्राह्मण में भी आता है[5]। यदि इसका प्रयोग इसी प्रसंग में हो तो सात्त्वत तन्त्र की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है।

---

१ पाञ्चरात्रोपनिषद् च—ज्ञाता च ज्ञेयञ्च वक्ता च भोक्ता च भोज्यञ्च। स्पन्दकारिका पृ० ४०।

२ शृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते॥
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ईश्वर संहिता।

३ इण्डियन एण्टीक्वेरी १९११ पृ० १३।

४ सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षेण यः।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च॥—महाभारत भीष्मपर्व।

५ एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भोज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते, भोजेति एनान् अभिषिक्तान् आचक्षते। ऐतरेय ब्राह्मण ८।३।१४

पाञ्चरात्र के मूल सिद्धान्त श्रुति में प्रतिपादन हैं। शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में 'पाञ्चरात्र सत्र' का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समस्त प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए पाँच दिनों तक किया था। इस सत्र के आध्यात्मिक रहस्यों का पता नहीं चलता, पर इतना तो निश्चित है कि विष्णु भक्तों के यज्ञ हिंसात्मक न होते थे, पशु के स्थान पर यव-घृत की ही आहुति दी जाती थी। नारायणीयोपाख्यान के आधार पर नारायण भक्त राजा उपरिचर ने इस प्रकार का यज्ञ सप्तर्षियों के उपदेश से सर्वप्रथम किया। पाञ्चरात्र के वैदिकत्व को लेकर श्रीवैष्णव आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म मीमांसा प्रस्तुत की है। पाञ्चरात्रों के 'चतुर्व्यूह' सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की। शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य (२।२।४२-४५) ये इस मत की कड़ी आलोचना की है और स्पष्ट शब्दों में इसे अवैदिक घोषित किया है, परन्तु रामानुज के मत में बादरायण ने उक्त उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में पाञ्चरात्र का मण्डन ही किया है, खण्डन नहीं (द्रष्टव्य श्रीभाष्य)। महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाणवाक्यों को उद्धृत कर रामानुज ने पाञ्चरात्रागम को भी वेदों के समान ही प्रमाणभूत माना है[1]। रामानुज से पहले श्रीयामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' में पाञ्चरात्रतन्त्र की प्रामाणिकता को प्रबल युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है। रामानुज के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' में और भट्टारक वेदोत्तम ने 'तन्त्रशुद्ध' में इस विषय को मीमांसा पद्धति से विचार कर पाञ्चरात्रों को वेदसम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है।

पाञ्चरात्र और वेद

---

१ सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥ श्रीभाष्य २।२।४२

पाञ्चरात्र का दूसरा नाम 'भागवत या सात्वत' है। सत्वत् का यादव क्षत्रियों के लिए प्रयोग होता है। अतः ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति में यादवों में इसके विपुल प्रचार होने के कारण यह संज्ञा इस तन्त्र को दी गयी थी। परन्तु पराशर की सम्पति में सात्वत भागवत का पर्यायवाची है। सातयति, सुखयति, आश्रितानिति सात् परमात्मा। स एषामस्तीति वा सात्वताः सात्वन्तो वा महाभागवताः (पराशरभट्ट—विष्णुसहस्रनामभाष्य—वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण पृ० ४६५). भगवान् विष्णु के परमाराध्य होने के कारण इन नामों की अन्वर्थकता स्पष्ट ही है, पर पाञ्चरात्र शब्द की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से मिलती है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पाञ्चरात्र थी। ईश्वर संहिता (अ० २१) के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाँच रातों में उपदेश दिया गया था, तथा पद्मसंहिता (ज्ञानपाद अ० १) का कथन है कि इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये थे। अतः पाञ्चरात्र नामकरण हुआ। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इस नामकरण का कारण विवेच्य विषयोंकी संख्या है। रात्र का अर्थ होता है ज्ञान[1]। परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पंच विषयों के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पड़ा है[2]। अहिर्बुध्न्यसंहिता (११।६४) इसी मत को स्वीकार करती है।

पाञ्चरात्र तन्त्र विषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन तथा विस्तृत है, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि उसका प्रकाशित अंश

---

१ रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्—नारद पाञ्च-रात्र १।४४।

२ नारद पञ्चरात्र १।४५।५३।

साहित्य

अत्यन्त स्वल्प है। कपिञ्जल संहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों में, निर्दिष्ट सूचना के अनुसार अगस्त्य संहिता, काश्यप संहिता, नारदीय संहिता, महासनत्कुमार संहिता, वाशिष्ठ संहिता वासुदेव संहिता, विश्वामित्र संहिता, विष्णुरहस्य संहिता, आदि पांचरात्र संहिताओं की संख्या दो सौ पन्द्रह है[1], परन्तु निम्नलिखित १३ संहितायें ही अबतक प्रकाशित हो सकी हैं:—(१) अहिर्बुध्न्य संहिता (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास) (२) ईश्वर संहिता (सुदर्शन प्रेस, काञ्ची) (३) कपिञ्जल संहिता; (४) जयाख्य संहिता (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज नं० ४५) (५) पराशर संहिता, (६) पाद्मतन्त्र, (७) बृहत् ब्रह्मसंहिता (आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला) (८) भारद्वाज संहिता, (९) लक्ष्मीतन्त्र, (१०) विष्णुतिलक, (११) श्रीप्रश्न संहिता, (१२) विष्णुसंहिता (अनन्त शयन ग्रन्थमाला) तथा (१३) सात्वत संहिता (काञ्ची)। इन तेरहों में भी केवल वे ही ६ संहितायें नागराक्षरों में छपी हैं जिनके प्रकाश-स्थान का यहाँ निर्देश है। अन्य सात संहितायें आन्ध्रलिपि में हैं। अन्य संहितायें भी विषयगौरव के कारण प्रकाशनयोग्य होने पर भी हस्तलिपिरूप में ही मिलती हैं, समस्त पाञ्चरात्र संहिताओं में 'पौष्कर' 'सात्वत तथा 'जयाख्य' संहितायें प्राचीनतम मानी जाती हैं। जयाख्य संहिता ३३ पटलों में समाप्त है, पर षष्टि अध्यायात्मक अहिर्बुध्न्य संहिता, जयाख्य संहिता से लगभग दुगुनी है। बृहद् ब्रह्मसंहिता परिमाण में कम है। जयाख्य संहिता में दार्शनिक तत्त्व का विवेचन संक्षिप्त है परन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता का विवेचन खूब विस्तृत है। इन्हीं संहिताओं के आधार पर इस तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायगा।

पाञ्चरात्र संहिताओं के विषय चार हैं:—(१). 'ज्ञान'—ब्रह्म, जीव तथा जगत् तत्त्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा सृष्टितत्व का

---

१ द्रष्टव्य डा० श्रादर (Dr. Schrader) इन्ट्रोडक्शन टू दी पाञ्चरात्र ० ६—१२।

विशेष निरूपण। (२) 'योग'—मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग-सम्बद्ध प्रक्रियाओं का वर्णन। (३) 'क्रिया'—देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सांगोपांग वर्णन। (४) 'चर्या' आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यन्त्रों के पूजन का विस्तृत विवरण, वर्णाश्रम धर्म का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर विशिष्ट पूजा का विधान। इनमें 'चर्या' का वर्णन आधे से अधिक है। आधे में सबसे अधिक क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। अतः चर्या और क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही पाञ्चरात्र संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है। प्रमेयों की मीमांसा गौण तथा प्रासंगिक है। तन्त्रों की शैली के अनुसार सृष्टि और अध्यात्मतत्त्व का वर्णन एक साथ मिश्रित रूप से मिलता है।

(२) पाञ्चरात्र की तत्त्वमीमांसा

पाञ्चरात्र मत में परब्रह्म अद्वितीय, दुःख-रहित, निःसीम सुखानुभव रूप, अनादि, अनन्त है। सब प्राणियों में निवास करनेवाला, समस्त जगत् में व्याप्त होकर स्थित होनेवाला, निरवद्य तथा निर्विकार है। इस विषय में उसकी समता उस महासागर से दी जाती है जो तरङ्ग-रहित होने से नितान्त प्रशान्त है (अतरंगार्णवोपमम्)। वह प्राकृत-गुणस्पर्शहीन तथा अप्राकृत गुणों का आस्पद है। वह आकार, देश तथा काल से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्ण, नित्य तथा व्यापक है। वह हेय-उपादेय-विवर्जित है तथा इदन्ता (स्वरूप), ईदृक्ता और इयत्ता (परिमाण) इन तीनों से अनवच्छिन्न है (अहि० सं० २।२२–२५)। षाड्गुण्य-योग से 'भगवान्' है; समस्त भूतवासी होने से वही 'वासुदेव' है तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने के कारण यही 'परमात्मा' है। इसी प्रकार गुणों की विशेषता के कारण यह अव्यक्त, प्रधान, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य, ब्रह्म, हिरण्यगर्भ तथा शिव आदि नामों से विख्यात है। पाञ्चरात्र में परब्रह्म के उभय निर्गुण तथा सगुण भाव स्वीकृत हैं।

परमात्मा त्रिविध परिच्छेद शून्य है—वह न भूत है न वर्तमान न भविष्य। न ह्रस्व है न दीर्घ। न स्थूल न अणु। न आदि है न मध्य न अन्त। इस प्रकार वह सब द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त, सर्व उपाधि से विवर्जित, सब कारणों का कारण षाड्गुण्य रूप परब्रह्म है। पाञ्चरात्र की यह ब्रह्मभावना औपनिषद कल्पना के नितान्त अनुरूप है—

> सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
> षाड्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥ अहि० सं० २।५३।

नारायण निर्गुण होकर भी सगुण हैं। अप्राकृत गुणों से हीन होने से निर्गुण तथा षड्गुण-युक्त होने से सगुण हैं। जगत् व्यापार के लिए कल्पित इन छ गुणों के नाम ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज हैं। अजड, स्वात्मसंबोधी (स्वप्रकाश), नित्य, सर्वावगाही गुण को 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है तथा उसका गुण भी है (अ० सं० २।२६)। शक्ति से अभिप्राय है जगत् का उपादान कारण तथा ऐश्वर्य का अर्थ है स्वातन्त्र्यपरिवृंहित जगत्-कर्तृत्व। जगत् के निर्माण करने में भगवान् को तनिक भी परिश्रम नहीं होता। इस श्रमाभाव को 'बल' कहते हैं तथा जगत् के उपादान होने पर भी विकार-राहित्य की शास्त्रीय संज्ञा 'वीर्य' है। जगत् के समस्त उपादान कारणों में कार्यावस्था में विविध विकार दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु निर्विकार भगवान् में जगदुपादान होने पर भी किसी प्रकार का विकार उदय नहीं लेता। जगत्-सृष्टि में सहकारी की अनपेक्षा (अनावश्यकता) को 'तेज' कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की उभयविध कारणता है—उपादान कारणता तथा निमित्त कारणता। ब्रह्म बिना किसी सहायता से स्वतन्त्रतापूर्वक अपने से ही इस सृष्टि का उत्पादक है। 'सर्व कारणकारणं' विशेषण इसी सर्वशक्ति-मत्ता तथा स्वतन्त्रता को द्योतित करता है (अहि० सं० अध्याय २।५५-

षाड्गुण्य

१२) वासुदेव का ज्ञान ही उत्कृष्ट रूप है, शक्त्यादि अन्य पाँच गुण ज्ञान के गुण होने से सर्वदा तत्सम्बद्ध रहते हैं।

भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम 'लक्ष्मी' है। भगवान् शक्तिमान् हैं तथा लक्ष्मी उनकी शक्ति है। भगवान् तथा लक्ष्मी का पारस्परिक सम्बन्ध आपाततः अद्वैत प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः दोनों में अद्वैत नहीं है। प्रलय दशा में जब प्रपंच का लय निष्पन्न हो जाता है, तब भी भगवान् तथा लक्ष्मी का नितान्त ऐक्य नहीं होता। उस समय भी नारायण तथा नारायणी शक्ति 'मानो' एकत्व धारण करते हैं (व्यापकावति संश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ— अहि० सं० ४।७८।) धर्म तथा धर्मी, अहन्ता तथा अहं, चन्द्रिका तथा चन्द्रमा, आतप तथा सूर्य के समान ही शक्ति तथा शक्तिमान् में अविनाभाव या समभाव सम्बन्ध स्वीकृत किया गया है, पर मूल में भेद रहता ही है। अहिर्बुध्न्य संहिता (३।२५) ने दोनों का भेद स्पष्टाक्षरों में उल्लिखित किया है—देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। (अहि० सं० ३।२५।२७)।

भगवान् की शक्तियाँ

भगवान् की आत्मभूता शक्ति आरम्भकाल में किसी अचिन्त्य कारण के वश से कहीं उन्मेष प्राप्त करती है; जगद्रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है[1]। विष्णु की स्वातन्त्र्यरूपी शक्ति भिन्न-भिन्न गुणों के कारण विभिन्न नामों से पुकारी जाती है। आनन्दा, स्वतन्त्रा, लक्ष्मी, श्री, पद्मा आदि उसी के नामान्तर हैं। इसी लक्ष्मी के सृष्टिकाल में दो रूप हो जाते हैं—(१) 'क्रियाशक्ति' तथा (२) 'भूतशक्ति'। भगवान् की जगत् सिसृक्षा, जगत् उत्पन्न करने के संकल्प को 'क्रियाशक्ति' कहते हैं[2] और

१ स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥ अहि० सं० ५।४।

२ क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः प्राणरूपो विष्णोः सङ्कल्प उच्यते॥ अहि० सं० ३।२१

जगत् की परिणति (भवनं भूतिः) की संज्ञा 'भूतिशक्ति' है। अहिर्बुध्न्य संहिता (३५।५९) में ही लक्ष्मी को इच्छाशक्ति तथा सुदर्शन को क्रियाशक्ति कहा गया है। इन दोनों शक्तियों के अभाव में भगवान् स्वयं अकिञ्चित्कर हैं। शक्तिद्वय के सद्भाव में भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहृति व्यापार के उत्पादक है। लक्ष्मी शक्ति के प्रथम आविर्भाव को 'शुद्ध सृष्टि' या गुणोन्मेष कहते हैं जब तरंग रहित प्रशान्त समुद्र में प्रथम बुद्बुद के समान परब्रह्म में ज्ञानादि षट् गुणों का प्रथम उदय होता है। इसी शक्ति के विकास से जगत् की सृष्टि सम्पन्न होती है। सृष्टि दो प्रकार की शुद्ध और शुद्धेतर भेद से होती है। इसी के भीतर जयाख्य संहितानुसार शुद्ध सर्ग, प्राधानिक सर्ग तथा ब्रह्म सर्ग का अन्तर्भाव किया जाता है।

भगवान् जगत् के परम मंगल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं—(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार तथा (४) अन्तर्यामी अवतार। पूर्वकथित षड्गुणों में से दो दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है—'संकर्षण' में ज्ञान तथा बल गुण का प्राधान्य रहता है, 'प्रद्युम्न' में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों का आधिक्य रहता है तथा 'अनिरुद्ध' में शक्ति तथा तेज का उद्रेक विद्यमान रहता है। इन तीनों के सर्जनात्मक तथा शिक्षणात्मक द्विविध कार्य होते हैं (अहि० सं० ५।१७–६०)। संकर्षण का कार्य जगत् की सृष्टि करना तथा ऐकान्तिक मार्ग (पाञ्चरात्र तत्त्व) का उपदेश देना है, प्रद्युम्न का कार्य ऐकान्तिक मार्गसम्मत क्रिया की शिक्षा देना है तथा अनिरुद्ध का काम क्रियाफल (मोक्ष) के तत्त्व का शिक्षण है। वैषम्य दशा में गुण प्रधान भाव से षड्गुणों की व्यवस्था की जाती है। षाड्गुण्य चारों व्यूहों में सामान्यतः विद्यमान रहता है, परन्तु प्रतिव्यूह में दो दो गुणों का ही प्राधान्य रहता है। वासुदेव को मिलाकर इन्हें 'चतुर्व्यूह' कहते हैं। चतुर्व्यूह भगवद्रूप

शुद्धसृष्टि

ही है। परन्तु शंकराचार्य के उल्लेख (शांकरभाष्य २।२।४२–४५) के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उससे अनिरुद्ध (अहंकार) की। यही 'चतुर्व्यूह सिद्धांत' पाञ्चरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। जयाख्य आदि संहिताओं में यह मत नहीं मिलता, परन्तु नारायणीयोपाख्यान[1] और लक्ष्मी-तन्त्र (५।६-१४) में निर्दिष्ट होने से यह पाञ्चरात्र का एकदेशीय मत जान पड़ता है।

(२) विभव—विभव का अर्थ अवतार है जो संख्या में ३९ माना जाता है। विभव दो प्रकारों के होते हैं (क) 'मुख्य', जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है तथा (ख) 'गौण', जिनकी पूजा भुक्ति के वास्ते की जाती है। (अहि० सं ५।५०)। पद्मनाभ, ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि की गणना विभव में की जाती है।

(३) अर्चावतार—पाञ्चरात्र विधि से पवित्रित किये जाने पर प्रस्तरादि की मूर्तियाँ भी भगवान् के अवतार मानी जाती हैं। सर्वसाधारण की पूजा में इनका उपयोग होता है। इनका नाम है 'अर्चा अवतार'।

(४) अन्तर्यामी—भगवान् सब प्राणियों के हृत्पुण्डरीक में वास करते हुए उनके समस्त व्यापारों के नियामक हैं। इस रूप का नाम अन्तर्यामी रूप है। यह कल्पना उपनिषदों के आधार पर ही है[2]।

शुद्धेतर सृष्टि शुद्ध सृष्टि के आधार शुद्धेतर सृष्टि की सत्ता है। इस सृष्टि का क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

प्रद्युम्न–> कूटस्थपुरुष–> मायाशक्ति–> नियति–> काल–>

---

१ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३३९ श्लो० ४०–४२।

२ यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। बृह० उप० ३।७।३।

सत्त्वगुण—> रजोगुण—> तमोगुण> बुद्धि->

अहंकृति

वैकारिक <—तैजस—> भूतादि
(सात्त्विक) (राजस) (तामस)

बुद्धीन्द्रिय मन कर्मेंद्रिय

पञ्चतन्मात्र

स्थूल भूत
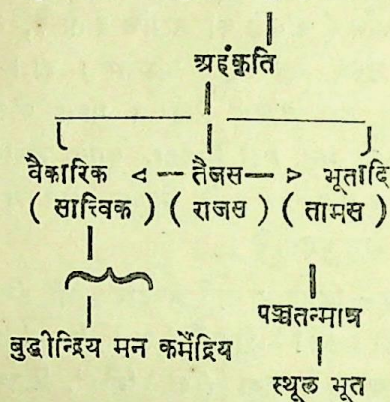
यह क्रम अहिर्बुध्न्य संहिता (६।५।१८) के अनुसार है। जयाख्य संहिता का क्रम इससे भिन्न है। सांख्य से सादृश्य होने पर भी यह क्रम उससे अनेक सिद्धान्तों में भिन्न है। पाञ्चरात्र के अनुसार प्रकृति पुरुष की अध्यक्षता में सृष्टि करती है। सांख्य प्रकृति को स्वतः मानता है, पर इस तन्त्र में चुम्बक के सांनिध्य से लोहे की गति के भाँति आत्म-स्फुरण से यह प्रकृति कार्यकरण में प्रवृत्त होती है। पाञ्चरात्रमत में तीनों गुणों की सृष्टि क्रमशः एक से दूसरे की होती है परन्तु सांख्य में इस मत का कहीं उल्लेख नहीं है।

इस जगत् के अधिपति• नारायण का स्वातन्त्र्य अलौकिक होता है। समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेने पर भी वशी वासुदेव राजाके समान लीलापूर्वक क्रीडा किया करते हैं। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। भगवान के 'संकल्प' या इच्छाशक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है जो अनन्तरूप होने पर भी प्रधानतया पाँच प्रकार का होता है:—उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशकारिणी शक्तियाँ, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरो-

—जीवतत्त्व—

धानशक्ति) तथा अनुग्रहशक्ति (अहि० सं० १४।१३–१४)। जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधानशक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तिमत्त्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है जिससे जीव क्रमशः अणु, किञ्चित्कर तथा किञ्चिज्ज्ञ बन जाता है। इन्हीं अणुत्वादिकों को 'मल' कहते हैं। इन्हीं से जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। इस विकट भवचक्र में वह निरन्तर घूमता रहता है। जीव के क्लेशों को देख कर भगवान् के हृदय में 'कृपा' का स्वतः आविर्भाव होता है, इसी का नाम है—'अनुग्रहात्मिका शक्ति' जिसे आगम में 'शक्तिपात' कहते हैं। जीवों की दीन-हीन दशा को देखकर करुणावरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवों पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। अब जीव के शुभ अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापार-हीन हो जाते हैं। जीव इस दशा में वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है (अहि० सं० १४।१४–२०)।

(३) पाञ्चरात्र का साधनमार्ग

साधनमार्ग का प्रतिपादन करना ही पाञ्चरात्र ग्रन्थों का प्रधान लक्ष्य है। यथाशास्त्र मन्दिर की रचना कर इष्टदेवता को विधिवत् स्थापन करना चाहिये और तदनन्तर उनकी सात्वतविधि से अर्चना करनी चाहिए। योग का अभ्यास भी इसमें सहायक होता है। परन्तु भक्ति ही इस दुःखद संसार से जीव को मुक्त करने का मुख्य साधन है। भक्तवत्सल करुणा-निकेतन भगवान् की अनुग्रहशक्ति ही जीवों को भवपंक से उद्धार कर सकती है। शरणागति (पारिभाषिकी संज्ञा 'न्यास') ही अनुग्रहशक्ति को प्रोद्बुद्ध करने के लिए प्रधान उपाय है। भगवान् से निष्कपट रूप से यह प्रार्थना करना है कि मैं अपराधों का

आलय हूँ, अकिञ्चन तथा निराश्रय हूँ तथा आप ही केवल मात्र उपाय बनिये 'शरणागति' कहा जाता है...

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः ।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥

—अहि० सं० ३७।३१

यह शरणागति छः प्रकार की होती है (१) आनुकूल्यस्य संकल्पः, (२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् (भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प और प्रतिकूलता को छोड़ना), (३) रक्षिष्यतीति विश्वासः ('भगवान् रक्षा करेंगे' इसमें विश्वास), (४) गोप्तृत्ववरणं (भगवान् को रक्षक मानना), (५) आत्मनिक्षेपः (आत्मसमर्पण) और (६) कार्पण्यं (नितान्त दीनता) (अहि० सं० ३७।२८; ५२।१५-२५) वैष्णवभक्त को 'पञ्चकालज्ञ' कहते हैं, क्योंकि वह अपने समय को पाँच विभागों में बाँटकर भगवत्पूजा में निरन्तर लगा रहता है। पञ्चकालों के नाम हैं-(क) अभिगमन-कर्मणा मनसा वाचा, जप-ध्यान-अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना; (ख) उपादान—पूजानिमित्त फलपुष्पादि का संग्रह, (ग) इज्या—पूजा, (घ) अध्याय—आगमग्रन्थों का श्रवण, मनन उपदेश (ङ) योग—अष्टांग-योग का अनुष्ठान (जयाख्या संहिता पटल २०, श्लोक ६५—७५) ।

इस उपासना के बल पर साधक को मोक्ष को प्राप्ति होती है। मुक्ति का नाम 'ब्रह्मभावापत्ति' है, क्योंकि इस दशा में जीव ब्रह्म के

मोक्ष

साथ एकाकार हो जाता है। वह पुनः लौटकर इस संसार में नहीं आता। उस दशा में वह निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। जयाख्यसंहिता का कहना है कि यह भगवत्-संपत्ति नदियों की समुद्रप्राप्ति के समान है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों का जल समुद्र में प्रवेश कर तद्रूप बन जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, योगियों की परमात्मा की प्राप्ति

होने पर वैसी दशा हो जाती है[1]। जिस प्रकार अग्नि में क्षिप्त काष्ठ के टुकड़े दग्ध होने पर लक्षित नहीं होते, उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति में भक्तों की दशा होती है। उस काल में जीव भगवान् के 'पर' रूप के साथ परमव्योम में (शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ में) आनन्द से विहार किया करता है। यह 'पर वासुदेव' 'व्यूह वासुदेव' से भिन्न हैं। वैकुण्ठ में अनन्त, गरुड़ तथा विष्वक्सेन आदि नित्यजीव भी निवास करते हैं। त्रसरेणु के परिमाणवाला मुक्त जीव कोटि कोटि रश्मि से विभूषित होकर अपने इष्ट देवताका यहाँ दर्शन करता है तथा कालचक्र से रहित होकर भगवान् की निरन्तर सेवा तथा भजन में निरत रहता है। वह काल-कल्लोल-संकुल जगन्मार्ग में फिर अवतीर्ण नहीं होता। यही है पांचरात्रों की मुक्ति-कल्पना (अहि० सं० ६।२७–३०)। पाञ्चरात्र सिद्धान्त जीव ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु वह विवर्तवाद को न मान-कर परिणामवाद का पक्षपाती है।

२

वैखानस आगम

वैष्णव आगमों में वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जो पांचरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी उतना प्रख्यात नहीं है। किसी समय में इसका बोलबाला था, परन्तु किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता का ह्रास हो गया और आज तो इसका नाम भी सुनने को नहीं मिलता। मन्दिर और मूर्ति के निर्माण विषय को लेकर

---

१ यथाऽनेकेन्धनादीनि संप्रविष्टानि पावके।
अलक्ष्याणि च दग्धानि तद्वद् ब्रह्मण्युपासकाः॥
सरित्-संघाद् यथा तोयं संप्रविष्टं महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा॥
—जयाख्य सं० ४।१२१, १२३।

परिचय पांचरात्रों तथा वैखानसों में प्राचीन समय में कभी मतभेद था और इसी प्रसंग में इनके मत पांचरात्र ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतन्त्र, पृथक् शाखा थी। चरण-व्यूह में वर्णित कृष्णयजुः की चार प्रधान शाखाओं--आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ-हिरण्यकेशी तथा 'औखेय--में औखेय' अन्तिम शाखा है। 'वैखानस श्रौतसूत्र' के भाष्यकार वेंकटेश के कथनानुसार वैखानसें का सम्बन्ध इसी 'औखेय' शाखा के साथ था —

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥

गौतम धर्मसूत्र (३।२), बौधायन धर्मसूत्र (२।६।१७), वसिष्ठ धर्मसूत्र (६।१०) में वानप्रस्थ यतियों के लिए 'वैखानस' का प्रयोग किया गया है। मनु ने भी वानप्रस्थों को 'वैखानस शास्त्र का अनुयायी' बतलाया है (वैखानसमते स्थितः ६।४१)। इसका मुख्य कारण यह है कि 'वैखानस धर्मप्रश्न' (१।६–७) में वानप्रस्थों के आचार विधान का सांगोपांग वर्णन किया गया है जिनका अक्षरशः पालन करना तृतीय आश्रम के वनस्थ पुरुषों का प्रधान कर्तव्य था।

इस शाखा के केवल चार ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हुए हैं—(क) वैखानसीया मन्त्रसंहिता, (ख) गृह्यसूत्र (सात प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त), (ग) धर्मसूत्र (या धर्मप्रश्न, तीन प्रश्नों में विभक्त), (घ) श्रौतसूत्र। मन्त्रपाठ आठ अध्यायों में विभक्त है जिसके प्रथम चार अध्यायों में गृह्य तथा धर्मसूत्रों में निर्दिष्ट मन्त्रों का संग्रह है और अन्तिम चार अध्यायों में विशिष्ट विष्णुपूजा का विधान है। अतः इन्हें 'अर्चनाकाण्ड' के नाम से पुकारते हैं।

वैखानसों की विशिष्टता का परिचय उनके गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ही हमें मिल जाता है। वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के, दशम, एकादश तथा द्वादश खण्ड में विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा तथा अर्चना

का विशेष वर्णन है। नित्य प्रातःकाल तथा सायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अँगुली से परिमाण में कम न होती थी। विशेष विधि से उसकी घर में प्रतिष्ठा की जाती थी तथा विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त से उनकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों के जप का विधान था। नारायण-बलि का उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत नारायण की सब देवताओं में प्रधानता स्पष्टाक्षरों में मानी गई है (नारायणादेव सर्वार्थसिद्धिः—वैखानस धर्मप्रश्न २।९।१)। पांचरात्रों की वैदिकता सिद्ध करने के लिए अनेक उद्योग किये गये हैं, परन्तु वैखानसों की वैदिकता में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है।

हाल ही में मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम' अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि (नं० १२१) में प्रकाशित हुआ है। इस विस्तृत ग्रन्थ में ७० पटल हैं। इसके अनुशीलन करने से वैखानसों के लुप्तप्राय प्राचीन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है।

सिद्धान्त

किसी माधवाचार्य के पुत्र वाजपेययाजी श्रीनरसिंह यज्वा-विरचित 'प्रतिष्ठाविधिदर्पण' में नारायण—विखनस मुनि—काश्यप—मरीचि इस वैखानस-आचार्यपरम्परा का उल्लेख किया गया है। वैखानसागम का विषय क्रिया तथा चर्या है। मन्दिर के विभिन्न अंगों का निर्माण, विविध मूर्तियों की रचना, रामकृष्ण आदि मूर्तियों की विशेषता, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का इतना साङ्गोपाङ्ग विवेचन एकत्र मिलना कठिन है। आध्यात्मिक बातें बहुत कम हैं। परमात्मा से इस जगत् की उत्पत्ति ठीक उपनिषत्क्रम से होती है। परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती हैं—विष्णु, महाविष्णु, सदाविष्णु तथा सर्वव्यापी। भगवान् की इन्हीं चारों मूर्तियों के अंश से चार अन्य मूर्तियों की उत्पत्ति होती है। विष्णु के अंश से 'पुरुष' जिसमें धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अंश से ज्ञानात्मिक 'सत्य', सदाविष्णु के अंश से

अपरिमित-ऐश्वर्यात्मक 'अच्युत' (श्रीपति) तथा सर्वव्यापी के अंश से 'अनिरुद्ध' की उत्पत्ति होती है जिसमें वैराग्य या संहार की प्रधानता रहती है (७० वाँ पटल)। इन चारों मूर्तियों से युक्त होने से नारायण पञ्चमूर्तिरूप माने जाते हैं। भगवान् की माया से जीव बन्धन में है और उसी की कृपा से वह मुक्त होता है। जीवका मुख्य कर्तव्य भगवान् विष्णु का अर्चन है। विष्णु के समाराधन के चार प्रकार हैं:—(१) 'जप'—भगवान् का ध्यान करते हुए अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मन्त्र का जपना, (२) 'हुत'—अग्निहोत्रादि हवन; (३) 'ध्यान'—अष्टाङ्ग-योगमार्ग से परमात्मा का चिन्तन; (४) 'अर्चना—प्रतिमा-पूजन। इन साधनों में 'अर्चना' ही मुख्य मानी जाती है। अर्चना विधिपूर्वक विशुद्ध होनी चाहिए। श्री देवी और भूमिदेवी के साथ विष्णु की मूर्ति मन्दिर के मध्य में स्थापित की जाती है। उनके दक्षिण ओर 'पुरुष' तथा 'सत्य' मूर्तियों की तथा वाम ओर 'अच्युत' और 'अनिरुद्ध' मूर्तियों की स्थापना की जाती है। पूजा वैदिक मन्त्रों से होती है। सम्यक् आराधना के अनुष्ठान से जीव आमोद नामक विष्णुलोक में सालोक्य मुक्ति, प्रमोद (महाविष्णुलोक) में सामीप्य, सम्मोद (सदाविष्णुलोक) में सारूप्य और अन्ततोगत्वा सर्वश्रेष्ठ वैकुण्ठ (सर्वव्यापी नारायण के लोक) में सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है (वैखानसागम पृ० २३०)। वहीं जीव इष्ट देवता से अभिन्नरूपत्वेन सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार वैखानसों की दृष्टि में सायुज्यरूपा मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

आनन्दगिरि के शंकर विजय में भी इस मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है (प्रकरण ६, पृ० ५८–६४)

३

श्रीमद्भागवत

श्रीमद्भागवत संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो वह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का अमृतमय स्वयं गलित

फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का वर्णन व्यास ने समाधि-दशा में अनुभव कर के किया था। भागवत का प्रभाव वल्लभ-सम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्वों का निरूपण अपनी २ पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीव गोस्वामी का 'षट् सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत के गूढार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्यायें लिखी हैं. जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं—रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की 'शुकपक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका'; माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली'; निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्त-प्रदीप'; वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक टीका; चैतन्यमत में श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सब से अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की श्रीधरी है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्ति-रसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्र-श्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्री भगवान् ने अपने तत्व के विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है:—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ भाग० २।९।३२।

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूंगा'। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं[1]। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकाररूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। "परमार्थभूत[2] ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वहाँ निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुणरूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा', तमोमिश्र सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्य-बल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म

---

१ वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ भाग० १। २। ११,

२ ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति॥
भाग० ५। १२। ११"

के ही सगुणरूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तो-पादान कारण है।

पर-ब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य (भाग० २।६।४१)। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध रहित हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष', कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न भिन्न अवतारों का उदय होता है:—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥ भाग० ११।४।३

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पर ब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं (भाग० ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो तथा तमः॥२।९।३३

वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीत होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल में दीख नहीं पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसमन्वित हैं। वह एक समय में भी एक होकर भी अनेक हैं। नारदजी ने द्वारिका पुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों

में विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधनमार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होनेवाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान-वैराग्यपुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥ ११।१४।२०

परमभक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान तप आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मलभक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के बिना अन्य साधन उपहासमात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
—७।७।५१-५२।

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान-कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सा 'क होते हैं, अतः परम्परया साधक है, साक्षाद्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है (भाग० ११।२०।६)। कर्म-फलों को भी भगवान् को ही समर्पण कर देना ही उनके 'विषदन्त' को तोड़ना है (भाग० १।५।१२)। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़-

कर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटनेवालों का यत्न[१] (१०।१४।४)। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्ति विषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है--'साधनरूपा भक्ति' और 'साध्यरूपा भक्ति'। साधनभक्ति नव प्रकार की होती है--विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्संगति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य, भगवत्पादाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं।

न पारमेष्ठयं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
भाग० ११।१०।१४

---

१ श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वशाली है, क्योंकि आचार्य शंकर के दादा गुरु श्रीगौड़पादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका में 'तदुक्तं भागवते' कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौड़पाद (सप्तम शतक) से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदश शतक में उत्पन्न वोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयङ्कर ऐतिहासिक भूल है।

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
६।११।२६

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि ब्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रासपंचाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है। 'सर्ववेदान्तसार' भागवत (१२।१३।१८) का कथन यथार्थ है:—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥

—:※:—

पञ्चदश परिच्छेद

शैव-शाक्त तन्त्र

(इतिहास तथा साहित्य)

शिव या रुद्र की उपासना वैदिककाल से ही इस भारतभूमि में प्रचलित है। यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है। तैत्तिरीय आरण्यक (१० । १६) में समस्त जगत् रुद्ररूप बतलाया गया है (सर्वो वै रुद्रः तस्मै रुद्राय नमो अस्तु)। श्वेताश्वतर में (३।११) भगवान् शिव सर्वाननशिरोग्रीव, सर्वभूत-गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गए हैं, परन्तु इन उपनिषदों में तन्त्रशास्त्र-निर्दिष्ट पशुपति का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। अथर्वशिरस् उपनिषद् में पाशुपतव्रत, पशु, पाश, आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि सर्वप्रथम होती है (तस्मात् ब्रह्म तदेतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय अथर्व० खण्ड ५)। इससे पाशुपतमत की प्राचीनता स्पष्ट प्रतीत होती है। महाभारत में शैवमतों का वर्णन है। वामन पुराण (६।८६-६१) में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतलाये गये हैं:—शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। शंकराचार्य ने ब्र० सू० २।२।३७ के भाष्य में माहेश्वरों का तथा उनके प्रसिद्ध पञ्च पदार्थों का उल्लेख किया है। इस सूत्र की भामती और रत्नप्रभा ने पुराणोक्त तृतीय नाम के स्थान पर 'कारुणिक-सिद्धान्ती', भास्कर ने 'काठक सिद्धान्तों', यामुनाचार्य ने 'कालामुख' नाम दिया है (आगम प्रामाण्य पृ० ४८-४६)। इस प्रकार माहेश्वर सम्प्रदाय चार हैं:—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इन्हीं धार्मिक मतों के

मूल ग्रन्थों को 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं। 'शैवतन्त्र' की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। महिम्नःस्तोत्र (त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति) तथा ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२।३७) में पाशुपत मत वेदबाह्य माना गया है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य ने वेद तथा शिवागम को समभावेन माननीय तथा प्रामाणिक बतलाया है। अप्पयदीक्षित 'शिवार्कमणिदीपिका' (२।१।२८) में शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए हैं तथा अवैदिक तन्त्र वेदाधिकारहीन व्यक्तियों के लिए है। अतः दोनों की प्रामाणिकता न्यायसंगत है।

माहेश्वर तन्त्रों के दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता के कारण तीन प्रधान भेद हैं--द्वैतपरक (शिवतन्त्र), द्वैताद्वैतपरक (रुद्रतन्त्र), अद्वैतपरक (भैरवतन्त्र) पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में था। पाशुपतमत का केन्द्र गुजरात और राजपुताना था, शैव सिद्धान्त का प्रचार तामिल देश में और वीरशैव मत का प्रचार कर्नाटक प्रान्त में है। स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा मत का केन्द्रस्थल काश्मीर देश है। इन्हीं शैवमतों का वर्णन क्रमशः आगे किया जायगा।

पाशुपत मत

इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम नकुलीश, या लकुलीश है। शिवपुराणान्तर्गत 'कारवण माहात्म्य' से इनका जन्म भड़ौंच के पास 'कारवन' नाम स्थान में होना प्रतीत होता है। राजपूताना, गुजरात आदि नाना देशों में नकुलीश की मूर्तियाँ मिलती हैं जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बायें हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लगुड धारण करने के कारण ही इनका नाम लगुडेश या लकुलीश होना प्रतीत होता है। भगवान् शंकर के इन १८ अवतारों में नकुलीश आद्य अवतार माने जाते हैं--लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य,

मैत्र्य, कौरुष, ईशान, पारगार्ग्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, अपर कुशिक, अत्रि, पिङ्गलाक्ष, पुष्पक, बृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशीकर और विद्यागुरु (अपना आचार्य)। ये तीर्थेश कहे जाते हैं। गुप्तनरेश विक्रमादित्य द्वितीय के राज्यकाल में ६१ गुप्त संवत् (३८० ई०) का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मथुरा से मिला है जिसमें उदिताचार्य नामक पाशुपत द्वारा गुरु-मन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम बतलाया है (भगवत्-कुशिकाद् दशमेन'') लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष मानकर लकुलीश का समय १०५ ई० के आसपास सिद्ध होता है और यह वही समय है जब कुषाणनरेश हुविष्क के सिक्कों पर लगुडधारी शिव की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। पाशुपतों का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक से नितान्त घनिष्ठ है। गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' और वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा है। न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' उपाधि से अपना परिचय दिया है। कभी इस मत का पश्चिमी भारत में विशेष प्रचार था तथा समधिक ख्याति थी।

पाशुपतसाहित्य—पाशुपतों का साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में 'नकुलीश पाशुपत' नाम से इसी मत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। जैन ग्रन्थकारों में राजशेखर सूरि ने अपने षड्दर्शन समुच्चय में 'यौगमत' से इसी का उल्लेख किया है। न्यायसार के रचयिता, काश्मीरक भासर्वज्ञ (८०० ई०) की 'गणकारिका' में पाशुपतों के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। इसकी विस्तृत 'रत्नटीका' व्याख्या वास्तव में रत्नरूपा है जिसके अज्ञात-नामा लेखक ने 'सत्कार्य-विचार' नामक ग्रन्थ की भी रचना कर इस मत की पर्याप्त पुष्टि की है। सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ 'महेश्वररचित पाशुपत सूत्र' अनन्तशयन ग्रन्थमाला में (नं० १४३)

कौण्डिन्यकृत' 'पञ्चार्थीभाष्य' के साथ अभी प्रकाशित हुआ है। सर्व-दर्शनसंग्रह में निर्दिष्ट राशीकर-विरचित भाष्य यही है। इस पञ्चाध्यायी (१६८ सूत्र) में पाशुपतों के पाँचों पदार्थों की विस्तृत तथा नितान्त प्रामाणिक विवेचना है।

शैव सिद्धान्तमत

शैव सिद्धान्तका प्रचार दक्षिण देश के तामिल प्रदेश में है। यह प्रदेश शैवधर्म का प्रधान दुर्ग है। यहाँ के शैवभक्तों ने भगवान् भूत-भावन शंकर की आराधना कर भक्तिरसपूरित भव्य स्तोत्रों तथा सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना अपनी मातृभाषा तामिल में की है जो श्रुति के समान आदरणीय माने जाते हैं। इन ८४ शैव सन्तों में चार प्रमुख आचार्य हुए सन्त अप्पार, सन्त ज्ञानसम्बन्ध, सन्त सुन्दरमूर्ति तथा सन्त माणिक्कवाचक जो शैवधर्म के चार प्रमुख मार्ग-चर्या (दासमार्ग), क्रिया (सत्पुत्रमार्ग), योग (सहमार्ग) और ज्ञान (सन्मार्ग) के तालिम-देशमें संस्थापक हैं। इन सन्तों का आविर्भावकाल सप्तम तथा अष्टम शताब्दी है। इनसे पहले सन्त नक्कीर (प्रथमशतक), सन्त कण्णप्प (द्वितीयशतक), तिरुमूलर ने शैवमत का विपुल प्रचार किया था। इनकी तामिल रचनायें 'सिद्धान्त' की मूलभित्ति हैं[1]। इन भक्तों ने जिन शैव-तन्त्रों के तत्त्वों का प्रचार किया है वे संस्कृत में धीरे धीरे प्रकाशित हो रहे हैं। इस आगमों को 'शैवसिद्धान्त' के नाम से पुकारते हैं। भग-वान् शंकर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिए अपने पाँचों मुखों से २० तन्त्रों का आविर्भाव किया। सद्योजात नामक मुख से उत्पन्न आगम हैं—१ कामिक, २ योगज, ३ चिन्त्य, ४ कारण, ५ अजित। वामदेव-मुख से—६ दीप्त, ७ सूक्ष्म, ८ सहस्र, ९ अंशुमान्, १० सुप्रभेद। अघोरमुख से ११ विजय, १२ निश्वास, १३ स्वायम्भुव, १४ अनल,

---

१ जीवनचरित के लिए द्रष्टव्य कल्याण-सन्ताङ्क पृ० ४४०—४४२.

१५ वीर। तत्पुरुष मुख से—१६ रौरव, १७ मुकुट १८ विमल, १९ चन्द्र ज्ञान, २० बिम्ब। ईशान मुख से—२१ प्रोद्गीत, २२ ललित, २३ सिद्ध, २४ संतान, २५ सर्वोत्तर, २६ परमेश्वर, २७ किरण, २८ वातुल। जयरथ ने 'तंत्रालोक' की टीका में इन तन्त्रों का नाम दिया है। दोनों में कहीं-कहीं अन्तर है। इनमें १० द्वैतमूलक (शैव) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने प्रणवादि दश शिवों को पढ़ाया तथा १८ द्वैताद्वैत प्रधान (रुद्र) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने अघोरादि अठारह रुद्रों को पढ़ाया। यही उपदेश 'महौघक्रम' तथा 'प्रतिसंहिताक्रम' से दो प्रकार का है। अनेक उपागमों से युक्त होकर इन आगमों की संहिताओं की संख्या २०८ है। सिद्धान्तियों के अनुसार अपर-ज्ञानरूप वेद केवल भुक्ति का साधन है, परन्तु परज्ञान रूप यही शिवशास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है। कामिक के उपागमों में 'मृगेन्द्र' तन्त्र नारायणकण्ठ की वृत्ति और अघोरशिवाचार्य की दीपिका के साथ प्रकाशित हुआ है।

शैवाचार्य—अवान्तर काल में अनेक विद्वान् शिवाचार्यों ने इन तन्त्रों के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इनमें आठवीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य 'सद्योज्योति' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गुरु का नाम 'उग्रज्योति' था। सद्योज्योति के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं--नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत तथा तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका। हरदत्त शिवाचार्य (११ शतक)—एक विशिष्ट आचार्य थे जिनकी 'श्रुतिसूक्तमाला' या 'चतुर्वेदतात्पर्य-संग्रह' में वेदवेदान्त का तात्पर्य शिवमहिमा के प्रतिपादन में बतलाया गया है। इसकी 'शिवलिंग भूप' (१५ श०) ने रमणीय टीका लिखी है। श्रीकण्ठ तथा अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ को अपना उपजीव्य माना है। बृहस्पति, शंकरनन्दन, विद्यापति, देवबल द्वैताचार्यों की स्थिति अभिनवगुप्त से पहले थी, क्योंकि तन्त्रालोक में इनका उल्लेख

मिलता है। नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ (१२ श० का आरम्भ) ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यायें तथा मौलिक ग्रन्थ लिखा है जिनमें (१) प्रकाश (नरेश्वरपरीक्षाटीका) (२) मातङ्ग-वृत्ति, (३) नादकारिका, (४) मोक्षकारिका वृत्ति, (५) परमोक्षनिरास-कारिकावृत्ति प्रकाशित हो गई हैं। रामकण्ठ के अन्तेवासी श्रीकण्ठ सूरि ने 'रत्नत्रय' लिखा है। उत्तुङ्गशिवाचार्य के शिष्य भोजराज रचित 'तत्त्वप्रकाशिका' एक माननीय ग्रन्थ है जिसका निर्देश 'सूतसंहिता' की टीका में अमात्य माधव ने किया है। रामकण्ठ के शिष्य अघोरशिवा-चार्य (१२ श० का मध्यकाल) ने तत्त्वप्रकाशिका तथा नादकारिका पर वृत्तियाँ लिखकर इन ग्रन्थों को बोधगम्य बनाया है। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नाद-कारिका, श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ 'अष्टप्रकरण' के नाम से विख्यात हैं। दक्षिण का 'शैवागमसङ्घ' इन 'सिद्धान्त' ग्रन्थों को नागराक्षर में प्रकाशित कर हमारा बड़ा उपकार कर रहा है।

वीर शैवमत

वीर शैवमत के अनुयायियों का नाम लिंगायत या जंगम है। इनके विलक्षण आचार हैं। ये वर्णव्यवस्था को नहीं मानते, यद्यपि इसके आद्य प्रवर्तक ब्राह्मण थे। ये लोग शंकर की लिंगात्मक मूर्ति को गलेमें हर समय लटकाये हुये रहते हैं। कर्नाटक देश में वीर शैव धर्म का बहुल प्रचार है। इस मत के आद्य प्रचारक का नाम 'बसव' (१२ श०) था जो कलचुरि नरेश बिज्जल के मन्त्री बतलाये जाते हैं। वीर शैवों का कथन है कि यह मत नितान्त प्राचीन है। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश दिया है, इनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य हैं जिन्होंने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वनाथ

नामक प्रसिद्ध शिवलिंगों से आविर्भूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया। इन्होंने क्रमशः 'वीर' सिंहासन को रम्भापुरी (मैसूर) में, 'सद्धर्म' सिंहासन को उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन को केदारनाथ के पास ऊखी मठ में, 'सूर्य' 'सिंहासन को 'श्रीशैल' में तथा 'ज्ञान' सिंहासन को काशी (जंगमबाड़ी—विश्वाराध्यमहासंस्थान) में स्थापित किया। सिद्धान्त के २८ आगम इन्हें भी मान्य हैं। श्रीपति (१०६० ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकर' भाष्य लिखकर इस मत की उपनिषन्मूलकता प्रदर्शित की है। श्रीशिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्त शिखामणि' वीर शैव का माननीय ग्रन्थ है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

काश्मीर देश में प्रचलित शैव आगम को प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं। प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द नामकरण का कारण इस तन्त्र के विशेष आध्यात्मिक तत्त्व के कारण है। 'त्रिक, या 'षडर्ध' शास्त्र नाम देने का कारण यह है कि इस दर्शन में पशु-पति-पाश तीन तत्वों का प्रधानतया वर्णन है अथवा ९२ आगमों में से सिद्धा, नामक तथा मालिनी तन्त्र सबसे अधिक महत्त्वशाली हैं [1]। तन्त्रालोक की टीका में इस दर्शन के आविर्भाव तथा प्रचार का इतिहास संक्षेप रूप से उल्लिखित है। भगवान् परम शिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार के लिए इस मत का आविर्भाव किया तथा दुर्वासा ऋषि को इस शैवशासन के प्रचारार्थ आदेश दिया। त्र्यम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ नामक मानस पुत्रों को उत्पन्न कर दुर्वासा ने क्रम से अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत दर्शनों का उपदेश दिया। अतः त्र्यम्बक द्वारा प्रचारित होने से इसका नाम त्रैयम्बक दर्शन है। सोमानन्द (८५० ई०) अपने को त्र्यम्बक

१ तन्त्रालोक भाग १ पृ० ३५, पृ० ४६।

से १६ वीं पीढ़ी में बतलाते हैं। अतः एक पीढ़ी के लिए २५ साल का समय मानने पर त्रिक दर्शन का आविर्भाव काल पञ्चम शतक में सिद्ध होता है।

इस अद्वैतवादी त्रिकदर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है और काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है। काश्मीर में प्राचीनकाल में मालिनीविजय, स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव, नेत्र आदि अनेक शैवागम प्रचलित थे जिनको परवर्ती आचार्यों ने इस अद्वैत मत का उपजीव्य माना है। त्रिक के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त (८०० ई० के आसपास) हैं। शिवसूत्रविमर्शिणी के आरम्भ में क्षेमराज का कथन है कि भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वयं वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया कि महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर लिखे गये 'शिवसूत्रों' का उद्धार तथा प्रचार करो। जिस चट्टान पर ये सूत्र उट्टङ्कित मिले थे उसे आज भी 'शिवपल्' (शिवोपल=शिवशिला) के नाम से पुकारते हैं। ये ही ७७ सूत्र इस दर्शन के मूल आधार हैं। वसुगुप्त ने स्पन्दकारिका (५२ कारिका) में शिवसूत्रों के सिद्धान्तों का ही विशदीकरण किया है। वसुगुप्त कृत गीता की वासवी टीका अभीतक अप्रकाशित है।

वसुगुप्त के दो शिष्यों ने दो प्रकार की दार्शनिक चिन्ता की धारायें चलाईं। महामाहेश्वराचार्य (२) कल्लट (नवम शतक का उत्तरार्द्ध) ने स्पन्द सिद्धान्त को अग्रसर किया तथा (३) सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा मत का आविर्भाव तथा प्रचार किया। दोनों मतों की दार्शनिक दृष्टि एक ही है, यद्यपि छोटे-मोटे सिद्धान्तों में पार्थक्य है। कल्लट की सबसे श्रेष्ठ कृति स्पन्द कारिका की वृत्ति है जो 'स्पन्दसर्वस्व' के नाम से विख्यात है। सोमानन्द के महत्त्वशाली ग्रंथों के नाम 'शिवदृष्टि' और 'परात्रिंशिका-विवृति' हैं। (४) उत्पलाचार्य (९०० ई०) सोमानन्द के शिष्य थे। इनकी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' त्रिक सम्प्रदाय का मनन-शास्त्र है जिसमें परपक्ष का प्रामाणिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व का

मण्डन है। वृत्ति के साथ इस ग्रन्थरत्न के नाम पर ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से व्यवहृत किया जाता है। 'सिद्धित्रयी' में अजडप्रमातृ–सिद्धि, ईश्वर–सिद्धि तथा सम्बन्ध–सिद्धि की गणना है। 'शिवस्तोत्रावली' भक्ति-रस से पूरित बड़ा ही सुन्दर स्तोत्र-संग्रह है। (५) अभिनवगुप्त—(९५०—१००० ई०)—उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मण गुप्त के शिष्य अभिनव का नाम दर्शन तथा साहित्य संसार में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थसार, पराત્રિंशिका-विवृति ने त्रिकदर्शन के इतिहास में इन्हें अमर बना दिया है। विपुलकाय 'तन्त्रालोक' को मन्त्रशास्त्र का विश्वकोश कहना चाहिए। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्ताचार्य को है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्घ-त्र्यम्बकमत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्र-नाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे। (६) क्षेमराज (९७५-१०२५)—अभिनव जैसे गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। व्यापकता की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अभिनव से कुछ ही न्यून हैं। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—(१) शिवसूत्र-विमर्शिणी, (२–४) स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञान-भैरव तथा नेत्र तन्त्र पर उद्योत टीका (५) प्रत्यभिज्ञाहृदय, (६) स्पन्दसन्दोह, (७) शिवस्तोत्रावली की टीका आदि। इनके अतिरिक्त उत्पल वैष्णव की 'स्पन्दप्रदीपिका', भास्कर तथा वरदराज का 'शिवसूत्र वार्तिक', रामकण्ठ की 'स्पन्द कारिका विवृति', योगराज की 'परमार्थ सारवृत्ति' तथा जयरथ की विपुलकाय तन्त्रालोक की टीका और गोरक्ष (महेश्वरानन्द) की 'परिमल' सहित 'महार्थमञ्जरी' विख्यात ग्रन्थ हैं।

शाक्त तन्त्र

शाक्ततन्त्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। शाक्त पूजा-पद्धति के नितान्त गोपनीय तथा गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तों की यह धारणा अनेकांश में सत्य है कि शाक्त तन्त्रों के प्रकाशित होने पर अनर्थ होने की ही अधिक सम्भावना है। इसलिए शाक्ततन्त्रों का प्रकाशन बहुत ही कम हुआ है; तथापि इन प्रकाशित तन्त्रों के ही अनुशीलन से शाक्तों की विपुल साहित्यिक सम्पत्ति तथा उदात्त सिद्धान्तों का भली-भाँति परिचय मिलता हैं। आगमों के गुण, देश, काल, आम्नाय आदि की भिन्नता से अनेक भेद प्रदर्शित किये जाते हैं। सात्त्विक आगमों को 'तन्त्र', राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं। भगवान् शंकर के मुखपञ्चकों से उत्पन्न होने से आगमों के प्रधानतया पाँच 'आम्नाय' होते हैं[1]—पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय तथा ऊर्ध्वाम्नाय। निम्नतर तथा गुप्तमुख से उत्पन्न अधाम्नाय छठाँ आम्नाय माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र के तृतीय उल्लास में इन आम्नायों का वर्णन है। पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप तथा मन्त्र-योग है, दक्षिणाम्नाय स्थिति-रूप और भक्तियोग है, पश्चिमाम्नाय संहार-रूप तथा कर्मयोग हैं; उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप और ज्ञानयोग है। ऊर्ध्वाम्नाय की कुलार्णव में बड़ी प्रशंसा की गई है[2]। यह ऊर्ध्वाम्नाय कौलों के अनुसार कौलाचार में गृहीत है, पर सामयिकों के मत में यह आम्नाय समयमत से सम्बद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत तथा एशिया महाद्वीप तीन भागों में बाँटा जाता है। भारत का उत्तर-पूर्वीय प्रदेश विन्ध्य से लेकर चित्तल (चट्टग्राम) तक 'विष्णुक्रान्ता' कहलाता है। उत्तर

---

१ परशुराम कल्पसूत्र १।२

२ चतुराम्नायविज्ञानादूर्ध्वाम्नायः परं प्रिये। × × ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते—कुलार्णव ३।१६–१७

पश्चिमीय भाग 'रथक्रान्ता' के नाम से प्रसिद्ध है जिनमें विन्ध्य से लेकर महाचीन (तिब्बत) तक के देश अन्तर्भुक्त माने जाते हैं। तृतीय भाग 'अश्वक्रान्ता' के विषय में कुछ मतभेद है। 'शाक्तमंगल' तन्त्र के अनुसार विन्ध्य से लेकर दक्षिण समुद्र पर्यन्त के समस्त प्रदेश की तथा 'महासिद्धिसार' के अनुसार करतोया नदी से लेकर जावा तक के समग्र देशों की गणना 'अश्वक्रान्ता' में की जाती हैं। इन तीनों क्रान्ताओं में ६४ प्रकार के तन्त्र प्रचलित बतलाये जाते हैं। शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं—काश्मीर, काञ्ची और कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान 'श्रीविद्या' के केन्द्र थे। कामाख्या तो कौलमत का मुख्य स्थान आज भी है। कामाख्या में अनार्य तिब्बती तन्त्रों के विशेष प्रभाव पड़ने के कारण पञ्चतत्त्वों का इतने उग्ररूप में प्रचार दृष्टिगोचर होता है। इस त्रिकोण का मध्य बिन्दु काशी है जिसमें इन सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। इन शाक्त तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्यकाण्ड' के साथ माना जाता है, परन्तु यजुः तथा ऋग्वेद से सम्बद्ध तान्त्रिक उपनिषद् भी उपलब्ध हैं। इन तन्त्रमत-प्रतिपादक उपनिषदों में ये नितान्त प्रसिद्ध हैं—कौल, त्रिपुरामहोपनिषत्, भावना, बह्वृच, अरुणोपनिषत्, अद्वैतभावना, कालिका और तारा उपनिषद्। इनमें से प्रथम तीन उपनिषदों का भाष्य भास्करराय ने लिखा है तथा त्रिपुरा तथा भावना का अप्पय दीक्षित ने। ये सब उपनिषद् कलकत्ते की तान्त्रिक टेस्ट ग्रन्थमाला (नं० ११) में प्रकाशित हुए हैं।

लक्ष्मीधर ने 'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं (सौन्दर्य-लहरी पद्य ३१) की व्याख्या करते समय तीनों मार्गों (कौल, मिश्र तथा समय) के तन्त्रों का विशेष परिचय दिया है। कौल मार्ग के अनुसार महामाया, शम्बर, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल आदि तन्त्रों की संख्या ६४ है, जिनके नाम तथा विषय का उल्लेख 'वामकेश्वर' 'कुलचूडामणि', 'सर्वोल्लास तन्त्र' तथा लक्ष्मीधर की टीका में किया गया है। इन ग्रन्थों

में विशेष पार्थक्य मिलता है। समय-मार्ग के अनुसार ये समस्त तन्त्र अवैदिक हैं तथा ऐहिक सिद्धि-प्रतिपादक होने से वैदिक मार्ग से कोसों दूर हैं (एवं चतुःषष्टितन्त्राणि परिज्ञातृणामपि वञ्चकानि। ऐहिकसिद्धिपरत्वात् वैदिकमार्गदूराणि)। मिश्रमार्ग के तन्त्र आठ प्रकार के हैं—चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य तथा दुर्वास-मत। ये तन्त्र उच्च ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने पर भी लौकिक अभ्युदय के भी साधक हैं; अतः कौल और समय उभय-मार्गों के मिश्रण होने से यह 'मिश्रमार्ग' कहलाता है। समय-मत का मूलग्रन्थ 'शुभागमपञ्चक' कहलाता हैं जिसमें वशिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार द्वारा विरचित संहितापञ्चक की गणना है। लक्ष्मीधरने इन संहिताओं का उद्धरण भी टीका में दिया है। तन्त्र साहित्य नितान्त विशाल, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। शाक्त तन्त्रों की संख्या हजार से ऊपर है, परन्तु इस विशाल साहित्य का बहुत ही थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। इन प्रकाशित तन्त्रों में कुलचूडामणि, कुलार्णव, तन्त्रराज (टीका सुदर्शन, प्राणमंजरी रचित) शक्तिसंगम तन्त्र (कालीखण्ड तथा ताराखण्ड), कालीविलास, ज्ञानार्णव, वामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरारहस्य, दक्षिणामूर्तिसंहिता आदि विशेष विख्यात हैं। शंकराचार्य ने भी 'प्रपञ्चसार' नामक तन्त्र का निर्माण किया है जिसकी टीका आचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य ने लिखी है। लक्ष्मणदेशिक (११ शतक) का 'शारदा तिलक' राघवभट्ट की टीका के साथ तान्त्रिक रहस्यों का आकर है। इन सामान्य तन्त्रों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न आचार्यों के भी अपने विशिष्ट ग्रन्थ हैं।

श्रीविद्या के १२ उपासक प्रसिद्ध हैं—मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ (कामदेव), अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और क्रोध-भट्टारक (दुर्वासामुनि)। श्री नटनानन्द कृत कामकलाविलास की टीका (श्लो० ४२) से पता चलता है कि श्री विद्या के दो सन्तान सुप्रसिद्ध

हैं—कामराजसन्तान और लोपामुद्रा सन्तान, जिनमें कामराजसन्तान ही अविच्छिन्न रूपसे विद्यमान है, लोपामुद्रासन्तान तो विच्छिन्न होगया है। कामराज में दिव्यौघ गुरुओं के नाम भी वहाँ दिये गये हैं। श्रीविद्या के प्रधान आचार्यों में तीन आचार्यों की रचनायें उपलब्ध हैं। श्रीदत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व के उद्घाटन के लिए अष्टादशसाहस्री 'दत्तसंहिता' की रचना की थी, परन्तु दुर्बोध होने के कारण परशुराम ने इसका संक्षेप ५० खण्डों और ६ हजार सूत्रों में किया। इसका भी संक्षेप हारितायन सुमेधा ने दशखण्डात्मक 'परशुराम कल्पसूत्र' में किया है। गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्यमाला में यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। अगस्त्य के शक्तिसूत्र कविराजजी को मिले हैं। उन्होने इन्हें सरस्वतीभवन स्टडीज (१० म भाग) में प्रकाशित किया है। 'अथातः शक्तिजिज्ञासा' प्रथम-सूत्र हैं। इन निगूढ़ ११३ सूत्रों की एक अल्पाक्षरा अ री वृत्ति भी प्रकाशित हुई है, परन्तु विस्तृत व्याख्या के अभाव में इन सूत्रों का रहस्य प्रकट नहीं होता। दुर्वासा के सूत्र नहीं मिलते, 'शक्तिमहिम्नः स्तोत्र' ही उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना है। इधर के आचार्यों में गौडपाद श्रीविद्या के बड़े भारी उपासक थे जिनका 'सुभगोदय' (स्तोत्र) तथा 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' (शंकरारण्य की विस्तृत व्याख्या-संवलित) एतद्-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गौडपाद के प्रशिष्य शंकराचार्य श्रीविद्या के एक विशेष आचार्य थे जिनकी 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'ललितात्रिशती-भाष्य' रहस्यपूर्ण रचनायें हैं। सौन्दर्यलहरी' में कवित्व तथा तान्त्रिकत्व का अनुपम सम्मिलन है। इसकी ३५ टीकायें उप-लब्ध हैं जिनमें कैवल्याश्रम, नरसिंह, अच्युतानन्द, कामेश्वरसूरि की महत्त्वशालिनी टीकायें अभीतक अप्रकाशित है। लक्ष्मीधर (१२६८-१३७६ ई०) की प्रकाशित टीका समयमार्ग के रहस्यों के जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। पुण्यानन्दनाथ का 'कामकलाविलास' नट-नानन्द की 'चिद्वल्ली' व्याख्या के साथ शाक्ततत्त्व का प्रकाशक है।

इन्हीं के शिष्य अमृतानन्दनाथ की 'योगिनीहृदयदीपिका' वामकेश्वर-तन्त्र के एक भाग की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। शाक्तदार्शनिक श्री भास्करराय (१८ वें शतक का पूर्वार्ध) का नाम शाक्तसम्प्रदाय के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इनके ग्रन्थ शाक्तविद्या के आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में वरिवस्यारहस्य, सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनाम का भाष्य), सेतु (नित्याषोडशिकार्णव की टीका) गुप्तवती (दुर्गासप्तशती की व्याख्या) तथा काल, त्रिपुरा, भावना उपनिषदों की टीकायें विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य उमानन्दनाथ ने 'नित्योत्सव' नामक पद्धतिग्रन्थ की रचना १७४५ ई० में तथा प्रशिष्य रामेश्वरसूरि ने 'परशुराम कल्पसूत्र' की टीका 'सौभाग्यसुधोदय' का निर्माण १८३१ ई० में किया। ये ग्रन्थ बड़ौदा से प्रकाशित हैं। लक्ष्मण रानडे की परशुराम-कल्पसूत्र की टीका (सूत्र तत्त्वविमर्शिणी) अभीतक अप्रकाशित ही है। भास्करराय का सम्प्रदाय महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण में आज भी जागरूक है। कौलमत के आचार्यों में पूर्णानन्द (जगदानन्द, १४४८-१५२६) का नाम प्रसिद्ध है। विख्यात 'षट्चक्रनिरूपण' इनके विस्तृत 'श्री तत्त्वचिन्तामणि' का एक प्रकरणमात्र है। ये ब्रह्मानन्द के शिष्य थे और बंगाल के रहने वाले थे। इनके अन्य ग्रन्थों में श्यामारहस्य, शक्ति क्रम, तत्त्वानन्द-तरंगिणी प्रसिद्ध हैं। कौलाचार्य सदानन्द का ईशावास्य उपनिषद् का भाष्य और सर्वानन्द का 'सर्वोल्लास' तन्त्र प्रसिद्ध है।

शैवतन्त्र-सिद्धान्त

(क) पाशुपत मत

ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा ।
पञ्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत्-तत्त्वनिश्चयः ॥— सर्वदर्शन-संग्रहे ।

पाशुपतों के मतानुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुखान्त । (१) कार्य उसे कहते हैं जिनमें स्वातन्त्र्य शक्ति न हो। यह तीन प्रकार का होता है—विद्या, कला और पशु । जीव और जड़ दोनों का अन्तर्भाव कार्य में होता है, क्योंकि दोनों परतन्त्र होने से परमेश्वरके अधीन हैं । जीवों की गुणरूपा विद्या दो प्रकार की होती है—बोध और अबोध । बोधस्वभावा विद्या का ही नाम चित्त है; पशुत्व की प्राप्ति करनेवाले धर्माधर्म से युक्त विद्या अबोध-रूप है। चेतन के अधीन, स्वयं अचेतन पदार्थ 'कला' कहलाता है (चेतनपरतन्त्रत्वे सति अचेतना कला)। कार्यरूपा कला में पृथिवी आदि पाँचों भूत तथा उनके गुणों का और कारणरूपा कला में त्रयोदश इन्द्रियों का अन्तर्भाव होता है। पशु का अर्थ है जीव। कौण्डिन्य भाष्य में इस शब्द की बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति दी गई है—पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। पाशा नाम कार्य-करणाख्याः कलाः। ताभिः पाशिताः बद्धा सन्निरुद्धा शब्दादिविषयपर-वशा भूत्वाऽवतिष्ठन्ते—(कौण्डिन्य भाष्य पृ० ५) अर्थात् कार्यकरणरूपी कला से बद्ध होकर शब्दादि विषयों में सदा परवश होने से जीव 'पशु' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। शरीरेन्द्रिय सम्बद्ध जीव 'साञ्जन' तथा शरीरेन्द्रिय-विरहित जीव 'निरञ्जन' कहलाता है।

(२) कारण—महेश्वर ही जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने के हेतु 'कारण' पद वाच्य हैं। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है (आसि पाति च तान् पशूनित्यतः पतिर्भवति —कौण्डिन्य भाष्य) महेश्वर अपरिमित ज्ञानशक्ति से जीवों का प्रत्यक्ष करते हैं और अपरि-

मित प्रभुशक्ति से जीवों का पालन करते हैं। अतः ज्ञानशक्ति तथा प्रभुशक्ति के आश्रय होने से सर्व शक्तिमान् महेश्वर 'पति' पदवाच्य है। यह स्वतन्त्र, ऐश्वर्ययुक्त, आद्य, एक तथा कर्ता है। वह अनुग्रह-शक्ति का भी आश्रय है। उसकी इच्छा से जीवों की इष्ट-अनिष्ट स्थान-शरीर-विषयेन्द्रियों की प्राप्ति होती है। 'स्वतन्त्रः कर्ता'।[1] शिव में ज्ञानशक्ति के निवास होने से वह परमेश्वर कहलाता है। समस्त जगत् का उत्पादक होने के कारण वह 'कारण' पद-वाच्य है। वह क्रीडा के लिए जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव करता है। इसी कारण 'देव' और निरपेक्ष होने से 'सार्वकामिक' कहा जाता है।

(३) योग—चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं (पाशुपत सूत्र ५।२) यह दो प्रकार का होता है——क्रियात्मक, जिसमें जप, ध्यानादि की गणना है तथा क्रियोपरम—क्रिया की निवृत्ति अर्थात् भगवान् में ऐकान्तिकी भक्ति, ज्ञान तथा शरणागति। पातञ्जल योग का फल कैवल्य की प्राप्ति होती है, परन्तु पाशुपतयोग का फल दुःख की निवृत्ति के साथ परमैश्वर्य का लाभ है।

(४) विधि—-महेश्वर की प्राप्ति करानेवाला साधक-व्यापार विधि कहलाता है। मुख्य विधि की संज्ञा 'चर्या' है जो व्रत और द्वार भेद से दो प्रकार की होती है। हसित, गीत, नृत्य, हुड्डुकार, नमस्कार तथा जप्य भेद से उपहार (नियम) ६ प्रकार का है। साधक को महेश्वर की पूजा के समय हँसना, गाना, नाचना, जीभ और तालु के संयोग से बैल की आवाज के समान हुडहुड शब्द करना, नमस्कार आदि का अभ्यास करना चाहिए। इसी उपहार के साथ भस्मस्नान, भस्मशयन, जप तथा प्रदक्षिणा का पञ्चविध व्रत कहते हैं (पाशुपत

---

१ कर्मकामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते, न तु भगवान् ईश्वरः कर्म पुरुषं वा अपेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः—कौण्डिन्य भाष्य २।६

सूत्र १।८)। भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए इनका पालन आवश्यक है। द्वार के प्रकार ये हैं:—(१) 'क्राथन'—असुप्त पुरुष का सुप्त पुरुष के समान चिन्ह धारण करना; (२) 'स्पन्दन'—वात व्याधि से ग्रस्त पुरुष के समान शरीर के अंगों का कम्पन; (३) 'मंदन'—लँगड़ाते हुए के समान चलना; (४) 'शृङ्गारण'—रूपयौवनसम्पन्न सुंदरी का निरीक्षण कर कामीजनसदृश चेष्टा करना; (५) 'अवितत्करण'—अविवेकी के समान निन्दित कर्मों का करना; (६) 'अवितत्भाषण'—ऊटपटाँग बोलना (पाशुपत सूत्र ३।१२—१७) अनुस्नान, निर्माल्य धारण आदि को 'गौण' विधि कहते हैं।

(५) दुःखांत—अन्तिम पदार्थ का नाम दुःखान्त—दुःखों की आत्यन्तिका निवृत्ति या मोक्ष है। पशु पाँच प्रकार के दोषों से बन्धन में पड़ा हुआ है। ये दोष 'मल' कहे जाते हैं जिनके नाम मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु (विषयासक्ति के कारणभूत विषयसम्पर्क), च्युति (रुद्रतत्त्व से चित्त का तनिक भी च्युत होना) तथा पशुत्व (अल्पज्ञत्वादि पशुत्वोत्पादक धर्म) हैं—

> मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
> पशुत्वं मूलं पञ्चैते तन्त्रे हेयाविकारतः॥—गणकारिका ८

ऊपर वर्णित योग तथा विधि के अनुष्ठान से मलों का सर्वथा नाश हो जाता है। गणकारिका में वर्णित मोक्ष लाभ करने के पंचविध उपायों में 'प्रपत्ति' अन्तिम उपाय है। भगवान् पशुपति के शरणागत होने से जब उनके नैसर्गिक प्रसाद का उदय होता है तब जीव इस क्लेशबहुल संसार से सर्वदा के लिए मुक्ति लाभ करता है। दुःखान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक दुःखान्त केवल दुःखों की आत्यान्तिकी निवृत्तिमात्र है, परन्तु सात्मक में पारमैश्वर्य का लाभ

होता है ; दृक् शक्ति तथा क्रिया शक्ति का उदय होता है। मुक्तात्मा सूक्ष्म-व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है (दर्शन), उसे अशेष शब्दों का ज्ञान होता है (श्रवण), चिन्तित समस्त विषयों की सिद्धि हो जाती है (मनन), समस्त शास्त्रों का ग्रन्थतः तथा अर्थतः परिज्ञान हो जाता है (विज्ञान), सर्वज्ञता की स्वतः सिद्धि होती है (सर्वज्ञत्व) इस प्रकार दृक्शक्ति पंचविधा है। क्रियाशक्ति तीन प्रकार की है:—(१) मनोजवित्व—किसी कार्य के अत्यन्त शीघ्र करने का सामर्थ्य; (२) कामरूपित्व—कर्मादि के बिना ईप्सितरूप का धारण करना; (३) विकरणधर्मित्व—इंद्रिय की सहायता के बिना सब पदार्थों का जानना और करना अर्थात् निरतिशय ऐश्वर्य का लाभ। इन पाँचों पदार्थों की विशिष्टता पर ध्यान देना आवश्यक है। अन्य दर्शनों में कार्य उत्पत्ति-विनाशशील तथा कारण अन्यसापेक्ष रहता है, परंतु पाशुपत में पश्वादि कार्य नित्य हैं तथा कारण निरपेक्ष भगवान् ही है। पातंजल योग का फल कैवल्य का लाभ है, पाशुपतयोग का फल पारमैश्वर्य तथा दुःखान्त का लाभ है। अन्यत्र विधि का फल पुनरावृत्ति-सहित स्वर्ग है, परंतु पाशुपतविधि का फल पुनरावृत्ति-रहित सामीप्यादि है। इसी प्रकार अन्यत्र मोक्ष दुःखात्यन्तिकी निवृत्ति रूप है, परन्तु पाशुपत में मोक्ष परमैश्वर्य-प्राप्तिरूप है।

कापालिक और कालामुख—इन सम्प्रदायों का इस समय नितान्त उच्छेद–सा प्रतीत होता है, परन्तु कभी भारत में इन सम्प्रदायों का बोलबाला था। यामुनाचार्यने 'आगमप्रामाण्य' (पृ० ४८) में इनका संक्षिप्त वर्णन किया है। कापालिकों के मत में निम्नलिखित छः मुद्राओं के धारण करने से ही अपवर्ग की उपलब्धि होती है—कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत। इनके साथ अनेक गुप्त क्रियाओं का भी विधान किया जाता था। कालामुख सम्प्रदाय में कपाल पात्र-भोजन, शव-भस्म-स्नान, तत्प्राशन, लगुडधारण, सुराकुम्भस्थान—

आदि अनेक विधियों का अनुष्ठान दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियों का कारण माना जाता था। गुप्त रखने के कारण धीरे-धीरे इन सम्प्रदायों की लोकप्रियता जाती रही और अब तो इनके अनुष्ठानों का रहस्य समझना कठिन कार्य है।

'शैव सिद्धान्त' और 'वीरशैव' मतों का वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ इन चारों सम्प्रदायों से भिन्न एक अन्य माहेश्वर मत का सामान्य परिचय देना आवश्यक है। इस मत के सिद्धान्त का नाम 'रसेश्वर दर्शन' है।

(ख) रसेश्वर दर्शन

शैव दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय रसेश्वर दर्शन का अनुयायी है। इस सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जीवन्मुक्ति की प्राप्ति का उपाय दिव्य शरीर का पाना है। जिस शरीर को नाना व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधारण काम करने के लिए असमर्थ बना देती हैं, भला उस शरीर से ब्रह्म का साक्षात्कार कभी हो सकता है? कभी इस शरीर को ज्वर कष्ट दे रहा है, कभी श्वास-कासका प्रपञ्च इसे दुःख में डाले हुए है, उस देह से कभी भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए इस शरीर को दृढ़ बनाने की नितान्त आवश्यकता है। इसका नाम है—पिण्डस्थैर्य (=शरीर की स्थिरता)। जगत् के समग्र पदार्थ—धन, दारा, सुत, भोग आदि—अनित्य हैं। अतः मुक्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है। यह मुक्ति ज्ञान से ही प्राप्य है। यह ज्ञान अभ्यास से होता है और यह तभी सम्भव है, जब स्थिर देह प्राप्त हो। शंकराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पादने 'रसहृदय' तन्त्र में बहुत ही ठीक कहा है—

> इति धन-शरीर-भोगान् मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम्।
> मुक्तौ सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात् स च स्थिरे देहे॥

शरीर को स्थिर बनाने के लिए लौकिक उपाय विद्यमान है। पारद (पारा) भस्म के सेवन से यह शरीर स्वाभाविक क्लेशों को दूर हटा कर स्थिर, नित्य तथा दिव्य बनाया जा सकता है। पारा का नाम ही है पारद–इस नाम की सार्थकता इस बात में है कि वह संसार के दुःखों से मुक्त कर उस पार पहुँचा देता है—

संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।

पारद की शक्ति बड़ी अलौकिक है। यह भगवान् शंकर का वीर्य माना जाता है। और अभ्रक पार्वती का रज समझा जाता है। इन दोनों के मिलने से जो भस्म तैयार होता है, वह प्राणियों के शरीर को दिव्य बनाने में सर्वथा समर्थ है। वैद्यक शास्त्र में रस-भस्म की इतनी उपयोगिता के कारण ही इतना महत्व है।

शरीर के भीतर प्राण वायु तथा बाहर पारद—इन दोनों के उचित प्रयोग से नीरोग तथा दिव्य शरीर बनाया जा सकता है। प्राण का नियमन प्राणायाम से होता है और पारद का उपयोग उसका भस्म बना कर किया जाता है। प्रत्येक साधक को इन दोनों उपायों का उपयोग अपने शरीर को दिव्य बनाने के लिए अवश्य करना चाहिए। पारद की तीन अवस्थायें होती हैं—(१) मूर्छित, (२) मृत, (३) बद्ध। जिस पारद में घनता और चंचलता नहीं होती, वह मूर्छित कहलाता है। जिसमें आर्द्रता, (तेज चमकीलापन), गौरव (भारीपन), चपलता विद्यमान नहीं रहती, उसे 'मृत' पारद कहते हैं। इसी प्रकार पारद की एक बद्ध दशा होती है। इन तीनों दशाओं में पारद का उपयोग मानव के परम कल्याण का साधन माना जाता है—

मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि॥

पारद का ही नाम 'रस' है और यही 'रस' ईश्वर है। इस रस को

सिद्ध करना होता है स्वेदन, मर्दन आदि १८ संस्कारों के द्वारा। रस-सिद्ध कवीश्वरों का शरीर जरा और मरण दोनों विकृतियों से रहित होकर दिव्य बन जाता है। इस अनुभव का समर्थन सर्वत्र शास्त्र में तथा लोक में भी होता है। भर्तृहरि ने इसी की ओर संकेत किया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

पारद का वही सच्चा भस्म होता है जिसे रगड़ने से लोहा भी सुवर्ण बन जाता है। यह बाहरी परीक्षा है। ऐसे ही भस्म से शरीर के भीतरी अनित्य परमाणुओं को बदल कर नित्य बनाया जाता है। असली बात यह है कि बिना योगाभ्यास के आत्म-साक्षात्कार नहीं जनमता और यह अभ्यास साधारण शरीर से साध्य नहीं है। इसीलिए पारद भस्म के प्रयोग करने से दिव्य शरीर बनाना, योगाभ्यास करना तथा आत्मा का दर्शन करना—साधना का क्रमिक विकास है।

'रस' की इतनी उपयोगिता के कारण ईश्वर कहा जाता है। 'रसेश्वर' दर्शन का यही सिद्धान्त है। इस मत मे जीवन्मुक्ति ही वास्तव मुक्ति है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाता है जिसे पा लेने पर साधक वस्तुतः आनन्द का अधिकारी बनता है—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति (तै० उप० २।७।१)

भारतवर्ष में रसेश्वर दर्शन के अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन ने 'रसरत्नाकर' लिख कर विमल कीर्ति अर्जन की। उन्हें रस सिद्ध था। इसीलिए वे 'सिद्ध नागार्जुन' के नाम से विख्यात हैं। गोविन्द भगवत्-पाद ने 'रसहृदय' में इस शास्त्र का हृदय खोल कर रख दिया है। विष्णु स्वामी की 'साकार सिद्धि' तो उपलब्ध नहीं है, पर जान पड़ता है कि वे नरसिंह के दिव्य देह मानने-वाले निःसन्देह थे। सायणमाधव ने इस ग्रन्थ को 'रसेश्वर दर्शन' के

वर्णन के प्रसंग में उद्धृत किया है। इस दर्शन का विशाल साहित्य है जो धीरे धीरे प्रकाश में आ रहा है।

तान्त्रिक पूजा के तीन प्रधान केन्द्र थे जिनमें पूजा का विधान भिन्न भिन्न द्रव्यों की सहायता से किया जाता था। इन केन्द्रों के नाम हैं—केरल, काश्मीर तथा गौड (बंगाल या कामाख्या)। इनकी पूजा पद्धति में पर्याप्त भिन्नता थी। मद्य मांस आदि पञ्च मकारों का निवेश तान्त्रिक पूजा में नितान्त आवश्यक है, परन्तु केरल में इनके स्थान पर दुग्ध आदि अनुकल्पों का प्रयोग किया जाता था, काश्मीर में इन द्रव्यों की केवल भावना की जाती थी, केवल गौड देश की पूजा में इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष दान था। इसका विवेचन 'शक्तिसंगमतन्त्र' के काली खण्ड के नवम पटल (श्लोक० २०) में इस प्रकार है—

> दुग्धेन केरले पूजा काश्मीरे भावना मता।
> गौडे प्रत्यक्षदानं स्यात् त्रितयं कीर्तितं मया॥

इन पद्धतियों के भीतर भी अनेक अवान्तर प्रकार प्राचीन काल में विद्यमान थे जिससे इस पूजा के विशेष प्रचार तथा प्रसार का पता चलता है।[1]

(ग) व्याकरण-दर्शन

पाणिनि का व्याकरण शैव आगम के ही अन्तर्गत माना जाता है। यह साधन मार्ग है जिसका अनुसरण करने से साधक इस प्रपञ्च से विमुक्त होकर परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। व्याकरण के दार्शनिक रूप का परिचय हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से चलता है, परन्तु इसका विकसित रूप भर्तृहरि (षष्ठशतक) के 'वाक्यपदीय' में उपलब्ध होता है। नागेशभट्ट (१८ शतक) ने 'लघुमञ्जूषा' में अन्य मतों का

१ द्रष्टव्य—शक्तिसंगमतन्त्र पृ० १०६–१०७ (कालीखण्ड)।

खण्डन कर पाणिनि के सिद्धान्तों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है, परन्तु इस विषय में 'वाक्यपदीय' ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

भर्तृहरि के अनुसार शब्दाद्वैत का तात्पर्य यह है कि स्फोटरूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है। यह समस्त जगत् इसी स्फोट का एक विवर्तमात्र है। वाक् चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें 'पश्यन्ती' वाक् ही परब्रह्मस्वरूपिणी है। अक्षर, शब्द ब्रह्म, पराबाक् इसी के नामान्तर हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म में विशेष अन्तर नहीं है। पश्यन्ती वाक् चैतन्य-रूपा है, वह अखण्ड, अभिन्न तथा अद्वयतत्त्व है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें इसी से देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए इसे कहीं पर 'अक्रमा' और कहीं पर 'प्रतिसंहृतक्रमा' शब्दों से अभिहित किया गया है। यही पश्यन्ती शब्दतत्त्व विवक्षा से अर्थात् अर्थ के प्रतिपादन करने की वाञ्छा से मनोविज्ञान का रूप धारण करता है। इसी का नाम मध्यमा वाक् है। जिस समय इन्द्रियों के अभिघात के कारण प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होता है उसी समय वैखरी वाक् का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः पश्यन्ती ही मुख में आकर कण्ठ, तालु आदि स्थानी के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। बाहरी अर्थ की वासना से प्रेरित होकर, अविद्या के प्रभाव से यही घट, पट आदि अर्थ के रूप में विवृत होकर चक्षु आदि इन्द्रियों की गोचर होती है। इस प्रकार शब्द ब्रह्म ही अनादि अविद्यारूपी वासना के कारण भेद को प्राप्त होकर अर्थ के रूप में परिवर्तित होता है। परन्तु वास्तव में वाचक से पृथक् वाच्य की सत्ता है ही नहीं। जो कुछ विद्यमान है वह केवल वाचक (अर्थात् शब्द) ही है। ज्ञानमात्र ही वाक् स्वरूप है। और यही वाक् परमतत्त्व है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ में इस तत्त्व का प्रति-पादन इस सुप्रसिद्ध कारिका में किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

इस प्रकार व्याकरणसिद्धान्त के प्रधान आचार्य भर्तृहरि अद्वैतवादी ही माने जाते थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

उमामहेश्वर ने अपने 'तत्त्वदीपिका' ग्रन्थ में स्पष्ट ही कहा है[1]—
महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरप्यद्वैतमेवाभ्युपगच्छति । यथोक्तं शब्दकौस्तुभे स्फोटवादान्ते—तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वा स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम् । आह च—शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते ।

व्याकरण की पदार्थमीमांसा न्याय-वैशेषिक के समान ही है । द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि की कल्पना दोनों दर्शनों में एक समान ही ह । वैयाकरण लोग शक्ति को एक विशिष्ट पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं । इस विषय में वे 'मीमांसा' से सहमत हैं[2] । इस प्रकार व्याकरण का दार्शनिक जगत् में अपना विशिष्ट स्थान है । इसीलिए भर्तृहरि ने इसे सब विद्याओं में पवित्र तथा अपवर्ग का द्वार बतलाया है—

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥

(घ) वीरशैवसिद्धान्त

जिस प्रकार वेदान्त-सम्प्रदाय में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेद आदि सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार से वीर शैव अथवा शक्ति विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय भी अपना विशेष स्थान रखता है ।

---

१ Madras Triennial Catalogue No. 5136 ।

२ विशेषतः द्रष्टव्य P. C. Chakravarti. The Philosophy of Sanskrit Grammar पृ० ४३—५९ ।

यह भी वेदान्त का एक प्रधान सम्प्रदाय है, जिस के माननेवालों की संख्या कुछ कम नहीं है। इस सम्प्रदाय को शिवाद्वैत, द्वैताद्वैत, वीरशैव, विशेषाद्वैत तथा शक्तिविशिष्टाद्वैत आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, परन्तु इस सम्प्रदाय का प्रधान नाम वीरशैव या शक्तिविशिष्टाद्वैत है। श्री शंकराचार्य का अद्वैत मार्ग त्याग-प्रधान है। वह कर्म से उपरत बनाकर ब्रह्मवाद की स्थापना करता है। परन्तु यह शक्तिविशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त कर्म-प्रधान है। यह निष्काम कर्म का मार्ग प्रदर्शित करता है, इसीलिए इसे वीरधर्म या वीरमार्ग भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रधान देवता शिव होने के कारण इस मत का वीरशैव नाम पड़ा। शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनों का सामरस्य अर्थात् परस्पर एकाकार होना। इसकी व्युत्पत्ति आचार्यों ने इस प्रकार बतलायी है 'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ शक्तिविशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्।" भाव यह है कि स्थूल चिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिदात्मक शिव इन दोनों का अद्वैत (सामरस्य) ही शक्तिविशिष्टाद्वैत कहा जाता है, अतः इस नामकरण का कारण स्पष्ट है।

शक्ति

शक्ति का अर्थ होता है परम शिव ब्रह्म में अपृथक् सिद्ध होकर रहनेवाला विशेषण। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' मत में जो 'शक्ति' है, उस के 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' और 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' नामक ये दो भेद हैं। इनमें पहली शक्ति से 'पर शिव' का ग्रहण होता है तथा दूसरी से 'जीव' का। शक्तिविशिष्टाद्वैत' पदके विग्रह से शक्तिविशिष्ट परमात्मा और जीवात्माओं के ऐक्य का ही बोध होता है। परमात्मा से भिन्न शक्ति और शक्ति से भिन्न परमात्मा नहीं हैं। दृग्गोचरीभूत यह चराचरात्मक जगत् परमात्मा का शक्तिरूप ही है। इस शक्ति से समुत्पन्न ही परमात्मा है। अग्नि और

तद्गत दाहजनक शक्तियों की भाँति शक्ति और परमात्मा का सर्वथा अभेद है।

धर्मरूप शक्ति धर्मीरूप शिव से भिन्न नहीं है। शक्तितत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्वपर्यन्त यह सारा संसार शिवतत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार शिव और शक्ति में अभिन्न सम्बन्ध है। शक्ति परशिव ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से रहती है। इस विषय का बोध करते हुए शक्ति के नित्यत्व को उद्बोधित किया गया है। श्रुति ने एक स्थान पर कहा है कि "यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः। तदक्षरं तत्सवितु र्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥"

इस प्रकार शक्ति का विकास स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है। श्रुति और भी कहती है ('सिद्धान्तशिखामणि' परिच्छेद २)

"तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी॥
तदिच्छयाऽभवत्साक्षात्तत्स्वरूपानुकारिणी"

इस उक्ति से भी ज्ञात होता है कि सच्चिदानन्द परशिव की यह शक्ति समस्त भुवन-निर्माण के लिए उस परशिव से समवेत होकर उनकी इच्छानुसार साक्षात् स्वरूप रहती है अर्थात् परशिवाभिन्न वह विमर्शशक्ति विश्वोत्पादन में कारणीभूत हुआ करती है। 'सिद्धान्त-शिखामणि' से यह भी पता चलता है कि नाना तरह की विश्वसृष्टि करनेवाली विमर्श नामक पराशक्ति जिसमें अविनाभाव सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है, वही ब्रह्म और वही 'विश्वभाजन' कहलाता है।

वीरशैवसिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) कहा गया है। जो सम्बन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे समवायसम्बन्ध कहते हैं, जैसे सूर्य में प्रभा और चन्द्र में चन्द्रिका। इसीलिए इस मत में ब्रह्म का शक्ति से नित्य सम्बन्ध

माना गया है। परब्रह्मस्थित विमर्शशक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका शक्ति कही जाती है। जो परब्रह्मनिष्ठ चिच्छक्ति है, वह सर्वज्ञतारूप है। और जो सूक्ष्म अचिच्छक्ति है, वह सर्वकर्तृत्वरूप है। इन दोनों शक्तियों की आश्रयस्वरूपा इच्छाशक्ति ही विमर्शशक्ति रूप कही जाती है। रेणुकाचार्यजी ने शक्ति को गुणत्रयात्मिका कहा है—"गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी" (सि० शि०)। यह चराचरात्मक विमर्श-शक्ति सत्व, रज और तमोगुण से युक्त रहती है। तमोगुण शक्ति ही जड़ माया कहलाती है। सूर्यकिरण जैसे सूर्यकान्तमणि का सम्पर्क होते ही अग्निकण का रूप धारण कर रुई में लगकर अग्नि हो जाता है, वैसे ही शिव की विमर्शशक्ति जड़ मायाशक्ति में प्रतिस्फुरण गति से प्रवेश करके सुख, दुःख, मोहों को पैदा करनेवाली सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका 'प्रकृति' कही जाती है। इस प्रकृति को वीरशैवाचार्यों ने 'चित्त' कहा है। यह चित्तशक्तिविशिष्ट शिवप्रकाशरूप शिवांश ही 'जीव' कहलाता है। संक्षेप में वीरशैव मत के अनुसार शक्ति का यही स्वरूप है।

वीरशैवमत के अनुसार यह जगत् सत्य है। इन लोगों का कहना है कि शक्तिविशिष्ट परशिव ब्रह्म से समुत्पन्न हुआ चराचरात्मक यह

जगत्

सकल जगत् मिथ्या नहीं, किंतु सत्य है। 'तैत्तिरीय श्रुति' भी इसी विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करती है। श्रीरेणुकाचार्य ने भी अगस्त्य महर्षि को उपदेश देते हुए जगत् की नित्यता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है—

"यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम्।
तस्मादेतन्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः॥
शिवतत्त्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते।
फेनोर्मिबुद्बुदाकारो यथा सिन्धोर्न भिद्यते" (सि० शि०)

"यथा पुष्पपलाशादिर्वृक्षरूपान्न भिद्यते।
तथा शिवात्पराकाशात् जगतो नास्ति भिन्नता॥"

इस उद्धरण का सारांश यह है जिस प्रकार पुष्प और फल वृक्ष से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही शिवतत्त्व से उत्पन्न यह जगत् भी शिव से भिन्न नहीं है अर्थात् नित्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ शंकर का अद्वैतवाद 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' उपदेश देता है, वहाँ वीरशैवमत ब्रह्म (शिव) के साथ ही साथ जगत् को भी सत्य बतलाता है।

संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदान्त के सम्प्रदायों में भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं, जिन को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला परिणामवाद और दूसरा विवर्तवाद है। जब भगवान् आत्मस्वरूप को जगत् के रूप में निर्माण करता है, उसे विवर्तवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सत्ता मिथ्या है, क्योंकि वह ब्रह्म से पृथक् अपनी स्थिति नहीं रखता। परन्तु परिणामवाद इस से पृथक् है। जैसे दूध में विकार पैदा हो जाने से उस विकार के परिणामस्वरूप दधि नामक एक अन्य पदार्थ पैदा हो जाता है, जिसकी सत्ता दूध से पूर्णतः पृथक् और स्वतंत्र होती है, वैसे ही परब्रह्म (शिव) की शक्तियों के द्वारा जिस जगत् की सृष्टि होती है, वह सत्य है तथा परिणामस्वरूप होने के कारण इसे परिणामवाद कहते हैं। वीरशैवमतवाले थोड़े अन्तर के साथ इसी मत को मानते हैं। उनका मत है कि जैसे कछुवा एक समय में अपने पैरों को बाहर निकाल कर पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में उन पैरों को अपने में छिपा कर चुपचाप बैठा रहता है, वैसे ही परशिव अपने में नित्य सम्बन्ध से रहनेवाले जगत् को एक समय में विकास करता हुआ दूसरे समय में संकोच करता रहता है। कछुआ जब अपने पैरों को बाहर निकालता है, तब उन पैरों की उत्पत्ति कहना, फिर जब भीतर छिपाता है, तब उन पैरों का नाश कहना जैसे अत्यन्त हास्यास्पद है, वैसे ही सत्य और नित्य इस प्रपञ्च

की उत्पत्ति और नाश कहना अत्यन्त हास्यास्पद है। अतएव उत्पत्ति और नाश शब्दों की जगह शक्तिविकास और शक्तिसंकोच कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसी विषय को श्रीरेणुकाचार्यजी ने संक्षिप्त रूप में बड़ी सुन्दर रीति से समझाया है—

"आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः।
कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात्॥"

वीरशैवमत जीव को शिवांशरूप ही मानता है। रेणुकाचार्य जी ने भी कहा है कि "अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तदंशो जीवनामकः"। इस मत में

जीव

शिव और जीवों का पारमार्थिक भेदाभेद बतलाया गया है अर्थात् एक दृष्टि से भेद है तथा दूसरी दृष्टि से अभेद। जैसे अग्नि और उससे उत्पन्न कणों में न अत्यन्त भेद ही है और न अभेद ही, वैसे ही शिव से आविर्भूत शिवांशवाचक जीवों में तथा शिव में आत्यन्तिक न तो भेद है और न अभेद ही। इसीलिए इस मत को 'भेदाभेद' मत कहते हैं। यदि अंश और अंशी में अभेद मानेंगे, तो अग्नि की भाँति अग्निकणों से भी पाकादि क्रिया की सिद्धि होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। यदि आत्यंतिक भेद मानेंगे, तो वह्निभिन्न जलादिकों की तरह वह्निकणों में शीतत्व का प्रसङ्ग आता है। इसी तरह यदि शिव तथा शिवांशरूप जीवों में अभेद मानेंगे, तो शिव की तरह इन जीवों में भी सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुण मानने पड़ेंगे। यदि दोनों में भेद कहते हैं, तो शिवभिन्न घटपटादि अचेतन वस्तुओं की तरह जीवों में भी सकल वस्तुज्ञानाभाव-प्रसङ्ग आ जाता है, परन्तु जीवों का घटादिविषयक ज्ञानवैशिष्ट्य प्रसिद्ध है। इसीलिए वीरशैवाचार्यों ने शिव तथा जीव में पारमार्थिक भेदाभेद को स्वीकार किया है, अतएव इसे द्वैताद्वैत मत भी कहते हैं।

सच्चिदानन्दस्वरूप, सत्य, नित्य आद्यन्तरहित और सर्वशक्ति-समन्वित उस परशिव ब्रह्म में अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान विमर्श

शक्ति का स्फुरण ही तत्त्वरूप से परिणत होता है । ये तत्त्व छत्तीस प्रकार के होते हैं, जिनमें से मुख्य तत्वों के नाम शिव, शक्ति, सदाशिव-ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति मन और अहंकार आदि हैं। वीरशैवमत के ये छत्तीस तत्व सांख्यों के छब्बीस तत्वों के प्रायः समान ही हैं। जब परशिव ज्ञानशक्ति में एकाकार होकर 'मैं सर्वज्ञ हूँ' इस प्रकार के अभिमान को प्राप्त कर लेता है, तब उसे 'शिवतत्व' कहते हैं। परशिव जब क्रियाशक्ति में लीन होकर 'मैं सर्वकर्त्ता हूँ ऐसे अभिमान से युक्त हो जाता तब वह 'शक्ति' कहलाता है। इसी प्रकार परशिव में भिन्न भिन्न शक्तियों के योग से भिन्न भिन्न तन्त्रों की उत्पति समझनी चाहिए।

परशिव

वीरशैव-सिद्धान्त में परशिव ब्रह्म 'स्थल' नाम से निर्देश किया गया है। लिखा भी है कि—

"स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्वविशारदैः ॥"

अर्थात् यह चराचरात्मक जगत् जिसमें उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है, वही ब्रह्म 'स्थल' नाम से पुकारा जाता है। स्थलरूपी यह परशिव ब्रह्म अपनी लीला से 'अङ्गस्थल' और 'लिङ्गस्थल' दो नाम से पुकारा जाता है। इसी तरह लिङ्ग और अङ्ग के भी तीन तीन भेद होते हैं, जिन का विशेष विवरण यहाँ स्थानाभाव से नहीं दिया जा सकता। यद्यपि इन विभिन्न अंग और लिंगो कि सत्ता भिन्न दिखायी देती है, परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अंग नामक जीव का लिंग नामक शिव में सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिंगांग-सामरस्य' कहलाता है। यही 'शिवजीवैक्य' और यही शक्तिविशिष्टाद्वैत-मत का सार[१] हैं।

---

१ इस मत के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—काशीनाथ शास्त्री कृत 'शक्तिविशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त'।

सारांश[1]—इस मत की दार्शनिक दृष्टि 'भेदाभेद विशिष्टाद्वैत' या 'शक्ति विशिष्टाद्वैत' के नाम से पुकारी जाती है। इस शब्द का अर्थ है स्थूल-चिद्चिद् शक्ति-विशिष्ट जीव और सूक्ष्म-चिद्चिद् शक्ति-विशिष्ट शिव का अद्वैत—एकाकारता या सामरस्य। परम तत्त्व एकमात्र परम शिव हैं जो पूर्णाहन्तारूप तथा पूर्ण स्वातन्त्र्यरूप हैं। उनकी पारिभाषिकी संज्ञा 'स्थल' है[2]। जब इन्हें उपास्य और उपासकरूप से क्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब परमशिव में शान्त समुद्र के वक्षस्थल पर विपुलाकार तरंगों के उठने से पहले क्षुद्र कम्पन के समान लीलार्थ कम्पन उत्पन्न होता है जिससे सामरस्य का विभेद होकर 'स्थल' के द्विविधरूप हो जाते हैः—चेतन्यात्मकरूप का नाम है शिव और तदितर अंश का नाम जीव। शक्ति परम-शिव में अपृथक्सिद्ध होकर रहने वाला विशेषण है। न तो शिव शक्ति से भिन्न हैं और न शक्ति शिव से पृथक् है। दोनों की नितान्त एकता बनी रहती है। शक्ति दो प्रकार की होती है—सूक्ष्म तथा स्थूल। शक्ति के क्षोभमात्र से स्थल (परम शिव) के ही रूप उत्पन्न होते है—उपास्यरूप जिसका नाम है 'लिंग' (शिव) तथा उपासक रूप जिसका नाम है 'अंग' (जीव)। परमशिव की द्विरूपता के समान शक्ति में भी दो रूप उत्पन्न होते हैं। 'लिंग' की शक्ति का नाम 'कला' है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है तथा अंग की शक्ति 'भक्ति' है जो निवृत्ति को पैदा करती है। (लिंगस्थलाश्रया शक्तिः कलारूपा प्रकीर्तिता)। कला शक्ति से जगत् परमशिव से आविर्भूत होता है[3] तथा भक्ति के द्वारा यह जगत् परमशिव के साथ एकी-

---

१ मत का विशेष परिचय सिद्धान्त वर्ष ४. अंक ४८ पृ० २७४

२ आलयः सर्वभूतानां लोकानां लोकसम्पदाम्।
यद् भवेत् परमं ब्रह्म स्थलं तत् प्राहुरुत्तरम्॥

३ तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।

३७

भूत हो जाता है। लिंग (शिव) तीन प्रकार का होता है—भावलिंग, प्राणलिंग तथा इष्ट लिंग। इसी प्रकार अंग (जीव) भी तीन प्रकार का है—योगांग (कारणरूप—प्राज्ञ), भोगांग (सूक्ष्मरूप-तैजस), त्यागांग (स्थूल शरीररूप-विश्व)। जीव की अपनी स्वाभाविक भक्तिशक्ति से परमशिव के साथ जो एकभावापत्ति है वही मुक्ति कहलाती है। (तस्माद् लिंगांगसंयोगात् परा मुक्तिर्न विद्यते)। यह संसार तथा जीव शिवरूप ही है। अतः नितान्त सत्य है। शक्ति से इस जगत् का परमशिव से 'परिणाम' होता है। अंग के मलापनयन के लिए आवश्यक साधन 'भक्ति' ही है। परमशिव के अनुग्रह से अंग भक्ति प्राप्त कर सकता है। गुरु की कृपारूपिणी दीक्षा की भक्ति में बड़ी आवश्यकता रहती है। वेधात्मिका, मन्त्रात्मिका तथा क्रियात्मिका रूप से दीक्षा तीन प्रकार की होती है। दीक्षा प्राप्तकर लेने पर ही जीव शिवत्व प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय के वीरशैव नाम की व्याख्या इस प्रकार की गई है:—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते स्मृताः॥

(घ) शैव 'सिद्धान्त' मत

नादयति यन्न नश्यति निर्वाति न निर्वृतिं प्रयच्छति च।
ज्ञानक्रियास्वभावं तत्तेजः शाम्भवं जयति॥ —तत्त्वप्रकाशिका।

शैव सिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि भेद-प्रधान है। इसके अनुसार शिव, शक्ति और बिन्दु—ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त

रत्नत्रय

तत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादानरूप से प्रकाशमान होते हैं। शुद्धतत्त्वमय शुद्ध जगत् के कर्ता शिव,

---

समस्त-लोकनिर्माण—समवायस्वरूपिणी।
तदिच्छयाऽभवत् साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी॥
——सिद्धान्तशिखामणि, २ परि०।

करण शक्ति तथा उपादान बिन्दु है। पाञ्चरात्र आगम में 'विशुद्ध-सत्त्व' शब्द से जो समझा जाता है वही 'बिन्दु' है। इसीका नाम 'महा-माया' है। यही बिन्दु शब्द-ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति तथा व्योम= इन विचित्र भुवन तथा भोग्यरूप में परिणत होकर शुद्ध जगत् की सृष्टि करता है। क्षुब्ध होने पर इस बिन्दु से एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय भोग और भुवन की उत्पत्ति है (शुद्ध अध्वा), दूसरी ओर शब्द का भी उदय होता है[1]। शब्द सूक्ष्मनाद, अक्षर बिन्दु और वर्ण भेद से तीन प्रकार का होता है। इनका कारणभूत बिन्दु जड़ होने पर भी शुद्ध है। शिव के साथ इस महामाया का सम्बन्ध विचारणीय विषय है। शिव को दो शक्तियाँ होती हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी है जिसे शक्तितत्त्व कहते हैं। यह परमशिव में नित्य समवेतभाव से रहती है। शिव-शक्ति का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव की स्वरूप शक्ति है। परिग्रहशक्ति अचेतन तथा परिणामशालिनी है। यही बिन्दु कहलाती है जिसके शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से दो रूप होते हैं। शुद्ध बिन्दु का नाम महामाया और अशुद्ध का नाम माया। दोनो में अन्तर यही है कि महामाया सात्त्विक जगत् (शुद्ध अध्वा) का उपादान कारण है और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान है। जड़ तथा परिणामशालि बिन्दु का चिदात्मक शिव से समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, अन्यथा शिव को भी अचेतन मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। श्रीकण्ठाचार्य ने स्पष्टतः यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की है:—

> स हि तादात्म्यसम्बन्धी जडेन जडिमावहः।
> शिवस्यानुपमाखण्ड-चिद्घनैकस्वरूपिणः॥

---

१ जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्तते यत्र लीयते।
स बिन्दुः परनादाख्यः नादबिन्दुवर्णकारणम् ॥—रत्नत्रय का० २२।

जब परमेश्वर अपनी समवायिनी शक्ति से बिन्दु का आघात करते हैं, तब उस में क्षोभ उत्पन्न होता है और शुद्ध जगत् की सृष्टि होती है। माया के क्षोभ होने से अशुद्ध, प्राकृत जगत् (मायाध्वा) की उत्पत्ति होती है। शिवकी ही पारिभाषिकी संज्ञा 'पति' है।

(क) पति-'शैवसिद्धान्त' के अनुसार तीन पदार्थ होते हैं:-पति (शिव),पशु (जीव), पाश (मल कर्म आदि अर्थपंचक)। पति से अभिप्राय परमेश्वर परशिव से है। परमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व पति के असाधारण गुण हैं। मुक्त जीवों तथा विद्येश्वरादिकों में भी शिवत्व का निवास रहता है, तथापि ये परमेश्वर के परतन्त्र रहते हैं। पशुओं की अपेक्षा उनमें अधिक स्वतन्त्रता रहती अवश्य है, परन्तु परमेश्वर के प्रसाद से ही वे मुक्ति लाभ करने में समर्थ होते हैं। अतः वे शिव के परतन्त्र हैं। शिव नित्य मुक्त हैं अर्थात् स्वभाव-सिद्ध नित्य निर्मल निरतिशय अर्थज्ञान- क्रियाशक्ति समन्वित हैं। शिव पञ्चमन्त्रतनु हैं। ईशानमन्त्र उनका मस्तक है, तत्पुरुष उनका मुख है, घोर उनका हृदय है, वामदेव उनका गुह्य अंग है, सद्योजात उनका पाद है। इस प्रकार पशुओं के पाशक्षेपणके लिए तथा ध्यान योग के वास्ते शिव शरीर धारण करते हैं। ईशानादि शक्ति निर्मित यह शरीर 'शाक्त' कहलाता है, (मलाद्यसम्भवात् शाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः—श्री मृगेन्द्रागम)। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रहकरण—इन कृत्यपंचक के कर्ता साक्षात् शिव हैं[1]। शुद्धाध्व-विषयक इन पंचकृत्यों के सम्पादक परमशिव हैं, परन्तु कृच्छ्राध्व (या अशुद्धाध्व) विषयक इन कृत्यों का विधान अनन्तादि विद्येश्वरों के द्वारा होता है। शिव की दो अवस्थायें होती हैं-'लयावस्था' और 'भोगावस्था'। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर स्वरूपमात्र में अवस्थान करती है, तब शिव शक्तिमान्

१ भोजराज— तत्त्व प्रकाशिका कारिका ७।

कहा जाता है यही लयावस्था है। जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के लिए अभिमुख करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृध्दि करती है, वह शिव की भोगावस्था है।

(ख) पशु—अणु, परिच्छिन्नरूप तथा सीमित शक्ति से समन्वित क्षेत्रज्ञ जीव पशुपद वाच्य है। वह न तो चार्वाक के समान देहरूप है, न नैयायिकों के समान प्रकाश्य है, न जैनियों के समान अव्यापक है, अपि तु व्यापक, प्रकाशरूप अथच अनेक है। वह सांख्य पुरुष के समान अकर्ता नहीं है, क्योंकि पाशों के दूरीकरण के अनन्तर शिवत्व प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। अतः जीव 'सिद्धान्त' मत में कर्ता माना जाता है। पाशों के तारतम्य के कारण पशु तीन प्रकार का होता है—(१) विज्ञानाकल, (२) प्रलयाकल, (३) सकल। मल तीन प्रकार के होते हैं—आणव मल, कार्मण मल तथा मायीय मल। जिन पशुओं में विज्ञान, योग तथा संन्यास से या भोगमात्र से कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा जिनमें कर्मक्षय के कारण शरीरबन्ध का उदय नहीं होता, उन्हें 'विज्ञानाकल' कहते हैं। इनमें केवल मल (आणव) अवशिष्ट रहता है। दूसरे प्रकार में प्रलय दशा में शरीरपात होने से मायीय मल तो नहीं रहता, परन्तु आणव मल तथा कार्मण की सत्ता बनी रहती है, परन्तु 'सकल' पशुओं में पूर्वोक्त तीनों मल विद्यमान रहते हैं।

विज्ञानाकल पशु भी समाप्त-कलुष तथा असमाप्त-कलुष भेद से दो प्रकार का होता है। जब इन जीवों का मल पक्व हो जाता है, वह परमशिव स्वीय अनुग्रह से उन्हें 'विद्येश्वर' पद प्रदान करते हैं। तन्त्र-शास्त्र में विद्येश्वरों की संख्या आठ मानी जाती है—अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी। ये भी पंचकृत्य के अधिकारी हैं, शुद्धाध्वके अधिष्ठाता तथा ईश्वर-तत्त्व के निवासी हैं। अपक्व

मल वाले विज्ञानाकल जीवों को शिव दया से 'मन्त्र' का स्वरूप प्रदान करते हैं जो संख्या में सातकोटि हैं और विद्यातत्त्व के निवासी हैं।

प्रलयाकल जीव भी पक्वमल तथा अपक्वमल भेद से दो प्रकार के होते हैं। ये जीव प्रलयकाल में माया के गर्भ में पड़े रहते हैं। सृष्टि के आरम्भकाल में मायीय तथा कार्मण मलों के नितान्त पक्व होनेवाले जीवों को तो शिव मुक्ति प्रदान करते हैं परन्तु अपक्वमल वाले जीव पुर्यष्टक से युक्त होकर इस संसार की नाना योनियों में कर्मानुसार भ्रमण किया करते हैं। 'पुर्यष्टक' प्रतिपुरुष में नियत सूक्ष्म देह को कहते हैं जो पृथिवी से आरम्भ कर कला पर्यन्त ३० तत्त्वों का होता है और सृष्टि से लेकर कल्प या मोक्ष तक बना रहता है। 'सकल' पशुओं के भी ये ही दो भेद होते हैं। पक्वमल वाले इन पशुओं को भगवान् शंकर अपने 'शक्तिपात' से मन्त्रेश्वर पद प्रदान करते हैं जो संख्या में एक सौ अठारह होते हैं। अपक्वमल वाले पशु अपने कर्मानुसार इस संसार में भ्रमण करते हुए नाना प्रकार के विषयों का उपभोग किया करते हैं।

(ग) पाश—पाश का अर्थ है बन्धन जिसके द्वारा स्वयं शिवरूप होनेपर भी जीवों को पशुत्वप्राप्ति होती है। ये चार प्रकार के हैं:—(१) मल, (२) कर्म, (३) माया, (४) रोधशक्ति। जिस बन्धन के कारण जीव की नैसर्गिक ज्ञान-क्रियाशक्ति का तिरोभाव हो जाने से वह परिच्छिन्न बन जाता है उसका नाम है—मल (या आणव मल=अणुता या परिच्छिन्नता)। मल की उपमा तण्डुल के तुष (छिलका) और ताम्रस्थित कालिमा से दी जाती है। तुष धान के अंकुरित होने का कारण होता है, उसी प्रकार यह मल देहादि की उत्पत्ति का हेतु है। जिस प्रकार ताम्र की कालिमा रसशक्ति से निवृत्त होती है, उसी प्रकार यह मल शिवशक्ति से निवृत्त होता है (तत्त्वप्रकाशिका का० १८):—

> एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
> तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्रस्थितकालिकावद् वा॥

फलार्थी जीवों से संपाद्यमान, धर्माधर्मरूप, बीजांकुर न्याय से अनादि कार्य-कलाप को 'कर्म' कहते हैं। जिसमें प्रलयकाल में जीव लीन हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में जिससे जीव उत्पन्न होते हैं उसकी संज्ञा है 'माया'। माया शब्द मा और या दो शब्दों से बना है—'मा' का अर्थ है प्रलयकाल में जगत् का अधिष्ठान तथा 'या' का अर्थ है सृष्टि में व्यक्त होनेवाला पदार्थ। अतः जगत् की मूल प्रकृति का नाम माया है। माया तन्त्र में वस्तुरूपा है, वेदान्त के समान अनिर्वचनीयरूपा नहीं है। माया एक और नित्य है। जिस प्रकार बिन्दु (महामाया) शुद्ध सृष्टि (शुद्धाध्वा) का उपादान कारण है, उसी प्रकार यह माया अशुद्ध सृष्टि का मूलकारण है। यही दोनों में अन्तर है। (माया च वस्तु-रूपा मूलं विश्वस्य नित्या सा—तत्त्वप्रकाशिका का० ६) चतुर्थ पाश का नाम रोध-शक्ति है। परमेश्वर की यह वह शक्ति है जिससे वे जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं। यह पाशों में अधिष्ठित रहती है। इसलिए इसमें पाशत्व औपचारिक है।

मुक्ति तथा मुक्ति-साधन की कल्पना तान्त्रिक मत में अन्य मतों से विलक्षण है। यह तो निश्चित है कि अनादि काल से प्रवृत्त मलावरणों से संयुक्त होने के कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त क्लेशों का भाजन है।

साधन मार्ग

इस मल के आवरण के दूर करने का क्या उपाय है? तन्त्रों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह न तो ज्ञान के द्वारा, न कर्म के द्वारा, अपितु 'क्रिया' के द्वारा ही सर्वदा के लिए हटाया जा सकता है। मलका पाक धीरे-धीरे होता है और जबतक मल पूर्ण पक्व नहीं हो जाता, तबतक उसका अपसारण नहीं हो सकता है। मल एक सत्तात्मक द्रव्य है। जिस प्रकार नेत्र में जाली पड़ जाने पर उसे शस्त्र-क्रिया के द्वारा आप-रेशन कर हटाया जाता है, ठीक वही दशा मल की भी है। परिपक्वता दोनों में अपेक्षित है। जीव में स्वतः कोई भी सामर्थ्य नहीं है जिससे यह

मल हटाया जाय। ज्ञान, तप, आदि तीव्रतर उपाय भी असमर्थ हैं, क्योंकि सुतीक्ष्ण भी असिधारा अपने को काट नहीं सकती (असिधारा सुतीक्ष्णापि न स्वात्मच्छेदिका यतः—मोक्षकारिका का० ६७)। मलापयन का एक ही साधन है—परमशिव की अनुग्रह शक्ति। इसे तांत्रिक भाषा में 'शक्तिपात' कहते हैं। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव भवबन्धन से निर्मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है। इसी अनुग्रह शक्ति का नाम 'दीक्षा' है। 'दीक्षा' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' (१ जि० पृ० ८३) में इस प्रकार किया है:—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दान-क्षापण-संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

आचार्यमूर्ति भगवान् ही इस दीक्षा के द्वारा शिष्य का उद्धार करते और उसे भवबन्धन से उन्मुक्त कर स्वरूपापत्ति करा देते हैं[1]। 'दीक्षा' का तत्त्व तथा प्रकार[2] बड़े विस्तार के साथ आगम ग्रन्थों में दिया गया है। दीक्षातत्त्व तन्त्र का एक नितान्त निगूढ़ रहस्य है। त्रिक दर्शन में भी इसीलिए 'प्रत्यभिज्ञा' के लिए दीक्षा की योग्यता बनी रहती है (तंत्रालोक जि० ८,१०।१६३):—

स्वातन्त्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।
स्वं रूपं परिशुद्धं सत् स्पृशत्यप्यणुतामयः ॥

तान्त्रिकी मुक्ति की कल्पना के प्रसङ्ग में याद रखना चाहिए कि तन्त्रों के अनुसार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अभिन्न रूप हैं। क्रिया के साथ ही ज्ञान चैतन्य का उदय करता है। अतः जीव में कैवल्य-ज्ञान के उदय होने से मुक्ति नहीं होती, जब तक क्रियाशक्ति का उदय न

---

१ आचार्यसंस्थितो देवो दीक्षाशक्त्यैव मुञ्चति।
स्वशक्त्योद्धृतान् पुंसो मन्त्रसाधनसाध्यया ॥–मोक्षकारिका का० ९६।

२ द्रष्टव्य पं० गोपीनाथ कविराज—दीक्षारहस्य, 'कल्याण' भाग १५, सं० ४।

हो जाय। अभिन्न रूप होने से विशुद्ध ज्ञान के होते ही क्रियाशक्ति स्वतः आविर्भूत हो जाती है। तान्त्रिकों की दृष्टि में कैवल्यज्ञान मोक्षप्रद नहीं है; क्योंकि न तो इससे मुक्त पुरुष में ऐश्वर्य का संचार होता है, न क्रियाशक्ति का। बद्धजीव दीक्षा के द्वारा शिवत्व लाभ कर लेता है अर्थात् उसमें सर्वविषया दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति की नैसर्गिकी उत्पत्ति हो जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन यथार्थ है (परमार्थसार का० ६०):—

> मोक्षस्य नैव किञ्चित् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
> अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः॥

देहादिकों में आत्माभिमान-लक्षण मोह ही पूर्ण स्वरूप में संकोच उत्पन्न कर देने से 'ग्रन्थि' रूप है। इस ग्रन्थि के विदारण करने से स्वकीय स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव होना ही मोक्ष है। अज्ञान-बन्धन के प्रक्षीण होने पर यदि जीव शरीर धारण भी करता है तथापि वह (जीवन्) मुक्त ही है (प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः — परमार्थसार का० ६१)।

(ङ) प्रत्यभिज्ञा (त्रिक) दर्शन

> विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः।
> परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः॥
>
> —क्षेमराज।

त्रिक दर्शन तथा शाक्त दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैतवाद की है। दोनों के मत में एक ही अद्वय परमेश्वर परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर और कामेश्वरी का, सामरस्य रूप है। यह आत्मा चैतन्यरूप है (चैतन्यमात्मा—शिवसूत्र १।१) तथा स्वयं निर्विकाररूप से जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। इसी का नाम चैतन्य, परा संवित्, अनुत्तर,

परमतत्त्व

परमेश्वर तथा परम शिव है। परमेश्वर के दो भाव हैं—'विश्वात्मक' तथा 'विश्वोत्तीर्ण'। विश्वात्मकरूप से परमशिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक रहता है, परन्तु व्यापक होते हुए भी वह अपने विश्वोत्तीर्ण रूप से सब पदार्थों को अतिक्रमण करता है। यह नानाविचित्रता-संवलित जगत् परमशिव से नितान्त अभिन्न तथा उसका स्फुरणमात्र है (श्रीमत्-परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक—परमानन्दमय--प्रकाशैकघनस्य अखिलभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपि तु श्री परमशिवभट्टारक एवेत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति—प्रत्यभिज्ञाहृदय—सूत्र २)। परम शिव ही इस विश्व का उन्मीलन स्वयं करते हैं। न तो किसी उपादान की आवश्यकता है न किसी आधार की। परमस्वातन्त्र्य-शक्तिसम्पन्न परमेश्वर स्वेच्छया स्वभित्ति में, अपने ही आधार में, जगत् का उन्मीलन करते हैं (स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्व-मुन्मीलयति-प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र २)। जगत् पहले भी विद्यमान था। केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है। आचार्य वसुगुप्त का यह कथन नितान्त यथार्थ है:—

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥

परमेश्वर के अनन्य शक्तिसम्पन्न होने पर भी उसकी पाँच शक्तियाँ विशेष रूप से विख्यात हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। चित्शक्ति प्रकाशरूपा है जिसके द्वारा परमशिव प्रकाश्य वस्तु के अभाव मे भी स्वतः प्रकाशित होते हैं। वह शक्ति जिसके द्वारा परमेश्वर निरतिशय आनन्द का, वाह्य वस्तु की बिना अपेक्षा किये, स्वयं अनुभव करता है स्वातन्त्र्यरूपा 'आनन्दशक्ति' है (आनन्दः स्वातन्त्र्यं, स्वात्मविश्रान्ति-स्वभावाह्लादप्राधान्यात्—तन्त्रसार)। अपने को स्वतन्त्र बोध करना तथा अविघात-इच्छा-सम्पन्न समझना 'इच्छा शक्ति' है। ज्ञान शक्ति आमर्ष-रूपा है। आमर्ष का अर्थ है वेद्य पदार्थ का साधारण

ज्ञान (आमर्श ईषत्तयावेद्योन्मुखता)। सर्व आकार धारण करने की योग्यता का नाम क्रिया शक्ति है (सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः—तन्त्र-सार, १ आह्निक)। इन्हीं पञ्चशक्तियों के द्वारा परमशिव अपने को, स्वभित्ति पर, जगत् रूप से परिणत करते हैं।

त्रिकदर्शन पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है। इसका नाम 'ईश्वराद्वयवाद' है। एक परमेश्वर ही केवलमात्र तत्त्व है। अज्ञान माया या जगत् आत्मा का स्वातान्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छापरिगृहीत रूप है।

ईश्वराद्वयवाद

नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छामात्र से नाना-प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं। वह स्वतन्त्र है, अपने रूप को ढकने में समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है। अज्ञान उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति का विजृम्भणमात्र है। अद्वैतवादी होने पर भी ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद मे अन्तर है। जहाँ ब्रह्मवाद में विश्वोत्तीर्ण, सत्य, निर्मल, निर्विकार ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं है, वहाँ ईश्वराद्वयवाद में परमेश्वर में स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्नता अतएव कर्तृता है। आत्मा सृष्टि स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय-इन पञ्चकृत्यों का सम्पादक है, परन्तु शंकर मत में ब्रह्म इस प्रकार का स्वभाव वाला नहीं है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में पर्याप्त सिद्धांतगत पार्थक्य है।

परमेश्वर तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकारका है ? अभि-नवगुप्त का कहना है—दर्पणबिम्बवत्। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम नगर वृक्षादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी दर्पण से तथा परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं; इसी प्रकार पूर्णसंविद्रूप परमेश्वर में प्रतिबिम्बित यह विश्व अभिन्न होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न अवभासित होता है (परमार्थसार का० १२।१३)। एक बात ध्यान देने योग्य है। लोक में प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब पर अवलम्बित है, परन्तु त्रिकदर्शन में परमेश्वर की स्वातंन्त्र्य शक्ति के कारण बिना बिम्ब के ही जगद्रूप का प्रतिबिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है। अतः द्वैतभावना

कल्पित है; अद्वैतभावना वास्तविक है। इस आभास या प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त मानने के कारण त्रिकदर्शन की दार्शनिक दृष्टि 'आभासवाद' के नाम से पुकारी जाती है—(आभासरूपा एव जड़चेतन-पदार्थाः—प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी ३ । २ । १)। अभिनव का विवृतिविमर्शिणी में यह कथन यथार्थ है:—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ॥

यह विश्व चिन्मयी शक्ति का स्फुरण है, अतः कथमपि असत्य नहीं हो सकता। परिणामवाद में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य आकार ग्रहण करता ह। प्रकाशतनु शिव के प्रकाश के तिरोधान होने पर तो यह जगत् ही अन्धा हो जायगा। अतः न तो विवर्तवाद हृदयंगम प्रतीत होता है, न परिणामवाद, प्रत्युत स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद ही बुद्धिगम्य होने से प्रामाणिक है[1]।

छतीस तत्त्व

तन्त्र शास्त्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ है। स्वकीय कार्य में, धर्मसमुदाय में, या स्वसमान गुणवाले वस्तु में, सामान्य रूपसे व्यापक पदार्थ को 'तत्त्व' कहते हैं। शाक्त तथा शैव उभय आगमों में तत्त्वों की संख्या समान ही है। इन्हें तीन भागों में विभक्त करते हैं—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मातत्त्व। शिव-

---

१ अविद्या अनिर्वाच्या वैचित्र्यं चाधत्ते इति व्याहतम्। परमेश्वरी-शक्तिरेव इयमिति हृदयावर्जकः क्रमः। तस्मात् अनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवः भगवान् स्वातन्त्र्यादेव प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः। अभिनव—प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी।

तत्त्व=(१) शिवतत्त्व और (२) शक्तितत्त्व। विद्यातत्त्व मे तीन तत्त्व[1] गृहीत हैं—(३) सदाशिव, (४) ईश्वर और (५) शुद्ध विद्या। आत्मतत्त्व में ३१ तत्त्व अन्तर्भूत हैं—६ माया, ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल, ११ नियति, १२ पुरुष, १३ प्रकृति, १४ बुद्धि, १५ अहंकार, १६ मन, १७–२१ श्रोत्र, त्वक् चक्षुः जिह्वा, घ्राण (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय) २२–२६ वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (पञ्चक कर्मेंद्रिय), २७–३१ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्च विषय), ३२–३६ आकाश, वायु, वन्हि, सलिल, भूमि (पञ्चभूत)।

परमेश्वर के हृदय में विश्वसृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते है—शिवरूप तथा शक्ति रूप। शिव प्रकाशरूप है और शक्ति विमर्श रूपिणी है। 'विमर्श' का अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार, स्थिति में विश्वप्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप से होती है (विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्—पराप्रावेशिका पुं० २) इसी की चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि अनेक संज्ञायें हैं। प्रमा के दो रूप होते हैं—अहमंश तथा इदमंश। अहमंश ग्राहक शिव है तथा इदमंश ग्राह्य शक्ति है। विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति में विमर्श की कल्पना न्याय्य है। जिस प्रकार बिना दर्पण के मुख के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार बिना विमर्श के प्रकाश का स्वरूप सम्पन्न नहीं होता। शिव चिद्रूप हैं परन्तु अचेतन हैं। मधु में मिठास

---

१ स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद् वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः।
तत् तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः॥

तन्त्रालोक ६।४-५।

है, परन्तु वह स्वयं अपने मिठास का स्वाद नहीं ले सकता। शराब में मादकता है, परन्तु उसे उसका ज्ञान नहीं। इसी प्रकार बिना शक्ति के शिव को अपने प्रकाशरूप का ज्ञान नहीं होता। शिवमें चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है, शक्ति के बिना शिव शव (मृतक) है। इसीलिए शंकराचार्य का कथन है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

पुण्यानन्द ने 'कामकलाविलास' में आद्या शक्ति को 'शिवरूपविमर्श-निर्मलादर्श' कह कर उसके स्वरूप का सुन्दर परिचय दिया है। जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने सुन्दर मुख का ज्ञान प्राप्त करता है, उसी प्रकार शिव भी स्वाधीनभूता स्वात्मशक्ति को देखकर अपने परिपूर्ण अहन्ता और प्रकाशमय स्वरूप को जानता है। अतः प्रकाश विमर्शात्मक है अथ च विमर्श प्रकाशात्मक है। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित रहती है। अतः शिव न तो शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। शिवशक्ति के सामञ्जस्य के विषय में आगम का स्पष्ट कथन है[1]:—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

विमर्श के ही दूसरे नाम स्फुरत्ता, स्पन्द, महासत्ता, परा वाक् आदि हैं।

इसी शिवशक्ति के आन्तर निमेष को (३) सदाशिव तथा बाह्य उन्मेष को (४) ईश्वर कहते हैं (ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः-

१ न शिवः शक्तिरहिता न शक्तिर्व्यतिरेकिणी
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥
सोमानन्द—शिवदृष्टि ३।२।३।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३) सदाशिव दशा में अचलरूप परमेश्वर में किञ्चित् चलनात्मकरूप स्फुरण होता है। प्रमा का अहमंश इदमंश को आच्छादित कर विद्यमान रहता है। अतः जगत् का अव्यक्तरूप से भान होता है (अहन्ताच्छादितअस्फुटेदन्तामयं यादृशं परावररूपं विश्वं ग्राह्यम्—प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ० ७) 'सत्ता' का आरम्भ यहीं से होता है। इसीसे इसका नाम 'सादाख्य' तत्त्व है (सादाख्यायां भवं सादाख्यं यतः प्रभृति सदिति प्रख्या—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी ३।१।२)।

विकासोन्मुख ज्ञान की तीसरी अवस्था को (४) ईश्वरतत्त्व कहते हैं जो सदाशिव का बाह्यरूप है। यहाँ 'अहं' 'इदं' (जगत्) का स्पष्टरूप से किन्तु एक आत्मा के अंशरूप में, आत्मा से अभिन्नरूप में, अनुभव करता है। पिछले विमर्श में 'अहं' की प्रधानता थी; इस विमर्श में 'इदं' की प्रधानता रहती है। पञ्चमतत्त्व को (५) विद्या, सद्विद्या या शुद्ध विद्या कहते हैं। ज्ञान की इस दशा में 'अहं' तथा 'इदं' का पूर्ण समानाधिकरण्य रहता है अर्थात् दोनों की समानरूपेण स्थिति रहती है (समानाधिकरण्यं च सद्विद्याऽहमिदंधियोः— ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३)। इस दशा में शिव समस्त जगत् को अपना ही विभव समझने लगता है (सर्वो ममाय विभव इत्येवं परिजानतः—ईश्व० प्रत्य० ४।१।१२)। सारांश यह है कि परा संवित् का शिव-शक्त्यात्मकरूप सर्गात्मक होता है। शिवतत्त्व में 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्व में 'अहमिदं' विमर्श और ईश्वरतत्त्व में 'इदमिदं' विमर्श होता है। इनमें से प्रत्येक स्थल में प्रथमपद की प्रधानता रहती है। 'सद्विद्या' में 'अहं' और 'इदं' दोनों की समभावेन प्रधानता रहती है।

अब (६) माया शक्ति का कार्य आरम्भ होता है जो 'अहं' और 'इदं' को पृथक पृथक् कर देती है (कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया—शिवसूत्र ३।३)। अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति। परन्तु शिव को पुरुषरूप में आने के लिए माया पाँच उपाधियों की—कला,

विद्या, राग, काल, नियति—सृष्टि करती है जिनका पारिभाषिक नाम 'कञ्चुक' (शक्ति को परिच्छिन्न बनानेवाले आवरण) है। जीव के सर्वकर्तृत्वशक्ति को संकुचित करनेवाला तत्त्व 'कला' है जिसके कारण जीव किञ्चित्-कर्तृत्व-शक्तियुक्त बन जाता है। 'सर्वज्ञता' के संकोच करने वाला तत्त्व 'विद्या' कहलाता है जिसके कारण जीव किञ्चिज्ज्ञ होता है। नित्यतृप्तित्व गुण का संकोच का कर्ता राग 'तत्त्व' कहलाता है जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है। नित्यत्व को संकुचित करनेवाला तत्त्व 'काल' है जिसके कारण देहादिकों से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है। जीव की स्वातन्त्र्यशक्ति को तिरस्कार करने वाला तत्त्व 'नियति' (नियमन हेतु) कहलाता है जिसके कारण वह नियमित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है। इन्हीं पाँचों कला, विद्या, राग, काल तथा नियति को जीवस्वरूप के आवरण करने के कारण 'कच्चुक' कहते हैं। इस मायाजनित कञ्चुकों के द्वारा आवृतशक्ति जीव 'पुरुष' पदवाच्य है। त्रिगुणमय महत्-तत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वों का मूलकारण 'प्रकृति' है। प्रकृति से महदादि पृथ्वीपर्यन्त, तत्त्व सांख्यरीति से उत्पन्न होते हैं। षड्त्रिंशत् तत्त्वों का यही सामान्य परिचय है।

त्रिकदर्शन का साधनमार्ग अपनी विशिष्टता धारण किये हुए है। यह न तो शुष्क ज्ञान का ही पक्षपाती है, और न शुष्क भक्ति का। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। भक्ति द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है, परन्तु यह साधनरूपा अज्ञानमूलक भक्ति है। अद्वैत ज्ञान के उदय होने पर जिस साध्यरूपा भक्ति का आविर्भाव होता है वह वस्तुतः नित्य है। साधारणतया जिसे मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः इस नित्यसिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही आवरणभंगजनित समुन्मेषमात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्दलाभ' कहते हैं। इस प्रसङ्ग में 'प्रत्यभिज्ञा' की कल्पना को

भलीभांति समझ लेना चाहिए जिसके कारण यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है ज्ञात वस्तु को फिर से जानना या पहचानना। प्रत्यभिज्ञा की उपयोगिता दिखलाते समय उत्पलाचार्य ने कामिनी का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिखलाया है। जिस प्रकार कोई सुन्दरी मदनलेख या दूतीप्रेषण आदि अनेक उपायों के द्वारा आये हुए और समीप में खड़े होने वाले मनोवाञ्छित प्रियतम को पाकर भी आनन्दित नहीं होती है, परन्तु दूती के वचन से या उसके लक्षणों के अभिज्ञान से प्रियतम को पहचान कर पूर्णता प्राप्त करती है और अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार आणव, शाक्त, शाम्भवादि उपायों के द्वारा आत्मचैतन्य के स्फुरण होने पर भी साधक 'अहं महेश्वरः' यह ज्ञान तभी प्राप्त करता है, जब गुरु के उपदेश से शिव के गुणों के ज्ञान से वह उन्हें पहचान लेता है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा' वास्तव मोक्ष—शिवत्वलाभ—में प्रधान साधन है (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा—४।२।२):—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद में भेद

आचार्य शंकर के द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा अभिनवगुप्त आदि के द्वारा व्याख्यात ईश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार के नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त में माया की जो मीमांसा की गई है, उससे प्रत्यभिज्ञा को सन्तोष नहीं होता। अज्ञान की प्रवृत्ति कहाँ से और क्यों होती है? इसका कोई उत्तर नहीं। इस अज्ञान का प्रथम आविर्भाव ही क्योंकर होता है जिसके वश में होकर ब्रह्म जीवरूप में आविर्भूत होता है अथवा अधीश्वर होकर

ईश्वर बनता है। इस प्रश्न का ठीक उत्तर वेदान्त नहीं देता, पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन देता है। ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है, माया है, किन्तु इसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक, अपनी इच्छा से परिगृहीत, रूप है। जिस प्रकार नट जान बूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, ठीक उसी तरह परमेश्वर भी अपनी इच्छा से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह स्वतन्त्र है—अपने स्वरूप को ढांकने में भी समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है। परन्तु जब वह अपने रूप को ढक लेता है, तब भी उसका आवरणहीन रूप उसी प्रकार अच्युत रूप से विद्यमान रहता है—ठीक सूर्य के समान। सूर्य अपने ही द्वारा उत्पादित मेघों के द्वारा अपने को ढक लेता है, और ढकने के समय भी वह अनाच्छादित ही रहता है, अन्यथा मेघों को प्रकाशित कौन करता? ठीक यही दशा परमेश्वर की भी है। अज्ञान या माया उनके स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भणमात्र है। संसार की सृष्टि करने में लीलापरायण भगवान् की लीला ही मुख्य कारण है। ईश्वरवादी कहते हैं कि वह स्वातन्त्र्यमूलक, स्वातन्त्र्यरूप तथा कर्तृस्वरूप है। ब्रह्म वादी कहते हैं—वह शुद्ध साक्षी है अर्थात् अधिष्ठान चैतन्यात्मक है। यही दोनों का अन्तर है। शंकरवेदान्त में आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, अनन्त, सृष्टिस्थिति-लय का कारण, भाव-अभाव-विहीन है, परन्तु उसमें कर्तृत्व नहीं है। परन्तु आगमानुसारी अद्वैतवाद में यह कमी नहीं है। ज्ञान और क्रिया उसके लिए एक समान है। उसकी क्रिया ही ज्ञान है। कर्तृस्वभाव होने के हेतु उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस प्रकार इच्छा आदि शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर स्वातन्त्र्यमय है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" तथा "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति"—इन सूत्रों का यही तात्पर्य है।

आत्मा—आगम-सम्मत आत्मा सदा पञ्चकृत्यकारी है। इन पञ्चकृत्यों के नाम हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय।

परन्तु शांकरमत में आत्मा का यही स्वभाव नहीं है। इस तरह ब्रह्मवाद में आत्मा का स्वस्फुरण उतना नहीं है, जितना आगमों में है। अतः वह सत्य होते हुए असत्कल्प है। अद्वैतवाद मानने पर कुछ द्वैताभास सा बना हुआ है; आगम की मीमांसा पर बिचार करने से यही प्रतीत होता है।

इस अद्वयवाद की यह महती विशेषता है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है, न ज्ञानविहीन भक्तिमार्ग है। प्रत्युत यहाँ ज्ञान और भक्ति का मञ्जुल सामञ्जस्य है। शांकर अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शंकर के मत में भक्ति द्वैतमूलक होती है। अतः ज्ञान के उदय होने पर उसकी स्थिति नहीं होती है। यह मत ठीक है क्योंकि यह भक्ति साधन-रूपा अज्ञान-मूलक होती है, परन्तु जो अद्वत-भक्ति रूप पदार्थ है, वह नित्य सिद्ध है। उसकी सत्ता का पता शास्त्र के वचन तथा महात्माओं के अनुभव से चलता है। जिसे हम मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः नित्य सिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही, आवरणभंग से उत्पन्न, उन्मेषमात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्द-लाभ' कहते हैं। अद्वैत ज्ञान होने पर जो भक्ति उदित होती है वह निर्व्याज अहैतुकी भक्ति वास्तविक भक्ति है। इसी भक्ति को लक्षित कर भागवत का कथन है:—

ज्ञान और भक्ति का सामाञ्जस्य

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगणो हरिः॥

बोधसार में (पृ० २००–२०१) नरहरि का कथन भी यथार्थ है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्म—परमात्मनोः॥

तात्पर्य यह है कि ज्ञान होने के पहले द्वैत मोह उत्पन्न करता है, परन्तु ज्ञान होने पर भी उस द्वैत की कल्पना भक्ति के लिए अपनी बुद्धि के द्वारा की जाती है। यह कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है। सामरस्य हो जाने पर वह द्वैत अमृत के समान आनन्ददायक होता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह मधुर मिलन दम्पती के मिलन के समान होता है। लौकिक जगत् में स्त्री पुरुष का संयोग उस अलौकिक दशा का यत्किञ्चित् परिचायक होता है। यही 'सामरस्य' तन्त्र का सर्वस्व है। अद्वैत वेदान्त में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन बतलाया गया है। आत्मा के स्वरूपभेद होने के कारण ही यह साधनभेद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दार्शनिक जगत् में त्रिक दर्शन की विशिष्टता नितान्त स्पष्ट है।

(च) त्रिपुरा सिद्धान्त

सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूप-विमर्श-निर्मलादर्शः॥

—कामकलाविलास।

त्रिकदर्शन तथा शाक्तदर्शन दार्शनिक दृष्टि में समभावेन पूर्ण अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। पूर्व वर्णित छत्तीस तत्त्व दोनों को माननीय हैं। इन तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है जो विश्व में व्यापक होने पर भी विश्व से पृथक् है। अतः वह एक साथ विश्वात्मक भी तथा विश्वोत्तीर्ण भी है। सदाशिव से लेकर क्षिति-पर्यन्त ३४ तत्त्व 'विश्व' कहलाता है। जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेषमात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' है। शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है (अन्तर्लीनविमर्शः) और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं। शिवतत्त्व में शक्ति भाव गौण और शिवभाव प्रधान है—शक्तितत्त्व में शिवभाव गौण और शक्ति

भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैवलोग परमशिव के नाम से पुकारते हैं, परन्तु शाक्त लोग पराशक्ति के नाम से। शाक्त मत में शिव पराशक्ति से उत्पन्न होकर जगत् का उन्मीलन करते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो तत्त्व शिव तत्त्व तथा शक्तितत्त्व के नाम से अभिहित हैं वे ही त्रिपुरामत में कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और गौडीय वैष्णवमत में श्रीकृष्ण और राधा है। कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य रूप को त्रिपुरा मत में 'सुन्दरी' या 'त्रिपुरासुन्दरी' कहते हैं। त्रिपुरा ही सकलाधिष्ठानरूपा सत्य-रूपा, समानाधिकवर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्री ललिताम्बिका हैं। ये ही 'सर्व-वेदान्त-तात्पर्य-भूमि' हैं। इस प्रकार निरतिशय-सौन्दर्य-मूर्ति-को मातृरूपसे कल्पना करना साधनाराज्य का एक निगूढ़ तत्त्व हैं। शंकराचार्य ने इसी ललितामूर्ति के सौन्दर्य का कवित्वमय चमत्कारिक वर्णन अपने 'सौन्दर्यलहरी' में किया है।

इस सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। चन्द्रमा की सोलह कलायें होती हैं। सभी कलायें नित्य हैं। इसीलिए सामूहिक रूप से इन्हें 'नित्याषोडशिका' कहते हैं। परन्तु पहली पन्द्रह कलाओं का उदय अस्त होता है, परन्तु षोडशी कला सर्वदा नित्य है। इसी का नाम 'अमृता' कला है। वैयाकरणलोग इसीको 'पश्यन्ती' वाणी कहते हैं। महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित की नान्दी में इसी वाग्देवता रूपिणी अमृताकला के लाभ के लिए प्रार्थना की है (विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्)। यही षोडशी महात्रिपुरसुन्दरी ललिता है सौन्दर्य और आनन्द का परम धाम है। इसी 'ललिता' की अद्वैतभावना से उपासना करना 'श्रीविद्या' के उपासकों का प्रधान लक्ष्य है। साधकों के निकट यह सुन्दरी ललिता सदा षोडशवर्षीया रहती हैं। गौड़ीय वैष्णव मत में निखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण के सन्तत कुमार

अर्थात् षोडशवर्षीय होने का भी यही रहस्य है। 'ललिता' ही पुंरूप-धारण करने पर श्रीकृष्ण रूप से प्रकट होती हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के परम शिव, त्रिपुरामत की षोडशी तथा वैष्णव मत में श्रीकृष्ण—एक ही आनन्दनिकेतन सच्चिदानन्दविग्रह परमतत्त्व के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। साधन साम्राज्य का यही मञ्जुल सामञ्जस्य है।

साधना-जगत् में प्रवेश करने लिए तन्त्रों के रहस्यों को जानना नितान्त आवश्यक है। वेदान्त माया के ऊपरी जगत् का विवरण प्रस्तुत नहीं करता, परन्तु इस माया-लोक से ऊपर महामाया के साम्राज्य का तात्त्विक विवेचन तन्त्रों में ही किया गया है। वहाँ वैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोकों और जीवों की सत्ता है, जिसका रहस्य-ज्ञान साधन पन्थ के लिए एक उपादेय पाथेय है। तन्त्रों ने शक्ति के जडत्व को दूर-कर उसकी वास्तविक चित्स्वरूपताको प्रकट किया है। शाक्त तन्त्रों में पूर्ण अद्वैतवाद के साथ भक्तिका मनोरम समन्वय उपस्थित करना साधना जगत् के लिए एक विशिष्ट घटना है। तान्त्रिक साधना के अन्तिम फल का वर्णन कुलार्णव तन्त्र में सुन्दर शब्दों में दिया गया है—

भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥

———०———
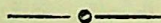
षोडश परिच्छेद

उपसंहार

१

भारतीय दर्शनों में समन्वय

भारतीय तत्वज्ञान के उदय और अभ्युदय का यही संक्षिप्त विवरण है। दार्शनिक सम्प्रदायों के विवेचन प्रस्तुत करने में उनके विशिष्ट अंशों पर ध्यान देना स्वाभाविक है। अतः इस विवरण में प्रत्येक दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त पृथक रूप से दिखलाये गये हैं जिनके अनुशीलन करने से पाठकों के हृदय में इनके पारस्परिक विरोध की बात अवश्य-मेव उठती है। परन्तु यह विरोध आपाततः ही दृष्टिगोचर होता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में वस्तुतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

विरोध का परिहार दो प्रकारों से किया जाता है। एक प्रकार से दृष्टिभेद के कारण यह भेद है। दूसरे प्रकार से इनमें क्रमशः सिद्धान्त-गत विकाश है। नैयायिक दृष्टिकोण से जितने तत्वों की सम्भावना हो सकती है, उतने तत्वों का परिनिष्ठित विवेचन न्याय-वैशेषिक में किया गया है। इस दशा में अधिक तत्वों के मानने को कुछ भी आव श्यकता नही है। यदि कई खण्ड वाले मकान के प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र हों, तो प्रथम खण्ड में रहनेवाले व्यक्ति न तो ऊपर वाले खण्ड की बात जान सकते हैं, न जानने की ही उन्हें जरूरत है, यही दशा न्याय-वैशेषिक की भी है। यह दार्शनिक विकाश की जिस सीढ़ी पर खड़ा है,

वहाँ वह स्वयं पूर्ण है। उसका विवेचन नितान्त सत्य है। यही दशा सांख्ययोग तथा वेदान्त की है जो अपनी दृष्टि में पूर्ण हैं। विरोध परिहार का दूसरा प्रकार यह है कि इन दर्शनों में क्रमिक विकास मानना। भारतीय दर्शन सोपान-परम्परा के अनुरूप क्रमशः विकसित हुए हैं। अतः न्याय-वैशेषिक से अधिक विकास सांख्य-योग में है और सांख्ययोग से अधिक अद्वैत वेदान्त में। अद्वैत तत्त्व ही भारतीय तात्त्विक चिन्तनों का पर्यवसान प्रतीत होता है।

प्रथमतः शास्त्र के उद्देश्य पर ध्यान देना आवश्यक है। शास्त्र का उद्देश्य लोकसिद्ध अर्थ के व्युत्पादन में नहीं है, क्योंकि जो वस्तु आपामर प्रसिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए शास्त्र को युक्तियों के व्यूह की रचना करने से क्या लाभ? लौकिक व्यवहारों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भेद लोकसिद्ध है। मैं-तुम, मेरा-तेरा आदि भेद को लेकर ही जगत् का समग्र व्यापार चलता है। अतः लोकसिद्ध भेद का निराकरण कर अभेद का प्रतिपादन ही शास्त्र का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। यदि शास्त्रों में लोकसिद्ध वस्तुओं या सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है तो यह अनुवादमात्र है, विधेय कथमपि नहीं है। वाचस्पति मिश्र के इस कथन का यही तात्पर्य है—'भेदो लोकसिद्धत्वादनूद्यते। अभेदस्तु तदपवादेन प्रतिपादनमर्हति'। यदि अभेद का व्युत्पादन शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, तो भेद-प्रतिपादक न्यायवैशेषिकादि दर्शनों की संगति क्यों कर सिद्ध होगी? इसके उत्तरमें शास्त्र का स्पष्ट कथन है—

अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः।

अर्थात् अधिकारिभेद से शास्त्रोंकी भेदकल्पना है। वस्तुतः समस्त दर्शनों का लक्ष्य एक ही अद्वैत तत्त्व के विवेचन में है।

षड्दर्शनों के सिद्धान्तों का विकास सोपानपरम्परा न्याय के अनुरूप है। एक सीढ़ीपर खड़ा होकर जितना भूभाग दृष्टिगोचर होता है, उससे

कहीं अधिक भूभाग उसके आगे की सीढ़ियोंपर चढ़कर देखने में दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक विकास की भी ठीक यही व्यवस्था है। न्यायवैशेषिक की दृष्टि से जिन तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है, उससे कहीं अधिक तत्त्व सांख्ययोग दृष्टि में आते हैं और वेदान्त दृष्टि में उनसे भी कहीं अधिक[1]। यही कारण है कि वेदान्त की पर्यालोचना करने से हम विश्वव्यापिनी एक अखण्ड सत्ता के अस्तित्वपर पहुँच जाते हैं। कार्य-कारण की शृंखला पर दृष्टिपात करने से हम भारतीयदर्शन में तीन प्रस्थानों को मुख्यतया पाते हैं—आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। आरम्भवाद की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुंज से उत्पन्न होता है। कारण में कार्य की सत्ता नहीं रहती है, प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति एक नवीन घटना है। आरम्भवाद न्याय-वैशेषिक तथा कर्ममीमांसा को सम्मत है। परिणामवाद में कार्य-कारण में अन्तर नहीं होता, कार्य कारणमें सदा व्यक्त रूप से या अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। यह दृष्टि सांख्य-योग की, अद्वैतवेदान्ती भर्तृप्रपञ्च की और वैष्णव दार्शनिकों की है। विवर्तवाद कारणकी ही एकमात्र सत्ता स्वीकार करता है। कार्य सत् और असत् से विलक्षण एक अनिर्वचनीय व्यापार माना जाता है। यह दृष्टि शांकर अद्वैत वेदान्तियों की है। इन तीनों दृष्टियों में क्रमिक विकास निश्चयरूप से दृष्टिगोचर होता है[2]।

सूक्ष्म तत्त्वोंपर पहुँचने के लिए स्थूल पदार्थों का प्रथमतः अनुशीलन नितान्त नैसर्गिक है। अद्वैत तत्त्व इतना सूक्ष्म और कुशलबुद्धिगम्य है कि उसका सद्यः प्रतिपादन हृदयंगम नहीं हो सकता। अतः स्थूलविषय-

---

१ आरुह्य भूमिमधरामितरोऽधिरोढुं शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम्।
उक्त्वा पुरा परिणतिप्रतिपादनेन सम्प्रत्यपोहति विकारमृषात्वसिद्ध्यै॥
—संक्षेप शारीरक २।६०

२ द्रष्टव्य संक्षेपशारीरक २।५९–६५।

आही मानवों के उपकारार्थ मुनियों ने न्यायादि शास्त्रों की रचना की है जिससे मनुष्य स्थूल से प्रारम्भ कर सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण क्रम पूर्वक सुभीते के साथ कर सकें[1]। आरम्भवाद का आश्रय लेकर न्याय वैशेषिक इस स्थूल जगत् के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। लौकिक बुद्धिके द्वारा जितने पदार्थों की कल्पना मान्य हो सकती है, उतने ही पदार्थों का विवरण इन दर्शनों में किया जाता है। सांख्ययोग की पदार्थकल्पना न्याय-वैशेषिक से सूक्ष्म है, क्योंकि इन दर्शनों में योगानुभव के द्वारा भी साक्षात्कृत-पदार्थ मान्य माने जाते हैं। अद्वैत वेदान्त की कल्पना सूक्ष्मतम है। एक उदाहरण के द्वारा इस क्रमिक विकास की सत्यता प्रदर्शित की जाती है। 'आत्मा' के विषयमें दर्शनोंके विवेचन में स्पष्ट पार्थक्य दीख पड़ता है, परन्तु इन विवेचनों में विरोध न होकर अविरोधिता ही विचार करने पर निश्चितरूपेण प्रतीत होती है। चार्वाक शरीर से पृथक् आत्मा की स्थिति मानता ही नहीं है। बौद्धमत स्कन्धपंचक रूप आत्मा को शरीर से भिन्न मानकर भी उसे 'क्षणिक' बतलाता है। न्याय वैशेषिक का प्रधान उद्देश्य इन मतों का युक्तियों के सहारे खण्डन कर आत्मा को देह, प्राण, मन और इन्द्रियों से भिन्न तथा नित्य सिद्ध करना है। अतः न्याय आत्मा के 'सत्' रूप को युक्तिबल पर निःसंशय सिद्ध करता है। वह अवश्यमेव आत्मा को जड़ और मनः—संयोग उत्पन्न होनेपर चैतन्यगुणविशिष्ट मानता है परन्तु यह गुणाश्रयिता लोकसिद्ध वस्तु का अनुवादमात्र है, क्योंकि आचार्य शंकर के कथनानुसार आत्मामें व्यापक अव्यापक किसी भी रूप से गुणों की सत्ता युक्तिबल पर सिद्ध नहीं की जा

---

१ नहि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात् तेषां किंतु बहिर्विषयप्रवणाहामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्यनिवारणाय तैः प्रस्थान-भेदाः प्रदर्शिताः। सर्वेषां प्रस्थानकर्तॄणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेन अद्वितीये परमेश्वर एव वेदांतप्रतिपाद्ये तात्पर्यम्—प्रस्थानभेद।

सकती। इस अंश के अग्राह्य होने पर भी न्यायसम्मत आत्मनित्यता भारतीय दार्शनिकों को अभीष्ट है। विज्ञानभिक्षु ने न्यायवैशेषिकको इसी लिए दर्शन की 'प्रथम भूमिका' माना है—न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखि-दुःख्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेन आत्मा प्रथमभूमिकायामनुमापितः। एकदा परसूक्ष्मे प्रवेशासम्भवात्।

सांख्ययोग की दृष्टि में आत्मा गुणों का अधिष्ठान कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता। गुणों की गुणी में स्थिति दो प्रकार से होती है—कतिपय गुण स्वाश्रय-द्रव्य-व्यापी होते हैं जैसा घट में रूप स्पर्श आदि घट के प्रत्येक अंश को व्याप्त कर विद्यमान रहते हैं। कोई कोई गुण स्वाश्रय-द्रव्य-व्यापी नहीं होते जैसे संयोग। दो वस्तुओं का संयोग एक अंश विशेष को लेकर ही सिद्ध होता है। परन्तु आत्मा में ज्ञान चैतन्यादि गुणों की उभयथा स्थिति दोषयुक्त है। अतः सांख्य-योग आत्मा को निर्लेप, असङ्ग, निर्गुण तथा चैतन्यरूप मानता है। जिस प्रकार न्याय ने आत्मा को 'सत्' सिद्ध किया है, उसी प्रकार सांख्य-योग उसे 'चित्' सिद्ध करता है। परंतु सांख्य मत से आनन्द पुरुष में विद्यमान नहीं रहता। गुणत्रयात्मिका प्रकृति के विकाररूप बुद्धि में ही सुख दुःखादिकों की कल्पना वास्तव है। पुरुष तो बुद्धिसम्पर्क में आने से सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः वह निरानन्द है। सांख्यशास्त्र में पुरुष अवश्यमेव नाना माना गया है, परंतु यह तो लोकसिद्ध वस्तु का अनुवादमात्र है। सांख्य का वास्तव प्रयोजन तो व्यावहारिक आत्मा (जीव) का अनात्मा से विवेक होने पर मोक्षप्रतिपादन है। अतः विवेकज्ञान के प्रधान लक्ष्य होने से सांख्य अप्रमाण नहीं है (सांख्यस्य नाप्रामाण्यम्। व्यवहारिकात्मनो जीवस्य इतरविवेकज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वे विवक्षितार्थे बाधाभावात्—विज्ञानभिक्षु)। इसके आगे वेदान्त की दृष्टि आरम्भ होती है। वेदान्तदृष्टि में जो पदार्थ चैतन्यरूप है, वही आनन्दरूप भी है। अतः आत्मा की आनन्दरूपता

सिद्ध करने में वेदान्त की सबसे अधिक महनीयता है। पूर्व दृष्टियों के द्वारा सिद्ध तत्त्वों का समन्वय देकर वेदान्त प्रतिपादित करता है कि आत्मा 'सत्', 'चित्', 'आनन्द' रूप है। इस प्रकार आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता की कल्पना में तीनों दृष्टियों का विकासक्रम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन न्यायाचार्य की उक्ति है—इदं तु कण्टकावरणं तत्त्वं तु बादरायणात् अर्थात् प्रमाण की मीमांसा करनेवाले न्याय का काम तो वैदिकधर्म तथा तत्त्वज्ञान को कुतार्किकों के कुत्सित तर्कों तथा अनुचित युक्तियों से बचाने मात्र में है। इस प्रकार न्याय वेद-वाटिका का कण्टकमय आवरण है, तत्त्व तो बादरायण से ही प्राप्य है। 'आत्मतत्त्वविवेक' के अन्त में उदयनाचार्य ने विभिन्न दर्शनों की जो अविरोधिता दिखलाई है वह उनकी समन्वयदृष्टि का पर्याप्त सूचक है। स्थूल जगत् के दृश्यमान वस्तुओं से आरम्भ कर अद्वैततत्त्व तक पहुँचना भारतीय दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। इस दीर्घ मार्ग में अनेक कोटियाँ हैं जिनका पार करना आवश्यक है। पहली कोटि में बाह्य अर्थों की स्फुटतया पृथग्रूपेण प्रतीति होती है। इस स्थिति में चार्वाक दर्शन का समुत्थान है और कर्ममीमांसा का उपसंहार। दूसरी कोटि आत्मा के अर्थाकार प्रतिभासित होने में है जिसमें योगाचार का समुत्थान है और त्रिदण्डी वैष्णव मत (रामानुज) का उपसंहार है। तृतीय कोटि में स्वरूपतः और आकारतः अर्थ का अभाव प्रतिभासित होता है। इस दशा में शून्यवाद का समुत्थान और वेदान्त का द्वारमात्र उपसंहार है। इसके आगे आत्मा तथा अनात्मा के परस्पर पार्थक्य ज्ञान से 'विवेक' का उदय होता है जिसमें शक्तिसत्त्व का समुत्थान तथा सांख्यमत का उपसंहार है। इस अवस्था में त्रिगुणमयी प्रकृति की सत्ता पुरुष से पृथक् और स्वतन्त्र माननी ही पड़ती है। परन्तु यह भी कोटि हेय है, क्योंकि जड़ प्रकृति भी स्वप्रवृत्ति के लिए चेतनरूप आत्मा के अधिष्ठान की नित्य-काङ्क्षिणी

है। इससे आगे केवल आत्मा की एकमात्र स्फूर्ति होती है। यही अद्वैत वेदान्त की स्थिति है। यही वेदान्त की अद्वैतावस्था है जिसका वर्णन बृहदारण्यक (४।४।२) में 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' इत्यादि मंत्र में बड़े सुन्दररूप से किया गया है। परन्तु यह भी अवस्था हेय है, क्योंकि मूलतन्त्र न तो द्वैत है, न अद्वैत। द्वैताद्वैत की कल्पना भी विकल्प-सापेक्ष है। परमार्थ इन दोनों कोटियों से पृथक् है, स्वतन्त्र है, द्वैताद्वैतविर्जित है। कुलार्णव तन्त्र में (१।११०) शंकर के इस कथन का तात्पर्य यही है:—

> अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
> मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

यही निर्विकल्पावस्था चरम वेदान्त का उपसंहार है जिसका वर्णन उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में करता है—यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। इस दशा में सर्वविकल्पशून्य अवाङ्मनसगोचर आत्मा ही ब्रह्मरूप है। आत्मा की यही चरम अवस्था है। यह कथमपि हेय नहीं है। निर्वाण इस दशा में स्वतः सिद्ध है। उदयनाचार्य का स्पष्ट कथन है—सा चावस्था न हेया। मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात् निर्वाणं तु तस्य स्वयमेव। ×× । तस्मादभ्यासकामोऽप्यपद्वाराणि विहाय पुरद्वारं प्रविशेत्—(आत्मतत्त्वविवेक पृ० ४२१) अन्य मार्ग केवल अपद्वार हैं, परन्तु वेदान्तमार्ग मोक्षनगर गोपुर है—पुरद्वार है, जिसमें प्रवेश कर साधक सुगमतया मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस दशा में सब दर्शनों का एकान्त समन्वय समुपस्थित है। भारतीय दर्शनों का यही चरम लक्ष्य है।

जैन तथा बौद्ध तत्त्व ज्ञान भी भारतीय आध्यात्मिकताके मानसरोवर-रूप उपनिषदों से ही प्रवाहित होते हैं। श्रुतिके तिरस्कार करनेसे ब्राह्मण दार्शनिकोंको इनके सिद्धान्तों में आस्था नहीं है, परन्तु इतना तो स्वीकार

करना पड़ेगा कि जैन धर्म की कर्तव्यमीमांसा बड़ी सुन्दर है और बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा बड़ी सूक्ष्म कोटि की है। हम उस दार्शनिक की समन्वयबुद्धि की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते जिसके उदात्त विचार में बौद्ध तथा जैन, वैदिक तथा तान्त्रिक समस्त दार्शनिक चिन्तनों का मंजुल समञ्जस्य इस श्लोक में प्रदर्शित किया गया है :—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥

२

भारतीय दर्शन का भविष्य

भारत में दर्शन तथा धर्म का परस्पर सहयोग जितनी सुन्दर रीति से सम्पन्न किया गया है वह वस्तुतः नितान्त श्लाघनीय है। भारतीय दर्शन केवल तत्त्ववेत्ता पुरुषों की कल्पना का विजृम्भणमात्र बनकर पठित समाज में ही आदर और श्रद्धा का भाजन नहीं है, प्रत्युत जनसाधारण के लिए भी वह उसी प्रकार का उपादेय और ग्रहणीय है। तत्त्वशास्त्र के द्वारा उद्‌भावित तत्त्व मनोविनोद के साधन नहीं हैं, बल्कि प्रतिदिन धार्मिक व्यवहार के निष्पादक हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने जिन तत्त्वों को खोज निकाला है, वे भारतीय तत्त्वज्ञान को अविदित नहीं हैं, प्रत्युत भारत के दार्शनिकों ने उन सिद्धान्तों का क्रमबद्ध तथा सुसंगत रूप अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान अपनी व्यावहारिकता, व्यापकता तथा विविधरूपता के लिए नितान्त मननीय तथा माननीय है। इसका भविष्य इसके भूत के समान ही गौरवशाली प्रतीत होता है। पाश्चात्य जगत् को अपनी जिस वैज्ञानिक सभ्यता पर इतना अभिमान है उसका ध्वंस तो अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा है। वर्तमान प्रलयंकारी युद्ध पाश्चात्य सभ्यता को भूमिसात् बिना किये नहीं रहता। इस युद्ध के अनन्तर जिस भयंकर उच्छृङ्खलता के फैलने का भय

है, मानवसमाज को लील जानेवाले जिस गाढ़ आध्यात्मिक अन्धकार के उत्पन्न होने की आशंका है उनका दूरीकरण भारतीय तत्त्वके प्रकाशमान किरणों से ही हो सकेगा, इतना कहनेमें हमें तनिक भी संकोच नहीं है।

भारतीय महर्षियोंने बाह्य भिन्नताके भीतर विद्यमान आन्तर अभिन्नता को भलीभांति पहचाना है। जितना धार्मिक झगड़ा है, समाजिक कलह है, वह केवल बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषमय फल है। यदि इनके भीतर विद्यमान समानता की ओर तनिक भी मनुष्यों का ध्यान जाय, तो न तो संसार में इतना वैमनस्य हो, न गृहकलह हो, न रक्तपात हो। परन्तु अनेकता के भीतर इसी एकत्व को खोज निकालना भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है। बाहरी कपड़ों की भिन्नता होने से क्या प्रियतम का अभिराम रूप छिपाया जा सकता है? प्रियतम के पहचानने के लिए क्या प्रेमी जन को बाहरी वेशभूषा की आवश्यकता होती है? कपड़े लत्ते बाहरी चीज हैं, स्नेह भीतरी वस्तु है। बरतनों के रूपरंग भले ही भिन्न भिन्न प्रकार के हों, परन्तु उनमें रखा गया जल एक ही रूप का होता है। दीपक भिन्न-भिन्न धातुओं का तथा भिन्न भिन्न आकारों का भले ही बना हो, परन्तु उसकी प्रभा एक ही रूप की होती है। गायों के अनेक वर्णों की होने पर भी उनका दूध एक वर्ण का ही रहता है[1], इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों तथा धर्मों के आचारों के भिन्न प्रतीत होने पर भी उनके भीतर एक अपरिवर्तनीय एकता की धारा बहती रहती है। इस रहस्य को भारत ने पहचाना है। इस तत्त्व का उपदेश भारतीय महर्षियों ने दिया है। तुमुल कलह तथा संग्राम से छिन्न भिन्न जगत् के लिए परस्पर बन्धुता, एक दूसरे के बाह्यरूप के भीतर आन्तरिक एकता के पहचानने, का सुन्दर उपदेश भारतीय तत्त्व-

---

१ गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा॥ ब्रह्मबिन्दु १९।

ज्ञान ही दे सकता है। ऋग्वेद ने स्पष्ट शब्दों में मानवों के विचार तथा हृदय के समान बनाये रखने का उपदेश दिया है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इसी सिद्धान्त का निरूपण बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति।
तत् तत्त्वमेव, भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः॥

भगवान् करे उस दिन का मंगल प्रभात शीघ्र हो जब मानव परस्पर कलह भुलाकर मानवता का मूल्य समझें और शान्ति का पाठ सीखकर अपने जीवन तथा दूसरों के जीवन को आनन्दमय बनावें:—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोति सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

परिशिष्ट

पाश्चात्य दर्शन का परिचय

सत्य का अन्वेषण तत्त्वज्ञानियों का मुख्य कार्य रहा है। भारत के तत्त्वज्ञानियों के समान पश्चिमी जगत् के दार्शनिकों ने भी सत्य की खोज बड़े प्रेम से और बड़े अध्यवसायसे की है। पृथ्वीतल पर प्राचीनकाल में दो ही देशों में तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा जाग्रत हुई और इन दोनों ने दर्शन के विषय में विशेष अनुसन्धान किया। वे देश हैं—भारतवर्ष तथा यूनान। यूनान या ग्रीस देश में ही तत्व ज्ञान का उदय पाश्चात्य जगत् में सर्व-प्रथम हुआ और इसीलिए ग्रीस देश पश्चिमी संसार में तत्त्वज्ञान के लिए गुरुस्थानीय माना जाता है। युरोप में तत्वज्ञान की 'फिलासफी' संज्ञा है। इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विद्या का अनुराग, विद्या-प्रेम (फिलास=प्रेम, सोफिया=विद्या)। भारतीय दर्शन के लक्ष्य से फिलासफी के लक्ष्य में पार्थक्य है जिसका संक्षिप्त वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में किया गया है।

युरोपीय दर्शनों के मत से ज्ञान के अन्वेषण का लक्ष्य स्वयं ज्ञान ही है। ज्ञान की तृप्ति ही पश्चिमी दर्शन का चरम अवसान है, यद्यपि आज कल के कतिपय पश्चिमी दार्शनिक (जैसे बर्गसाँ आदि) ज्ञानको क्रियाका साधनमात्र मानते हैं। पश्चिमी तत्वज्ञान के प्रमुख आचार्य प्लेटो के अनुसार दर्शन-शास्त्र का उदय आश्चर्य से है और इसी आश्चर्य की तृप्ति के लिए यूरोपीय दर्शन का समग्र प्रवाह चलता रहा है। परन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार ज्ञान साधनमात्र है, स्वतः साध्य नहीं है। हमारे तत्व ज्ञान का लक्ष्य सदैव क्रियात्मक रहा है। संसार में सन्तत विद्यमान दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति-अर्थात् मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण-पाना ही हमारा

लक्ष्य है और यह लक्ष्य ज्ञान के द्वारा ही प्राप्य है (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः)। अतः ज्ञानकी प्राप्ति में हमारा अध्यवसाय साधनकी खोज के लिए है, साध्य की खोज के लिए नहीं। सत्यकी खोज दोनों करते हैं, परन्तु उद्देश्य दोनों के भिन्न हैं। इस भिन्नता के विद्यमान रहने पर भी अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ दोनों मिल जाते हैं। अतः दोनों का तुलनात्मक अध्ययन ज्ञानप्रवाह की परीक्षा के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

यूरोपीय दर्शन मन और आत्मा के तादात्म्य पर चलते हैं; कहीं कहीं अतीत आत्माकी सत्ता मानी गई है, परन्तु यह अपवादारूप ही है। कतिपय दार्शनिक आत्माको प्रकृतिका विकार मानते हैं, उनके लिए तो यह सिद्धान्त उचित ही है। परन्तु जो लोग ऐसा नहीं मानते, वे भी आत्मा का मुख्य स्वरूप मन ही मानते हैं। परन्तु भारत में चार्वाक लोग ही आत्मा का शरीर, इन्द्रिय या मन से तादात्म्य मानते थे। उन्हें छोड़कर अन्य समस्त तत्त्ववेत्ता आत्मा की इनसे पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। यह भारतीय दर्शन की विशिष्टता है। यूरोपीय लोग हमारे मन्तव्य के विरुद्ध लिंग देह और स्थूल शरीर का न तो भेद मानते हैं और न आवागमन या जन्मान्तर के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इतनी भिन्नता होने पर भी पश्चिमी तत्त्वज्ञान के सिद्धान्त मानव मस्तिष्क के द्वारा उद्भावित अत्यन्त महत्त्वशाली, मूल्यवान् तथा प्रभविष्णु सिद्धान्त हैं। इन्हीं के ऐतिहासिक विकास की संक्षिप्त चर्चा की जावेगी।

प्राचीन युग

पाश्चात्य तत्वज्ञान का उदय यूनान (ग्रीस) के दार्शनिकों से होता है। यूनानी दार्शनिकों के शिरोमणि थे—सुकरात (साक्रेटीज़) Socrates, परन्तु उस देश में तत्त्वज्ञान का उदय उनसे भी प्राचीनतर है।

यूनान के जनप्रिय धर्म में भी दर्शन के सिद्धान्तों के बीज अन्तर्निहित दृष्टि-गोचर होते हैं। वहाँ की धार्मिक दन्तकथा (Mythology) में एक दार्शनिक देवता की सूचना मिलती है। इस देवता का नाम था —निमेसिस (Nimesis) अर्थात् व्यवस्था देवी। ये देवी थीं और इनका कार्य था जगत् के पदार्थों में तथा घटनाओं में व्यवस्था लाना। ग्रीसमें अव्यवस्था या गड़बड़ी उत्पन्न करनेवाले प्रभावशाली देवता का नाम था—पैन (Pan)। उनके पैर बकरे के थे तथा उनकी बुद्धिभी बकरे की बुद्धिके समान मानी जाती थी। इस अजपाद तथा अजबुद्धि देवता को हम 'अव्यवस्था' का देवता कह सकते हैं। इनके प्रभाव से जगत् को बचाना ही व्यवस्थादेवी का कार्य था। इस निमेसिस की कल्पना हमारे वैदिक 'ऋत' की कल्पना के समान है। इस प्रकार जगत् में सामञ्जस्य तथा व्यवस्था मानने की ओर ग्रीक लोगों की प्रवृत्ति प्राचीन कालसे ही थी। स्पष्टतः यह तत्त्वज्ञान का प्रधान बीज था।

कालक्रम से पश्चिमी दर्शनका उदय ग्रीसके पूर्वी उपनिवेश (आइओनिया Ionia यवन देश) में सर्वप्रथम हुआ। यहाँ के दार्शनिकों ने प्रथमतः सृष्टितत्त्व की मीमांसा की। जगत् अनेकाकार है, जगत् में विषमता का साम्राज्य है, परन्तु सदासे मानव बुद्धि यही मानती आती है कि इन नानाकार सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति किसी एकाकार पदार्थ से हुई। वह एक पदार्थ कौन है? इन आदिम दार्शनिकों में सर्वप्राचीन थेलीज (Thales ६४०-५५० ई. पूर्व) का कहना है कि वह मूल तत्त्व जल था। वह इस तत्त्वके निर्णय में कैसे समर्थ हुआ? यह कहा नहीं जा सकता। जल तीनों ठोस, द्रव तथा वायवीय रूपों को धारण कर सकता है अथवा वनस्पतियों की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसीलिए उसने जल को ही आदिम तत्त्व माना। इस मत की तुलना बृहदारण्यक उपनिषद् में निर्दिष्ट इस मतसे की जा सकती है—आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिः देवान्। ते देवाः सत्यमेवो-

पासते—बृहदा० ५।५।१। आदिमें जल था, जल ने सत्य पैदा किया, सत्य ने ब्रह्मको, ब्रह्मने प्रजापतिको तथा प्रजापति ने देवताओं को पैदा किया वे देवता सत्य की उपासना करते हैं। यहाँ ब्रह्म का अर्थ मूल पारमार्थिक रूपमें न लेना चाहिए। सृष्टि के आदिमें विद्यमान था जल और इस जलसे निकला 'सत्यं'—मल मूर्त पदार्थ। 'सत्य' के विषय में यह भी कहा है कि 'सत्यं'में तीन अक्षर हैं—स, ती, यम् जिनमें आदि-अन्त वाले अक्षर हैं नित्य और मध्यवाला अनृत, असत्य। अर्थात् अनृत आदि अन्त में सत्य के द्वारा आच्छन्न रहता है। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने प्रथमतः जल उत्पन्न किया, इस मतसे सर्वथा भिन्न है क्योंकि इसमें ईश्वर के द्वारा सृष्टि रचना का विधान है परन्तु बृहदारण्यक के अनुसार जल से ही समग्र सृष्टि उत्पन्न हुई है।[1]

एनेक्सिमेनीज Anaximenes (५९०-५२५ ई० पू०) के अनुसार वह मूल तत्त्व वायु था।[2] इन्हीं के गुरु एनैक्सिमैण्डर Anaximander

---

१ मनु का यह मत इससे भिन्न है जिसके अनुसार सृष्टि के आदि में प्रथमतः ब्रह्माने जल पैदा किया और उसीमें बीज रक्खा जिससे समग्र जगत् की उत्पत्ति हुई। 'अत एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'—मनुस्मृति (१।८)। मनु के अनुसार (१।१०) जलमें निवास के ही कारण ईश्वर 'नारायण' शब्द से अभिहित होता है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

२ तुलना कीजिए छान्दोग्य (४।३।१-२) में निर्दिष्ट रैक्व के मत से। जानश्रुति के आग्रह पर निरपेक्ष तथा अनिकेतन, गाड़ी के नीचे रहनेवाले, रैक्व ने अपना मत प्रकट किया कि वायु के भीतर ही सब वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रैक्व वायु को ही सृष्टि का मूल तत्त्व मानते थे। जब वायु सब पदार्थों का

(६१०–५४५ ई० पू०) के अनुसार वह मूल तत्त्व व्याकृत तथा सीमित वस्तुओं का उत्पादक है, परन्तु वह स्वतः अव्याकृत तथा असीमित है। सबसे पहिले एक अपरिच्छिन्न परिमाण का द्रव्य था। इसी से संसार के जल, अग्नि, वायु आदि सीमित पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं। उसका विचार था कि इस द्रव्य को परिमाण से बाहर होना चाहिए, क्योंकि ऐसा न होनेपर सृष्टि होते होते यह द्रव्य समाप्त हो जायगा। यह अपरिच्छिन्न वस्तु स्वयं कार्य नहीं है, अनश्वर है तथा इसकी गति भी शाश्वत है। जल एक विशेष पदार्थ है। अतः वह मूल तत्त्व नहीं हो सकता। सृष्टि-तत्त्व के विवेचक इन विद्वानों की दृष्टि में जगत् जड़ प्रकृति से उत्पन्न नहीं है, प्रत्युत इसकी उत्पत्ति चेतन पदार्थ से होती है। इनके विचार से जड़ तथा चेतन पृथक् नहीं थे। इसीलिए ये विद्वान् जड़वादी (Materialist) नहीं कहलाते, प्रत्युत भूतवादी (Hyzoloist) कहलाते हैं।

पाइथोगोरस (Pythogoras, ५७०-५०० ई० पू०)—ग्रीस के एक महनीय तत्त्ववेत्ता थे। सृष्टि के विषय में इनके सिद्धान्त पूर्व सिद्धान्तों की अपेक्षा सूक्ष्मतर हैं। इनका आग्रह इस विषय पर था कि पदार्थ का मूल तत्त्व प्रकृति नहीं है, प्रत्युत उनका 'आकार' है। संगीत के अध्ययन से इन्होंने 'समानुपात' के तथ्य को आविष्कृत किया अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों में 'समानुपात' का तथ्य जागरूक दृष्टिगोचर होता है उदाहरण के लिए शरीर के स्वास्थ्य पर दृष्टिपात कीजिए। शरीर के मौलिक गुणों (उष्णता, शीतता, शुष्कता तथा आर्द्रता) के समानुपात पर ही शरीर का स्वास्थ्य अवलम्बित रहता है। अन्य सम्बन्ध रहने पर

संवर्ग (लय स्थान) है, तब वह नियमतः उनका उत्पत्ति स्थान भी अवश्य होगा:—वायुर्वाव संवर्गो। यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमप्येति... वायुर्हि एवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते। छा० ४।३।१-२

शरीर रोगों से आक्रान्त हो जाता है। अतः 'आकार' ही पर वस्तुतथ्य आश्रित रहता है। इनकी मान्य कल्पना है—'सब पदार्थ अंक हैं'। ग्रीकभाषा में अंकों के लिए बिन्दुओं का प्रयोग किया जाता था। बिन्दु से बनती है रेखा और रेखाओं से बनती है ठोस चीज़। अतः अंक को वे सब पदार्थों की मौलिक इकाई मानते हैं। अंकगणित तथा संगीत शास्त्र के बड़े पारगामी विद्वान् थे। अपने आश्रम के दरवाजे पर इन्होंने एक वाक्य लिख रखा था जिसका संस्कृत में रूप होगा—'अंकगणितान-भिज्ञानां प्रवेशो निषिद्धः'। इनका अपना एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय था जिसका सात्विक आचरण तथा विचार भारतीयों से विशेष मिलता था। विद्वानों ने पाइथेगोरस के विचारों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्वीकार किया है। ये भारत तो स्वयं नहीं आये थे, परन्तु इन्होंने मिश्र तथा फारस की यात्रायें की थीं और यहीं इनका भारतीय सिद्धान्तों से परिचय संभावित है।

इटली के दक्षिण भाग में 'एलिया' नामक नगर इनके मतानुयायी दार्शनिकों का केन्द्र था। इन दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ थे—ज़ेनोफेनीज़ Zenophanes (५७०-४८० ई० पू०)। अरस्तू के कथनानुसार ये ही पाश्चात्य जगत् के आद्य अद्वैतवादी तथा सर्वेश्वरवादी स्वीकृत किये जाते हैं। इनका सिद्धान्त वाक्य संस्कृत में इस प्रकार रखा जा सकता है—'विश्वमेकम् एकं च तद् ब्रह्म'। अर्थात् समग्र जगत् एक है और वह एक ईश्वर या ब्रह्म है। इस वाक्य का प्रथम अंश अद्वैतवादका द्योतक है और द्वितीय अंश सर्वेश्वर-वाद का प्रतिपादक है। इनके अद्वैत तत्त्व को एलियावासी अन्य दार्शनिकों ने युक्तियों से खूब पुष्ट किया, विशेषतः परमीनीडीज़ Parmenides (५४०-४८० ई० पू०) तथा ज़ेनो Zeno (४९०-४२० ई० पू०) ने। परमीनीडीज़ की दृष्टि में सद्रूप जगत् असत् से कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता। जगत् स्वयं एक, सत्, अजात, अनुत्पन्न पदार्थ है। उसमें दृश्यमान परिवर्तन (यथा क्रिया

आदि) काल्पनिक हैं। इस सिद्धान्त को ज़ेनो ने अपने तर्क तथा युक्तियों से खूब ही प्रमाणित किया। ये लोग जगत् में अनेकवाद की सत्ता होनेपर सांसारिक कार्यों की व्यवस्था की व्याख्या असम्भव बतलाते हैं। इनका महत्त्व इन्द्रियजन्य ज्ञानको काल्पनिक मानने तथा विचार thought को सत्य ज्ञानका साधन मानने में है।

एलियावासी दार्शनिक अद्वैत के समर्थक थे। उनके विपरीत दार्शनिकों का एक दूसरा सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। ये लोग अनेकवाद Pluralism के समर्थक थे। इनके अनुसार जगत् में विद्यमान परिवर्तन वास्तव है। इस पक्ष के आद्य विद्वान् थे हिरेक्लिटस Heraclitus (५४०-४७५ ई० पू०)। ये 'अग्नि' को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और उसे परिणाम का प्रतीक[1] समझते थे। यद्यपि ये मूल वस्तु की नित्यता में विश्वास करते थे, तथापि जगत के पदार्थों की बहुता तथा उनके सन्तत परिवर्तनको ये मान्य समझते थे। तथागत बुद्ध ने जिस परिवर्तन तत्त्व—परिणामवाद-की भारत में व्याख्या की, उसीका प्रतिपादन हिरेक्लिटस ने यूरोप में सर्वप्रथम किया। इनके उपदेशों में सर्वतोभावेन मान्य सिद्धान्त है प्राकृतिक घटनाओं में व्यवस्था पर आग्रह।

---

१ तुलना कीजिए कठोपनिषद् के इस कथन से—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (कठ २।५)। संसार में प्रवेश होकर अग्नि भिन्न भिन्न रूपों के साथ तदाकार हो गया। छान्दोग्य का कहना है कि सत् पदार्थ—ब्रह्म से अग्नि प्रथम उत्पन्न हुआ और इस अग्नि से जल और जल से अन्न उत्पन्न हुआ। एवमेव खलु सोम्य अन्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ; तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ (छा० ६।८।४) अन्तर इतना है कि अग्नि जगत् का मूल न होकर प्रथम परिणाम है। हिरेक्लिटस परिवर्तनवादी हैं, परन्तु छान्दोग्य में परिवर्तन या परिणाम पर आग्रह नहीं दीखता।

विश्व में विद्यमान क्रमबद्धता सूचित करती है कि इसके मूलपदार्थ में अथवा उसके साथ ही साथ 'सार्वभौम बुद्धि' अवश्य विद्यमान है। अनेकवाद के सिद्धान्त को एनेक्सेगोरस (Anaxagoras ५००-४२८ ई० पू०) तथा इम्पेडाक्लीज Empedocles (४८३-४३० ई० पू०) ने अग्रसर किया और इसका चरम उत्कर्ष डीमाक्रीटस Democritus (४६०-३७० ई० पू०) ने अपने परमाणुवाद के द्वारा प्रदर्शित किया। एनेक्सेगोरस की दृष्टि में जगत् का मौलिक तत्त्व एक प्रकार का नहीं है, प्रत्युत वस्तुओं के अनेक प्रकार के 'बीजों' से जगत् की सृष्टि होती है। इम्पेडाक्लीज ने एनेक्सेगोरस के अनेक 'बीजों' के स्थानपर चार प्रकार के मूल तत्त्व (अर्थात् अग्नि, वायु, जल तथा पृथ्वी—इन चार भूत) को स्वीकार किया। उन्होंने उत्पत्ति तथा प्रलय के संकर्षण तथा विकर्षण के तत्त्व माने। ये दोनों तथ्य रागद्वेष जैसे मनोभाव की सत्तापर आश्रित हैं। संकर्षण से होती है सृष्टि और विकर्षण से होता है प्रलय। डिमाक्रिटस को दार्शनिक जगत् से अधिक सम्मान तथा आदर वैज्ञानिक जगत् प्रदान करता है। वे 'भौतिकशास्त्र के जनक' माने जाते हैं क्योंकि उनके द्वारा उद्भावित परमाणुवाद की स्वीकृति से भौतिकशास्त्र को विशेष उन्नति हुई है। विश्व की सृष्टि के मूल साधन 'परमाणु' हैं। ये आकार तथा स्थान में परस्पर भिन्न हैं। परमाणु विश्व की 'वर्णमाला' स्वीकार किया जाता हैं। अंग्रेजी वर्णमाला में A और M में आकार तथा रूप में पार्थक्य है, M और W में स्थान में पार्थक्य है, on और no में क्रम-विन्यास में अन्तर है। उसी प्रकार परिमाणुओं में आकार, रूप, तथा स्थान में भिन्नता विद्यमान रहती है। परमाणु जड नहीं है, प्रत्युत चेतन होते हैं। वे स्वतः क्रियाशील होते हैं और समग्र दिशाओं में स्वयं प्रचलित होकर दूसरे परमाणुपुञ्ज से संश्लिष्ट होकर जगत् की सृष्टि करते हैं। अवस्था-विशेष में पदार्थ अन्य पदार्थ के साथ संघर्ष में आता है जिससे उसके परमाणु चूर्णित होकर फिर पृथक् पृथक् हो जाते हैं। यही है परमाणु

सिद्धान्त जो जगत् की यन्त्रात्मक Machanical व्याख्या रहता है अर्थात् जगत् गति तथा जड़ प्रकृति के रूप में ही लक्षित किया जाता है। डिमाक्रिटस के मत में पदार्थों के अवान्तर गुण-रूप, शब्द, गन्ध और रस व्यवहारतः सत्य हैं। यदि परमार्थतः कोई वस्तु सत्य है, तो वह परमाणु ही है। 'परमाणु' के सिद्धान्त में वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा प्रयोग करने से अनेक परिवर्तन कालान्तर में होते रहे हैं,[1] परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि डिमाक्रिटस के सिद्धान्त ने प्राचीन युग मे वैज्ञानिकों के लिए एक दृढ़ आधार प्रस्तुत किया और भौतिक विज्ञान के अभ्युदय का सूत्रपात किया।

इसी समय राजनैतिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना घटी। यह घटना की यूनानियों के द्वारा पारसीकों का पराजय। इस राजनैतिक उथल पुथल के कारण लोगों के हृदय में भी एक मानसिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उस समय के प्रचलित विश्वासों तथा वर्तमान अवस्थाओं से असंतोष का भाव जाग्रत हो गया और ज्ञान के विषय में लोगों की जिज्ञासा जाग पड़ी। वृत्तिग्राही शिक्षकों ने जनता की इस माँग की पूर्ति की। इनका नाम था—सोफिस्ट Sophist अथवा सुधीजन। ये द्रव्य लेकर अपनी विद्या का वितरण करते थे। इन्होंने जनता के लिये आवश्यक साधारण शिक्षा का प्रचार किया तथा उस समय के धार्मिक विश्वासों की खूब छानबीन की। फलतः मानव जीवन की महनीय समस्याओं की समीक्षा करने के लिए इन्होंने अन्य विचारकों का भी

---

१ भारतीय परमाणुवाद से इस सिद्धान्त की तुलना के लिए देखिए पृष्ठ ३०० ३०१। दोनों में प्रधान भेद यह है कि पश्चिम में परमाणु गति-सम्पन्न माना जाता था, वह स्वयं गतिशील होकर जगत् के पदार्थों का निर्माण करता है, परन्तु वैशेषिकों के अनुसार परमाणु जड़ होते हैं और ईश्वर की इच्छा से उनमें गति उत्पन्न होती है।

ध्यान आकृष्ट किया। इनके उपदेशों का दार्शनिक मूल्य आँका जा सकता है। इन लोगों ने वस्तु के परम्परागत सत्य तथा वास्तव सत्य की भिन्नता प्रदर्शित की। इनमें सर्वश्रेष्ठ विद्वान् प्रोटेगोरस Protagoras की यह उक्ति दार्शनिक महत्त्व के कारण नितान्त माननीय है—"मनुष्य ही पदार्थों का माप है"। आरम्भ में ये सुधीजन सचमुच विद्या के विशेष प्रचारक थे, परन्तु जब ये अपने पाण्डित्य का दुरुपयोग करने लगे और अपने उपदेशों से सच्चे तत्त्वज्ञान से लोगों को दूर ले जाने लगे तब इसका नाम 'वितण्डावाद' का प्रतीक माने जाने लगा। इन्हीं के युग में ग्रीस के दर्शन का सुवर्णयुग था जिसमें सुकरात, (साक्रीटीज़ Scorates) अफलातून (प्लेटो Plato) तथा अरस्तू (एरिस्टाटल Aristotle) ने पाश्चात्य दर्शन को अपने मौलिक समीक्षणों से सुप्रतिष्ठित तथा उन्नत बनाया।

सुकरात

सुकरात (४६६-३९९ ई० पू०) पाश्चात्य तत्त्वज्ञान के इतिहास में एक महत्त्वशाली विद्वान हो गये हैं। इन्होंने पूर्वोल्लिखित वितण्डा-वादियों के कुतर्कों का खण्डन कर दर्शन शास्त्र की नींव पुनः डाली। इनके समकालीन लोग इन्हें सोफिस्टों में मानते थे, परन्तु अपने आचार-विचार से ये उनसे नितान्त पृथक् थे। ये विद्या-दान के लिए कोई भी वेतन नहीं लेते थे, तथा अपना उपदेश विशिष्ट व्यक्तियों को न देकर सामान्य जनता, विशेषतः नवयुवकों, को दिया करते थे। सोफिस्ट लोग अपने को विद्वान् (सोफिस्ट) कहते थे, परन्तु सुकरात अपने को केवल 'विद्यानुरागी' (फिलासोफर) कहते थे। सोफिस्ट लोग व्यावहारिक सत्यकी ओर विशेष झुके थे। इसके विपरीत सुकरात का मत था कि पदार्थ के वास्तविक सत्यका ज्ञान सम्भव है और इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो पद्धति आविष्कृत की वह

निगमन पद्धति Inductive method के नामसे विख्यात है। इस पद्धति में विभिन्न विशिष्ट वस्तुओं की परीक्षा कर सामान्यभूत नियम का पता लगाया जाता है और किसी भी नियम की सत्यता तब तक नहीं मानी जाती, जब तक वह वास्तविक द्रव्यों की समीक्षा से प्रमाणित नहीं होता। उनकी दृष्टिमें ज्ञान ही सर्वोपरि वस्तु है। उनकी निष्ठा ज्ञान पर इतनी अधिक थी कि उन्होंने धर्म को भी ज्ञान से अभिन्न ही माना है अर्थात् धर्म क्या है ? न्यायभूत पदार्थ का ज्ञान। सुकरात की सम्मति में धर्म और ज्ञानमें वस्तुतः अभिन्नता रहती है। अज्ञानी व्यक्ति धर्म नहीं कर सकता और ज्ञानी अधर्म नहीं कर सकता। इस प्रकार सुकरात ने ज्ञान और आचार दोनों तत्वों पर जोर दिया है। सुकरात केवल मौखिक उपदेश दिया करता था। उसका कोई भी लिखित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। उसके पट्ट शिष्य प्लेटो के ग्रन्थों से उसके गुरुके मन्तव्यों का परिचय हमें मिलता है। ग्रीसके विद्वानों ने लिखित ग्रन्थ के अभाव में सुकरात के आचरण पर ही अपने सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। सुकरात सदा प्रसन्न-चित्त प्रफुल्ल-वदन रहता था और बड़ी सादगी से अपना जीवन व्यतीत करता था। आचरण के इन अंशों पर आग्रह करने से ग्रीसमें दो दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। एरिस्टिपस Aristippus और उसके सम्प्रदाय (सीरेनिक Cyranaic) वालों ने सुकरात की प्रसन्न-चित्तता के आधार पर यह सिद्धान्त निकाला कि आनन्द ही जीवन का परम ध्येय है। इस मतका नाम है सुखवाद (हेडोनिज़म Hedonism.) ऐण्टिस्थेनीज Antithenes तथा उसके सम्प्रदाय (सीनिक) के लोगों ने सादा जीवन को ही परम ध्येय माना और सुकरात के सादा जीवन को अपने सिद्धान्त का व्यावहारिक आधार माना। परन्तु सुकरात का दार्शनिक जगत् में महनीय कार्य है—ज्ञान की प्राप्ति के लिए निगमन पद्धतिका प्रयोग तथा उससे साध्य सत्य ज्ञान की उपलब्धि की सम्भावना।

प्लेटो (४२७ ई० पूर्व-३४७ ई० पूर्व)

सुकरात के शिष्यों मे प्लेटो ही सर्वश्रेष्ठ था। पश्चिमी तत्त्वज्ञानियों में यह अपनी भौतिक कल्पना, उदात्त विचार, लोकोत्तर ज्ञान के लिये सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसके ग्रन्थ दर्शन तथा साहित्य दोनों दृष्टियों में अत्यन्त उपादेय तथा अलौकिक प्रतिभा-जन्य हैं। उसके ग्रन्थ कथनोपकथन शैली में निबद्ध हैं और इस शैली में निबद्ध ग्रन्थों के आदर्शभूत माने जाते हैं। प्लेटो के तत्त्वज्ञानके विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। इन्हें दो प्रकार की सत्तायें मान्य हैं। एक है व्यावहारिक सत्ता और दूसरी है वास्तविक सत्ता। जो जगत् हमारे ज्ञानका विषय है वह परिवर्तनशील है। एकाकार रूपसे नहीं रहता। वास्तविक सत्ताका जगत् एकाकार है और कभी परिवर्तनशील नहीं होता। इन्होंने पूर्वगामी दो यूनानी दार्शनिकों के मतको अपना कर अपना सिद्धान्त स्थिर किया। प्रोटेगोरसने इन्द्रियग्राह्य जगत् की सत्ता मानी थी। परन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा सच्चे ज्ञानको असंभव बतलाया था। प्लेटोने इसे माना परन्तु साथ ही यह भी माना कि इस प्रत्यक्षगम्य जगत् की व्यावहारिक सत्ता है। सुकरात ने लोगों को रायको किसी विषय में इकट्ठा कर तथा इन्द्रियजन्य ज्ञानको एकत्र कर अपनी निगमन पद्धति के द्वारा उनके सामान्य रूपको ग्रहण किया। यह ही है उनका बोध (Concept) और यही सत्य है। प्लेटो ने गुरुके इस सिद्धान्त को अपनाया और इसे वे प्रत्यय (Idea) के नाम से पुकारते हैं। प्लेटो का यह प्रत्यय अनुभवजन्य ज्ञानका सामान्य रूप नहीं है और न यह भौतिक पदार्थ की समष्टि है। यह सर्वथा अभौतिक है। जिस प्रकार बाह्य जगत् अनुभव का विषय है, उसी प्रकार प्रत्यय प्रज्ञाके द्वारा गम्य है। अनुभवजन्य ज्ञान, जो हमें इस व्यावहारिक जगत् में हुआ करता है, इस प्रत्यय का ही अनुकरण है। भौतिक द्रव्य स्वयं सत्य नहीं है। वह इसी सत्यभूत विचार

लोक का एक क्षीण आभास है। यह विचार—लोक ही वस्तुतः सत्य है। यह पहला अवसर है कि प्लेटोने पश्चिमी दर्शन में सत्ताकी अभौतिक कल्पना उद्भावित की। इस प्रकार इनकी सम्मति में वास्तविक सत्ता प्रत्यय (Idea) को ही है।

जगत् परिणामशील है। अतः इसका ज्ञान सम्भावना-कोटि ही में आ सकता है। यह ज्ञान कभी सच्चा नहीं हो सकता। इसीलिये प्लेटो को जगत् के ज्ञान के प्रति एक प्रकार का अनादर-भाव है। उनकी कल्पना है कि सृष्टि के मूल में स्रष्टा ईश्वर वर्तमान है और यही ईश्वर प्रत्यय (Idea) के अनुसार आकाश में असत् से सत्की सृष्टि किया करता है। प्लेटो की कल्पना में जगत् एक महान् जीवित वस्तु है जिसका शरीर तो दृश्य है परन्तु आत्मा अदृश्य है। विचार (Idea) स्वतः पूर्ण है। परन्तु उनके द्वारा उत्पन्न जगत् अपूर्ण है। इसका क्या कारण है? प्लेटो का उत्तर है कि इस जगत् का आच्छादक ऐसा आकाश है जो 'प्रत्यय' को पूर्णरूप से जगत् में आने नहीं देता। इसीलिये संसार अपूर्ण है। जीव के विषय में प्लेटो की विचित्र कल्पना है। मनुष्य की आत्मा उभय जगत के साथ सम्बन्ध रखती है। परिणामी जगत के साथ वह इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा इच्छा के द्वारा सम्बन्ध रखती है, और वास्तव जगत के साथ वह प्रज्ञाके द्वारा सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार प्लेटो आत्मा में तीन विभाग की कल्पना करते हैं—(१) प्रज्ञा, (२) इच्छा, (३) विषय-वासना। इन तीनों का समुच्चय ही आत्मा के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा अमर है और वह प्राणि-शरीर में आता जाता है। इस आवा-गमन के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

नैतिक जीवन से मानव जीवन पूर्ण होता है। प्रेय में लिप्त होना मानव जीवन का उद्देश्य नहीं। श्रेय की प्राप्ति ही अन्तिम उद्देश है। श्रेयः की प्राप्ति होते २ मनुष्य पूर्ण हो जाता है। प्लेटो ने ज्ञान, शौर्य, आत्म-संयम तथा न्याय-परायणता को चार मौलिक सद्गुण माना है।

उनके राजनीतिक विचार भी बड़े सुन्दर हैं। मनु के अनुसार वे भी चातुर्वर्ण्य की कल्पना मानते हैं। इस प्रकार प्लेटो ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों के महत्त्वों का समीकरण बड़ी सुन्दरता से किया है।

अरस्तू (Aristole) ३८४–३२२ ई० पूर्व

संसार के प्रभावशाली विचारकों में अरस्तू का स्थान विशेष रूप से गणनीय है। इन्होंने जो कुछ लिखा उसका प्रभाव पश्चिमी जगत् के इतिहास में आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान ही है। उस समय तक ज्ञात समग्र सामग्री को एक साथ ग्रन्थ में एकत्र कर देने के कारण उनके ग्रन्थ विश्वकोष के समान हैं और अरस्तू की स्वयं मौलिक विचार-राशि विस्तार तथा प्रभाव में विशेषतः स्पृहणीय है। अपने गुरु प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू अधिक अनुभववादी तथा यथार्थवादी थे। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय-ज्ञात संसार के प्रति इनकी समधिक श्रद्धा थी परन्तु फिर भी जगत् की सत्ता मानकर भी ये अन्य प्रकार की भी सत्ता मानने से पराङ्मुख नहीं थे। ज्ञान के लिए Cancept या Idea के महत्त्व को ये स्वीकार करते थे। परन्तु यथार्थवादी होने के कारण ये भौतिक जगत् से भिन्न तथा स्वतंत्र विचार-लोक को मानने के लिये उद्यत नहीं थे। उनका सतत उद्योग यह दिखलाने को था कि सत्ता के तथा ज्ञान के जगत् को संयुक्तरूप से व्यक्त करने वाले जाति तथा व्यक्ति में परस्पर सामञ्जस्य तथा अविरोध है। उन्होंने द्रव्य तथा आकार की कल्पना से समग्र जगत् की व्याख्या करने का श्लाघनीय उद्योग किया है। आइओनिया के प्राचीन विचारकों में केवल द्रव्य पर जोर दिया था। उधर पाइथेगोरस तथा प्लेटो ने आकार को महत्त्व दिया है परन्तु अरस्तू की मान्यता है कि वे परस्पर-सम्बद्ध हैं। आकार द्रव्य में अन्तर्हित है जैसे जाति व्यक्ति के भीतर विद्यमान रहती है। वे दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इस प्रकार इन्होंने प्राचीन ग्रीक

विचारों में अविरोध दिखलाने का प्रयत्न किया है। अरस्तू की दृष्टि में जगत् के समस्त पदार्थ इन्हीं दो वस्तुओं—आकार तथा द्रव्य—से बने हुए हैं। इनमें भी आकार प्रधान है, द्रव्य सहकारी है। द्रव्य वस्तु का अपूर्ण रूप है। आकार पर पहुँचने के लिये द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। आकार तथा द्रव्य का परस्पर भेद भिन्न २ रूप से हुआ करता है। मूर्ति में संगमरमर तो द्रव्य है और मूर्ति बनाने वाले के द्वारा किया गया रूप उसका आकार है। मनुष्य का शरीर द्रव्य है तथा पाचन, चिन्तन आदि प्रवृत्तियों का संघात आकार है। अरस्तू की दृष्टिमें एक ऐसी वस्तु विद्यमान है जिसे हम प्रकृतिकी सोपान परम्परा कह सकते हैं अर्थात् किसी भी आकारहीन द्रव्य से आरम्भ कर यदि हम सोपान क्रम से बढ़ते जायँ तो हमें इस जगत् के मूल में एक ऐसे पूर्ण व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जो कथमपि द्रव्य न होकर केवल आकार ही आकार है। यही है ईश्वर। अरस्तू के दृष्टिमें ईश्वर स्रष्टा नहीं है क्योंकि द्रव्य और आकार दोनों ही नित्य हैं। तथापि ईश्वर ही समस्त इच्छाओं तथा कामनाओं का केन्द्र है। वह इस जगत् का अचलित संस्कारक है और उसके प्रति प्रेम ही वह साधन है जिसके कारण यह जगत् घूमता रहता है।

इसी सिद्धान्त से सम्बद्ध है अरस्तू की हेतुचतुष्टय की कल्पना। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु अपने निर्माण के लिये चार कारणों की अपेक्षा रखती है (१)। उपादान कारण, (जैसे घड़े के लिये मिट्टी), (२) असमवायी कारण—(जैसे घड़ेका आकार) (३) निमित्त कारण—(वह साधन जिसके द्वारा द्रव्य वह आकार ग्रहण करता है) जैसे कुम्भकार का दण्ड तथा चक्र आदि। (४) लक्ष्य—जिस उद्देश से किसी वस्तु का निर्माण होता है जैसे घड़े के लिये पानी का भरना।

अरस्तू का कहना है कि एक ही स्थान पर चारों कारण[1] उपस्थित नहीं होते। उपादान तथा निमित्त कारण के आधार पर वस्तु की व्याख्या की जाती है। और इन्हीं कारणों की व्याख्या करने से भौतिक विज्ञानों की उन्नति हुई है। चतुर्थ कारण की व्याख्या करने में मध्ययुगी ईसाई दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है।

अरस्तू दार्शनिक होने के अतिरिक्त एक महनीय वैज्ञानिक था। उसने विज्ञान के विविध अंगों पर कुछ लिखा है। परन्तु जीव-विज्ञान (Biology) में उसका अन्वेषण नितांत वैज्ञानिक तथा उपादेय रहा है। मनोविज्ञान के भी अनेक सिद्धान्त आविष्कृत किये थे। मनुष्य की वास्तविक शक्ति ज्ञान तथा विवेक के कारण है। विज्ञान आत्मा का रूप है। ज्ञान से पृथक् आत्मा का कोई रूप नहीं है। ज्ञान को दो प्रकार का मानता है:—(१) अनुभवाधीन ज्ञान (२) अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान। इनमें पहले की अपेक्षा दूसरा शुद्धतर है। मनुष्य का आचार के साथ विशेष सम्बन्ध अरस्तू मानता है। मनुष्य में अनुभव और विवेक होने के कारण मनुष्य का ध्यान आचार पर जाता है। आचार धर्म है और अधर्म दुराचार है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू—ये तीनों यूनान के बड़े भारी दार्शनिक थे। पश्चिमी जगत् में दर्शन तथा विज्ञान की नाना धाराओं का मूल इनके ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

---

१ इन चारों के अंग्रेजी नाम ये हैं—(I) Material Cause, (II) Formal Cause, (III) Effecient Cause, (IV) Final Cause, नैयायिकों की कारणकल्पना से इनसे अनेक अंशमें साम्य है।

यूनान-रोमन युग

अरस्तू के अनन्तर पश्चिमी जगत् में दर्शन तथा विज्ञान के ऊपर विचार करने वाले तत्त्वज्ञानियों की एक विशिष्ट परम्परा जाग्रित होती है। रोमने ग्रीसको जीत लिया, ग्रीस की स्वतन्त्रता जाती रही परन्तु इस युग में उसकी सभ्यता का विस्तार हुआ। रोमने ग्रीस को राजनैतिक क्षेत्र में अवश्य ही परास्त किया परन्तु संस्कृति के क्षेत्र में वह ग्रीस के हाथों परास्त हो गया। इस युग में यूनानी तथा रोमन सभ्यताओं का सम्मिश्रण चरम उत्कर्ष पर था। यह युग आठ सौ वर्षों तक रहा (३२२ ई. पूर्व—४७६ ई.)। इस काल की विशेषता थी मानव बुद्धि का तिरस्कार और संशय का उदय। अरस्तू के पीछे का दर्शन मुख्यतः नैतिक या धार्मिक है। स्टोइक, एपिक्यूरियन तथा संशयवादी—ये समस्त मत जीवन की नैतिक समस्याओं के सुलझाने में व्यस्त थे। आचार ही इनका मुख्य विषय था। व्यावहारिक जीवन को सुखमय बनाना ही इनका ध्येय था। मन की शान्ति, बाहरी बन्धनों से आत्म-मुक्ति, के ऊपर ये समग्र सम्प्रदाय आग्रह रखते थे। सुखवादियों ने परिणामवाद के सिद्धान्त को ग्रहण किया, स्टोइक लोगों ने सर्वेश्वरवाद तथा विश्ववाद का आश्रय लिया। संशयवादियों ने मानव बुद्धि के द्वारा सत्य की खोज करने में संशय प्रकट किया। स्टोइक लोग अपने आचार के लिये विशेष विख्यात हुए। उनकी कल्पना में यह विश्व एक जीवधारी वस्तु है जिसका शरीर भी है आत्मा भी है। यह एक और समग्र है। समस्त वस्तु इसी के ही अंग हैं। प्रकृति सार्वभौम बुद्धि से समन्वित है और उसका अनुकरण मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। इसीलिये उनका आदर्श है प्रकृति के अनुसार जीवन बिताना। वे संसार में 'भ्रातृ भाव' के उपासक हैं। उनका कहना है कि सब मनुष्य भाई भाई हैं और ईश्वर ही उनका पिता है। इसी समय में ग्रीसके मुख्य शहर सिकन्दरिया में पश्चिमी दर्शन के ऊपर पूर्वी धर्म का प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव के बल पर एक नवीन सम्प्रदाय की उत्पत्ति

हुई जिसका नाम है नियोप्लेटानिज़म (Neo-Platonism)। इस मत में दर्शन तथा धर्म का अभूतपूर्व सम्मिश्रण था। इस मत के अनुयायी प्लाटिनस (२०४-७० ई.) का नाम विशेष विख्यात है। सिकन्दरिय दर्शन तथा विज्ञान का केन्द्र रहा। उसने गणित, ज्योतिष, रसायनशास्त्र आदि नाना विज्ञानों के अन्वेषण में पश्चिमी जगत् में प्राचीन काल मे अग्रसर रहा। ईस्वी सन् के आरम्भिक पाँच शताब्दियों में यह धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में नेता था। इसाई मत के प्रचार से इसे गहरा धक्का लगा। इसाई मत धर्म और दर्शन दोनों का विरोधी था। फलतः ५२६ ई. में रोमके राजा जस्टिनीयन ने सिकन्दरिया के विद्यालय को सदा के लिये बन्द करा दिया। इस प्रकार पश्चिमी दर्शन के इतिहास में बड़े ही प्रौढ़, उन्नत, तथा उपादेय युगका अवसान हुआ और अब जगत् के सामने दो ही वस्तु रह गई अज्ञान का गाढ़ अन्धकार और इसाई धर्म की विशिष्ट प्रभुता।

(२)

मध्य युग

मध्य युगमें अरबी तथा यहूदी और इसाई तत्त्वज्ञानियों का नाम विशेष रूपसे आता है। मुसलमानी विचारकों में प्रधान थे अलकिन्दी (नवम शतक), अलफराबी (६५० ई.), अबीसीना (६८०-१०३७ ई.) तथा अबेरोज (११२६-११८६ ई.)। प्रथम तीन तो बगदाद में रहते थे और अन्तिम स्पेन के कारडोवा नगर में। इन लोगों ने अरस्तू के कतिपय सिद्धान्त तथा प्लेटो के कतिपय तथ्यों को ग्रहण कर अपना मत स्थापित किया। इसाई विचारकों में स्काटसएरिजेना, एन्सेल्म, टामस ऐक्वाइनस, तथा डंस स्कॉटूस मुख्य थे। इनमें अन्तिम दो दार्शनिक विशेष प्रख्यात हैं। इनका मुख्य उद्देश था दर्शन के साथ इसाई मज़हब के सिद्धान्तों का सामञ्जस्य दिखलाना और इसी प्रसंग में इन्होंने अनेक सिद्धान्त निकाले जिनका व्यावहारिक मूल्य आजकल बिलकुल ही कम है।

(३)
अर्वाचीन काल

योरप के इतिहास मे सोलहवी शताब्दी का मध्य भाग जागृति या पुनरुत्थान का युग माना जाता है। इस समय मुसलमान तुर्कों ने इसाई यूनान पर विजय पाई। यूनान के विद्वान् स्वदेश को छोड़कर इटली तथा अन्य देशों में फैल गये। उनके सम्पर्क में आने से अन्य देशों में यूनानी तत्त्वज्ञानका परिचय तथा प्रचार हुआ। मध्य-युग समाप्त हुआ और नवीन युग का मंगल प्रभात हुआ। इसी जागृति की अवस्था में नवीन विज्ञान तथा दर्शनों का उदय हुआ। इटली में ब्रूनो, इंग्लैण्ड में फ्रान्सिस बेकन, और फ्रान्स मे डेकार्ट आदिने नवीन विचारों को जन्म दिया और इन्हीं विचारकों के ग्रन्थों के अनुशीलन से पश्चिमी जगत् में वर्तमान् दार्शनिक युग का आरम्भ होता है।

(क) सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिक

डेकार्ट

डेकार्ट (Descartes) १५९६-१६५० ई०—पाश्चात्य दर्शनके अर्वाचीन युगके ये प्रवर्तक माने जाते हैं। ये गणितशास्त्र के पारगामी पण्डित थे। इस शास्त्र के अनुशीलन से ये इस परिणाम पर पहुँचे कि गणित के निश्चित गणना का कारण उसकी विशुद्ध आगमन प्रणाली है। गणितशास्त्र के मूलमें कतिपय 'स्वयं सिद्ध' तथ्य हैं और इन्हीं से आगमन पद्धति के द्वारा नवीन तथ्य अविष्कृत किये जाते हैं। डेकार्ट ने दर्शन के तत्त्वों की समीक्षा के लिये इसी पद्धति का प्रयोग किया। उन्होंने देखा कि हमलोग ईश्वर के विषय में सन्देह करते हैं, जगत् के अनेक विषयों में सन्देह करते हैं। ऐसी दशा में हमारा सन्देह करना तो एक निश्चित वस्तु है। 'हम सन्देह करते हैं'—इस विषय में तो कभी सन्देह नहीं होता। अतः डेकार्ट ने सिद्धान्त निकाला कि सन्देह करनेवाली आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है। एतद्विषयक उनका सिद्धान्त वाक्य है Cogito, ergo

sum = "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ"। यही सिद्धान्त डेकार्ट के दर्शन का आधारशिला बना[1]। अतः डेकार्ट ने अपना सिद्धान्त निश्चित किया कि 'जो प्रतीति अभिव्यक्त तथा निश्चित है वह अवश्यमेव सत्य है।' ईश्वर की प्रतीति नितान्त विशुद्ध तथा निश्चित है। अतः वह भी सत्य है। इसकी पुष्टि में उन्होंने सन्त अनसेल्म के तर्कों के आधार पर तर्क की भी अवतारणा की। ईश्वर नितान्त सत्य है। अतः वह किसी प्रकार का धोखा नहीं दे सकता। जगत् का अनुभव भी विशद तथा निश्चित है। अतः जगत् भी सत्यभूत पदार्थ है। जगत् ईश्वर के द्वारा निर्मित है और अतः अपने आधार तथा स्थिति के लिए वह ईश्वर पर आश्रित है। सृष्ट जगत् में दो मुख्य पदार्थ हैं—शरीर तथा मन (या विचारक आत्मा)। सन्त अगस्टाइन के समान डेकार्ट इन दोनों को आपस में नितान्त भिन्न मानता था, क्योंकि एक का दूसरे के ऊपर

---

१ इस सिद्धान्त की तुलना आचार्य शंकर के इस पद्य के तत्त्व से कीजिए—

अहमित्यस्मिन्नर्थे न कस्यास्ति संशयः पुंसः।
अत्रापि संशयश्चेत् संशयिता यः स एव भवसि त्वम्॥

आशय है कि 'मैं हूँ' इस विषय में किसी भी पुरुष को संशय नहीं हो सकता। यदि इसमें किसी को सन्देह हो, तो यह सन्देह करनेवाला व्यक्ति तू ही है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के उपोद्घात में इसी तत्त्व का वर्णन प्रकारान्तर से किया है—सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो हि लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।

वाचस्पतिमिश्र भी यही कहते हैं—न हि कश्चित् सन्दिग्धे नाहमस्मीति = 'मैं नहीं हूँ' इस बात का सन्देह कोई भी नहीं करता। यही उक्ति डेकार्ट की उक्ति के समानार्थक ही है।

किसी प्रकार का सम्बन्ध या प्रभाव नहीं पड़ता है। मानव शरीर में आत्मा और शरीर का परस्पर सम्बन्ध एक विचित्र घटना है। इसके लिए ईश्वर ही कारण माना जाता है। ईश्वर की अलौकिक तथा असंभावित सहायता से ही आत्मा शरीर में गति का मार्ग दिखलाता है, उसे उत्पन्न नहीं करता। डेकार्ट के दर्शन में इससे अलौकिकता Occasionalism का उदय हुआ जिसके अनुसार शरीर और आत्मा में किसी प्रकार स्वतः सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत ईश्वर की अन्तः प्रेरणा से ही यह सम्बन्ध सम्पन्न होता है।

हाब्स

हाब्स Hobbes (१५८८-१६७९ ई०):—इंगलैण्ड का यह दार्शनिक अपने विचारों में पूरा जड़ प्रकृतिवादी था। उसके अनुसार जगत् में दो ही सच्चे पदार्थ हैं—द्रव्य और गति, जिनके परस्पर मिलने से संसार का प्रत्येक पदार्थ निर्मित हुआ है। यह डेकार्ट की अनैसर्गिक कल्पना का विरोधी था और निसर्गवाद का पक्षपाती था। यह निसर्गवाद पूरा प्रकृतिवाद ही था। संवेदन तथा ज्ञान भी गति के ही प्रकार हैं और मन (या आत्मा) द्रव्यरूप है। ईश्वर इस जगत् का प्रथम मूल कारण है; इस सिद्धान्त का हाब्स ने खण्डन नहीं किया, परन्तु उसका विश्वास था कि ईश्वर के विषय में हम कोई भी बात नहीं जान सकते। हाब्स का मुख्य कार्य आचारशास्त्र तथा राजनीति—शास्त्र के क्षेत्र में था और वहाँ भी उसने अपने सिद्धान्तों से विद्वानों में खण्डन की ही प्रवृत्ति जाग्रत की।

स्पिनोजा

स्पिनोजा Spinoza (१६३२-१६७७)—इस शताब्दी का प्रभावशाली विचारक था। तत्कालीन दार्शनिकों में यही सर्व-प्रथम बुद्धिवादी दार्शनिक था जिसने मध्य युग के अनिसर्गवाद, तथा का युक्तियों से

खण्डन कर निसर्गवाद तथा बुद्धिवाद का प्रबल तथा प्रामाणिक समर्थन किया। उसको दृष्टि में बाइबिल के सत्य को भी प्रमाण मानने के लिए तर्क की कसौटी पर भली भाँति कसना पड़ेगा। इस लिए हम स्पिनोजा के विचारों में निसर्गवाद तथा बुद्धिवाद को साथ साथ सम्बद्ध पाते है। परन्तु इसका निसर्ग तत्त्व हाब्स का निसर्ग तत्त्व नहीं है। स्पिनोजा का 'निसर्ग' स्वयं ईश्वर ही है। उसके निसर्ग तत्त्व में भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं के लिए, मानवीय तथा दिव्य वस्तुओं के लिए स्थान है। वह सर्वेश्वर-वादी था। उसका सिद्धान्त वाक्य संस्कृत में यह है—विश्वम् ईश्वरः, ईश्वरश्च तद् विश्म् = सब ईश्वर है और ईश्वर ही सब है। यही उसका मुख्य सिद्धान्त है। इसकी पुष्टि में उसका कथन है कि जगत् के समग्र पदार्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे के ऊपर अवलम्बित हैं, परन्तु कोई ऐसा स्वतन्त्र सत्त्व (Substance) अवश्य है जो इन पदार्थों का आधार-स्थानीय है। वह कोई बाहरी सत्त्व नहीं है। वही है प्रकृति Nature = ईश्वर। स्पिनोजा के अनुसार तीन मुख्य परिभाषायें हैं (क) सत्त्व Substance, (ख) धर्म Attribute, (ग) प्रकार Mode. प्रकृति या ईश्वर एक रूप है, सर्वव्यापक, अनन्त और परिपूर्ण है। यह स्थितिशील न होकर गतिशील है। वह जगत् का क्षणिक या बाह्य कारण नहीं है, किन्तु वह उपादान और वास्तव सत्ता है। ईश्वर के अनन्त धर्म हैं जिनमें दो मनुष्य के गोचर होते हैं— (१) विस्तार और (२) ज्ञान। भौतिक पदार्थ और घटना में विस्तार के अभिव्यक्ति-प्रकार हैं, मानसिक विचार तथा अनुभव ज्ञान-शक्ति के प्रकार है। ये अनन्त प्रकार कभी नष्ट नहीं होते, क्योंकि वह ईश्वर जिसके ये प्रकार हैं सर्वदा विद्यमान रहता है। स्पिनोजा का ईश्वर देहधारी व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं है, अपितु व्यक्तित्व से ऊपर Supra personal है। तथापि इस कारण वह अल्प भक्ति का भाजन नहीं है। उसके मत में जीव जब ईश्वर तथा विश्व के एकाकार का ज्ञान प्राप्त कर लेते है, तब उसके हृदय

में उसके लिए बौद्धिक भक्ति तथा प्रेम का उदय होता है। स्पिनोज़ा के अनुसार यही मानव जीवन का लक्ष्य है।

स्पिनोज़ा के सिद्धान्त की तुलना हमारे वेदान्तियों से की जा सकती है। स्पिनोज़ा का मत हमारे विशिष्टाद्वैत मत से आश्चर्यजनक साम्य रखता है, परन्तु उनमें अन्तर यही है कि रामानुज का ईश्वर चित् और अचित् से विशिष्ट होने पर सगुण हैं, स्पिनोज़ा का मूल सत्त्व निर्गुण है। जिस प्रकार शंकराचार्य एक सत्ता ब्रह्मरूप से मानते हैं, स्पिनोज़ा भी यही मानता है। उसका ईश्वर निर्गुण है, तथापि वह अद्वैतियों के निर्गुण ब्रह्म की समता नहीं करता, क्योंकि आयाम को ईश्वर का धर्म मानने पर वह वस्तुतः निर्गुण कैसे माना जा सकता है?

लाइबनिस

लाइबनिस Leibniz (१६४६–१७१६ ई०)—इस जर्मन तत्त्ववेत्ता ने Monadism शक्त्यणुवाद को तिष्ठित किया। इनकी दृष्टि में जगत् के समस्त पदार्थ, साथ साथ दिक् भी किसी प्रकार की वास्तव सत्ता नहीं रखते, प्रत्युत ये मन की अनुभूति के भीतर प्रतीतिमात्र हैं। पदार्थों की सत्ता उनके अनुभव पर आश्रित है। अतः वे पदार्थों की मानसिक सत्ता मानते हैं। चित्त (आत्मा) ही एकमात्र वस्तुतत्त्व है। जगत् में शक्त्यणु (चिद्बिन्दु) ही सर्वत्र विद्यमान हैं। इनमें एक प्रकार की ही चेतना शक्ति नहीं है; कुछ तो सुप्तावस्था में हैं, कतिपय स्वप्नलोक के समान चैतन्य से सज्जित है। कतिपय शक्त्यणु जागृत हैं और विशुद्ध ज्ञान से सम्पन्न हैं। परन्तु ईश्वर (शक्त्यणुओं का शक्त्यणु) अतीव तीव्र तथा अतिशय क्रियाशील चैतन्य से मण्डित है। ईश्वर को हम आत्माओं का आत्मा या उपनिषत् के शब्दों में 'चेतनश्चेतनानाम्' चेतनों का चेतन कह सकते हैं। शक्त्यणु संख्या में अनन्त हैं तथा क्रम में भी अनन्त हैं। शक्त्यणु स्वतः परिपूर्ण है। उसे दूसरे से किसी प्रकार का ग्रहण-त्याग

नहीं होता। ईश्वर ने ही इन्हें उत्पन्न किया है और उनकी सृष्टि ही इतनी अनुपम है कि जीवों में प्रत्येक प्रकार से सामञ्जस्य तथा आनुकूल्य बना रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने समय को ठीक एक साथ रखने के लिए अनेक घड़ियों को चला रखा है। इसी प्रकार जीव किसी प्रकार अपना जीवन बितावें, दूसरे जीवों से उनका जीवन अनुकूल ही रहता है। यह ईश्वर की व्यवस्था का सुपरिणाम है। लाइबनिस की दृढ़ धारणा है कि अन्तिम सत्ता एक है और जीव नित्य हैं। इसकी सिद्धि अनेक युक्तियों के बल पर उसने की है।

लाक

लाक Locke (१६३२–१७०४) --अनुभववादी इस दार्शनिक ने एक नवीन अथच आवश्यक विषय की ओर विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट की। अबतक दार्शनिक लोग तत्वज्ञान या धर्म के विषय में नाना प्रकार की धारणायें कल्पित करते थे, परन्तु लाक की दृष्टि में मानव बुद्धि प्रज्ञा के सामर्थ्य की मीमांसा प्रथमतः आवश्यक है कि वह इन विषयों की पर्याप्त समीक्षा कर सकती है या नहीं। अनुभूति के समीक्षण से पहिले उसके साधनभूत बुद्धि की समीक्षा आवश्यक है। ज्ञानकी अवधि जानना जरूरी है। क्या ज्ञेय है और क्या अज्ञेय है? यह जानना पहिले आवश्यक है। इसीलिए लाक ने प्रज्ञापरीक्षा के विषय में विचारपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इनके समीक्षण का फल यह है :—(क) हमारा ज्ञान संवेदनों पर आश्रित रहता है। हमारी प्रज्ञा संवेदनों की व्याख्या करती है, संवेदनों को एक समूह में जोड़ती है, परन्तु उनमें स्वयं कुछ जोड़ नहीं सकती। (ख) वस्तुओं में दो प्रकार के धर्म होते हैं--(१) मुख्य (=विस्तार, आकार, घनत्व, संख्या और क्रिया); (२) गौण (रूप, रस, गन्ध, शब्द) संवेदन अधिक से अधिक मुख्य धर्मों की अनुकृति हैं। गौण धर्मों के संवेदन बाह्य वस्तु की अनुकृति नहीं हैं, प्रत्युत ये मुख्य धर्म

के द्वारा हम में उत्पादित आन्तर अनुभव या मानसिक अनुभूति हैं। (३) पदार्थों (शरीर और आत्मा) का हमारा बोध कल्पनामात्र है। इन्द्रियजन्य अनुभव शरीर और आत्मा के स्वरूप का बोध नहीं कराता। इसलिए हम नहीं कह सकते कि आत्मा एक भौतिक सत्ता है या आध्यात्मिक पदार्थ है। (४) फलतः हम किसी भी पदार्थ के वस्तु तत्त्व, सार वस्तु को नहीं जान सकते। अपने अनुभव तक ही मानव सीमित रहता है। अनुभव से हम इतना ही जानते हैं कि हमारी केवल सत्ता है, हम विद्यमान हैं। इससे अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते। प्रतिभा के बल पर ही हम आदि कारण के रूप में ईश्वर का अस्तित्व जान सकते हैं लाक के आचारसम्बन्धी विचारों में भी अनुभववाद भरा हुआ है। इनके दर्शन में ईश्वरवाद को स्थान है। इनके मत से ईश्वर भी उन्हीं कार्यों को भला समझता है, जिसके करने से कर्ता को सुख और समाज की स्थिति हो। इसलिए ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलना ही हमारा धर्म है।

सत्रहवीं शताब्दी के ये पाँच दार्शनिक अपने मौलिक विचारों तथा कल्पनाओं के लिए विशेषतया मान्य हैं। जिन सिद्धान्तों को इन्होंने समीक्षा की उन्हीं की ओर अगली दो शताब्दियों के तत्त्ववेत्ताओं ने अपना विचार प्रवर्तित किया।

(ख) अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक

सत्रहवीं शताब्दी में यन्त्र-विज्ञान (Mechanics) ने विशेष उन्नति की। वह जड़ द्रव्य और गति के द्वारा ही समग्र जगत् के निर्माण तथा घटनाओं की व्याख्या करता है। यन्त्रविज्ञान के सिद्धान्त का उपयोग तत्कालीन विद्वानों में दर्शन के तत्त्वों की समीक्षा के लिए भी किया। फलतः उस शताब्दी के दर्शन में जड़ देहवाद का सिद्धान्त ही सर्वत्र व्यापक था।

बर्कले

इसी सिद्धान्त का खण्डन बिशप बर्कले Bishop Berkeley (१६८५–१७५३ ई०) का मुख्य कार्य था। उनका सिद्धान्त जड़-देहवाद का विरोधी अध्यात्मवाद (Idealism) था। उन्होंने लॉक के अनुभववाद को स्वीकार कर उनके आधार पर नवीन तथ्यों का अनुसन्धान किया। इन्होंने सिद्ध किया कि मुख्य गुणों या अवान्तर गौण गुणों के सम्वेदन अथवा प्रत्यय (Idea) बाह्य वस्तु की प्रतिकृति (Copy) नहीं है, क्योंकि बाह्य वस्तु नाम की कोई भी चीज संसार में नहीं है। ये आन्तरिक अनुभूतिमात्र हैं। प्रत्यय प्रत्यय की ही समानता रख सकता है जड़ पदार्थ अथवा उसके गुणों की नहीं। ऐसी दशा में बाह्य वस्तु की सत्ता मानना अप्रामाणिक तथा अनावश्यक हैं। स्वयं लाक का भी इस विषय में यही कहना है कि द्रव्य का ज्ञान स्पष्ट रीति से किसी को नहीं हो सकता। इस पर बर्कले का कथन है कि यदि द्रव्य का ज्ञान हो सकता है, तो वह गुणों के द्वारा हो जाना जा सकता है। हम गुणों के बाहर नहीं जा सकते। यदि खड़िया में से सफेदी, आकार, विस्तार, भारीपन आदि गुण निकाल दिये जायँ, तो बच ही क्या रहता है? बर्कले के अनुसार ज्ञान में आना अथवा अनुभव का विषय होना ही 'सत्ता' है। उनका मूल सूत्र है—सत्ता दृष्टि है (Esse est pericipi)। अनुभूति होना ही घट की सत्ता है। यदि घट हमारे ज्ञान में नहीं आ रहा है, तो क्या प्रमाण है कि वह विद्यमान है? जब पदार्थों को अनुभव नहीं होता, तब या तो वे एकदम अभाव रूप हैं अथवा किसी नित्य चेतन पुरुष के ही मन में उनकी सत्ता विराजती है। प्रश्न किया जा सकता है कि जब पदार्थ प्रत्ययमात्र हैं, तब क्या कारण है वे नियमित रूपसे कोई न कोई प्रभाव या कार्य उत्पन्न करते हैं। इसके उत्तर में उनका कहना है कि ईश्वर ने मनमाने ढंग से वस्तुओं और उनके प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। अतः सत्य वस्तुयें हैं—

ईश्वर, ईश्वर के द्वारा सृष्ट चेतन व्यक्ति या जीव, और अनेक प्रत्यय या अनुभूति जो एक विशिष्ट परम्परा में ईश्वर के द्वारा निर्दिष्ट की गई हैं। इनकी ही सत्यता सर्वतो-भावेन मान्य है, बाह्य वस्तुओं की नहीं। बर्कले का मत बौद्धों में विज्ञानवाद से मिलता जुलता है। दोनों बाह्य पदार्थ की सत्ता न मानकर केवल प्रत्यय या विज्ञान की ही सत्ता मानते हैं।

ह्यूम

ह्यूम Hume (१७११–७६ ई०)—ह्यूम का कहना है कि लाक और बर्कले के विचारों का पर्यवसान 'संशयवाद' में है। लाक ने अपनी समीक्षा के द्वारा बतलाया कि बुद्धि के द्वारा हम किसी भी पदार्थ के मौलिक सारको जान नहीं सकते। बर्कले ने दिखलाया कि भौतिक वस्तु या भौतिक कार्यकारण मिथ्या है, जीवों की सत्ता पर इन्होंने आग्रह दिखलाया। इसपर ह्यूम का कहना है कि जिस प्रणाली से बर्कले बाह्य सत्ता का निषेध करते हैं, उसी के द्वारा मानस सत्ता का भी निषेध भली-भाँति किया जा सकता है। बर्कले आत्मा की सत्ता प्रतिभान (Intation) के आधार पर मानते हैं परन्तु ह्यूम कहता है "जब कभी मैं उस वस्तु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध में आता हूँ जिसे अपना स्वरूप (आत्मा) कहा जाता है जो मैं किसी विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही फिसल पड़ता हूँ। अपने 'स्व' को मैं कभी नहीं पकड़ सका हूँ"। परिवर्तनशील अनुभवों का आवागमन ही सत्य वस्तु है। जगत् में केवल सम्भाव्यता ही विद्यमान है, निश्चितता नहीं। अतः आत्मा बुद्धि से अननुभूत, अस्थिर, अज्ञात पदार्थ है। अनुभव सत्य है, न अनुभव कर्ता और न अनुभवगम्य वस्तु। ह्यूम स्वयं अपने को 'संशयवादी' (Sceptic) कहता है।

काण्ट

काण्ट Kant (१७२४–१८०४)—ह्यूम की विचारधारा का पर्य-

बसान था—संशयवाद। संशयवाद ने प्रत्यय (या विचार) और बाह्य जगत् के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी। अब तक के दार्शनिकों के विचार का परिणाम था विषयी और विषय की भिन्नता—बाह्य जगत् और आन्तर जगत् का पार्थक्य। कण्ट ने यह खाई पाट दी। उनका सिद्धान्त था Trancendalism विश्वातीतता। इन्होंने ज्ञान की मीमांसा बड़े विवेक के साथ की है। काण्ट ने मानसिक शक्तियों की समीक्षा के लिए तीन विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे—(१) बुद्धि के सम्बन्ध में शुद्धबुद्धिपरीक्षा (Critique of Pure Reason), (२) संकल्प के सम्बन्ध में कृत्य बुद्धिपरीक्षा (Critique of Practical Reason), (३) भावना के सम्बन्ध में निर्णय-परीक्षा (Critique of Judgment)। ये तीनों ग्रन्थ उच्च कोटि के माने जाते हैं। काण्ट की दृष्टिमें मनुष्यों में ज्ञान की दो शक्तियाँ होती हैं। पहली है इन्द्रियाँ और दूसरी है बुद्धि। इन्द्रियशक्ति (Sensibility) का काम तरह के तरह के असम्बद्ध संवेदनों को प्रस्तुत करना है और बुद्धि का कार्य है प्रस्तुत किये गये संवेदनराशि (Sense-manifold) में विभिन्न सम्बद्ध स्थापित करना। यदि बुद्धि इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापन न करे, तो हमें किसी प्रकार का अनुभव ही नहीं हो सकता। हमारा सारा ज्ञान बुद्धि की १२ संज्ञाओं द्वारा व्यवहृत होता है। जितने प्रकार की तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञायें हो सकती हैं, उतनी ही संज्ञायें (Categories) हैं। निर्णयों के चार मुख्य वर्ग है—परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार काण्ट के अनुसार संज्ञायें १२ प्रकार की होती हैं। काण्ट के मन्तव्यानुसार अनुभव को हम दो भागों में समझ सकते हैं— अनुभव का एक तत्त्व द्रष्टा के बाहर रहने वाला बाह्य जगत् है और दूसरा तत्त्व अर्थात् सम्बन्धों का स्रोत हमारी बुद्धि है। इस प्रकार प्रत्येक अनुभव में दोनों तत्त्वों का समन्वय रहता है। अतः वे अनुभववाद तथा बुद्धिवाद के सामञ्जस्य के पुरस्कर्ता हैं।

वस्तु सत्ता दो प्रकार की होती है—

(१) अनुभव-निरपेक्ष a priori जिसके उत्पादन में अनुभव की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इसके अभाव में अनुभव स्वतः असम्भव हो जाता है। देश और काल, द्रव्य, गुण, कार्य कारण आदि सम्बन्धों के ज्ञान की गणना इसी श्रेणी में की जाती है।

(२) अनुभव-सापेक्ष a posteriori इन्द्रियों के द्वारा प्रस्तुत पदार्थों की सत्ता का परिचायक अनुभव ही होता है। अनुभव इनके विशुद्धरूप को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत पूर्वनिर्दिष्ट सम्बन्धों के द्वारा इनका विकृत रूपही अभिव्यक्त करता है। प्रज्ञामें शुद्ध-वस्तु (Thing-in-itself) के प्रकट रहने का सामर्थ्य नहीं है। जगत् में उसकी जो प्रतीति होती है उसी के प्रकट करने की क्षमता प्रज्ञा में है। कुछ पदार्थ अनुभव के बिल्कुल बाहर होते हैं जैसे ईश्वर और भविष्य जीवन। बुद्धि न तो इन्हें सिद्धकर सकती है और न असिद्ध। वे बुद्धिगम्य न होकर श्रद्धा-गम्य होते हैं। उनका अस्तित्व श्रद्धा बतलाती है। ईश्वर, इच्छा-स्वातन्त्र्य और अमरत्व—ऐसे विषय हैं जिनका अस्तित्व तर्क के बल पर सिद्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु व्यवहार की सिद्धि के लिए इन्हें मानना ही पड़ता है। कृति-बुद्धि की परीक्षा से काण्ट इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि आचार का विषय अनुभव से स्वतन्त्र होता है। इनके मत से कर्त-व्यकर्म वही है जिसे यदि सब लोग करें, तो किसी प्रकार की बाधा न पड़े। ऐसा कर्तव्य कर्म किसी लाभ के लिए नहीं किया जाता, बल्कि कर्तव्य बुद्धि से करना चाहिए। कर्तव्य के साथ शक्यता की भावना भी लगी हुई रहती है। यदि कर्तव्य कर्म मनुष्य की शक्ति के बाहर होते, तो मनुष्य उनके लिए उत्तरदायी नहीं होता। कर्म के विषय में काण्ट का मत भगवद्गीता के कर्मयोग के साथ विशेष मिलता है। कर्मण्येवाधिका-रस्ते मा फलेषु कदाचन—गीता कहती है और यही काण्ट का भी सिद्धान्त है (Categorical Imperative)। जिस प्रकार बाह्य जगद् की सत्ता

का प्रमाण हमें भौतिक विज्ञान के द्वारा उपलब्ध होता है, उसी प्रकार ईश्वर तथा अमरता का प्रमाण हमें नैतिकता की स्वतन्त्र सत्ता के बल पर मिलता है।

(ग) उन्नीसवीं शताब्दी के तत्त्ववेत्ता

अध्यात्मवाद—मानव विचारधारा के इतिहास में इस शताब्दी का बहुत ही अधिक महत्त्व है। महत्त्व का कारण यह है कि अनेक विचारों के स्रोत इस युग में उत्पन्न होते है और ये ही आगे चलकर विराट् रूप धारण कर लेते हैं। इस युग की प्रधान विचारधारा है—अध्यात्मवाद (Idealism)। महामति काण्ट ने वस्तुतत्त्व या कूटस्थ या शुद्ध वस्तु (Thing-in-itself) के विषय में मनमानी कल्पना करने के विरोध में विचारकों को चेतावनी दे दी थी, परन्तु उनके ग्रन्थों में उपलब्ध विचारों से तत्त्वज्ञानियों को प्रेरणा मिली और उन्होंने इसी विषय की ओर अपने विचारों का प्रवाह अग्रसर किया। काण्ट ने जिसका निषेध किया था उसीकी ओर इस युग के विचारक आगे बढ़े। ऐसे विचारकों में तीन तत्त्ववेत्ता नितान्त विख्यात हैं—फिकूते, शेलिङ्ग और हेगल।

फिकूते

फिकूते (Fichte; १७६५-१८१४ ई०)—काण्ट के पश्चाद्-वर्ती जर्मन दार्शनिकों में आद्य दार्शनिक था। उसने काण्ट के सिद्धान्त को ही प्रकारान्तर से विकसित किया। उसके सिद्धान्त में काण्ट और स्पिनोज़ा के सिद्धान्तों का समन्वय दीख पड़ता है। काण्ट के समान वह नैतिक आदर्श को स्वीकार करता है और स्पिनोज़ा के समान वह दोनों जगत् की एकता को मानता है। अद्वैततत्त्व और स्वातन्त्र्य—नैतिक तत्त्व तथा अध्यात्मतत्त्व-की एकता उसके सिद्धान्त का मुख्य आधार है। फिकूते के अनुसार सत्ता है श्रेयस्, शुद्ध संकल्प, तथा नैतिक

आत्मतत्त्व। साधारणजन इस दृश्यमान जगत् को ही वास्तव और सत्य मानते हैं, परन्तु फिक्ते के अनुसार यह केवल मूलतत्त्व की प्रतिलिपि या अनुकरणमात्र है। सबसे श्रेष्ठ तत्त्व जहाँ से हम लोग आते हैं और जिधर हम लोग जाने का प्रयत्न करते हैं सत्ता नहीं, प्रत्युत कर्तव्य-परायणता है। यह वह पदार्थ है जिसके विषय में हम 'है' नहीं कह सकते, प्रत्युत 'होना चाहिए' कह सकते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर सत्ता नामक कोई पदार्थ नहीं है। जिसे हम पदार्थ के नाम से पुकारते हैं वह तो केवल आभासमात्र है। यह तो समग्र प्रगति है, इच्छा है। निरपेक्षतत्त्व अथवा काण्ट का शुद्ध वस्तु-तत्त्व शुद्ध संकल्प (Pure will) ही है, जो नैतिक प्रत्यय का एक प्रतिनिधि है। यह समग्र जगत् इसी मूलतत्त्व शुद्ध संकल्प का विकासमात्र है। इस प्रकार दार्शनिक विचार इसी बात में है कि हमें अपने हृदय में तथा दूसरे के हृदय में विश्वास दिलाना है कि-सत्ता कुछ भी नहीं है, कर्तव्यपरायणता ही सब कुछ है। इस प्रकार फिक्ते का मुख्य सिद्धान्त है—नैतिक संकल्प की अद्वैतता (Monism of the moral will)

फिक्ते के दर्शन का सार यही है कि अहं-आत्मा (Ego) अनात्मा (जगत्) को पैदा करता है और अनात्मा आत्मा के ज्ञान का विषय बनकर अहं को स्पष्टता प्रदान करता है। अहं को अपनी पूर्ण शक्तियों के विकास के लिए अनात्मा की आवश्यकता होती है। अनात्मा आत्मा से ही एक प्रकार की अनुद्बुद्ध दशामें उत्पन्न होता है। उत्पत्ति के समय अहं को अनहं का (Non-ego) का ज्ञान नहीं होता। अनहं अपने अस्तित्व के लिए सदा अहं की अपेक्षा रखता है, क्योंकि विषयी आत्मा के द्वारा बिना ज्ञात हुए अनात्मा की सत्ता ही नहीं रहती। और अहं को भी अनहं की आवश्यकता रहती है, क्योंकि बिना अनहं की सत्ता रहे अहं का ज्ञान हमें पूर्ण रूपसे हो नहीं सकता। इस प्रकार फिक्ते के विचारों का निष्कर्ष यह है—वस्तु-तत्त्व भी मन की ही उपज

है। समग्र अनुभव जगत्, केवल आकार ही नहीं, निरपेक्ष आत्मा (ब्रह्म) के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। निरपेक्ष आत्मा अपने को दो भागों में विभक्त करता है—ज्ञाता (जाननेवाला आत्मा) और ज्ञेय (ज्ञान-गम्य पदार्थ)। जीव की नैतिक पूर्णता के लिए यह आवश्यक होता है कि विषय की सत्ता अवरोध के रूपसे मानी जाय और इन्हीं अवरोधों को दूरकर उन्नति करना आत्मा का ध्येय होता है। इसी कारण नाना जीवों की सत्ता है, नहीं तो परस्पर नैतिक आचरण करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु ये जीव वस्तुतः नाना नहीं हैं। ये एक ही नैतिक व्यवस्था या संस्थान (Moral order) अथवा वैदिक भाषा में 'ऋत' के अभिव्यंजनामात्र हैं। यही 'ऋत' ही निरपेक्ष तत्त्व, ईश्वर या ब्रह्मरूप है।

शेलिङ्ग

शेलिङ्ग (Shelling; १७७९–१८५४ ई.) फिक्ते के शिष्य होने पर भी दार्शनिक विचारों में उससे पार्थक्य रखता है। ये फिक्ते के निरपेक्ष वस्तु के पूर्वोक्त सिद्धांत को सत्य नहीं मानते। फिक्ते का तो यही मत था कि कूटस्थ्य तत्त्व आत्मा ही है और यही अपनी अनिच्छा से तथा अनजान दशामें इस जगत् (अनात्मा) को उत्पन्न करता है तथा अपने स्वतन्त्र तथा ज्ञानपूर्वक किये गये उद्योगों से उसे अपने वशमें करता है। शेलिंग को यह मत ग्राह्य नहीं है। अनुद्बुद्ध या अनजान दशामें जगत् की सृष्टि आत्मा से मानने का तो अर्थ यह है कि आत्मा सृष्टिकाल में अज्ञ है, परन्तु यह तो ज्ञानात्मक आत्मा के स्वरूप को हानि पहुँचाता है। क्या अज्ञ आत्मा हो सकता है? दूसरा दोष यह भी ठहराता है कि आत्मा और अनात्मा अन्योन्याश्रित कल्पनायें हैं—विषयों की सत्ता हो, तो ज्ञाता-रूप आत्मा माना जाय। उधर ज्ञाता आत्मा सिद्ध हो, तो ज्ञेय संसार भी सिद्ध हो। फलतः यह कहना अनुचित है कि आत्मा की उत्पत्ति अनात्मा से हुई? या आत्मा की उत्पत्ति आत्मा से हुई?

इसलिए शेलिंग का निरपेक्ष तत्त्व (Absolute) अहं तथा अनहं—आत्मा तथा अनात्मा—दोनों से परे, पृथक् तथा स्वतन्त्र है। क्योंकि पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष के कारण न तो आत्मा ही स्वयंभू तथा स्वतन्त्र है, और न अनात्मा ही। और यह निरपेक्ष तत्त्व दोनों का मूल है जहाँ से आत्मा भी निकलता है और अनात्मा भी निकलता है। अतः शेलिंग के अनुसार न तो आत्मा से अनात्मा की उत्पत्ति हुई (जैसा संविद्वादी मानते हैं) और न अनात्मा से ही आत्मा का उदय हुआ (नास्तिक वादी), प्रत्युत ये दोनों आत्मा और अनात्मा—मूल तत्त्व की सांसारिक सृष्टि हैं जिनमें वह स्वयं व्यंजित रहता है। ज्ञानकी पूर्णता के लिए दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है। अतः शेलिंग की दृष्टिमें दर्शन के दो भेद हैं—आत्मशास्त्र और प्रकृति-शास्त्र। शेलिंग का मूल तत्त्व फिक्टे की कल्पना से विलक्षण है। मूलतत्त्व न तो आत्मा ही और न अनात्मा ही है, यद्यपि वह इन दोनों का कारण है। वह एक निर्गुण निरपेक्ष सत्ता है जिसमें विरोधी भावनाओं का समन्वय होता है। अतः हम एक वाक्य में कह सकते हैं कि शेलिंग का निरपेक्षतत्त्व (जो अद्वैत वादियों के निर्गुण ब्रह्म के समान है) ज्ञाता और ज्ञेय अथवा विषयी और विषय (काण्ट) की, अथवा अहं और अनहं (फिक्टे) की अथवा विचार और विस्तार (स्पिनोजा) की समन्वय भूमि है।

शेलिंग की 'प्रकृति' कल्पना नितान्त उदात्त है। वे प्रकृति को जीवित, चेतन मानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो वह जीवित प्राणियो को किस प्रकार जन्म देती। प्रकृति 'विचार' की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। प्रकृति में सर्वत्र सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। चेतन तथा प्रकृति सौन्दर्य तथा अभिरामता से परिपूर्ण है। मन निरपेक्ष तत्त्व की उपलब्धि बुद्धि या क्रिया रूपसे नहीं करता, बल्कि प्रकृति तथा कला में सौन्दर्य की भावना के रूपमें ही करता है। कला, धर्म तथा दैवी स्फूर्ति एकही वस्तु है और ये दर्शन से भी श्रेष्ठ हैं क्योंकि तत्त्वज्ञान ईश्वर की कल्पना

करता है; कला तो साक्षात् ईश्वर है। ज्ञान भगवान का काल्पनिक साम्निध्य है; कला भगवान् का वास्तव सान्निध्य है। दार्शनिक जगत् में शेलिंग का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने प्रकृति की वास्तव सत्ता एक प्रकार से प्रमाणों से उद्धार कर परिपुष्ट किया-उद्धार किया अध्यात्मवादी कल्पनाओं से जो प्रकृति को केवल आभासमात्र मानती थीं। भौतिक जगत् सर्वत्र सौन्दर्य तथा लालित्य से परिपूर्ण है और यही सौन्दर्य-भावना उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रबल समर्थक प्रमाण है। जिस प्रकार मन निरपेक्षतत्त्व (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार प्रकृति भी उसकी एक अभिव्यक्ति है। इसका फल यह हुआ कि निरपेक्षतत्त्व न तो मन है, न भौतिक पदार्थ, यद्यपि वह अपने को इन दोनों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। फलतः शेलिंग के मन्तव्यानुसार मूलतत्त्व एक अज्ञात वस्तुतत्त्व के रूपमें प्रकट होता है।

हेगल

हेगल (Hegel १७७०-१८३१ ई.)--जर्मनी के उच्चकोटि के विचारकों में अग्रगण्य हैं। काण्ट की अपेक्षा ही उनका नम्बर दूसरा है, परन्तु व्यापक प्रभाव तथा महत्त्व की दृष्टि में वह काण्ट का समकक्ष तत्त्ववेत्ता है। हेगल की 'वस्तु-तत्त्व' की धारणा पूर्वोक्त दोनों दार्शनिकों से विभिन्न तथा स्वतन्त्र है। फिक्ते के अनुसार वस्तुतत्त्व आत्मा ही है जो अज्ञात कृति-शक्ति से प्रपञ्च की उत्पत्ति करता है और अनन्तर स्वतन्त्र तथा ज्ञानपूर्वक उद्योग से इस प्रपञ्च को अपने वश में कर लेता है। शेलिंग के अनुसार वह परम तत्त्व न तो आत्मा है और न अनात्मा, बल्कि दोनों का मूल कारण है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के विरोध का पर्यवसान होता है। यह निर्गुण तत्त्व है जिसमें समग्र विरोधों का अन्त हो जाता है। हेगल का मत इन दोनों से भिन्न है। उनके अनुसार आत्मा और अनात्मा का मूल कारण सत्ता को अतिक्रमण नहीं करता, प्रत्युत इस सत्ता के

भीतर ही वह रहता है। मन और प्रकृति एक प्रकार के आवरण नहीं हैं जिनके पीछे असङ्ग तथा निर्जीव ईश्वर छिपा हुआ रहता है, प्रत्युत वे ईश्वर के परिवर्धमान प्रकार हैं। निरपेक्ष (ब्रह्म) निष्क्रिय नहीं है, वह सक्रिय है। वह मन तथा प्रकृति का आधार तत्त्व नहीं है, बल्कि वही क्रमशः प्रकृति और आत्मा के रूप में अपने को परिणत करता है। यह क्रमिक विकास, पदार्थों की यह शाश्वत उत्पत्ति वही निरपेक्ष तत्त्व है। शेलिंग के अनुसार पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं जो इसी कारण पदार्थों से पृथक् सत्ता रखता है अर्थात् शेलिंग का ब्रह्म पदार्थों से निरपेक्ष स्वतन्त्र तथा पृथक् रहता है, परन्तु हेगल का ब्रह्म प्रक्रिया-स्वरूप है। यह क्रिया तथा जीवन उत्पन्न नहीं करता, बल्कि वह स्वयं क्रिया और जीवन रूप ही होता है। वह वस्तुओं तथा पदार्थों को अतिक्रमण नहीं करता, प्रत्युत वह पदार्थों में भी व्याप्त रहता है। वह मानव बुद्धि को भी अतिक्रमण नहीं करता। इसी सिद्धान्त को हम भारतीय दर्शन की शब्दावली में कह सकते हैं कि हेगल का ब्रह्म 'विश्वातीत' न होकर 'विश्वानुग' है। वह ब्रह्म ही बुद्धि-तत्व है जो निर्जीव पदार्थ और सजीव प्रकृति के रूप में विकसित होता हुआ अन्त में मनुष्य रूप में विकसित होता है।

हेगल की दृष्टि में बुद्धि के क्रम को निश्चय करने वाला तर्कशास्त्र ही मुख्य शास्त्र है। हेगल की यह प्रसिद्ध उक्ति है[1] कि जो कुछ वास्तविक या तात्विक है वह बुद्धिमय (Rational) है और जो कुछ बुद्धिमय या बुद्धिगम्य है वह वास्तविक है। इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि अनुभव-जगत् के समग्र क्षेत्रों में बुद्धि का राज्य विराजमान है। वैज्ञानिक लोग तो भौतिक जगत् के क्षेत्र में ही बुद्धि का राज्य मानते हैं, परन्तु हेगल इससे भी आगे बढ़ता है। वह जीव-जगत् और चेतना-जगत् को भी बुद्धि तत्व (नियमशीलता) का अधिष्ठान मानता है। उसकी दृष्टि में

१ "The real is rational, and the rational is real".

मानव बुद्धि तथा विश्व-प्रक्रिया में व्याप्त बुद्धि तत्त्व एक ही है। इसका अभिप्राय यह है कि विश्व की प्रत्येक घटना पूर्णतया नियन्त्रित तथा नियमित रहती है। और इसकी सूचना देती है हमारी बुद्धि। हमारी बौद्धिक धारणायें केवल हमारी ही धारणायें नहीं हैं, बल्कि वे वस्तु-सृष्टि के नियमों की प्रतीक हैं। इस प्रकार बुद्धि तथा विश्व में, ज्ञाता तथा ज्ञेय में, कोई द्वैत नहीं है। ये दोनों एक ही बुद्धितत्त्व (Reason) की अभिव्यक्तियाँ हैं।

हेगल इस विश्व प्रक्रिया में क्रमिक विकास मानता है। बुद्धितत्त्व क्रमशः विकसित होकर पूर्णत्व प्राप्त करता है। जो बुद्धितत्त्व विश्व में व्याप्त है वह सरल एकाई न होकर एक समष्टि है। विश्व के बुद्धितत्त्व को वह 'पूर्ण प्रत्यय' (Absolute Idea) के नाम से पुकारता है। हमारी बौद्धिक धारणायें अपूर्ण तथा सदोष हैं, परन्तु इन सब का पर्यवसान वही पूर्ण प्रत्यय है जो विश्व में व्याप्त हो रहा है। हमारी बौद्धिक कल्पनायें पूर्णत्व की ओर क्रमशः विकसित होकर आगे बढ़ती रहती हैं। इस विकास का नियम है—वाद (Thesis) प्रतिवाद (Antethesis) तथा संवाद (Synthesis) के द्वारा ही धारणा जगत् इस पूर्णप्रत्यय को ओर विकसित होता है। यदि किसी विषय में हम एक अपूर्ण धारणा रखें, तो कोई विपरीत धारणा उसका खण्डन कर देती है। इसके अनन्तर एक तीसरी धारणा उत्पन्न होती है जिसमें पूर्वोक्त दोनों का सामञ्जस्य या समन्वय हो जाता है। इसी प्रकार से विकसित धारणाओं का पर्यवसान पूर्ण प्रत्यय में सम्पन्न हो जाता है। हमारी समग्र धारणायें एकाङ्गी हैं; पूर्णप्रत्यय एकाङ्गी न होकर सम्पूर्ण, समग्र तथा एकमात्र समञ्जस (Self-consistent) होता है।

जगत् की प्रक्रिया नियमों के अनुकूल है और इनमें सर्वव्यापी नियम है द्वन्द्वन्याय (Dialectic)। निषेध या विरोध किसी धारणा को रोकता नहीं है, बल्कि उसे आगे बढ़ाने में सहायक होता है। निषेध विश्व की

प्रेरक शक्ति है और वह विकास में पूर्णतया सहायक है। यह निषेध गति का अवरोध नहीं करता, प्रत्युत उसे अग्रसर होने में सहायता देता है। निषेध विरोधों को दूर कर उनमें समन्वय उत्पन्न करता है। इस प्रकार हेगल के मत में यह समग्र जगत् पूर्णप्रत्यय की ओर अग्रसर हो रहा है। अतः पूर्णप्रत्यय या परब्रह्म विश्व-प्रक्रिया का नियामक हेतु है। वही अन्तिम लक्ष्य है जिसकी ओर जगत् का प्रत्येक पदार्थ आगे चल रहा है तथा वहाँ पहुँच कर अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। यह पूर्णता पूर्वसे ही सिद्ध है। जगत् का यह गतिशील विकास ही मायाजन्य है, भ्रम है, वास्तविक नहीं है। हेगल[1] प्रपञ्चको मिथ्या मानता है। विश्व की सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से ही है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। इस प्रकार हेगल का दर्शन अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के निकट तक पहुँचता है।

हेगल की विचारधारा बड़ी व्यापक है। उसने समग्र विश्व की मीमांसा या व्याख्या करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। मनकी मीमांसा करते समय वह स्वातन्त्र्य और ज्ञान को चित्तका धर्म मानता है। ये दोनों धर्म धीरे धीरे विकसित हुए हैं। मन तीन प्रकार का है—व्यक्ति गत, (Subjective), समाजगत (Objective) तथा निरपेक्ष मन (Absolute mind). सृष्टि के आरम्भिक काल में व्यक्तिगत मन का समय रहता है जब व्यक्ति अन्ध विश्वास तथा पशुप्रवृत्तियों का शिकार बना रहता है। बुद्धितत्त्व के उदय होने पर वह मन सामाजिक मनके रूपमें परिणत हो जाता है। व्यक्ति समाज की व्यवस्था में बद्ध हो जाता है। सन्तानोत्पत्ति जो इतः पूर्व अनियमित रूपसे थी नियमबद्ध

---

१ The consummation of the infinite end consists merely in removing the illusion which makes it seem yet unaccomplis hed.

— *Wallace : Logic of Hegel P. 351*

बन जाती है और 'विवाह' की संस्था तैयार होती है। बदला लेने की प्रवृत्ति अब कानूनी दण्ड के रूपमें विराजती है। स्थूल धारणा सूक्ष्म बन जाती है। इसी युगमें समाज का अभ्युदय होता है--विवाह, परिवार और राष्ट्र का जन्म इसी कालमें होता है। मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में व्यक्तिमात्र था जो अपनी वैयक्तिकता के भीतर ही सीमित था (व्यक्तिगत मन); तदनन्तर वह अपने से बाहर जाता है; अन्यान्य व्यक्तियों को अपना सहयोगी समझकर समाज तथा राष्ट्र का संगठन करता है। यह हुई दूसरी दशा (सामाजिक मन)। अनन्तर वह बाह्य जगत् से अपने को हटाकर अपनी ओर लौट आता है और अपनी आत्मा के अन्तस्तल में वह कला या सौन्दर्य के आदर्श को, धार्मिक आदर्श या ईश्वर को, दार्शनिक आदर्श या सत्य को पाता है और इन्हीं तीनों आदर्शों की उपलब्धि में वह निरपेक्ष आत्मा बन जाता है और परम स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है (निरपेक्ष मन)। हेगेल ने कला, धर्म तथा दर्शन के स्वरूप की गहरी छानबीन की है। कलाके अन्तर्गत उसने कविता तथा संगीत की सुन्दर मीमांसा की है। हेगल का यह दर्शन अपनी व्यापकता तथा महत्ता के लिए सदा प्रख्यात रहेगा। उसने 'इतिहास' की एक नई कल्पना की तथा काण्ट के अनन्तर पाश्चात्य विचारकों पर अपने सिद्धान्तों की गहरी छाप लगाई। आज भी इसका प्रभाव कथमपि न्यून नहीं है।

फेकनर

फेकनर (Fechner;-१८०१-१८८७)-इनकी प्रधान कीर्ति मनोविज्ञान की एक नवीन शाखा के जन्म देने में है। फेकनर ने 'साइको-फिजिक्स' (Psycho-physics) की उत्पत्ति पूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धान के बलपर की। अतः वैज्ञानिक जगत् में इनका नाम सदा स्मरणीय रहेगा। इनके अनुसार भौतिक तथा मानसिक का भेद दृष्टि-भेद के कारण है। जो वस्तु अपने लिए मानसिक है, वही वस्तु दूसरे के

प्रति भौतिक है। भौतिक रूप बाह्य स्वरूप है। प्रपञ्चरूप जगत् के भीतर अज्ञात जड़ पदार्थ नहीं है, प्रत्युत हमारे जैसा मानसिक जीवन अन्तर्हित रहता है। सब वस्तुएँ बाहर या भीतर मानसिक ही होते हैं।

इनकी दृष्टि में यह विश्व जीवात्माओं का एक समाज है और ईश्वर सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक आत्मा है। अन्तरंग रूपसे सब आत्मायें मानस सत्ता धारण करती हैं, परन्तु बाहर की ओर (बाह्यतः) वे एक दूसरे के प्रति भौतिक शरीर के रूपमें प्रतीत होती हैं। जिस प्रकार छोटी वस्तुएँ किसी बड़ी वस्तु के भीतर अन्तर्निविष्ट रहती हैं और समस्त शरीर भौतिक प्रकृति के भीतर समा जाते हैं, उसी प्रकार कुछ आत्मायें अन्य आत्माओं के भीतर निविष्ट हो जाती हैं और ईश्वर की आत्मा सब अन्य आत्माओं को अपने भीतर धारण करती है अर्थात् वह परमात्मा जीवात्माओं को अपने में धारण करता है। जिस प्रकार मानव अपने शरीर के द्वारा पृथ्वी के भौतिक संस्थान का एक अंश है, उसी प्रकार उसकी आत्मा पृथ्वी की आत्मा का एक अंश है और पृथ्वी की आत्मा विश्वात्मा का एक भाग है। परमात्मा के शरीर की अभिव्यक्ति प्राकृतिक जगत् है और वह स्वयं आत्मारूपसे जगत् के जीवात्माओं में एकत्व की भावना भरता है।

लोत्से Lotze (१८१७-१८८१) जर्मनी का निवासी था और फेक्नर का ही समकालीन था। उसका प्रभाव १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दार्शनिक जगत् पर खूब अधिक था। इन्होंने प्रत्ययमूलक सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। अन्तिम सत्ता मानसिक पदार्थ है। भौतिक जगत् केवल आभासमात्र है जिसे जीवात्माओं ने उत्पन्न किया है। इन जीवात्माओं को लोत्से लीबनित्स के समान आध्यात्मिक चिद्‌बिन्दु (Spiritual monads) मानता है। परन्तु इसमें अन्तर इतना ही है कि लाइबनित्स इन चिद्‌बिन्दुओं को स्वतन्त्र

पदार्थ मानता था, परन्तु लोत्से इन्हें ईश्वर का प्रकार या अवस्था मात्र मानता है। ईश्वर अन्तिम तथा अनवच्छिन्न पदार्थ है। ईश्वर कतिपय नियमों के अनुसार इस यन्त्रात्मक जगत् के आभास को पैदा करता है, परन्तु इनका उद्देश्य अतीव महान् होता है। संक्षेप में इस जर्मन विचारक का यही मत है।

संकल्पवाद Voluntarism

अध्यात्म-वादियों की दृष्टि में सत्ता बुद्धितत्त्व ही है, परन्तु अन्य दार्शनिकों के मत में सत्ता संकल्प रूप है। इन दार्शनिकों की विचार धारा ही अलग तथा स्वतन्त्र है। इस सम्प्रदाय के भीतर चार बड़े-बड़े दार्शनिक हुए- शोपेन हावर, हरबार्ट, नीत्शे तथा वुन्ट।

शोपेन-हावेर (Schopenhauer १७८८-१८६०) इनकी गुरु-त्रयी में प्लेटो के तथा काण्ट के अनन्तर उपनिषदों की गणना की जाती है। इनके सिद्धान्तों पर वेदान्त का खूब प्रभाव पड़ा है। वेदान्तियों के अनुसार ये भी जगत् के पदार्थों को मायिक मानते हैं। वे सत्तात्मक नहीं हैं, प्रत्युत वास्तव सत्ता उनके भीतर व्याप्त रहती है। शोपेन-हावेर भी अध्यात्मवादी थे, परन्तु इनके अध्यात्मवाद का आधार हेगेल आदि पूर्व जर्मन दार्शनिकों से सर्वथा भिन्न था। अन्य किसी वस्तु का ज्ञान हमें भले न हो, अपने आप का तो ज्ञान हमें होता ही है। हम क्या हैं? हेगल कहता है—चैतन्य का सार है बुद्धि। शोपेन हावेर कहता है—नहीं, बुद्धि तो मानव चैतन्य का एक अंगमात्र है, चैतन्य का सार है संकल्प, जीवन धारण करने का संकल्प (will to live)—यह अपूर्व, आकार-हीन अभिलाषा है जो मनुष्यों की समस्त प्रवृत्तियों की जननी है तथा हमारे दुःखों की उत्पादिका है। जगत् के समस्त पदार्थों में इसी संकल्प का विकास हमें दृष्टिगोचर होता है। संकल्प की अभिव्यक्ति होती है प्रथमतः प्राकृतिक शक्तियों में (जैसे आकर्षण, उष्णत्व आदि में), तद-

नन्तर वनस्पति और मनुष्यों में जीवन की व्यवस्था में, और सब से अन्त में मानव-चेतन्य में। इन्हीं शक्तियों की अभिव्यक्ति सौन्दर्य की अनुभूति के लिए करना कविता, चित्रकला आदि ललित कलाओं का उद्देश्य है। इस दृष्टि से सब से पूर्ण कला है—संगीत, क्योंकि संगीत संकल्प के बाह्य रूपों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। इतना ही नहीं, संगीत शुद्ध संकल्प या इच्छा शक्ति को उसकी विशालता तथा सौन्दर्य के साथ पूर्ण रूपेण प्रकट करती है। शोपेनहावेर के मत में संकल्प शक्ति सर्वव्यापिनी है और सब की स्थिति का मूल है। यह कोई पुरुष या व्यक्ति नहीं है, परन्तु यह एक अचेतन शक्ति है जिससे देश--कालगत सब चीजें बनी हैं। इसी शक्ति के द्वारा मनुष्य अपनी सत्ता पाता है। यही संकल्प शक्ति मनुष्यों में बुद्धि की सहायता से नाना प्रकार के प्रत्ययों को रचती रहती है।

इनकी दृष्टि में कर्तव्य शास्त्र में दो प्रकार के आदर्श हैं—व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। सच्चा सुख संसार में नितान्त दुर्लभ है। अहिंसा उत्तम वस्तु है। समस्त प्राणियों के ऊपर——अबोध पशुओं के ऊपर भी—दया करना हमारा धर्म है। संसार में क्लेश ही क्लेश सर्वत्र भरा हुआ है और इस के विनाश का सच्चा मार्ग है बौद्धधर्म की शिक्षा। अर्थात् त्याग और तपस्या के द्वारा क्लेशनाश। शोपेन-हावेर के अनुसार जीवन का यही लक्ष्य है—निर्वाण।

हर्बार्ट Herbart (१९ वीं सदी) मनोविज्ञान का विशेषज्ञ था उसने प्राचीन मनोविज्ञान का खण्डन कर एक नवीन धारा चलाई। हमारा मानसिक जीवन केवल अनुभव में ही सीमित नहीं होता हमारे मानसिक जीवन का विशेष कार्य अनुद्‌बुद्ध अवस्था में भी चलता रहता है। हर्बार्ट ने इस प्रकार अचेतन मन (Unconcious mind) की ओर प्रथमतः विद्वानों का आकृष्ट किया। वह शिक्षाशास्त्री के रूप में विशेष प्रख्यात है।

नीत्शे Nietzshe (१८४४-१९०० ई.)—शोपेन-हावेर के समान इसने भी जो मूल तत्त्व को संकल्प ही माना है, परन्तु यह संकल्प जीवित रहने की ही इच्छा नहीं है, प्रत्युत शक्ति पाने की इच्छा है (Will to power) । संसार शक्ति की ओर बढ़ रहा है । अतः केवल जीवित रहने से काम नहीं चलेगा, बल्कि शक्तिशाली बनने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति होगी । जीवन का संघर्ष सर्व-शक्तिशाली पुरुष को सर्वत्र माननीय तथा नेता बना देगा । उस का सिद्धान्त है—शक्ति, दुर्बलता नहीं; युद्ध, शान्ति नहीं; प्रौढ़ता, दया नहीं । उस का आदर्श मानव हैं (Superman) अधिमानव जो वर्तमान मानवों से अधिक शक्ति शाली, प्रौढ़ तथा सर्वातिशायी है । नीत्शे की इस शक्ति पूजा का विषम परिणाम था प्रथम यूरोपीय महायुद्ध । उस समय नीत्शे जर्मन राष्ट्र का आदर्श उपदेष्टा था ।

प्रत्यक्ष ज्ञानवाद (Positivisn)

उन्नीसवी शताब्दी के मध्यभाग में भौतिकवाद की विशेष उन्नति हुई, अधिकतर वैज्ञानिक क्षेत्रों में । यह अध्यात्मवाद की प्रखर उन्नति तथा उसके विज्ञान के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश की प्रतिक्रिया थी । इस समय विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में अश्रुतपूर्व उन्नति हुई । भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि का इतना अभ्युदय हुआ और इतने नवीन युगान्तरकारी सिद्धान्तों की खोज प्रयोग के बलपर की गई कि अध्यात्म-शास्त्र का मौलिक आधार ही असिद्ध कर दिया गया । इसीलिये भौतिकवाद की चरम उन्नति इस युग में हुई । वोग्त (१८१७—९५) नामक वैज्ञानिक का तो यहाँ तक कहना था कि जिस प्रकार यकृत से पित्त स्वतः प्रवाहित होता है उसी प्रकार ज्ञान तथा विचार मस्तिष्क से स्वतः चूता रहता है । बुशनेर (१८२४-९९) नामक वैज्ञानिक का तो कहना है कि जीवन किसी विशिष्ट अवस्था में जड़ प्रकृति से स्वतः उत्पन्न होता है । उसमें चैतन्य का अंश स्वतः आविर्भूत होता

है। इस आविर्भाव के लिये किसी प्रकार के बाह्य चेतन पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार विज्ञान का प्रवाह उत्कट भौतिकवाद की ओर विचारकों को ले जा रहा था। कुछ विचारक भौतिकवाद के सिद्धान्त से आकृष्ट नहीं हुए, तथापि उनकी दृष्टि अलौकिक वाद तथा अप्राकृतवाद से नितान्त पराङ्मुख थी। वे लोग निरतिशय प्रत्यक्षवादी थे। भौतिकवाद के सिद्धान्त में कुछ सौम्यता मानने के ये पक्षपाती थे। साथ ही साथ संशयवाद की ओर भी इनका संकेत था। इस सिद्धान्त का नाम है पाज़ीटिविज़म (Positivism) अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानवाद। इस मत के विशेष प्रतिनिधि थे कोम्ट, मिल तथा स्पेन्सर। ये लोक लॉक के अनुभववाद से तथा कान्ट की ज्ञानमीमांसा से विशेष प्रभावित हुए थे।

कोम्ट (Comte) (१७६८–१८५७ ई०)--ये ही प्रत्यक्ष ज्ञानवाद के प्रतिष्ठापक दार्शनिक थे। काण्ट की तरह इनकी भी धारणा थी कि मानव बुद्धि शुद्ध वस्तु का परिचय नहीं दे सकती। वह केवल बाहरी जगत् के पदार्थों का ही परिचय दे सकती है। यदि यह बात सत्य है तो दार्शनिको को परब्रह्म आदि अज्ञेय पदार्थों की खोज से विरत होना चाहिए। जो वस्तु बुद्धि-गम्य नहीं है उसका अन्वेषण मृगमरीचिका के समान असंभव तथा अनुपादेय है। विज्ञान का ही सत्य वस्तुतः सत्य है। दार्शनिकों को विज्ञान के द्वारा आविष्कृत सिद्धान्तों के एकीकरण के लिये सतत प्रयत्नशील होना चाहिये। विज्ञानों में सबसे उपयोगी है समाजविज्ञान। समाज की उन्नति करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। जब ईश्वर ही बुद्धि के द्वारा अगम्य होने के कारण अज्ञेय है तब उसके प्रति भक्ति करने से क्या लाभ? सच्चा धर्म तो मानवता की सेवा ही है। इस प्रकार कोम्ट ईश्वर में अविश्वास रखने पर भी मानवता का पुजारी है। मनुष्य की सेवा ही जीवन का चरम लक्ष्य है और इसके लिये विज्ञान के सिद्धान्तों का अनुशीलन ही विचारकों का कर्तव्य है।

कोम्ट तो फ्रांस के रहनेवाले थे पर इनके मतका प्रचार इंग्लैंड में विशेष रूप से हुआ। मिल (१८०६-७३) अंग्रेज प्रत्यक्ष-ज्ञान वादियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनके ऊपर कोम्ट की अपेक्षा लॉक का ही विशेष प्रभाव पड़ा है। उनका तर्कशास्त्र उनका उपयोगिता-वादी आचारशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के समग्र सिद्धान्त अनुभववाद के भित्ति पर अवलम्बित हैं। इनका पूरा नाम था जान स्टुअर्ट मिल। तर्कशास्त्र को नितान्त प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक सिद्ध करने के लिये मिलने विशेष उद्योग किया। इन्होंने कार्य-कारण भाव की परीक्षा के लिये चार प्रकार की रीतियाँ निर्धारित की हैं। आचार के विषय मे ये उपयोगिता वाद (Utilitarianism) के अनुगामी थे जिसमें अधिक से अधिक प्राणियों का सुख हो वही श्रेय है, वही कर्तव्य है। उपयोगिता का सिद्धान्त है--अधिकांश लोगों का अधिक सुख (The greatest good of the greatest number)। ये सुखों में गुण-भेदको माननेवाले थे। मिल का यह सिद्धान्त साधारण लोगों के लिये कर्तव्या-कर्तव्य के लिये कसौटी हैं। वह समाज, राष्ट्र तथा स्त्रियों की स्वतंत्रता का बड़ा ही पक्षपाती था। उसके सिद्धान्तों से इंग्लिस्तान में सामाजिक-उन्नति में विशेष स्फूर्ति मिली है।

स्पेन्सर (Spenser-१८२०-१९०३)

उन्नीसवी सदी के मध्य में जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों की समीक्षा करने से डार्विन नामक प्रख्यात वैज्ञानिक ने विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त को वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा प्रयोग के आधार पर निश्चित किया। डार्विन का कहना है कि जीवन स्थूल से सूक्ष्म की ओर धीरे धीरे विकसित होता आया है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन के लिए अपनी परिस्थितियों से लड़ता आया है। जीवन संग्राम के द्वारा गुणों में विशेष उन्नति होती रहती है। बलवान निर्बलों को नष्ट कर अपने को

स्थित रखते हैं। भागवत में भी इसी प्रकार के मत का समर्थन मिलता है। जो सबसे योग्य होता है वही इस जीवन संग्राम में विजयी होकर बच जाता है। विकास ही जीवन की सबसे प्रधान घटना है।

स्पेन्सर ने जगत् के समस्त ज्ञान तथा विज्ञान को विकासवादी कल्पना के अनुसार एक विराट योजना में सूचित करने का विपुल उद्योग किया है। उसने मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र कर्तव्यशास्त्र आदि नाना शास्त्रों के ऊपर अनेक उपादेय ग्रंथों की रचना की है जिनमें विकासवाद के तथ्य का प्रामाणिक मण्डन है। स्पेन्सर भी मानव बुद्धि का क्षेत्र इस दृश्यमान जगत् तक ही सीमित रखता है। उसके अनुसार यह संसार एक अव्यवस्थित वस्तु के रूप में उत्पन्न हुआ जिसका नाम है शक्ति अथवा द्रव्य और गति। परन्तु जिसका भीतरी स्वरूप अज्ञात है। शक्ति की सार्वकालिक सत्ता ही मूल पदार्थ है। शक्ति के नियमों के अनुसार द्रव्य का सदा आन्तर परिवर्तन हुआ करता है। संसार का प्रत्येक अवयव तथा समस्त संसार भी सदा विकास तथा विच्छेद (Dissolution) इन दो व्यापारों में लगा हुआ है। विकास की भी तीन श्रेणियाँ होती है—(१) शक्ति का केन्द्रस्थ होना, (२) भेदीकरण (मूल का बाहरी आवेष्टक से अलग होकर उसमें आन्तरिक भेद होना); (३) स्पष्टीकरण (भेदों का निश्चित रूप से आपस में सम्बद्ध होकर एक सुव्यवस्थित पूर्णका रूप धारण करना) विकास तथा विच्छेद से ही जगत् स्थूलरूप से होकर सूक्ष्म रूप तक पहुँचा है। शक्ति का परिमाण तो सदा एक ही समान रहता है। न घटता है और न बढ़ता है। केवल वह भिन्न भिन्न रूप से जगत् में विस्तारित रहती है। इस प्रकार स्पेन्सर ने गतिशास्त्र के अनुसार विकास का सिद्धान्त माना है। उनके पीछे बर्गसों तथा लायड मार्गन ने भी विकासवाद को अङ्गीकृत किया है परन्तु इन लोगों के विकास को यांत्रिक व्याख्या से उन्मुक्त करने का यत्न किया है। ये लोग सृष्टि प्रक्रिया के मौलिक रूप को स्वतः प्रवृत्त मानते हैं।

(४)

आधुनिक युग

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में विज्ञान की विशेष उन्नति हुई। विज्ञान की नाना शाखाओं को, विशेषतः जीवशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र में किये गये अनुसन्धानों ने मानवज्ञान की सीमा में विशेष वृद्धि कर दी। दर्शनशास्त्र के ऊपर भी वैज्ञानिक खोज ने अपना विपुल प्रभाव जमाया। इसका परिणाम हुआ भूतवादी (Materialism) दर्शनों का उदय। इन दर्शनों के विशेष उत्थान की प्रतिक्रिया के रूपमें अध्यात्मवादी दर्शनों की अभ्युन्नति यूरोप के प्रत्येक देशमें हुई। इङ्गलैण्ड में ग्रीन और ब्रैडले ने अध्यात्मवाद के समर्थन में विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की। जर्मनी के दार्शनिकों का अब मूल मन्त्र हुआ कैण्ट के दर्शन की विपुल मीमांसा तथा उसीके आधार पर नवीन तत्त्वज्ञान का उद्घाटन जिसे 'नव्यकाण्ट मत' Neo-Kantism के नामसे पुकारते हैं। फ्रान्स में बर्गसाँ Bergson नामक प्रौढ़ दार्शनिक ने एक नवीन मार्ग को खोज निकाला। इनकी दृष्टि में जगत् का मौलिकतत्त्व है जीवन या प्राणशक्ति। जिस प्रकार भूतवादियों का मूलतत्त्व जड़ द्रव्य है और अध्यात्मवादियों का मूल तत्त्व चैतन्य या चेतनाशक्ति है, उसी प्रकार बर्गसाँ की दृष्टि में वह मूलतत्त्व जीवनी शक्ति है जिसे वे Elan Vital के नामसे पुकारते हैं। जर्मनी में इसीके समान'प्राण-शक्तिवाद'Vitalismका प्रचार हुआ जो भूतवादी तत्त्वज्ञान की प्रतिक्रिया रूप से उत्पन्न हुआ। इसका आशय है कि भौतिक शरीर में व्यापक रूप से निवास करने वाले किसी जीवनतत्त्व को बिना स्वीकार किये जीवित वस्तुओं की यथार्थ व्याख्या हो नहीं सकती। अध्यात्मवाद ने इटली में अपना प्रभुत्व दिखलाया और वहाँ के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक क्रोच (Croce जन्म १८६६ ई०) हैं जिनका दर्शन 'चेतन का तत्त्वज्ञान' (Philosophy of spirit) नामसे सुविख्यात है। उन्होंने सौन्दर्य की

दार्शनिक व्याख्या कर भी कीर्ति अर्जित की है और ललित कला तथा काव्य में वे अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के पक्के समर्थक माने जाते हैं। अध्यात्मवाद ने अमेरिका को भी अपना सुदृढ़ इस शताब्दी में बनाया और इस धारा के सर्वश्रेष्ठ अमेरिकन दार्शनिक हैं—रायस (J. Royce १८५५-१९१६ ई०)। उनका मत अंग्रेज दार्शनिक ब्रैडले (Bradley) के मत 'निरपेक्ष अध्यात्मवाद' Absolute Idealism से मिलता जुलता है। इसी समय दूसरे अमेरिकन तत्त्वज्ञानी विलियम जेम्स William James ने 'व्यावहारिक उपयोगितावाद' (Pragmatism) का प्रतिपादन बड़े ही प्रामाणिक ढंग से किया। यह तो हुआ अध्यात्मवाद की नाना धाराओं का सामान्य निर्देश।

भूतवाद के व्यापक प्रभाव को अध्यात्मवाद ने सफलतापूर्वक शान्त किया, परन्तु इसके विरोध में प्रतिक्रिया रूप से एक नवीन विचार धारा का उदय १९ वीं शताब्दी के अन्तिम काल में हुआ जो इस बीसवीं शताब्दी में विशेष व्यापार रूप से बढ़ती जा रही है। कतिपय विचारक यह मानते हुए भी कि जड़ द्रव्य से मन या आत्मा की उत्पत्ति मान्य नहीं हो सकती आत्मा से जड़ द्रव्य की उत्पत्ति उसी प्रकार अमान्य तथा असम्भव मानते हैं। आजकल अध्यात्मवाद की यह प्रतिक्रिया ज्ञान मीमांसा के आधार पर खड़ी की गई है। इस विचारधारा का नाम है—वस्तुवाद Realism, इस मत के विभिन्न स्तर हैं, परन्तु इन सबों का विश्वास यही है कि जड़ द्रव्य मन से बाहर विद्यमान रहता है और उससे अलग अपनी स्वतन्त्रता सत्ता रखता है। कतिपय विचारकों ने अपना समग्र दर्शन इसी मूल पर खड़ा किया है, परन्तु दूसरे विद्वान् ज्ञानमीमांसा से सम्बद्ध विषयों तक ही इसे सीमित रखते हैं।

आधुनिक यूरोपीय तत्त्वज्ञान के दो प्रधान लक्षण दृष्टि गोचर होते हैं—(१) नव्य भौतिक विज्ञान का प्रभाव—आधुनिक भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं की यह धारणा है कि द्रव्य अन्तिम मूल दशा में विद्युत् के तरंगों

के रूप में निर्मित होता है। इसी के आधार पर वस्तुवादी तत्त्वज्ञानियों (Realists) का मान्य सिद्धान्त है कि सत्ता परिवर्तनशील है, द्रव्यात्मक नहीं अर्थात् सत्य घटनाओं के परिणाम-रूप है, नित्य द्रव्य-रूप नहीं है। भौतिक विज्ञान ने द्रव्य की कल्पना इतनी विचित्र प्रस्तुत की है कि अनेक तत्त्वज्ञानी मन से उसका तादात्म्य स्वीकार करने में कठिनाई बोध करते हैं। फलतः कतिपय विद्वान् एक तृतीय पदार्थ की कल्पना मानने लगे हैं जो न तो मन है और न जड़ द्रव्य। इसे वे Neutral stuff के नाम से पुकारते हैं। यह मन तथा द्रव्य का उत्पादक होने पर भी दोनों से नितान्त विलक्षण है।

(२) आधुनिक तत्त्व ज्ञान की दूसरी विशेषता है—विकासवाद पर विश्वास। यह केवल जीव तत्त्व के पक्षपाती तत्त्वज्ञान (Biotism) को ही मान्य नहीं है, प्रत्युत वस्तुवादी तत्त्वज्ञान की भी इस पर पूर्ण आस्था है। वस्तुवाद विज्ञान के, विशेषतः जीव-विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के, अनुसन्धानों को अपने यहाँ गौरव देता है और आजकल विकासवाद का सिद्धान्त जीव विज्ञान में सर्वाधिक मान्य है। इसी लिए वस्तुवादी तत्त्वज्ञानी अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा विकास-वाद पर अधिकतर आग्रह रखते हैं।

इस सामान्य विवेचन के अनन्तर कतिपय मान्य तथा महनीय तत्त्व ज्ञान की धारा का विवेचन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

ग्रीन Green (१८३६–१८८२ ई०)

इङ्गलैण्ड में भौतिकवाद के विरोध में उदीयमान आध्यात्मिक वाद (Idealism) के अग्रगण्य तथा मान्य नेता ग्रीन ही थे। इनकी दृष्टि

---

१ Realists conceive reality as fluxional rather than substantival, that is to say, as consisting of a flux of events rather than of permanent substances.

में ह्यूम का अनुभववाद और स्पेन्सर का विकासवाद दोनों मनुष्य के चरित्र तथा स्वभाव की व्याख्या करनेमें नितान्त सदोष हैं। इन सिद्धान्तों ने मनुष्य को जड़ भौतिकवाद के हाथ में एक कठपुतली बना दिया था जिससे उसके उदात्त स्वभाव तथा नैतिक आचरण के लिए पर्याप्त आधार नहीं था। ये दार्शनिक लोग मनुष्य को भौतिक शक्तियों का परिणाममात्र मानते थे। अतः मनुष्य के चरित्र तथा स्वभाव को विशुद्धि तथा उदात्तता के स्तर पर पहुंचाने के लिए ग्रीन ने अपने नवीन मत की प्रतिष्ठा की।

मानव के स्वभाव की समीक्षा से पहिले उसके चैतन्य के ज्ञान की आवश्यकता है। मनुष्य का चैतन्य वस्तुतः आत्मचैतन्य है। मनुष्यों को जब बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है, तब दोनों में सम्बन्धों की व्यवस्था मन ही करता है। पदार्थ तो बाहरी ही है, परन्तु उनका सम्बंध आत्मनिर्मित है। इसलिए प्रत्येक ज्ञान सदा मन या आत्मा का कार्य अभिव्यक्त करता है। इस विश्व के मूल में एक अध्यात्मतत्त्व है और वही इस संसार को भली भाँति जानता है। मनुष्य तो केवल अंशमात्र का ही ज्ञान रखता है। यही निरपेक्ष तथा शाश्वत आत्म-चैतन्य ईश्वर है और वह सर्वज्ञ है। मनुष्य इसी शाश्वत चैतन्य का अंशमात्र है। अतः वह उसके साथ आंशिक सम्बन्ध रख सकता है। ईश्वर ही नैतिकता तथा धर्म का साधन है और अमरत्व का मूल स्रोत है।

ग्रीन ने इस तत्वज्ञान के आधार पर अपना साध्य निश्चित किया है। मनुष्य के लिए आत्मोलब्धि (स्वानुभूति) ही सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। मनुष्य अपना परम कल्याण करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। यदि वह अकेले अपना हित करना चाहे, तो यह हो नहीं सकता। यह कल्याण समाज में रहने पर ही सम्भव है। समाज तथा व्यक्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य समाज का प्रधान अंग ठहरा। अतः समाज में रहने पर ही मनुष्य का मंगल साधन हो सकता है और वह अपने लक्ष्य तक पहुँच

४६

सकता है।

आध्यात्मिकवाद के अनुयायी इङ्गलैण्ड में इनके अतिरिक्त दो माननीय तथा विख्यात दार्शनिम थे—ब्रैडले Bradley (१८४६-१९२४) और बोसाँके Bosanquet (१८४८-१६२३)। समान्यतः भौतिकवाद के ये विरोधी हैं तथापि इनकी दार्शनिक दृष्टि में पर्याप्त विभेद है। अमेरिका के भौतिकवाद के विरोध में नवीन मत के प्रचारक विशिष्ट दार्शनिक थे—रायस (Royce १८५५-१९१६) जिनके ऊपर वेदान्त का प्रभाव अंशतः लक्षित होता है। अमेरिका के अन्य मान्य तत्त्ववेत्ता हाकिंग Hocking (जन्म १८७३ ई०) अभी जीवित है। ये अपने विचार को 'रहस्यवादी वस्तुवाद' Mystical Realism कहते हैं।

बर्गसों Bergson (१८५९—)

फ्रांस के सर्वश्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता माने जाते थे। इन्होंने ज्ञान की अपेक्षा क्रिया को अपने विचार शास्त्र में विशेष महत्त्व दिया है। इन्होंने द्रव्य तथा नैसर्गिक नियमों की सत्यता का बिना निषेध किये ही समग्र विश्व की आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया है। इनके दर्शन के रहस्यों को द्योतक शब्दावली है—परिवर्तन, क्रियाशीलता, स्वातन्त्र्य, सर्जनात्मक विकास, और प्रविमान। इसीलिए इनकी दार्शनिक दृष्टि 'परिवर्तन का दर्शन' 'सृजनात्मक विकासवाद' Creative Evolution के नाम से साधारणतया अभिहित की जाती है।

वर्गसों के अनुसार मूल तत्त्व न तो द्रव्यात्मक है और न मानसिक, प्रत्युत इन दोनों से कम व्यक्त पदार्थ है जिससे जड़ द्रव्य और मन दोनों आविर्भूत होते हैं। यह तत्त्व है—परिणाम, परिवर्तन, घटनाओं का प्रवाह, जीवन का ओघ, जो नये नये रूप पाने के लिए सदा सन्तत आगे बढ़ता जाता है। इस (Life) जीवन का सर्वत्र प्रसार तथा प्रवाह लक्षित होता है। वे जीवन को ही मूल वस्तु मानते हैं। सारा स्थावर-

जंगमात्मक जगत् जीवन का ही प्रवाद है। चेतना भी जीवन का रूपान्तर है। जड़ भी जीवन का ही परिणाम है। तमोगुण से युक्त जड़ गति का अवरोधक होता है। जीवन जब नष्ट हो जाता है, तब उसकी गति स्थिरता को प्राप्त हो जाती है। जीवन-तरंगे शान्त हो जाने पर जड़ सामग्री बनाती रहती हैं ठीक जैसे बारूद की बनी हुई छछूँदर ऊपर जाते समय धुँआँ भी फेंकती जाती है।

बर्गसों के मत में यह जीवन प्रवाह (Creative Evolution) संकल्पात्मक है। इसकी सत्ता का परिचय बुद्धि नहीं दे सकती क्योंकि वह जीवन का एक अंशमात्र है। अंश समग्र पूर्ण को रूपेण नहीं जान सकता। इसके लिये वे प्रतिभा (Intuition) शक्ति को स्वीकार करते हैं। यही जीवन की वास्तव दशा को जान सकती है, दूसरी शक्ति (ज्ञान-शक्ति) नहीं।

जड़ की रुकावट के कारण जीवनप्रवाह तीन दिशाओं में विभाजन होकर प्रवाहित होता है—(१) वनस्पति, (२) पशु, (३) मनुष्य। वनस्पतिसंसार में जीवनप्रवाह जड़ के वश में रहता है और उसके साथ ही साथ काम करता है। वनस्पति में केवल बढ़ना और शक्ति का संग्रह करना है। उसमें गति नहीं है और इसलिए उसमें चैतन्य भी नहीं है। इस दशा में केवल शक्ति का संचय करना होता है। वनस्पति शक्ति को केवल इकट्ठा ही नहीं करता वह उसे अपने में जमा भी करता है। पशु और मनुष्य उस एकत्रित तथा संचित शक्ति के ऊपर निर्भर रहते हैं। दोनों शक्ति का व्यय करते हैं। पशु अपनी सहजक्रिया (Instinct) के द्वारा बिना समझे बूझे काम करता है, परन्तु मनुष्य बुद्धिपूर्वक शक्ति का खर्च करता है। मनुष्यों के संघटित समूह का नाम है समाज और इसी समाज में जीवन अपना पूर्ण सन्तोष प्राप्त करता है। सर्वश्रेष्ठ जीवित प्राणी वही है 'जिसके कार्य दूसरे कार्यों का उत्तेजक होता है, जो स्वयं उदार होते हुए दूसरे के हृदय में उदारता को आग प्रज्वलित करता है'। जीवनतरंगों

के मूल में है—ईश्वर। और यह ईश्वर है "सन्तत गतिशील जीवन, क्रिया, या स्वातन्त्र्य"। इस प्रकार ये मूलतत्त्व को परिणामी मानते हैं। कतिपय साम्य रखने पर भी यह मत निश्चित ही वेदान्त से विशेष रूप में भिन्न है।

विलियम जेम्स William James (१८४२-१९१० ई०)

अमेरिका के इस विख्यात तत्त्ववेत्ता का सिद्धान्त व्यावहारिक उपयोगितावाद या प्रैगमेटिज़म (Pragmatism) कहलाता है। इनकी दृष्टिमें वस्तु की उपयोगिता ही सत्य की कसौटी है। जो वस्तु किसी चाह की तृप्ति करती है अथवा हित का साधन करती है वही सत्य है। केवल अस्तित्व सम्पन्न होना ही सत्य नहीं है। केवल विद्यमान वस्तुओं को यदि वे हमारा मंगल साधन नहीं कर सकतीं, जेम्स 'सत्' कहने के लिए तैयार नहीं है। वह ज्ञान की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्त्व देता है। अन्य अध्यात्मवादी दार्शनिकों के समान वह ज्ञान को परम पुरुषार्थ अंगीकार नहीं करता। मानव-जीवन में क्या ज्ञान ही केवल सम्मिलित है? नहीं, उसमें तो ज्ञान के साथ भाव और क्रिया-इन तीनों का अस्तित्व रहता है। ऐसी दशा में अधिक उपयोगी तथा साक्षात् सम्बन्ध होने से जेम्स क्रिया को ही मुख्य मानता है। सत्य की यह व्याख्या हमारे भारत के कतिपय तत्त्वज्ञानियों की मान्यता से साम्य रखती है। महाभारत का कथन है—यद् भूतहितमत्यर्थमेतत् सत्यं मतं मम—जो प्राणियों का अधिक हितकारक है वही सत्य है। बुद्ध की भी यही सम्मति थी—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थ सत् = जो वस्तु प्रयोजन की क्रिया करनेवाली है वही परमार्थ रूपसे सत्य है। दोनों मतों के मूल तात्त्विक सिद्धान्त अभिन्न हैं।

कर्त्तव्य-मीमांसा के लिए जेम्स 'अनियतवाद' के समर्थक हैं। 'नियतवाद' का अभिप्राय है कि मनुष्य के प्रयत्न पूर्वनिश्चित हैं। इस मतको मानने से तो न तो मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा का ही बिलाव

होगा और न उसके उद्योग और प्रयत्न के लिए समुचित स्थान होगा। अतः जेम्स का मत है कि मनुष्य का यही धर्म है कि यह समग्र संसार के श्रेय के लिए सन्तत प्रयत्नशील बने। यदि यह बात असत्य हो, तो अधिक से अधिक लोकहित होना ही चाहिए। जेम्स सगुण ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। वे उन लोगों में अन्यतम हैं जो ईश्वर के सान्निध्य में आनन्दोल्लास का अनुभव करते हैं। वे विश्व-कल्याण में ईश्वर की सहायता अपेक्षित मानते हैं। सीमित शक्तिवाला मानव ईश्वर की सहायता से अधिक से अधिक संसार का मंगल साधन करता है। परन्तु ईश्वर की सत्ता का परिचय हमें तर्क-बुद्धि नहीं देती, प्रत्युत 'विश्वास का संकल्प' (Will to believe) ही उस नियन्ताका एकमात्र परिचायक है। जेम्स ने इस मत के अनुकूल मनोविज्ञान का भी बड़ा ही व्यापक समीक्षण किया है।

जेम्स की मृत्यु के अनन्तर इस मत के दो विशिष्ट समर्थक तत्त्वज्ञानी हैं—(१) जान ड्यूई John Dewey अमेरिका में और (२) शिलर F. W. Schiller इंगलैण्ड में। ड्यूई के अनेक सिद्धान्त विकास-वादियों के मन्तव्यों के अनुकूल हैं। वे सत्ता को सन्तत परिवर्तनशील मानते हैं। सत्ता सिद्ध वस्तु नहीं है, प्रत्युत साध्य है और इसी लिए वह परिवर्तनशील है। दर्शन का उपयोग सामाजिक समस्याओं की मीमांसा करने तथा उनके सुलझाने में हैं। संसार को शोभनतर, मंगलमय बनाने में प्रत्येक प्राणी को योग देना चाहिए। शिलर अपने तत्त्व-ज्ञान को 'मानवता' Humanism के नाम से पुकारते हैं। मानव हित की जो बात है वही सत्य है। वस्तुओं के मूल्य का अंकन मानव हित की दृष्टि से है। मानव की कल्याण-साधिका वस्तु सत्य है और अहित-कारिणी असत्य है। ग्रीस के प्रधान वितण्डावादी प्रोटेगोरस के सिद्धान्त—मनुष्य ही वस्तुओं का मापक है—का यह नवीन प्रतिनिधि प्रतीत होता है। ड्यूई का मत Instrumentalism के नाम से विख्यात है

क्योंकि वे कार्य-साधन में प्राणियों को व्यापृत करने के लिए बुद्धि को साधक मानते हैं।

लार्ड रसल—(Loid Russel)

अध्यात्मवाद के विरोध में उत्पन्न होने वाले वस्तुवादी दर्शन की विविध धाराएं आजकल इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में प्रवाहित हो रही हैं। इनमें से एक विचारधारा के प्रतिपादक हैं लार्ड रसल। ये इंग्लैण्ड के प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ता हैं और अभी जीवित हैं। ये गणितशास्त्र के मर्मज्ञ हैं। इसी लिये इन्होंने गणितशास्त्र के सिद्धान्तों का अपनी विचारधारा में समावेश किया है। ये तर्कशास्त्र को दर्शनों में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। दर्शन का ये विज्ञान से न भेद मानते हैं न विरोध। ये अपने दर्शन को अनेकवाद और वस्तुवाद के नाम से पुकारते हैं। ये जेम्स के उपयोगितावाद को ठीक नहीं मानते। इनकी दृष्टि में स्वार्थ का साधक होना ही सत्यता की कसौटी नहीं हैं, क्योंकि कभी जैसा लोकव्यवहार प्रमाणित करता है असत्य बातों से भी कार्य की सिद्धि होते देखी गई है। हारती हुई फौज को झूठे ही साहस देकर संग्राम में जीतते हुए देखा गया है। रसल इसे कार्यसाधक होते हुए भी सत्य नहीं मानते। ये बर्गसों के प्रतिभावाद के भी समर्थक नहीं हैं। ये बुद्धि के प्रौढ़ पक्षपाती हैं। प्रतिभा से वह बात सचमुच शीघ्रतर भासित हो जाती है जो बुद्धि के द्वारा देर से सूझती है, तथापि प्रतिभा बुद्धि से बढ़कर नहीं है क्योंकि प्रतिभा की सत्यता की परीक्षा अन्ततोगत्वा बुद्धि ही करती है। इनकी दृष्टि में विज्ञान और साधारण जनमत के अनुसार घटनाओं तथा वस्तुओं की अनेकता स्वतन्त्र रूप से सत्य है। और इसे असिद्ध करने के लिये यथार्थ प्रमाण नहीं मिलते। रसल भी इसीलिये 'अनेकान्तवाद' तथा 'वस्तुवाद' के पक्षपाती हैं। अध्यात्मवादी दार्शनिक संवेदन तथा उनके आधार को मनमें ही मानते हैं परन्तु इसके विपरीत रसल संवेदन तो मनमें मानते हैं किन्तु उनके आधार को मनसे बाहर स्वतन्त्र मानते हैं।

इनके अनुसार सत्यता की मूलवस्तु न तो मानसिक है, न तो भौतिक बल्कि दोनों से विलक्षण है। वे मानते हैं कि समग्र विश्व एक ही मूल पदार्थ (घटना) से निर्मित है। इस प्रकार उनके दर्शन में एकत्व तथा अनेकत्व का विरोध नहीं है। वे व्यवहारिक बातों में मनुष्य की प्रधानता पर ज़ोर देते हैं। ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य संसार में ऊँचा उठ सकता है तथा अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। ये मनुष्य के स्वातन्त्र्य के ेमी हैं परन्तु इनकी सम्मति है कि जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को नहीं दबाता वह कथमपि स्वतन्त्र नहीं हो सकता। दर्शन का उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों का प्रतिपादन करना नहीं है बल्कि संकीर्ण दृष्टि के कारण होने वाले सत्याभासों से तथा अन्ध विश्वासों से हमें मुक्त करना है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ

पाश्चात्य दर्शन का यह एक संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इसके अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमी जगत में विवेकशील विचारकों की कमी नहीं रही है। वहाँ के तत्त्वज्ञानियों ने भी इस विश्व की विचित्र पहेली को यथासाधन यथाशक्ति समझाने का पूर्ण उद्योग किया। मनुष्य जीवन के उपकारी तथा आवश्यक विषयों की मार्मिक विवेचना हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि पश्चिम का तत्त्ववेत्ता अपनी दार्शनिक उड़ान में ठोस जगत् तथा मानव जीवन को कभी भी नहीं भूलता। समसामयिक दार्शनिकों के विचारों की समीक्षा करने से हमें स्पष्टतः प्रतीत होता है कि यह तत्त्वज्ञान नितान्त प्रौढ़, व्यापक तथा जीवन्त है। इन नये विचारों में प्राचीन दार्शनिकों—प्लेटो और एरिस्टाटल, काण्ट और हेगल—के विचारों की छाया या प्रतिभास यदि किसी को दीख पड़े तो यह कुछ अनुचित नहीं है। तत्त्वज्ञान प्राचीन है। परन्तु वर्तमान मानव-समाज के हित के लिये परिवर्तित स्थिति में उनका नवीन रूप से विन्यास सर्वथा श्लाघ्य है।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में दो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूपसे अनुभव में आती है। इनमें पहिली प्रवृत्ति है—विज्ञान तथा दर्शन की मैत्री। दूसरी है—विज्ञान तथा धर्म में सौहार्द। प्राचीन युग में विज्ञान और दर्शन का बड़ा दृढ़ गठबन्धन था। यह बन्धन १९ वीं शताब्दी के मध्यभाग में छिन्न भिन्न हो गया जिससे विज्ञान तथा दर्शन दोनों में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। यह विरोध दोनों के लिये हानिकारक हुआ। विज्ञान एकदम जड़वादी विज्ञान बन गया और दर्शन ने भी अपनी यथार्थवादिता अंशतः खो दी। परन्तु इधर दार्शनिक घड़ी का लटकन (Pendulum) भौतिक जड़वाद से हटकर एकान्त अध्यात्मवाद की ओर प्रवाहित हो रहा है। इसका कारण है द्रव्य की नवीन वैज्ञानिक कल्पना। भौतिक विज्ञान ने मूल द्रव्य के स्वरूप की परीक्षा बड़े ही अध्यवसाय के साथ की है। इस नवीन कल्पना के अनुसार द्रव्य विद्युत् तरंगों का पुञ्जमात्र है। यही कारण है कि अनेक लोगों की धारणा बन गई है कि द्रव्य अपने मूल द्रव्यत्व तथा जड़त्व से हीन हो गया है और उसने नवीन चैतन्य प्राप्त कर लिया है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अन्ततो गत्वा द्रव्य ही है। वह कथमपि मन या चेतन (आत्मा) नहीं बन सकता। इस नये अनुसन्धान से विज्ञान-वेत्ताओं तथा दार्शनिकों में परस्पर सहयोग की भावना बढ़ गई है जो अत्यन्त श्लाघनीय है।

विज्ञान तथा ईसाई धर्म का परस्पर सौहार्द भी एक नवीन युग का प्रतीक है। एक समय था जब विज्ञान का पुजारी अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तों के लिये संकीर्ण-मति ईसाई मत के ठेकेदारों के द्वारा शूली पर चढ़ा दिया जाता था। परन्तु आज इन दोनों की परस्पर मैत्री आलोचकों को विस्मय में डाल देती है। इस प्रवृत्ति का भी एक मूल रहस्य है। विज्ञान ने ही अनियतवाद के सिद्धान्त को अग्रसर किया है। विज्ञान कार्य-कारण के प्रचलित सम्बन्ध को मिथ्या बतलाता है।

कार्य-कारण के ठोस आधार पर विज्ञान की अबतक दृढ़ नींव खड़ी थी। परन्तु वही विज्ञान भौतिक जगत में निश्चय तथा नियत सम्बन्ध को अमान्य मानने लगा है। इसका फल यह हुआ कि अनेक वैज्ञानिक धार्मिक विचारधारा तथा रहस्यवाद की ओर विशेषतः आकृष्ट हो रहे हैं। वैज्ञानिकों की विशेष प्रवृत्ति रहस्यवाद की ओर हो रही है। यही कारण है कि विज्ञान और ईसाई धर्म में परस्पर विरोध न होकर मैत्री-भाव दृष्टिगोचर हो रहा है। इस प्रकार विज्ञान, दर्शन तथा धर्म में पूर्ण सामञ्जस्य तथा मंगलमय सहयोग आधुनिक पश्चिमी दर्शन की विशेषता है। परन्तु विज्ञान के लिये यह संकट की भी बात है। विशुद्ध बुद्धिवाद पर अवलम्बित होनेपर ही विज्ञान की बहुमुखी उन्नति हुई है। अतः विज्ञान को निरपेक्ष रहकर अपने नवीन तत्त्वों का अनुसंधान करना चाहिये। उसे दर्शन तथा धर्म का क्रीत दास बनना कथमपि शोभा नहीं देता।
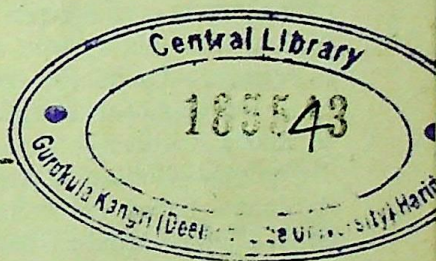
परिशिष्ट २

प्रमाण ग्रन्थावली

(मूल संस्कृतग्रन्थों का निर्देश पुस्तक के तत्तत्स्थानों पर किया गया है। अतः कलेवरवृद्धि के भय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता)

सामान्य ग्रन्थ

चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार—वसुमल्लिक फेलोशिप लेक्चर (५ भाग·बँगला)
कालप्रसन्न मुखोपाध्याय—तत्त्वज्ञानामृत (४ ,, ,,)
नरसिंह चिन्तामणि केलकर—हिन्द तत्त्वज्ञान (मराठी)।
नर्मदाशङ्कर मेहता—हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास (२ भाग·गुजराती)
साधु शान्तिनाथ—प्राच्यदर्शनमर्मीच
राहुल सांकृत्यायन—दर्शन·दिग्दर्शन
Max muller—Six Systems of Philosophy.
S. Ayengar—Outiines of Indian Philosophy.
S. N. Das gupta—History of Indian Philosophy. (2 Vols.)
S. Radha Krishnan— Indian Philosophy (2 Vols.)
Hiriyanna—Outlines of Indian Philosophy.
J. Sinha—Indian Psychology (Perception).
S. K. Maitra—Hindu Ethics.
Chatterjee and Dutt—Introduction to Indian Philosophy.
J. N. Farquhar—Outline of Religious Literature of India.

श्रौतदर्शन

कोकिलेश्वर शास्त्री—उपनिषदेर उपदेश (४ भाग·बँगला)।
हीरेन्द्रनाथ दत्त—उपनिषद् (ब्रह्मतत्त्व-बँगला)।
Gough—Philosophy of Upanisads.
Deussen—Philosophy of Upanisads.

Belvelkar and Ranade—Indian Philosophy (Creative Period.)
R. D. Ranade—Constructive Survey of Upanisadic Philosophy.
B. M. Barua—Pre-Buddhist Philosophy.
Hume—Thirteen Upanisads (Introduction).
Sen—Mystic Philosophy of Upanisads.

गीता-दर्शन

लोकमान्य तिलक—गीतारहस्य
हीरेन्द्रनाथ दत्त—गीता में ईश्वरवाद।
Arbindo Ghosh—Essays on Gita. (2 Series).
" " —Message of Gita
Garbe—Intaoduction to Gita.
M. Rangacharya—Bhagvata Gita Lectures.
V. G. Rele—Bhagavata Gita.
M. N. Sarkar—Mysticism in Bhagavat Gita.
D. G. Vedeker—Bhagwat Gita.
S. K. Prem—Yoga of Bhagavat Gita.
Sarvananda—Religion and Philosophy of Gita.
D. Sharma—Lectures on Gita.

चार्वाकदर्शन

G. N. Kaviraj—Theism in Ancient India (S.B. studies Vol. II)
D. R. Sastri—A short History of Indian Materialism.
" —Charvaka Sasthi.

जैन दर्शन

Weber—Jain Canon (Indian Antiquary Vol. XVII–XXI)
Buhler—The Indian Sect of Jainism.
C. R Jain—The Practical Path.
H. Warren—Jainism.

Ghoshal—द्रव्यसंग्रह (Introduction and Notes)
A Chakravarti—पञ्चास्तिकायसार (Introduction)
W. Schudring—Die Lehre der Jains.
Mrs. Stevenson—The Heart of Jainism.
A. Sen—Schools and Sects in Jain Literature.
B. C. Law—Life aud Teachings of Mahavira.
C. L. Shah—Jainism iu North India.

बौद्ध दर्शन

बलदेव उपाध्याय—बौद्ध दर्शन

Oldenderg—Budddha.
Kern—Indian Budhism.
Yamakami Sogen—Systems ot Buddhistic Thought.
Mrs. Rhys Davids—Buddhism.
,, —Buddhist Psychology.
A. B. Keith—Buddhist Philosophy.
Lala Hardayal—Bodhisattva.
N. Dutt—Spread of Buddhism.
—Aspects of Mahayana Buddhism.
Macgovern—Introduction to Mahayana Buddhism.
—Manual of Buddhist Philosophy.
D. Suzuki—Outlines of Mahayana Buddhism.
—Studies in Lankavatar Sutra.
Scherbastky—Central Conception of Buddhism.
—Conception of Buddhist Nirvana.
—Buddhist Logic (2 vols)
Poussin—Way to Nirvana.
S. Mukerjee—Buddhist Philosophy of Universal Flux.
Nariman—Literary History of Sanskrit Buddhism.
Winternitz—History of Indian Literature (Vol 2.)
S. Dutt—Early Buddhist Monachism.
Eliot—Hinduism and Buddhism (2 Vols.)

Grimm—The Doctrine of the Buddhism.
Pratt—Pilgrimage of Buddhism.
Obermiller—Buston's History of Buddhism.
B. Bhattacharya—Buddhist Esoterism.
Lounsbery—Buddhist Meditation.

न्यायवैशेषिक

Ui–The Vais' esika Philosophy.
Seal–Positive Sciences of the Hindus.
Faddigon—Vais'esika Philosophy.
Bodas—Tarka Sangrana.
Keith—Indian Logic and Atomism.
Randle–Indian Logic in Early Schools.
Kuppu Swami–A Primer of Indian Logic.
J. C. Chaterjee—Hindu Realism.
Gopinath Kaviraj—Bibliography of Nyaya-Vaise'sika.
J. Sihna—Indian Realism.
S. C. Chaterjee—Nyaya Theory of Knowledge.
Umesha Mishra—Conception of Matter.
फणीभूषण तर्कवागीश—न्याय परिचय (बँगला)

सांख्य-योग

S. N. Dasgupta—Study of Patanjali.
—Yoga as Philosophy and Relgion.
—Yoga Philosophy.
A. B. Kieth—Samkhya System.
Yajneshvara Ghosh—Samkhya aud Modern Thought.
—A Study of Yoga.
Mazumdar " " Samkhya Conception of Personality.
N. K. Brahma–Philosophy of Hindu Sadhana.
G. N. Kaviraj—योगपरिचय (कल्याण योगाङ्क पृ० ५१—६१ ।
" —Causality—Sankhya-Yoga View (S.B.S. Vol IV)
" –The Life of a Yogi (S. B. Studies Vol IX).

हरिहरानन्द आरण्य--सांख्यीय प्रकरण माला।
" —योगभाष्य (बँगला अनुवाद)

मीमांसा

G. N. Jha—Prabhakar School of Mimansa.
" —Mimansa Philosophy.
Keith—Karma Mimansa.
P. N. S'astri—Introduction to the Purva Mimansa.
C. Raja—Introduction to the Brihati.
Ram Swami Sastri—Introduction to Tattvabindu.
Kaviraj—Mimansa Mss, in Govt. Skt, Library (S.B.S.–VI.)
" Introduction to Tantravartika.
Sarkar—Mimansa Rules of Interpretation,

अद्वैत वेदान्त

Paul Deussen—System of Vedanta.
K. C. Bhattacharya—Studies in Vedantism.
K. S'astri—Introduction to Advaita Philosophy.
—Realistic Interpretation of Shankar Vedant.
M. N. Sarkar--System of Vedantic Thought and Culture.
" —Comparative Studies in Vedantism.
P. N. Mukhopadhyayn—Introduction to Vedant Philosophy.
V. Kirtikar—Studies in Vedant.
D. M. Datta—Six Ways of Knowing.
S. K. Das—A Study of Vedant.
हीरेन्द्रनाथ दत्त—वेदान्त रहस्य।
Urquahart—Vedant and Modern Thought.
G. N. Jha—Sankara Vedant.
" Philosophical Discipline.
Mahadevan—Philosophy of Advaita.
Kaviraj—अद्वैत वेदान्त (शाङ्करभाष्यानुवाद की प्रस्तावना)।

Ghate—The Vedant.
Belvelkar—Vedant Philosophy.

पञ्चरात्र और वैष्णवदर्शन

R. G. Bhandarkra-Vaisnavism, S'aivism and minor Sects.
Rai Choudhary—Early History of the Vaisnava Sect.
Bhagavat Kumar Goswami—Bhakti Cult in Ancient India.
Schrader—Introduction to the Pancaratra.
Gopinath Rao—History of S'rivaisnavas,
Govindacharya—Mataphysique of Mysticism.
V. Rangachary—Heritage of Indian Culture (Vol.II.pp.—69-103)
S'rinivasachari—Ramanuja's Idea of the Finite self.
" —Philosophy of Bhedadheda.
सन्तदास बाबा—गुरुशिष्यसंवाद (ब्रह्मविद्या)
Umesha Mishra—Nimbarka Philosophy.
Nagaraja Sharma-Reign of Realism in Indian Philosphy.
Padmanadhacharya-Life and Teachings of S'ri Madhva.
व्रजनाथ शर्मा—वल्लभाचार्य और उनका सिद्धान्त
Glasenapp—Philosophy of Madhva (German)
C. R. Krishna Rao—S'ri Madhva—Life and Teachings.
केदारनाथदत्त—भक्तिविनोद—जैवधर्म (बं०)
" —श्री चैतन्यशिक्षामृत (बं०)
गौर गोविन्दानन्द—पावन कुसुमाञ्जलि (बं०)
गौर गोविन्दानन्द—कृपाकुसुमाञ्जलि (बं०)
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—चैतन्यचरितावली (५ भाग)
Kennedy—Chaitanya Movement.
G. N. Mallick—Philosopey of Vaisnava Religion.

शैव-शाक्ततन्त्र

C. Pillai–Studies in S'aiva Siddhanata.
S. Sundaram–S'aiva School of Hinduism.
N. Ayyar–Origin and Early History of S'aiviam in S. India.
S. S. Sastri–S'ivadaita of S'ri Kantha.
J. C.Chatlerjee—Kas'mira S'aivism.
K. C. Pande—Abhinava Gupta—A Study.
Woodroffe—Shakti and Shakta.
,, —Garland of Letters.
,, —Serpent Power.
Woodroffe and Mukhopabhyaya—World As Power Series.
नर्मदाशङ्कर मेहता--शाक्त सम्प्रदाय (गुजराती)
सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण—कौलमार्गरहस्य (बँगला)
P. C. Chakravarti :—Philosophy of Sanskrit Grammar.
Kaviraj—Some Aspects of Vir Saiva Philosophy (S. B. Studies Vol 2).
—Notes on Pas'upata Philosophpy (S. B.S. Vol. IX.)
—Tripura Philosophy (S. B. S. Vol. IX.)
गोपीनाथकविराज–काश्मीरीय शैवदर्शन (कल्याण शिवाङ्क पृ० ८०-९५)
—शक्तिपात (,, साधनाङ्क पृ० ८५-९७)
—तान्त्रिक दृष्टि (,, ,, पृ० ४८०-४९३)
--दीक्षा-रहस्य (,, १५ भा० ४ संख्या)